हिन्दी सन्त-साहित्य पर
बौद्धधर्म का प्रभाव

[आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच. डी. उपाधि
के लिए स्वीकृत शोध-प्रबन्ध]

लेखिका
डॉ. विद्यावती 'मालविका'
एम. ए., पी-एच. डी., साहित्यरत्न

हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय
वाराणसी—१

प्रथम आवृत्ति
फरवरी : १९६६
मूल्य : २०.०० मात्र

प्रकाशक | मुद्रक
हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय | दुर्गा प्रेस
पो. बॉ. नं. ७०, पिशाचमोचन | एस. ६/२७१, नई बस्ती
वाराणसी-१ | वाराणसी कैंट-२

नवीन प्रकाश डालने वाले हैं। मेरे इस अध्ययन के पूर्ण रूप से समाप्त होने के उपरान्त डॉ० सरला त्रिगुणायत, एम० ए०, पी-एच० डी० की थीसिस अक्तूबर, १९६३ में प्रकाशित हुई, जिसका विषय "हिन्दी के मध्ययुगीन साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव" है। उसे देखकर मुझे अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि एक विदुषी का इस ओर ध्यान आकर्षित हुआ और उन्होंने कठिन श्रम करके एक महत्वपूर्ण शोध-ग्रन्थ प्रस्तुत किया। इसके लिए वे बधाई की पात्रा हैं। किन्तु साथ ही उनके ग्रन्थ को आद्योपान्त पढ़ जाने पर ऐसा लगा कि उन्होंने अपने ग्रन्थ में कोई विशेष मौलिक बात न कहकर पूर्व के विद्वानों द्वारा गृहीत [illegible] का ही अनुसरण किया है। साथ ही कुछ ऐसी भी बातें उन्होंने कह डाली हैं, जो चिन्त्य हैं। उनमें से कुछ इस प्रकार हैं—

१. बौद्धधर्म का मूलोच्छेदन आचार्य शंकर ने किया, (पृष्ठ ५४, ४७)।

२. भगवान् बुद्ध का जन्म कौशल जनपद की राजधानी कपिलवस्तु में शाक्यवंश में हुआ था, (पृष्ठ ५१)।

३. भारत में आठ संगीतियाँ हुई थीं, (पृष्ठ ५७)।

ये सारी बातें असंगत हैं। यद्यपि इनके सम्बन्ध में मेरे प्रबन्ध में यथास्थान वर्णन आया हुआ है, किन्तु मैं यहाँ भी कुछ कह देना उचित समझती हूँ।

शंकराचार्य द्वारा बौद्धधर्म के मूलोच्छेदन की बात सर्वथा ही काल्पनिक है, जो "शारीरिक भाष्य" पर आधारित है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने बुद्धचर्या की भूमिका (पृष्ठ ११-१३) में इस पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और बतलाया है कि शंकराचार्य के बहुत पीछे तक भारत में बौद्धधर्म का प्रसार होता रहा तथा वह यहाँ से तिब्बत आदि में भी गया। राहुलजी ने यह भी लिखा है—"सारे भारत से बौद्धों का निकलना तो अलग, खुद केरल से भी वह बहुत पीछे लुप्त हुआ।" (पृष्ठ १३)।

कोसल जनपद की राजधानी श्रावस्ती थी; न कि कपिलवस्तु। कपिलवस्तु तो शाक्य जनपद की राजधानी थी और भगवान् बुद्ध का जन्म वहाँ भी न होकर लुम्बिनी में हुआ था।

बौद्ध-संगीतियाँ भी भारत में केवल चार ही हुई थीं[1]।

इस प्रकार जान पड़ता है कि डॉ० सरला त्रिगुणायत ने बौद्धधर्म और दर्शन को जटिल समझ कर (वही, पृष्ठ ६) ही उसे पूर्ण रूप से समझने का प्रयत्न नहीं किया है। जहाँ तक हिन्दी साहित्य पर बौद्धधर्म के प्रभाव की बात है,

---

१. देखिये, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित, बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ १७३-१७८।

उसका भी अध्ययन उन्होंने क्रमिक एवं वैज्ञानिक ढंग से नहीं प्रस्तुत किया है। सन्त-साहित्य पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव को उन्होंने स्पष्ट करने की अपेक्षा और भी उलझा दिया है।

अब मैं अपने प्रबन्ध की मौलिकता एवं उपादेयता के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए उसका संक्षिप्त परिचय करा देना चाहती हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध छः अध्यायों में विभक्त है। हिन्दी सन्त-साहित्य पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव की पूर्णरूपेण जानकारी के लिए बौद्धधर्म के विकास का ज्ञान आवश्यक है, अतः पहले अध्याय में भारत में बौद्धधर्म के विकास पर प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत बुद्धपूर्व भारतीय समाज, धर्म और दार्शनिक स्थिति पर प्रकाश डालते हुए बुद्ध-जीवनी, उपदेश, सिद्धान्त तथा स्थविरवाद और महायान के निकाय-उपनिकायों का विवेचन किया गया है। भगवान् बुद्ध और बौद्धधर्म के सम्बन्ध में यद्यपि आजतक बहुत लिखा जा चुका है, किन्तु अनेक बातों मे विद्वानों मे मतभेद अथवा असंगत धारणायें रही हैं। मैंने उन पर मौलिक रूप से प्रकाश डाला है।

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी का यह कथन समीचीन नहीं है कि लुम्बिनी में शुद्धोदन महाराज की जमींदारी थी और वहाँ जाकर कभी-कभी वे रहा करते थे। उनके वहीं रहते समय सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ था[1]। सभी साक्ष्यों से प्रमाणित है कि महामाया अपने मातृगृह जा रही थीं। मार्ग मे लुम्बिनी नामक उद्यान मे सिद्धार्थ कुमार का जन्म हुआ था। कौशाम्बीजी का यह कथन भी इतिहास-विरुद्ध है कि सिद्धार्थ कुमार ने स्वजनों के कलह को देखकर गृह-त्याग किया था और उन्होंने चार निमित्तों को नहीं देखा था[2]।

इसी प्रकार डॉ० काशीप्रसाद जायसवाल का यह कथन अग्राह्य है कि भिक्षुसंघ भारतीय गणतन्त्रों की देन था[3]। श्री मोहनलाल महतो "वियोगी" का यह मत भी समीचीन नहीं है कि भिक्षुसंघ के कारण समाज की रीढ़ टूट गई[4]।

दीपवंश का यह वर्णन भी असंगत है कि द्वितीय संगीति वैशाली की कूटागारशाला में हुई थी[5]।

ऐसे ही महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने महासांघिक निकाय के कुछ उपनिकायों का सम्बन्ध सम्मितिय निकाय से बतलाया है[6], जो असंगत है।

---

१. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ ९१। २. वही, पृष्ठ १०६-१११।

३. हिन्दू राजतन्त्र, भाग १, पृष्ठ ६८।

४. जातककालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १५९।

५. दीपवंश ५, ६८।

६. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२७-१३०।

इन सभी तथ्यों पर मैंने अपने प्रबन्ध में प्रकाश डाला है और सप्रमाण ऐतिहासिक सत्य का उद्घाटन किया है।

दूसरे अध्याय में सन्तमत के स्रोत पर विचार किया गया है और बतलाया गया है कि किस प्रकार बौद्धधर्म की भित्ति पर सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय से सन्तमत का उदय हुआ था। इस अध्याय के अन्तर्गत महायान के विकास के साथ वज्रयान, सहजयान, सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय पर प्रकाश डालते हुए बतलाया गया है कि निर्गुणवादी सन्तों की विचारधारा पूर्णरूप से बौद्धधर्म से प्रभावित थी और यह विचारधारा सिद्धों से होकर नाथों तक पहुँची थी तथा सन्तों ने नाथों से उसको ग्रहण किया था। अर्थात् जो बौद्धधर्म की निर्गुण (शून्य) विचारधारा सिद्धों और नाथों से होकर प्रवाहित हुई थी, उसी से सन्तमत का उदय हुआ था।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह कथन समीचीन नहीं है कि पालि त्रिपिटक मे जो तन्त्र-मन्त्र के बीज पाये जाते हैं, वे पीछे के हैं[1]।

डॉ० धर्मवीर भारती का यह मत भी ठीक नहीं है कि वज्रयान और सहजयान में बहुत अन्तर नहीं है[2]।

मैंने इन बातों पर भली प्रकार प्रकाश डाला है और अपने मौलिक तथ्य प्रस्तुत किये हैं।

तीसरे अध्याय में पूर्वकालीन सन्तों का बौद्धधर्म से सम्बन्ध दिखलाया गया है और संक्षेप में उनका परिचय देते हुए उनकी वाणियों में समाविष्ट बौद्धधर्म के तत्वों का विवेचन किया गया है। इन पूर्वकालीन सन्तों में कुछ निर्गुण उपासक थे और कुछ सगुण, किन्तु इनकी मूलभावना, साधना, आचार-व्यवहार आदि पर बौद्धधर्म की पूरी छाप पड़ी थी। मैं कह सकती हूँ कि वे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि के अनुयायी होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध भी थे। उनकी वाणी में, उनके चिन्तन में और उनके आचरण में अपने रूपान्तरित स्वरूप में बौद्ध-धर्म विद्यमान था।

चौथे अध्याय में प्रमुख सन्त कबीर तथा उनके समसामयिक सन्तों पर बौद्धधर्म के प्रभाव का विवेचन किया गया है। कबीर के जीवन, धर्म, साधना आदि के सम्बन्ध मे विद्वानों ने अनेक प्रकार से प्रकाश डाला है किन्तु किसी ने भी विस्तारपूर्वक बौद्ध-प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत नहीं किया है। मैंने सिद्ध किया है कि कबीर का जन्म काशी में ही हुआ था और वे अपने माँ-बाप की सन्तान थे। उनके पूर्वज कोलिय जाति-परम्परा के थे, इसीलिए उन्होंने अपने को "कोरी", "कोलो" आदि नामों से अभिहित किया है। साथ ही कबीर का निर्गुणवाद, विचार-स्वातंत्र्य तथा समता, उलटवासियाँ, सत्तनाम, गुरुभक्ति, सहजसमाधि, हठयोग, अवधूत, सुरति-निरति आदि बौद्धधर्म से पूर्ण रूप से प्रभावित हैं।

---

१. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३६। २. सिद्ध साहित्य, पृष्ठ १४९।

कबीर ने बौद्धधर्म का अध्ययन नहीं किया था और न तो किसी बौद्ध-विद्वान् से उनका सत्संग ही हुआ था, किन्तु बौद्ध-विचारों से प्रभावित सन्तों की परम्परा तथा जनसमाज में व्याप्त बुद्ध-शिक्षा का प्रभाव उन पर पड़ा था। मैंने इस अध्याय में एक नवीन प्रस्थापना प्रस्तुत की है, जिससे हिन्दी-जगत् प्रायः अपरिचित रहा है। मैंने स्पष्ट कर दिया है कि कबीर ने बौद्धधर्म के शील, निर्वाण, समाधि, ज्ञान, स्मृति, अशुभ, अनित्य, दुःख, कर्मफल के विश्वास, पाप-पुण्य, प्राणायाम, अनासक्तियोग, क्षणभंगुरता आदि का अपने शब्दों में वर्णन किया है और "सत्यनाम" वाले बुद्ध को ही निराकार "सत्तनाम" माना है। इसी प्रकार पीपा, रैदास, धन्ना, मीराबाई आदि सन्तों पर भी बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था।

अनहद, सत्तनाम, हठयोग, अवधूत, सुरति-निरति आदि शब्दों की व्याख्या मैंने नये ढंग से की है। यह मेरे शोध-प्रबन्ध की मौलिक विशेषता है।

पाँचवें अध्याय में सिख गुरुओं पर पड़े बौद्ध-प्रभाव का अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। यह अध्याय अपनी दिशा में सर्वथा ही मौलिक अनुसन्धान है। अबतक किसी भी विद्वान् ने इस ओर इंगित नहीं किया था। मैंने सिख गुरुओं के जीवन-वृत्तान्त के साथ ही उन पर बौद्ध-प्रभाव का सप्रमाण विवेचन किया है।

छठें अध्याय में सन्तों के सम्प्रदायों में बुद्धवाणी और बौद्ध-साधना का अध्ययन किया गया है तथा यह स्पष्ट किया गया है कि इन सन्त-सम्प्रदायों में उनके पूर्ववर्ती सन्तों की विचारधारा प्रवाहमान थी, अतः इन सन्त-सम्प्रदायों में बुद्धवाणी और बौद्ध-साधना का समन्वय भी उसी प्रकार हुआ है जैसा कि इनके पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियों मे मिलता है।

इस अध्याय मे वर्णित कुछ सन्त सम्प्रदायों के सिद्धान्तों की जानकारी के लिए मुझे पाण्डुलिपियों तक का अध्ययन करना पड़ा और फर्रुखाबाद, पन्ना आदि नगरों तक की यात्राएँ करनी पड़ीं।

साध सम्प्रदाय के सम्बन्ध में डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल का यह कथन समीचीन नहीं है कि साध-दर्शन पर इस्लाम का प्रभाव पड़ा है[1]। इसी प्रकार श्री परशुराम चतुर्वेदी की "सत्तनाम" की व्याख्या भी ग्राह्य नहीं है[2]। मैंने अपने प्रबन्ध में इन तथ्यों पर अनुसन्धानात्मक प्रकाश डाला है।

मुझे अपने शोध-कार्य के निमित्त अनेक पुस्तकालयों से सहायता लेनी पड़ी। प्रणामी धर्म के ग्रन्थों के अध्ययन-कार्य में अखिल भारतीय प्रणामी धर्म सेवा समाज, पद्मावती पुरी (पन्ना) के मन्त्री महोदय से बड़ी सहायता प्राप्त हुई। उन्होंने अपने सम्प्रदाय के मुद्रित-अमुद्रित सभी ग्रन्थों को मुझे पढ़ने को

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४०।

२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५३८।

अनुमति दी, जबकि उन्हें केवल प्रणामी लोगों के लिए ही पढ़ने की अनुमति है। इस उपकार के लिए मैं उनका आभार मानती हूँ। मूलगन्ध कुटी विहार पुस्तकालय, सारनाथ के पुस्तकालयाध्यक्ष तथा महाबोधि सभा, सारनाथ के मन्त्री पूज्य भदन्त संघरत्न नायक स्थविर की भी मैं कृतज्ञ हूँ जिन्होंने कि मेरे अध्ययन-कार्य में यथासम्भव सहायता प्रदान की है।

मैं पाँच वर्षों के सतत परिश्रम से इस शोध-प्रबन्ध को प्रस्तुत करने में समर्थ हो सकी हूँ। इस कार्य में गुरुजनों का आशीर्वाद सदा सहायक रहा है। मैं उन्हें अपनी विनम्र प्रणति निवेदन करती हूँ।

मुझे आशा है कि इस शोध-प्रबन्ध से हिन्दी-सन्तों के सम्बन्ध में अनेक प्रचलित भ्रान्तियाँ दूर होंगी और मेरी यह कृति हिन्दी-साहित्य के लिए एक नयी देन सिद्ध होगी।

—विद्यावती 'मालविका'

विषय-सूची

पहला अध्याय

बौद्धधर्म का भारत में विकास

(पाँचवीं शताब्दी ईस्वी पूर्व से तेरहवीं शताब्दी ईस्वी तक)

[अ] स्थविरवाद बौद्धधर्म
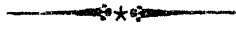
प्राग्बौद्धकालीन भारतीय समाज, धर्म और दर्शन

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व भारतीय समाज की सुव्यवस्थित परम्परा एवं दृढ़ बन्धन शिथिल हो गये थे। वैदिक काल की आश्रम-व्यवस्था धीरे-धीरे स्वतंत्र हो गयी थी और उसमें परिवर्तन आ गया था। धार्मिक अनुष्ठानों ने रूढ़ियों का स्थान ले लिया था। यज्ञ का आयोजन हिंसात्मक हो गया था। यद्यपि वैदिक काल में यज्ञ हिंसा-रहित होते थे। सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मिकसुत्त में उसी प्राचीन व्यवस्था की ओर इंगित करते हुए कहा गया है—"पुराने ब्राह्मणों की चर्या के अनुसार चलने वाले ब्राह्मण इस समय नहीं दिखायी देते[1]। यज्ञ के उपस्थित होने पर वे गौवों का बध नहीं करते थे[2]। पहले केवल तीन रोग थे—इच्छा, भूख और बुढ़ापा। पशु-बध से अट्ठानबे हो गये है[3]।" तथागत वैदिक मुनियों के इसलिये प्रशंसक थे कि वे अहिंसक, संयमी एवं धार्मिक थे[4]। किन्तु उनके कर्म-काण्ड की विधि से जनता का मन ऊब-सा गया था और वह अब आध्यात्मिक चिन्तन की ओर अग्रसर हो रही थी। वैदिक देवताओं की अपेक्षा ईश्वर, आत्मा, मुक्ति आदि की चर्चायें हुआ करती थीं। उस समय उत्तर भारतीय समाज में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र—ये चारों वर्ण थे, किन्तु इनकी जातियाँ नहीं थीं। कहीं-कहीं और कभी-कभी ही व्यवसाय के अनुसार नीच-ऊँच की भावना दृष्टिगत होती थी, किन्तु जाति-पाँति या छूआछूत की भावना जैसी कि बाद में उत्पन्न हुई, उस समय नहीं थी। वर्ण भी कर्मप्रधान ही थे, किन्तु उनमें धीरे-धीरे जन्मजात श्रेष्ठता एवं हीनता की भावना घर करती जा रही थी, जिसका कि पीछे तथागत को विरोध

---

१. सुत्तनिपात, भिक्षु धर्मरत्न द्वारा हिन्दी में अनूदित, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ५७।
२. वही, गाथा संख्या १२।
३. वही, गाथा संख्या २८–२९।
४. इसयो पुब्बका आसुं, सञ्ञतत्ता तपस्सिनो–वही, गाथा १, पृष्ठ ५८।

करना पड़ा था और कहना पड़ा था कि "व्यक्ति कर्म से ही नीच-ऊँच होता है, जन्म से नहीं[1]।" बौद्ध साहित्य में ऐसे स्थल मिलते है जिनसे ज्ञात होता है कि वर्ण-व्यवस्था यद्यपि व्यवसाय तक ही सीमित थी और विभिन्न वर्णो के स्त्री-पुरुष का वैवाहिक सम्बन्ध हो सकता था, किन्तु दोनों से उत्पन्न सन्तान उच्च वर्ण की ही मानी जाती थी[2]।

समाज कई श्रेणियों में विभक्त था, जिनमे राजन्य, प्रभुवर्ग, वणिक्, कृषक, पूजक आदि प्रमुख थे, राजन्य और प्रभुवर्ग शासन-व्यवस्था सम्हालता था। उस समय राजतंत्र एवं गणतंत्र प्रणालियों में उत्तर भारत का राजनैतिक विभाजन था। मगध, कोशल, अंग, वज्जी, मल्ल, काशी, शूरसेन, वत्स, अवन्ति आदि शासन की इकाइयाँ थीं जो सोलह महाजनपदों[3] में शासित थीं। इनमें मगध, वज्जी, काशी, कोशल, अवन्ति आदि शक्तिशाली एवं सुदृढ़ राजनयिक आधारशिला पर स्थित थे। शेप सामयिक लाभ उठाकर अपनी स्थिति बनाये रखे थे। इन सभी जनपदों का पारस्परिक व्यापार-सम्बन्ध था। एक राज्य के व्यापारी दूसरे राज्य में निर्भय एवं निष्कंटक विचरण कर सकते थे। वणिक् मार्गो से होकर अंग-मगध के व्यापारी उत्तरापथ के नगरों तक जा सकते थे और गन्धार तथा मद्र देश के वणिक् मध्य मण्डल[4] एवं अपरान्त और प्रत्यान्त प्रदेशों में अपने देश की बहुमूल्य वस्तुओं के विक्रय हेतु विचरण कर सकते थे। यही नहीं, ताम्रलिप्ति[5] से नौका द्वारा स्वर्णभूमि[6] तथा पूर्वी द्वीपसमूहों तक भारतीय वणिक् जाते थे। ऐसे ही सुप्पारक पट्टन से बेबिलोन, अलेक्जेण्ड्रिया आदि पश्चिम के देशों तक अपने माल-वाहक पोतों के द्वारा पहुँचते थे। पश्चिमी कान्तारों एवं स्थल मार्गों से होकर तत्कालीन भारतीय सार्थवाह अफगानिस्तान, अरब, ईरान आदि होते हुए यूरोप के नगरों तक पहुँचते थे। सिंहलद्वीप पर भारतीय उपनिवेश की स्थापना लाट[7] प्रदेश से नौका द्वारा गये हुए एक भारतीय राजकुमार ने ही की थी, जिसका विस्तृत वर्णन महावंश[8] में आया हुआ है। इसका चित्रांकन अजन्ता के गुहाचित्रों में भी किया गया है।

कृषक वर्ग खेती करता था और उसी में अपना गौरव समझता था। क्षत्रिय, ब्राह्मण—सभी लोग हल चलाते थे। हल चलाना हीन कार्य नहीं समझा जाता था। नरेश भी विशेष अवसरों पर हल चलाते थे। पालि साहित्य मे महाराज शुद्धोदन[9] के हल चलाने का वर्णन

---

१. सुत्तनिपात, वसलसुत्त, गाथा २१, पृ० २६।
२. दीघनिकाय, अम्बट्ठसुत्त १, ३।
३. सोलह जनपद ये थे—काशी, कोशल, अंग, मगध, वज्जी, मल्ल, चेदि, वत्स, कुरु, पंचाल, मत्स्य, शूरसेन, अश्वक, अवन्ति, गन्धार और कम्बोज। –संयुत्तनिकाय भूमिका, पृष्ठ १।
४. वर्तमान बिहार तथा उत्तर प्रदेश।
५. वर्तमान तामलुक, जिला मेदिनापुर (पश्चिमी बंगाल)।
६. बर्मा।
७. वर्तमान गुजरात।
८. महावंश, हिन्दी अनुवाद, हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग द्वारा प्रकाशित तथा भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा अनूदित, पृष्ठ ४४–४९।
९. बुद्धचर्य्या, श्री राहुल सांकृत्यायन कृत, पृष्ठ ५–६।

मिलता है। ऐसे ही वैदिक-काल में भी हल चलाने के उल्लेख पाए जाते हैं। बुद्ध-काल में तो कृषि भारद्वाज नामक ब्राह्मण ने तथागत को परामर्श देते हुए कहा था—"श्रमण, मैं जोतता-बोता हूँ, जोताई-बुआई करके खाता हूँ। तुम भी जोतो-बोओ और जोताई-बुआई करके खाओ[1]।" उस समय भगवान् बुद्ध ने भी अपने को कृषक बतलाने में संकोच नहीं किया था। उन्होंने कहा था—"ब्राह्मण, मैं भी जोताई-बुआई करता हूँ और जोताई-बुआई करके खाता हूँ।" कृषि भारद्वाज ने पूछा—"आप अपने को कृषक तो बतला रहे हैं, किन्तु आपकी कृषि नहीं दिखाई देती है।" तथागत ने कहा—"श्रद्धा मेरा बीज है। तप वृष्टि है। प्रज्ञा मेरी जुआठ और हरीश है, लज्जा हरीश का दण्ड है। मन जोत है। स्मृति फाल और छेकुनी है[2]।"

कृषक वर्ग के अतिरिक्त चिड़ीमार, जुलाहे, डालिया बनानेवाले, बढ़ई, नाई, कुम्हार, लोहार आदि पेशा करने वाले थे। ऐसे ही चण्डाल, पुक्कुस आदि भी निम्न श्रेणी के व्यवसायी लोग थे। दास प्रथा का प्राधान्य था। कुछ पश्चिमी इलाकों में आर्य दास और दास आर्य हो सकते थे। दास प्रायः घरेलू नौकर होते थे, जिनके साथ अच्छा व्यवहार किया जाता था। सब लोग खान-पान एक साथ कर सकते थे। केवल कुछ परिस्थितियों में ही भिन्न व्यवसायियों के साथ खान-पान निंद्य माना जाता था। ऐसे वर्णन मिलते हैं कि लोग अपने जातिगत अथवा परम्परागत व्यवसाय को छोड़कर इच्छानुसार दूसरे व्यवसाय को कर सकते।

महिलायें गृह-कार्य में दक्ष होती थीं और गृहस्वामिनी मानी जाती थीं। सूत कातना और कपड़ा बुनना उनका एक प्रमुख कार्य था। महिला वर्ग की दशा वास्तव में चिन्तनीय थी। उन्हें स्वतंत्रता नहीं थी और न तो वे धार्मिक अनुष्ठानों में पुरुष के समान सम्मिलित हो सकती थीं। वे अपवित्र एवं अशुद्ध मानी जाती थीं, किन्तु अब धीरे-धीरे महिला वर्ग में नवचेतना उत्पन्न होने लगी थी और उसी के फलस्वरूप बुद्धकाल में भिक्षुणियों तथा साध्वियों के संघों का प्रादुर्भाव हुआ। महिलाओं में शिक्षा का प्रायः अभाव-सा था। उनके पठन-पाठन की समुचित व्यवस्था न थी। समाज में गणिकाओं का भी स्थान था जो संगीत-नृत्य में निपुण होती थीं। कुछ राज्यों में परम सुन्दरी तरुणी को "जनपदकल्याणी" के पद से विभूषित किया जाता था। जो एक प्रकार से राजनर्तकी होती थी। उच्चकुलीन साध्वी एवं पतिव्रता ललनाओं का समाज में विशिष्ट स्थान था और इनमें से कुछ विदुषी एवं वीर-वधुएँ भी थीं।

समाज में देवी-देवताओं की पूजा प्रचलित थी। उन्हें प्रसन्न रखने के लिए नाना प्रकार की बलि दी जाती थी। वृक्षदेवता, वनदेवी, चैत्य, पर्वत, कूप, यक्ष, गन्धर्व, नाग आदि की पूजा होती थी[3]। यक्ष बड़े प्रतापी एवं अलौकिक शक्तियों के धनी माने जाते थे। मथुरा, राजगृह, आलवी आदि नगरों में ऐसे यक्षों के अनेक केन्द्र थे। आजकल के डीह और बरम

---

१. सुत्तनिपात, पृष्ठ १५।

२. कसिभारद्वाजसुत्त, सुत्तनिपात, पृष्ठ १५।

३. धम्मपद, गाथा १८८-१८९।

की पूजा उसी पूर्व यक्ष-पूजा की स्मृति लिए विद्यमान हैं[१]। वैदिक काल में यक्ष-प्रश्न को "ब्रह्मोद्य"[२] कहा जाता था। वैदिक साहित्य में "ब्रह्म" शब्द ही यक्ष का सूचक था। उसी का अपभ्रंश "वरम" है[३]। जैन और बौद्ध साहित्य में इन यक्ष-यक्षणियों का विस्तृत वर्णन मिलता है। वैशाली मे चैत्यों की पूजा बहुत प्रचलित थी। वहाँ सात चैत्य थे[४]। कुसीनारा, राजगृह आदि स्थानों में भी चैत्य थे, जिनकी पूजा परम्परा से होती चली आ रही थी और उन्हे शक्तिशाली यक्षों से अधिगृहीत माना जाता था।

तंत्र-मंत्र का भी प्रचलन था, किन्तु तंत्र-मंत्र तथा यक्ष-पूजा को उत्कृष्ट नहीं माना जाता था। ऐसी अनेक जीविकाएँ थीं जिन्हे हीन समझा जाता था। जैसे अंग-विद्या, अग्नि-हवन, दर्वी-हवन, तुष-होम, तण्डुल-होम, तैल-होम, घृत-होम, मुख से घृत लेकर कुल्ले से होम आदि[५]।

ज्योतिष में लोगों का विश्वास था, किन्तु कुछ लोग ऐसे थे, जो ज्योतिष को अन्ध-विश्वास भी मानते थे[६]।

इस काल में शिल्पियों की अवस्था अच्छी थी। उद्योग-धन्धे सुचारु रूप से चलते थे। समाज की आर्थिक स्थिति भी अच्छी थी। वस्त्र-उद्योग पर्याप्त उन्नति पर था। कुटीर-धन्धों में लगे हुए लोग सुखी एवं प्रसन्न थे। व्यवसायिक केन्द्र अथवा नगर वणिक्-पथों और जलमार्गों के किनारे अवस्थित थे। वाराणसी, साकेत, श्रावस्ती, मथुरा, कौशाम्बी, वैशाली, राजगृह, चम्पा, तक्षशिला, कान्यकुब्ज, कुसीनारा आदि ऐसे ही नगर थे। सबको अपने व्यवसाय की स्वतंत्रता थी। समाज में आर्थिक स्थिति के अनुसार भी एक मापदण्ड था, जिसके अनुसार क्षत्रिय-महाशाल, ब्राह्मण-महाशाल, श्रेष्ठि, महाश्रेष्ठि, अनुश्रेष्ठि और उत्तरश्रेष्ठि पदों से धनवान् लोग विभूषित थे। राजा इनका बड़ा सम्मान करते थे और अनेक कार्यों में इनसे परामर्श लिया करते थे[७]।

शिक्षा की व्यवस्था गुरुकुलों में होती थी। जहाँ आचार्य को दक्षिणा देकर अथवा सेवा करके छात्र शिक्षा ग्रहण करते थे। निर्धन और धनी सभी प्रकार के छात्र समान रूप से एक साथ शिक्षा ग्रहण करते थे। उस समय वाराणसी, तक्षशिला, राजगृह आदि प्रधान शिक्षाकेन्द्र थे। जहाँ अस्त्र-शस्त्र, आयुर्वेद आदि के साथ सभी प्रकार की शिक्षा की व्यवस्था

---

१. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृष्ठ १६।
२. यजुर्वेद ३२, ९ तथा ४५।
३. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास, पृष्ठ १६।
४. महापरिनिब्बान सुत्त, दीघनिकाय, श्री राहुल सांकृत्यायन द्वारा अनूदित, पृष्ठ १३४।
५. ब्रह्मजाल सुत्त, दीघनिकाय, पृष्ठ ४।
६. जातक ४९। हिन्दी साहित्य सम्मेलन द्वारा प्रकाशित, पृष्ठ ३३६।
नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका॥
७. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ५७।

थी। इन गुरुकुलों के शिक्षक आचार्य, उपाध्याय तथा दिशाप्रामोख्य-आचार्य (दिसापामोक्ख आचरिय) होते थे[१]।

जनता सार्वजनिक कार्य करने में अग्रसर रहती थी और अपना उसमें सौभाग्य मानती थी। बाग लगाना, उपवन का निर्माण, पुल बँधवाना, प्याऊ बैठाना, कूप खोदवाना और पथिकों के विश्राम के लिये धर्मशाला बनवाना बहुत ही उत्तम सार्वजनिक कार्य माने जाते थे[२]। मार्ग को साफ करना, गाँवों की सफाई करना तथा सबके उपयोग के योग्य स्थलों को शुद्ध रखना महत्वपूर्ण सार्वजनिक कार्य माने जाते थे[३]।

भगवान् बुद्ध के आविर्भाव के पूर्व उत्तर भारत की धार्मिक एवं दार्शनिक स्थिति जटिल हो गयी थी। नाना प्रकार के मतवाद फैले हुए थे। कर्मकाण्ड एवं अन्धविश्वास में पड़ी हुई जनता धार्मिक एवं दार्शनिक ऊहापोह में ही उलझी हुई थी। एक ओर उपनिषद् आदि के दार्शनिक ज्ञान की चर्चा होती थी तो दूसरी ओर यज्ञ, होम, बलि, मेध आदि कर्मकाण्ड का बोलबाला था। निरीह-पशुओं की बलि यज्ञों में पुण्य की अभिलाषा से लोग करते थे, जिनमें भेंड़, बकरे, गाय, भैंस और साँड़ के अतिरिक्त अश्व, गज और नर-बलि तक का प्रचलन था। दर्शन की स्वाभाविक जटिलताओं से जन-जीवन बोझिल था। उस समय सम्पूर्ण भारत में छः प्रमुख धर्माचार्य अपने-अपने धर्म तथा दर्शन के प्रचार में संलग्न थे। जिनके नाम हैं—(१) पूरण कस्सप (पूर्ण काश्यप), (२) मक्खलि गोसाल (मस्करी गोशाल), (३) अजित केस कम्बलि (अजित केश कम्बलि), (४) पकुधकच्चायन (प्रक्रुध्रकात्यायन), (५) निगण्ठ नाथपुत्त (निर्ग्रन्थ ज्ञातृपुत्र), (६) संजय वेलट्ठिपुत्त (संजय वेलष्ठि पुत्र)[४]। इन्हें तीर्थङ्कर भी कहा जाता था। इनमें पूर्णकाश्यप अक्रियावादी थे। उनका मत था कि संसार में पाप-पुण्य का कोई फल नहीं होता। चाहे कोई कितना ही पाप करे या पुण्य, उसके कारण उसे बुरे-भले विपाक नहीं मिलेंगे[५]। मक्खलि गोसाल दैववादी थे। उनका कथन था कि प्राणियों के कष्ट भोगने का कोई कारण नहीं है। संसार के जीव बिना किसी हेतु के दुःख भोगते हैं। वे अपने वश में नहीं हैं। वे भाग्य के फेर में पड़कर छः जातियों, चौसठ लाख छियासठ योनियों में सुख-दुःख का अनुभव करते हैं। जैसे सूत की गोली फेंकने पर उछलती हुई गिरती है वैसे ही प्राणी आवागमन में पड़कर ही दुःख का अन्त कर सकेंगे[६]। अजित केश कम्बलि उच्छेदवादी थे। उनका सिद्धान्त था कि आत्मा, परमात्मा, लोक, परलोक, माता-पिता, पुण्य-पाप कुछ नहीं है। मनुष्य चार महाभूतों से मिलकर बना है। जब वह मरता है तो पृथ्वी महापृथ्वी में लीन हो जाती है। ऐसे ही जल, तेज (अग्नि) तथा वायु क्रमशः जल,

---

१. जातक १८।

२. संयुत्तनिकाय, प्रथम भाग, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित, वनरोपसुत्त १, ५, ७, पृष्ठ ३३।

३. धम्मपदट्ठकथा, मघमाणवक की कथा।

४. दीघनिकाय १, २, पृष्ठ १९-२२।

५. वही, पृ० १९।

६. वही, पृ० २०।

बौद्धधर्म का भारत में विकास

बुद्ध का आविर्भाव

बुद्ध-जीवनी

जन्म

भगवान् बुद्ध की जन्म-तिथि के सम्बन्ध में अनेक मत हैं। किन्तु महावंश और दीपवंश की गणना के अनुसार बुद्ध-जन्म ६२३ ईस्वी पूर्व माना जाता है[1] और सम्प्रति अधिकांश विद्वान्[2] एवं सभी बौद्ध देश इसी तिथि को ग्रहण करते हैं[3]।

पालि तथा संस्कृत बौद्ध-साहित्यों में भगवान् बुद्ध के जो जीवन-चरित्र उपलब्ध हैं, उनमें अधिक विषमता नहीं है। अपने श्रद्धा-भाजन शास्ता के प्रति व्यक्त सम्मानसूचक एवं चमत्कारिक कुछ बातों को छोड़ कर प्रायः सभी में समानता है। वास्तव में सबका स्रोत एक ही है।

बौद्ध-मान्यता के अनुसार जो व्यक्ति बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प कर दस पारमिताओं[4] को पूर्ण करता है, वह भविष्य में बुद्ध होता है। पारमिताओं को पूर्ण करने के समय उसे 'बोधिसत्व' कहा जाता है। जातकट्ठकथा में गौतम बुद्ध की ५५० पूर्व जन्म-सम्बन्धी कथाएँ आयी हुई हैं, जिनमें उनके द्वारा पारमिताओं के पूर्ण करने का वर्णन है।

गौतम बुद्ध जब बोधिसत्व थे और तुषित स्वर्ग में शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत कर रहे थे, तब तत्कालीन भारतीय समाज के दुःख-दारिद्र्य एवं अस्थिरता को देखकर उसके त्राण के लिए देवताओं ने स्वर्ग में जाकर उनसे प्रार्थना की—

कालोयं ते महावीर उप्पज्ज मातुकुच्छियं।
सदेवकं तारयन्तो बुज्झस्सु अमतं पदं॥

[अर्थ—हे महावीर, अब आपका समय हो गया है, माँ के पेट में जन्म ग्रहण करें (और) देवताओं के सहित (सारे संसार को भव-सागर से) पार करते हुए अमृत-पद (निर्वाण) का ज्ञान प्राप्त करें[5]]।

बोधिसत्व ने देवताओं की प्रार्थना पर अनुकम्पापूर्वक ध्यान दिया और समय, द्वीप, देश, कुल, माता तथा आयु का विचार कर देवताओं को अपने मर्त्यलोक में उत्पन्न होने की स्वकृति दे दी। उन्होंने विचार करते हुए देखा कि सौ वर्ष से कम आयु का समय बुद्धों की

---

१. भगवान् बुद्ध : आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी कृत, पृष्ठ ८९।

२. दी अर्ली हिस्ट्री ऑफ़ इण्डिया : श्री वी० ए० स्मिथ द्वारा लिखित, ऑक्सफोर्ड १९२४, पृष्ठ ४९-५०।

३. इसी आधार पर सन् १९५६ में संसार भर के बौद्धों ने २५००वीं बुद्ध-महापरिनिर्वाण जयन्ती मनाई थी।

४. दस पारमिताएँ ये हैं—दान, शील, नैष्क्रम्य, प्रज्ञा, वीर्य, क्षान्ति, सत्य, अधिष्ठान, मैत्री और उपेक्षा। जातक, हिन्दी, भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा अनूदित, प्रथम भाग, पृष्ठ २७-३३।

५. धम्मपदट्ठकथा १, ८। भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित।

उत्पत्ति के लिए अनुकूल नहीं होता और न तो इससे अधिक लम्बी आयु का समय ही। जब लम्बी आयु होती है तो प्राणियों के जन्म, जरा और मृत्यु का भान नहीं होता। अतः वे अनित्य, दुःख तथा अनात्म सम्बन्धी बुद्धोपदेश को नहीं समझ पाते। ऐसे ही कम आयुवाले प्राणियों में राग-द्वेष बहुत होते हैं। उनपर बुद्धोपदेश का प्रभाव पानी पर खींची लकीर के समान शीघ्र ही नष्ट हो जाता है। अतः बोधिसत्व ने निश्चय किया कि सौ वर्ष की आयुवाला समय ही बुद्धों के उत्पन्न होने का समय है।

द्वीप का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि सभी बुद्ध जम्बूद्वीप में ही जन्म लेते हैं और वह भी उसके मध्यदेश में ही[1]। विनयपिटक में मध्यदेश की सीमा इस प्रकार वर्णित हैं—"मध्यदेश की पूर्व दिशा में कजंगल[2] नामक कस्बा है, उसके बाद बड़े शाल के वन हैं और फिर आगे सीमान्त (प्रत्यन्त) देश। पूर्व-दक्षिण में सललवती[3] नामक नदी है, उसके आगे सीमान्त देश। दक्षिण दिशा में सेतकण्णिक[4] नामक कस्बा है, उसके बाद सीमान्त देश। पश्चिम दिशा में थूण[5] नामक ब्राह्मणगाँव है, उसके बाद सीमान्त देश। उत्तर दिशा में उशीरध्वज[6] नामक पर्वत है, उसके बाद सीमान्त देश[7]।" इसी प्रदेश में बुद्ध, प्रत्येकबुद्ध, प्रधान अग्रश्रावक, महाश्रवक, अस्सी महाश्रावक, चक्रवर्त्ती राजा तथा दूसरे महाप्रतापी क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य पैदा होते हैं और वहीं यह कपिलवस्तु[8] नामक नगर है। मुझे वहीं जन्म लेना है।

कुल का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि आजकल क्षत्रिय-कुल लोकमान्य है, इसीलिए उसी कुल में जन्म लूँगा। शुद्धोदन नामक राजा मेरा पिता होगा। माता का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि बुद्धों की माता चंचल और शराबी नहीं होती, वह दीर्घकाल से पारमिताएँ पूर्ण करनेवाली और जन्म से ही अखण्ड पंचशील का पालन करने वाली होती है और यह महामाया नामक देवी ऐसी ही है। यह मेरी माता होगी। किन्तु उसकी आयु का विचार करते हुए उन्होंने देखा कि दस महीने सात दिन की ही उसकी आयु है[9]।

उस समय कपिलवस्तु नगर में आषाढ़ का उत्सव मनाया जा रहा था। पूर्णिमा के सात दिन पूर्व से ही महामाया देवी ने भी मद्यपान-विरत, मालागन्ध से सुशोभित हो उत्सव मनाना आरम्भ कर दिया था। उन्होंने सातवें दिन प्रातः ही उठ सुगन्धित जल से स्नान कर चार लाख का महादान दिया और सब अलंकारों से विभूषित हो, सुन्दर भोजन ग्रहण कर

---

१. जातक, प्रथम खण्ड, पृष्ठ ६३–६४।
२. वर्तमान कंकजोल, जिला संथाल परगना, बिहार।
३. वर्तमान सिलई नदी (हजारीबाग और मेदनीपुर जिला)।
४. हजारीबाग जिले में कोई स्थान।
५. थानेश्वर, जिला करनाल।
६. हिमालय का कोई पर्वत-भाग।
७. विनयपिटक, महावग्ग ५, ३, २ तथा जातक पृष्ठ ६४ और बुद्धचर्या पृष्ठ १।
८. तिलौरा कोट, तौलिहवा बाजार से दो मील उत्तर (नेपाल राज्य)।
९. जातक निदानकथा।

उपोसथ (व्रत) के नियमों को ग्रहण किया। फिर सु-अलंकृत शयनागार में प्रविष्ट हो सुन्दर शय्या पर लेटे, निद्रित-अवस्था में स्वप्न देखा—

"उसे चार महाराज (दिक्पाल) शय्या-सहित उठाकर हिमवन्त प्रदेश में ले जाकर साठ योजन के मनोशिला के ऊपर सातयोजन छाया वाले महान् शाल वृक्ष के नीचे रखकर खड़े हो गए। तब उनकी देवियों ने आकर महामाया देवी को अनोतत्तदह[1] में लेजाकर मनुष्य-मल दूर करने के लिए स्नान कराया, दिव्य वस्त्र पहनाया, गन्धों से लेप किया, दिव्य फूलों से सजाया। वहीं पास में रजत पर्वत के भीतर सुवर्ण विमान में पूर्व की ओर सिर करके दिव्य शयन बिछवाकर उन्होंने उसे लिटाया। बोधिसत्व श्वेत, सुन्दर हाथी बन सुवर्ण पर्वत पर विचर कर रजत पर्वत पर चढ़े और उत्तर दिशा से आकर उक्त स्थान पर पहुँचे। उनकी रूपहली माला जैसी सूँड़ में श्वेत पद्म था। उन्होंने नाद कर स्वर्ण विमान में प्रवेश कर तीन बार माता की शय्या की प्रदक्षिणा की, फिर दाहिनी बगल को चीर कुक्षि में प्रविष्ट हुए जान पड़े। इस प्रकार बोधिसत्व ने आषाढ़ पूर्णिमा के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में गर्भ में प्रवेश किया।"

दूसरे दिन जागने पर देवी ने इस स्वप्न को राजा से कहा। राजा ने चौसठ प्रधान ब्राह्मणों को बुलवाया, और उनका अधिक सत्कार कर स्वप्न की बात कही। ब्राह्मणों ने कहा, "महाराज, चिन्ता न करें, रानी को पुत्र उत्पन्न होगा। यदि वह घर में रहा तो चक्रवर्ती राजा होगा और यदि घर से निकलकर प्रव्रजित होगा, तो महाज्ञानी बुद्ध होगा।"

बोधिसत्व के गर्भ में आने के समय अनेक प्रकार की चमत्कारिक घटनायें घटित हुईं, जिनका विस्तृत वर्णन निदान-कथा में आया हुआ है[2]। उस समय सब दिशायें शान्त हो गयीं, मृदुल शीतल पवन चलने लगा। असमय में वर्षा होने लगी, जल और स्थल में उत्पन्न होनेवाले सब प्रकार के पुष्प खिल उठे। चारों ओर से पुष्पों की वर्षा हुई। आकाश में स्वर्गीय वाद्य बजने लगे।[3]

मज्झिमनिकाय के अच्छरियधम्म सुत्त[4] के अनुसार जिस समय बोधिसत्व तुषित लोक से च्युत हो माता के गर्भ में प्रविष्ट हुए, उस समय सारे संसार के तेज को मात करने वाला अप्रमाण प्रकाश लोक में प्रकट हुआ। सदा तमसावृत रहनेवाले स्थान भी उस प्रकाश से प्रकाशित हो उठे। पृथ्वी काँप उठी। बोधिसत्व के माता के गर्भ में रहते समय चार देवपुत्रों ने उनकी रक्षा की, जिससे कि कोई मनुष्य या अमनुष्य हानि न पहुँचा सके। उस समय बोधिसत्व की माता स्वभावतः सदाचारिणी थीं। उनका चित्त भोग की इच्छा से किसी पुरुष में नहीं लगा। उन्हें कोई रोग नहीं हुआ। वह सुखी एवं स्वस्थ रहीं[5]।

यह भी कहा गया है कि बोधिसत्व जिस कुक्षि में वास करते हैं वह चैत्य के गर्भ के समान फिर दूसरे प्राणी के रहने या उपभोग करने के योग्य नहीं रहती, इसीलिए उनकी माता

---

१. मानसरोवर झील।
२. जातक निदान-कथा, पृष्ठ ६७।
३. जातक निदान कथा, पृष्ठ ६७।
४. मज्झिम निकाय, पृष्ठ ५०९-५११।
५. मज्झिम निकाय ३, ३, ३ पृष्ठ ५१०।

जन्म के एक सप्ताह के बाद ही मरकर तुषित लोक में जन्म ग्रहण करती है। जिस प्रकार दूसरी स्त्रियाँ दस मास से कम या अधिक में भी बैठी या लेटी भी प्रसव करती है, ऐसा बोधिसत्व की माता नहीं करतीं। वह दस मास बोधिसत्व को कुक्षि में धारण कर खड़ी ही प्रसव करती हैं। यह बोधिसत्व की माता की धर्मता (विशेषता) है[1]।

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा ने लिखा है कि बोधिसत्व का जन्म कपिलवस्तु से चौदह-पन्द्रह मील दूर लुम्बिनी नामक ग्राम में हुआ था ओर लुम्बिनी में शुद्धोदन महाराज की जमींदारी थी जहाँ कभी-कभी वे जाकर रहा करते थे[2]। किन्तु प्राचीन बौद्ध-परम्परा और ग्रन्थों में प्राप्त वर्णनों के आधार पर जातक निदान में वर्णित वृत्तान्त ही सत्य प्रतीत होता है। लुम्बिनी राज-उद्यान था और वहीं बोधिसत्व का जन्म हुआ था, किन्तु वहाँ कोई निवास स्थान नहीं था। महामाया देवी को गर्भ धारण किए दस मास जब पूरे हो गए तब उनकी इच्छा अपने मातृ-गृह (मायके) जाने को हुयी। उन्होंने महाराज शुद्धोदन से कहा। राजा ने कपिलवस्तु से देवदह जाने की सारी व्यवस्था कर उन्हें भेज दिया। कपिलवस्तु और देवदह के बीच में दोनों ही नगर वालों का लुम्बिनी वन नामक एक मंगल शालवन था। वहाँ पहुँचने पर लुम्बिनी वन के प्राकृतिक सौन्दर्य को देखकर देवी के मन में शालवन में विचरण करने की इच्छा हुई। वह शालवन में प्रविष्ट हुई और एक सुन्दर शाल के नीचे जा उसकी डाल पकड़ना चाही। शाल की शाखा स्वतः झुक कर देवी के हाथ के पास आ गयी। उसने उसे पकड़ लिया। उस समय उसे प्रसव-वेदना आरम्भ हुई। लोग कनात घेर स्वयं अलग हो गए। शाल की शाखा पकड़े खड़े ही खड़े प्रसव हुआ था। उस समय चार महाब्रह्मा वहाँ आए और स्वर्ण-जाल में बोधिसत्व को लेकर माता के सम्मुख किया और कहा, "देवि, सन्तुष्ट हो तुम्हें महाप्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ है।" तदुपरान्त चारों महाराजाओं ने और फिर मनुष्यों ने बोधिसत्व को ग्रहण किया। मनुष्यों के हाथ से छूटकर उन्होंने पृथ्वी पर खड़े हो पूर्व दिशा की ओर देखा। उन्होंने सभी दिशाओं का अवलोकन कर उत्तर की ओर सात पग गमन किया और यह महान् वाणी बोलते हुए कहा—"मैं लोक में अग्र हूँ। मैं लोक में श्रेष्ठ हूँ। मैं लोक में ज्येष्ठ हूँ। यह मेरा अन्तिम जन्म है। अब फिर जन्म नहीं होगा[3]।" जातक में कहा गया है कि जिस समय बोधिसत्व लुम्बिनी में उत्पन्न हुए उसी समय में राहुलमाता, छन्न आमात्य, कालउदायी आमात्य, आजानीय हस्तिराज, अश्वराज कन्थक, महाबोधि वृक्ष और खजानों से भरे चार घड़े भी उत्पन्न हुए[4]।

बड़े समारोह के साथ दोनों नगरों के निवासी बोधिसत्व को लेकर कपिवस्तु लौटे। जब देवताओं को यह ज्ञात हुआ कि बोधिसत्व का आविर्भाव मर्त्यलोक में हो गया है, तब वे

---

१. जातक, भाग १, पृष्ठ ६८ तथा बुद्धचर्या पृष्ठ २।
२. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ ९१।
३. अग्गो हमस्मि लोकस्स, सेट्ठो हमस्मि लोकस्स, जेट्ठो हमस्मि लोकस्स, अयं अन्तिमा जाति, नत्थि दानि पुनब्भवोति—मज्झिम निकाय ३, ३, ३, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५११।
४. जातक, प्रथम भाग, पृष्ठ ७०।

प्रसन्नचित्त हो वस्त्रों को उछाल-उछाल क्रीड़ा करने लगे। महाराज शुद्धोदन के कुलमान्य गुरु कालदेवल[1] नामक तपस्वी मनोविनोद के लिए उस समय त्रयस्त्रिंश देवलोक में गए हुए थे। वे ध्यान और समाधि-प्राप्त तपस्वी थे। उन्होंने देवताओं के प्रसन्न होने का कारण पूछा। देवताओं ने उत्तर दिया—"मित्र, शुद्धोदन राजा को पुत्र उत्पन्न हुआ है। वह बोधिवृक्ष के नीचे बैठ बुद्ध हो धर्मचक्र प्रवर्तन करेगा। हम उसकी अनन्त बुद्ध-लीला को देखेंगे और उसके धर्म को सुनेंगे। इसी कारण से हम लोग प्रसन्नचित्त हैं।" उनकी बात सुनकर तपस्वी काल-देवल कपिलवस्तु आये और महाराज शुद्धोदन के राज-भवन में प्रवेश कर बिछे आसन पर बैठ गये। राजा के प्रणाम कर कुशल-मंगल पूछने पर उन्होंने कहा कि "महाराज, आपको पुत्र उत्पन्न हुआ है, उसे मैं देखना चाहता हूँ। राजा ने कुमार को मँगाया और तपस्वी की वन्दना कराना चाही, बोधिसत्व के चरण उठकर कालदेवल की जटा में जा लगे। तपस्वी ने आसन से उठकर बोधिसत्व को प्रणाम किया और उनके शरीर के लक्षणों को देखते हुए यह निश्चय कर लिया कि यह अवश्य बुद्ध होगा। यह अद्भुत पुरुष है और फिर मुस्करा उठा; किन्तु उसने यह भी विचार करते हुए जान लिया कि मैं इसे बुद्ध होने पर नहीं देख सकूँगा। मैं पहले ही मर गया रहूँगा। यह मेरा दुर्भाग्य है—सोचते हुए रो उठा। महाराज शुद्धोदन ने देखा कि हमारे कुलगुरु अभी हँसे और अभी रोने लग गए, तो उन्होंने पूछा—क्या भन्ते, मेरे पुत्र पर कोई संकट तो नहीं पड़ेगा?" "नहीं महाराज!"

"तो आप किसलिए रो रहे हैं?" "इस प्रकार के पुरुष को बुद्ध हुए नहीं देख सकूँगा। मेरा बड़ा दुर्भाग्य है। यही सोच अपने लिए रो रहा हूँ।"

पाँचवें दिन बोधिसत्व को नहलाकर समारोहपूर्वक नामकरण किया गया। उनका नाम सिद्धार्थ कुमार किया गया। उसी दिन राम, ध्वज, लक्ष्मण, मंत्री, कौण्डिन्य, भोज, सुयाम और सुदत्त इन आठ महाज्योतिषियों से बोधिसत्व का भविष्य पूछा गया। उनमें से सात ने भविष्य बतलाते हुए कहा—सिद्धार्थ कुमार ऐसे लक्षणों से युक्त है कि यदि वह गृहस्थ रहा तो चक्रवर्त्ती राजा होगा और यदि प्रव्रजित होगा तो बुद्ध।" उनमें सबसे कम आयु वाले कौण्डिन्य ने कहा—"इसके घर में रहने की सम्भावना नहीं है। यह अवश्य बुद्ध होगा।" तब राजा ने उनसे पूछा—"क्या देख कर मेरा पुत्र प्रव्रजित होगा?"

"चार पूर्व लक्षण।"

"कौन-कौन से चार लक्षण हैं?"

"वृद्ध, रोगी, मृत और प्रव्रजित।"

राजा ने आज्ञा दी—"अब से इस प्रकार के किसी लक्षण को मेरे पुत्र के पास मत आने दो। मैं नहीं चाहता कि मेरा पुत्र बुद्ध बने। मैं तो उसे चक्रवर्ती सम्राट् देखना चाहता हूँ।"

अभी राजकुमार सिद्धार्थ के उत्पन्न होने का उत्सव मनाया ही जा रहा था कि सातवें दिन महामाया देवी ने इस आनन्दित एवं उल्लसित कपिलवस्तु के समाज को असह्य शोकागार

---

१. बुद्धचरित में असित मुनि नाम आया हुआ है—बुद्धचरित १, ८० पृष्ठ १६।

में डालकर इस क्षणभंगुर संसार को त्याग दिया। वह तुषित स्वर्ग में एक रूपवती देवी के रूप में उत्पन्न हुयीं।

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार सिद्धार्थ के पालन-पोषण का भार अपनी दूसरी रानी महाप्रजापती गौतमी को सौंप दिया, जो महामाया की छोटी बहन थीं, कुछ उत्तम रूपवाली धाइयाँ भी नियुक्त की गयीं। बोधिसत्व अनन्त परिवार, महती शोभा और श्री के साथ बढ़ने लगे।

शिक्षा

जब बोधिसत्व कुछ बड़े हुए तो विधिपूर्वक विद्यारम्भ-संस्कार किया गया और उन्हें पाठशाला भेजा गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे। उनके पास बोधिसत्व ने सभी शास्त्रों की शिक्षाएँ प्राप्त कीं। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में उन सभी विद्याओं का विस्तृत वर्णन है जिन्हें कि बोधिसत्व ने अपने गुरु के पास प्राप्त की थीं। उन्होंने बचपन में ही ध्यान लगाने का भी अभ्यास किया था और ध्यान-भावना में उनका विशेष मन लगता था। एक दिन कपिलवस्तु में खेत बोने का उत्सव मनाया जा रहा था। सारा नगर देवताओं के विमान की भाँति अलंकृत था। सभी लोग नये वस्त्र पहने मालागंध से युक्त हो उत्सव मना रहे थे। उस दिन महाराज शुद्धोदन के खेतों में एक हजार हल चल रहे थे। राजा का हल रत्न-सुवर्ण जटित था। बैलों की सींगें और कोड़े भी स्वर्ण-खचित थे। राजा बड़े दल-बल के साथ पुत्र को भी साथ ले वहाँ पहुँचे। खेतों के पास ही एक विशाल सघन छाया वाला जामुन का वृक्ष था। राजा ने उस वृक्ष के नीचे कुमार के लिए एक सुन्दर बिछौना बिछवा राजकुमार को उस पर बैठा सुरक्षा की व्यवस्था कर दी और स्वयं आमात्यों के साथ हल जोतने के स्थान पर गये। वहाँ उन्होंने सुनहले हल को पकड़ा, आमात्यों ने भी एक-एक हल को और शेष जोतने वालों ने भी। हल चलने लगे। खेत जोते जाने लगे। वहाँ भीड़ इकट्ठी थी। लोग तमाशा देखने आये थे। बोधिसत्व के पास बैठी धाइयाँ भी तमाशा देखने के लिए वहाँ आ गयीं। बोधिसत्व इधर-उधर किसी को न देख आसन-मार आश्वास-प्रश्वास को रोक प्रथम ध्यान में स्थित हो गये। धाइयों ने खाने-पीने में कुछ देर कर दी। सभी वृक्षों की छाया घूम गयी, किन्तु उस जामुन वृक्ष की छाया गोल ही खड़ी रही। जब धाइयाँ आयीं तो उन्होंने बोधिसत्व को बिछौने पर आसन-मारे बैठे देखा। उस चमत्कार को देख, उन्होंने जाकर राजा से कहा कि—देव ! कुमार इस तरह बैठे हैं। सभी वृक्षों की छाया लम्बी हो गयी है, किन्तु जामुन की छाया गोलाकार ही खड़ी है। राजा ने भी वेग से आ उस चमत्कार को देखा और उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

विवाह

क्रमशः बोधिसत्व सोलह वर्ष के हुए। राजा ने उनके लिये तीनों ऋतुओं के अनुकूल तीन प्रासाद बनवा दिये और नर्तकियों की व्यवस्था कर दी। बोधिसत्व अप्सराओं के समुदाय से घिरे देवताओं की भाँति प्रासादों में विहरने लगे। एक दिन शाक्यों ने सभा की और महाराज शुद्धोदन से निवेदन किया कि राजकुमार का विवाह कर दिया जाय। राजा ने बात

मान ली और राजपुरोहित को गुणवती कन्या की खोज करने के लिए भेजा। पुरोहित थे बोधिसत्व के अनुकूल दण्डपाणि की कन्या को पाया, किन्तु राजा ने उचित समझा कि राजकुमार को ही कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाय। उन्होंने विवाह-योग्य सभी कन्याओं को राज-प्रासाद में आकर उपहार ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। सातवें दिन कन्यायें राज-प्रासाद में आयीं। बोधिसत्व के सौन्दर्य और तेज से वे उनके सामने देर तक खड़ी न रह सकीं। किन्तु दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा[1] जब उनके पास पहुँची तब एक दूसरे ने एक दूसरे को बड़े प्रेम से देखा। राजकुमार ने उसे उपहार के साथ अपनी बहुमूल्य अंगूठी भी अर्पित कर दी। लोगों को यह देखकर ज्ञात हो गया कि राजकुमार ने यशोधरा को वरण कर लिया।

इसके पश्चात् महाराज शुद्धोदन ने दण्डपाणि के पास अपने पुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, किन्तु दण्डपाणि ने अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ से करने में असमंजस प्रगट किया। उसे संशय था कि राज-प्रासाद में नर्तकियों के साथ दिन व्यतीत करने वाला राजकुमार विविध कलाओं में निपुण होगा। जब यह समाचार सिद्धार्थ को मिला, तब उन्होंने सूचित किया कि मैं कला, शिल्प, रणकौशल अथवा बाहुबल के प्रदर्शन में हर प्रकार प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही प्रतियोगिता का आयोजन किया गया और उसमें सभी शाक्य युवकों को सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। ललितविस्तर के अनुसार इस प्रतियोगिता में निम्नलिखित आयोजन किये गये थे—

(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेंकना।
(२) लिपियों के ज्ञान को प्रदर्शित करना, जिसके निर्णायक विश्वामित्र चुने गये।
(३) गणित के प्रश्नों को शीघ्र और शुद्ध हल करना, जिसके निर्णायक गणना-विशारद अर्जुन थे।
(४) अश्वारोहण।
(५) बाण चलाना, जिसके लिये राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया।
(६) मल्लयुद्ध।
(७) संगीत, नृत्य आदि ललित कला।
(८) काव्य एवं ग्रन्थ-रचना।
(९) ज्योतिष तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान।
(१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्क शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं राजनीति का ज्ञान।

इसके साथ यह घोषणा कर दी गयी कि जो इन प्रतियोगिताओं में विजयी होगा, उसी के साथ राजकुमारी यशोधरा का विवाह होगा। राजकुमारी यशोधरा भी वहाँ जयमाला के

---

१. सिद्धार्थ कुमार की पत्नी का नाम राहुलमाता, यशोधरा (अपदान नामक ग्रन्थ में), गोपा (ललितविस्तर में), बिम्बा देवी (सुमंगल विलासिनी के महापदानसुत्त की अट्ठकथा में), भद्दकच्चाना (महवंश—हिन्दी, पृष्ठ १०) मिलते हैं।

में डालकर इस क्षणभंगुर संसार को त्याग दिया। वह तुषित स्वर्ग में एक रूपवती देवी के रूप में उत्पन्न हुयीं।

महाराज शुद्धोदन ने राजकुमार सिद्धार्थ के पालन-पोषण का भार अपनी दूसरी रानी महाप्रजापती गौतमी को सौंप दिया, जो महामाया की छोटी बहन थीं, कुछ उत्तम रूपवाली धाइयाँ भी नियुक्त की गयीं। बोधिसत्व अनन्त परिवार, महती शोभा और श्री के साथ बढ़ने लगे।

शिक्षा

जब बोधिसत्व कुछ बड़े हुए तो विधिपूर्वक विद्यारम्भ-संस्कार किया गया और उन्हें पाठशाला भेजा गया। उनके शिक्षक गुरु विश्वामित्र थे। उनके पास बोधिसत्व ने सभी शास्त्रों की शिक्षाएँ प्राप्त कीं। ललितविस्तर नामक ग्रन्थ में उन सभी विद्याओं का विस्तृत वर्णन है जिन्हें कि बोधिसत्व ने अपने गुरु के पास प्राप्त की थीं। उन्होंने बचपन में ही ध्यान लगाने का भी अभ्यास किया था और ध्यान-भावना में उनका विशेष मन लगता था। एक दिन कपिलवस्तु में खेत बोने का उत्सव मनाया जा रहा था। सारा नगर देवताओं के विमान की भाँति अलंकृत था। सभी लोग नये वस्त्र पहने मालागंध से युक्त हो उत्सव मना रहे थे। उस दिन महाराज शुद्धोदन के खेतों में एक हजार हल चल रहे थे। राजा का हल रत्न-सुवर्ण जटित था। बैलों की सींगें और कोड़े भी स्वर्ण-खचित थे। राजा बड़े दल-बल के साथ पुत्र को भी साथ ले वहाँ पहुँचे। खेतों के पास ही एक विशाल सघन छाया वाला जामुन का वृक्ष था। राजा ने उस वृक्ष के नीचे कुमार के लिए एक सुन्दर बिछौना बिछवा राजकुमार को उस पर बैठा सुरक्षा की व्यवस्था कर दी और स्वयं आमात्यों के साथ हल जोतने के स्थान पर गये। वहाँ उन्होंने सुनहले हल को पकड़ा, आमात्यों ने भी एक-एक हल को और शेष जोतने वालों ने भी। हल चलने लगे। खेत जोते जाने लगे। वहाँ भीड़ इकट्ठी थी। लोग तमाशा देखने आये थे। बोधिसत्व के पास बैठी धाइयाँ भी तमाशा देखने के लिए वहाँ आ गयीं। बोधिसत्व इधर-उधर किसी को न देख आसन-मार आश्वास-प्रश्वास को रोक प्रथम ध्यान में स्थित हो गये। धाइयों ने खाने-पीने में कुछ देर कर दी। सभी वृक्षों की छाया घूम गयी, किन्तु उस जामुन वृक्ष की छाया गोल ही खड़ी रही। जब धाइयाँ आयीं तो उन्होंने बोधिसत्व को बिछौने पर आसन-मारे बैठे देखा। उस चमत्कार को देख, उन्होंने जाकर राजा से कहा कि—देव! कुमार इस तरह बैठे हैं। सभी वृक्षों की छाया लम्बी हो गयी है, किन्तु जामुन की छाया गोलाकार ही खड़ी है। राजा ने भी वेग से आ उस चमत्कार को देखा और उन्हें हाथ जोड़कर नमस्कार किया।

विवाह

क्रमशः बोधिसत्व सोलह वर्ष के हुए। राजा ने उनके लिये तीनों ऋतुओं के अनुकूल तीन प्रासाद बनवा दिये और नर्तकियों की व्यवस्था कर दी। बोधिसत्व अप्सराओं के समुदाय से घिरे देवताओं की भाँति प्रासादों में विहरने लगे। एक दिन शाक्यों ने सभा की और महाराज शुद्धोदन से निवेदन किया कि राजकुमार का विवाह कर दिया जाय। राजा ने बात

मान ली और राजपुरोहित को गुणवती कन्या की खोज करने के लिए भेजा। पुरोहित थे बोधिसत्व के अनुकूल दण्डपाणि की कन्या को पाया, किन्तु राजा ने उचित समझा कि राजकुमार को ही कन्या-वरण करने का सुअवसर दिया जाय। उन्होंने विवाह-योग्य सभी कन्याओं को राज-प्रासाद मे आकर उपहार ग्रहण करने के लिए निमंत्रित किया। सातवें दिन कन्यायें राज-प्रासाद में आयीं। बोधिसत्व के सौन्दर्य और तेज से वे उनके सामने देर तक खड़ी न रह सकीं। किन्तु दण्डपाणि की पुत्री यशोधरा[1] जब उनके पास पहुँची तब एक दूसरे ने एक दूसरे को बड़े प्रेम से देखा। राजकुमार ने उसे उपहार के साथ अपनी बहुमूल्य अंगूठी भी अर्पित कर दी। लोगों को यह देखकर ज्ञात हो गया कि राजकुमार ने यशोधरा को वरण कर लिया।

इसके पश्चात् महाराज शुद्धोदन ने दण्डपाणि के पास अपने पुत्र के विवाह का प्रस्ताव भेजा, किन्तु दण्डपाणि ने अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ से करने में असमंजस प्रगट किया। उसे संशय था कि राज-प्रासाद में नर्तकियों के साथ दिन व्यतीत करने वाला राजकुमार विविध कलाओं मे निपुण होगा। जब यह समाचार सिद्धार्थ को मिला, तब उन्होंने सूचित किया कि मैं कला, शिल्प, रणकौशल अथवा बाहुबल के प्रदर्शन में हर प्रकार प्रतियोगिता में सम्मिलित होने के लिए प्रस्तुत हूँ। शीघ्र ही प्रतियोगिता का आयोजन किया गया और उसमें सभी शाक्य युवकों को सम्मिलित होने के लिए निमंत्रित किया गया। ललितविस्तर के अनुसार इस प्रतियोगिता में निम्नलिखित आयोजन किये गये थे—

(१) एक हाथी का शव उठाकर दूर फेंकना।
(२) लिपियों के ज्ञान को प्रदर्शित करना, जिसके निर्णायक विश्वामित्र चुने गये।
(३) गणित के प्रश्नों को शीघ्र और शुद्ध हल करना, जिसके निर्णायक गणना-विशारद अर्जुन थे।
(४) अश्वारोहण।
(५) बाण चलाना, जिसके लिये राजकुमार ने अपने पूर्वज सिंहहनु का भारी धनुष लिया।
(६) मल्लयुद्ध।
(७) संगीत, नृत्य आदि ललित कला।
(८) काव्य एवं ग्रन्थ-रचना।
(९) ज्योतिष तथा विविध शास्त्रों का ज्ञान।
(१०) वेद आदि ब्राह्मण साहित्य तथा तर्क शास्त्र, अर्थशास्त्र, दर्शन एवं राजनीति का ज्ञान।

इसके साथ यह घोषणा कर दी गयी कि जो इन प्रतियोगिताओं में विजयी होगा, उसी के साथ राजकुमारी यशोधरा का विवाह होगा। राजकुमारी यशोधरा भी वहाँ जयमाला के

---

१. सिद्धार्थ कुमार की पत्नी का नाम राहुलमाता, यशोधरा (अपदान नामक ग्रन्थ में), गोपा (ललितविस्तर में), बिम्बा देवी (सुमंगल विलासिनी के [illegible] की अट्ठकथा में), भद्दकच्चाना (महवंश—हिन्दी, पृष्ठ १०) मिलते हैं।

साथ उपस्थित थे और प्रदर्शन देख रही थी। राजकुमार सिद्धार्थ विजयी घोषित हुए। यशोधरा ने उन्हें जयमाला पहिनायी तथा दण्डपाणि ने बड़े हर्षपूर्वक अपनी पुत्री का विवाह सिद्धार्थ कुमार से कर दिया। दोनों का वैवाहिक जीवन उक्त प्रासादों में सुखपूर्वक व्यतीत होने लगा।

जातक निदान[1] में सिद्धार्थ कुमार के शिल्पप्रदर्शन का वर्णन विवाहोपरान्त किया गया है और बतलाया गया है कि सिद्धार्थ कुमार के महासम्पत्ति का उपयोग करते हुए देख जाति-बिरादरी में चर्चा छिड़ी कि राजकुमार शिल्प-कला को न सीख भोगों में ही लिप्त हो रहा है। युद्ध आने पर क्या करेगा? बोधिसत्व ने यह बात जब सुनी तब शिल्प-प्रदर्शन का आयोजन कराया और उस समय अक्षणवेध, बालवेध जाननेवाले धनुर्धारियों से भी बढ़कर बारह प्रकार की कलाओं का प्रदर्शन किया। इन कलाओं का विस्तृत वर्णन सरभंग[2] जातक में आया हुआ है।

महाभिनिष्क्रमण

राजकुमार सिद्धार्थ को सांसारिक भोग-विलास में ही लगा देख देवताओं को चिन्ता हुई, उन्होंने जिस कार्य की सिद्धि के लिए तुषित-भवन में जाकर बोधिसत्व से प्रार्थना की थी, उनके मन में निराशा-सी होने लगी। उन्होंने परस्पर मंत्रणा की और निश्चय किया कि सिद्धार्थ को अपने कर्त्तव्य का स्मरण दिलाया जाय। इस कार्य के लिए उन्होंने योजना बना ली।

एक दिन सिद्धार्थ कुमार ने अपने सारथी से कहा कि मैं राजोद्यान चलना चाहता हूँ। रथ तैयार करो। सारथी ने सुन्दर रथ को अलंकृत कर उसमें चार सिन्धु देशीय घोड़ों को जोत बोधिसत्व को सूचना दी। बोधिसत्व रथ पर चढ़ उद्यान की ओर चल पड़े, देवताओं ने अपने निश्चित कार्यक्रम के अनुसार पूर्व-निमित्त दिखलाने का अवसर पाया। उन्होंने एक देवपुत्र को बुढ़ापे से पीड़ित, टूटे दाँत, पके केश, टेढ़े झुके हुए शरीर, हाथ में लकड़ी लिये, काँपते हुए दिखलाया। उसे सारथी और बोधिसत्व ही देखते थे। बोधिसत्व ने सारथी से पूछा, "सौम्य, यह कौन पुरुष है? इसके केश भी दूसरों के जैसे नहीं हैं। शरीर भी दूसरों के जैसा नहीं है?"

"देव, यह बूढ़ा कहा जाता है।"
"सौम्य, बूढ़ा क्या होता है?"
"देव, इसे अब बहुत दिन जीना नहीं है।"
"तो क्या मैं भी बूढ़ा होऊँगा, क्या यह अनिवार्य है?"
"आप, हम सभी लोगों के लिए बुढ़ापा अनिवार्य है।"
"तो बस, उद्यान जाना रहने दो। यहीं से लौट चलो।"

सारथी ने राजकुमार की आज्ञा पा रथ प्रासाद की ओर लौटा दिया। राजकुमार प्रासाद में पहुँच कर दुःखी होकर चिन्ता करने लगा—"इस जन्म लेने को धिक्कार है। जहाँ कि जन्म लेनेवाले को बुढ़ापा सताती है।"

---

१. जातक, प्रथम भाग, पृष्ठ ७६।

२. सरभंग जातक १७, २ (जातक ५२२)। हिन्दी अनुवाद, पंचम खण्ड, पृष्ठ २०९-२३१।

इतना शीघ्र उद्यान से लौटने का कारण राजा ने सारथी से पूछा। सारथी से उक्त घटना को सुनकर राजा चिन्तित हो उठा। ज्योतिषियों की बात याद हो आयी। उसने कहा, मेरा नाश मत करो। पुत्र के लिये शीघ्र ही नृत्य तैयार करो। भोग भोगते हुए उसे विरक्ति नहीं आयेगी। राजा ने पहरा और भी बढ़ा कर राजकुमार की देख-रेख के लिए सबको सतर्क कर दिया।

फिर एक दिन बोधिसत्व ने उसी प्रकार उद्यान जाते हुए देवताओं द्वारा रचित रोगी व्यक्ति को देख सारथी से पूछा—"यह कौन पुरुष है? इसकी आँखें भी दूसरों की जैसी नहीं हैं। ऐसे ही स्वर भी?"

"देव, यह रोगी है।"

"रोगी क्या होता है?"

"यह रोग से पीड़ित है। अब सम्भवतः इस रोग से न उठ सकेगा।"

"क्या मैं भी रोगी होऊँगा?"

"आप, हम, सभी लोग रोगी होंगे, रोगी होना अनिवार्य है।"

उस दिन भी दुःखित-हृदय हो राजकुमार लौट आये।

फिर एक दिन उसी प्रकार उद्यान जाते हुए बोधिसत्व ने देवताओं द्वारा निर्मित मृत पुरुष को देखा और यह भी देखा कि बहुत से लोग एकत्र होकर नाना प्रकार के अच्छे-अच्छे कपड़ों से अर्थी (शीविका) बना रहे हैं। राजकुमार ने सारथी से पूछा—"ये लोग क्या कर रहे हैं?"

"देव, एक व्यक्ति मर गया है।"

"तो जहाँ पर मृतक है वहाँ रथ को ले चलो।"

सारथी रथ को वहाँ ले गया जहाँ कि मृतक था। राजकुमार ने उस मृतक को देखा। देखकर सारथी से पूछा—"यह मरना क्या है?"

"यह मर गया है। अब इसके माता-पिता या दूसरे सम्बन्धी लोग इसको नहीं देख सकेंगे और यह भी उन्हें नहीं देख सकेगा।"

"तो क्या मैं भी मर जाऊँगा? क्या मुझे भी लोग नहीं देख सकेंगे और मैं भी उन्हें नहीं देख सकूँगा?"

"आप, हम, सभी लोग मर जाएँगे। मृत्यु अनिवार्य है।"

राजकुमार यह सुनते ही बहुत दुःखित हुआ और लौट आया। वह सोचने लगा कि यह जीवन बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का घर है। कैसे इससे मुक्त हुआ जा सकता है? इसी चिन्तन में उसके दिन-रात व्यतीत होने लगे।

फिर एक दिन उद्यान जाते हुए बोधिसत्व ने देवताओं द्वारा निर्मित एक मुण्डित काषाय वस्त्रधारी प्रव्रजित (संन्यासी) को देख सारथी से पूछा—"यह कौन पुरुष है? इसका सिर भी मुड़ा है। वस्त्र भी दूसरों के समान नहीं है?"

"देव, यह प्रव्रजित है।"

"प्रव्रजित क्या है?"

"देव, यह अच्छे धर्माचरण के लिए, शान्ति पाने के लिए, अच्छे कर्म करने के लिए, पुण्य संचय करने के लिए और प्राणियों पर अनुकम्पा करने के लिए प्रव्रजित हुआ है।"

"तो जहाँ वह प्रव्रजित है, वहाँ रथ ले चलो।"

प्रव्रजित के पास जाकर राजकुमार ने उससे यह कहा—"हे, आप कौन हैं ?"

"राजकुमार, मैं प्रव्रजित हूँ और अच्छे धर्माचरण के लिए प्रव्रजित हुआ हूँ।"

प्रव्रजित की बात सुनकर राजकुमार का मन प्रव्रज्या में लग गया। उसने उस दिन भर उद्यान में ही विनोद कर पुष्करणी में स्नान किया। वह सूर्यास्त के समय एक प्रस्तर-खण्ड पर वैठा। उस समय उसके परिचारकों ने उसे सुन्दर ढँग से सजाया। यह उसका अन्तिम शृंगार था। जब वह सभी अलंकारों से विभूषित हो राजप्रासाद लौटने के लिए रथ पर आरूढ़ हुआ, तब उसी समय दूतों ने आकर समाचार दिया कि यशोधरा देवी ने पुत्र-रत्न को जन्म दिया है। इस समाचार को सुनकर राजकुमार को प्रसन्नता नहीं हुई, प्रत्युत उसे भय हो आया कि यह सांसारिक बन्धन से मुक्ति के मार्ग में कहीं बाधक न हो। उसके मुख से निकल पड़ा—"राहुलो जातो", अर्थात् विघ्न उत्पन्न हुआ। राजा ने जब दूतों से राजकुमार के मुख से निकली वाणी को सुना, तो नवजात शिशु का नाम "राहुल" ही रखा।

राजकुमार का रथ नगर में प्रविष्ट हुआ। उस समय प्रासाद के ऊपर बैठी कृशा-गौतमी नामक क्षत्रिय कन्या ने बोधिसत्व की रूप-शोभा को देखकर बहुत ही प्रसन्नता तथा हर्ष से यह कहा—

"निब्बुता नून सा माता निब्बुतो नून सो पिता।
निब्बुता नून सा नारी यस्सायं ईदिसो पति॥"

[परम शान्त है वह माता, परम शान्त है वह पिता और परम शान्त है वह नारी, जिसका इस प्रकार का पति हो।]

बोधिसत्व ने यह सुना तो सोचा कि इसने मुझे प्रिय वचन सुनाया है। मैं शान्ति को ढूँढ़ रहा हूँ और इसने उसी का सन्देश दिया है। आज ही मुझे गृह त्याग कर शान्ति की खोज में निकल जाना चाहिए। उन्होंने गुरु-दक्षिणा स्वरूप अपने गले से एक लाख का मोती का हार उतार कर कृशा गौतमी के यहाँ भेज दिया। हार को पा कृशा गौतमी ने यह समझा कि राजकुमार उस पर रीझ गए हैं।

राजकुमार प्रासाद में जा सुन्दर शैय्या पर लेट रहे। सुन्दर अलंकारों से विभूषित, नृत्य और संगीत में दक्ष नर्तकियों ने कुमार को प्रसन्न करने के लिए नृत्य, गीत और वाद्य को प्रारम्भ किया। बोधिसत्व का मन विरक्त होने के कारण नृत्य आदि में नहीं लगा और वे थोड़ी ही देर में सो गये। नर्तकियों ने जब देखा कि बोधिसत्व सो गए हैं, तब वे भी अपने बाजों को साथ लिए ही सो गयीं। उनके सो जाने पर बोधिसत्व की नींद खुली। उस समय सुगन्धित तेल-पूर्ण प्रदीप जल रहे थे। बोधिसत्व ने उन नर्तकियों को देखा। उनमें से किन्हीं के मुख से कफ और लार बहने से उनका शरीर भींग गया था। कोई दाँत कटकटा रही थीं। कोई खाँस रही थीं। कोई बर्रा रही थीं। किन्हीं के मुख खुले हुए थे। किन्हीं के वस्त्र हटे हुए थे। उनके इन विकारों को देखकर बोधिसत्व के मन में और भी विरक्ति उत्पन्न हो

आयी। उन्हें वह अपना प्रासाद-कक्ष सड़ती हुई लाशों से भरे कच्चे श्मशान की भाँति जान पड़ा। सारा संसार जलते हुए घर की तरह दिखाई पड़ा। उनके मुख से निकल पड़ा—"हा कष्ट, हा शोक", उस समय उनका चित्त प्रव्रज्या के लिए अत्यन्त आतुर हो गया। आज ही मुझे महाभिनिष्क्रमण (गृह-त्याग) करना चाहिए।" ऐसा निश्चय कर वे पलँग से उतरे और द्वार के पास जाकर पूछा—"कौन है ?" द्वार के पास सोए हुए छन्दक (छन्न) ने कहा—

"आर्यपुत्र, मैं छन्दक हूँ।"

"आज मैं महाभिनिष्क्रमण करना चाहता हूँ। मेरे लिए एक घोड़ा तैयार करो।"

"अच्छा देव !"

छन्दक ने घोड़सार मे जाकर अश्वराज कन्थक को तैयार किया। इधर बोधिसत्व अपने नवजात पुत्र को देखने की इच्छा से यशोधरा के कक्ष में गए। उस समय घर के भीतर प्रदीप जल रहा था। यशोधरा बेला, चमेली आदि से सजी शय्या पर पुत्र के मस्तक पर हाथ रखे सो रही थी। बोधिसत्व ने पुत्र को अपनी गोद में उठाना चाहा, किन्तु कहीं यशोधरा जाग न जाय, इस भय से चुपचाप खड़े होकर देखा और वहाँ से लोट आये।

बोधिसत्व कन्थक के पास गए और उस पर सवार हो, सारथी छन्दक के साथ नगर से बाहर निकल पड़े। आषाढ़ पूर्णिमा की रात्रि थी। चारों ओर कड़ा पहरा लगा हुआ था। नगर का सिंहद्वार भी बन्द था, किन्तु देवताओं ने अपने प्रताप से नगर के द्वार को खोल दिया और ऐसी माया फैलायी कि सभी रक्षक प्रगाढ़ निद्रा में सो गये। बोधिसत्व जब नगर से निकल कर आगे बढ़े, तब मार ने आकर कहा—"मार्ष, मत निकलें। आज से सातवें दिन आपके लिए चक्ररत्न प्रकट होगा, आप चक्रवर्ती राजा होंगे।"

"तुम कौन हो ?"

"मैं वशवर्ती मार हूँ।"

"मार, मैं भी जानता हूँ कि मेरे लिए चक्ररत्न प्रकट होगा, किन्तु मै चक्रवर्ती राजा नहीं होना चाहता हूँ। मैं तो ज्ञान प्राप्त कर बुद्ध बनना चाहता हूँ।"

"आज से जब कभी तुम्हारे मन में सांसारिक वितर्क उत्पन्न होंगे, तब मैं तुमसे पूछूँगा।" तब से मार छाया की भाँति बोधिसत्व के पीछे लगकर सात वर्षों तक पीछा करता रहा।

बोधिसत्व आगे बढ़ चले, वे रात्रिभर चलते रहे। प्रायः तीन राज्यों[1] को पार कर तीस योजन की दूरी पर 'अनोमा' नामक नदी के तट पहुँचे। उन्होंने सोच लिया कि अब यहीं प्रव्रजित हो जाना चाहिए। घोड़े को उन्होंने ऐंड़ी से संकेत किया। आठ ऋषभ[2] चौड़ी नदी को कन्थक एक छलांग में ही पार कर लिया। उस पार जाकर राजकुमार ने अपने रत्नाभरणों को छन्दक को दे दिया और उसे कन्थक को लेकर कपिलवस्तु लौट जाने को कहा। उन्होंने अपने केश खड्ग से काटकर ऊपर फेंक दिये, जिसे त्रयस्त्रिंश के देवताओं ने ग्रहण कर लिया। बोधिसत्व ने विचार किया कि मुझे प्रव्रजित होने के लिये श्रमण के उपयुक्त

---

१. शाक्य, कोलिय और रामग्राम।

२. एक सौ चालिस हाथ का ऋषभ होता है—अभिधानप्पदीपिका १९६।

वस्त्रादि चाहिए, उस समय घटिकार महाब्रह्मा ने उनके चित्त को जान आठ परिष्कारों[1] को लाकर अर्पित किया। बोधिसत्व ने उन परिष्कारों को ग्रहण कर प्रव्रज्या ग्रहण की। उस समय बोधिसत्व की आयु २९ वर्ष थी।

उधर छन्दक बोधिसत्व को प्रणाम कर कपिलवस्तु की ओर चल दिया। कन्थक को बोधिसत्व की आँखों से ओझल होते ही महान् दुःख हुआ। उसने सोचा कि अब मुझे फिर अपने स्वामी का दर्शन नहीं होगा। उसका कलेजा फट गया और त्रयस्त्रिंश भवन में कन्थक नामक देवपुत्र होकर उत्पन्न हुआ। कन्थक की मृत्यु के पश्चात् छन्दक अकेला ही रोता-कलपता कपिलवस्तु गया।

दूसरे दिन प्रातःकाल कपिलवस्तु में राज-प्रासाद की स्त्रियों ने राजकुमार को न देख राजा के पास इसकी सूचना भेजी। राजा घबड़ाये, दौड़े हुए आये और पूछ-ताछ के पश्चात् ज्ञात हुआ कि राजकुमार प्रासाद छोड़कर चले गये हैं। सारा राज-परिवार दुःखी एवं बहुत सन्तप्त हो गया। उधर छन्दक ने भी राजकुमार के वस्त्राभूषणों के साथ आकर उनके प्रव्रजित होने का समाचार सुनाया। इस समाचार से सारा नगर शोक-सागर में डूब गया। यशोधरा, महाराज शुद्धोदन और महाप्रजापती गौतमी की अन्तर्वेदना एवं मनोदशा का कहना ही क्या था !

आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी ने लिखा है कि सिद्धार्थ कुमार ने चार पूर्वनिमित्तों को देखकर गृहत्याग नहीं किया था, प्रत्युत उन्हें अपने आप्तों (स्वजनों) द्वारा एक-दूसरे से लड़ने के लिए शस्त्रधारण करना भयावह लगा, घर अड़चनों और कूड़े-कचरे का स्थान जान पड़ा और ऐसा लगा कि उन्हें जन्म, जरा, मरण, व्याधि और शोक से मुक्ति पाने का प्रयत्न करना चाहिए[2]। किन्तु जातक, सुमंगलविलासिनी, पपंचसूदनी आदि ग्रन्थों में उक्त चारों निमित्तों का ही वर्णन किया गया है और यह भी कहा गया है कि सभी बोधिसत्व इन्हीं चार निमित्तों को देखकर महाभिनिष्क्रमण करते हैं। जैसे कहा है—

> जिण्णञ्च दिस्वा दुखितञ्च व्याधितं, मतञ्च दिस्वा गतमायुसंखयं।
> कासायवत्थं पब्बजितञ्च दिस्वा, तस्मा अहं पब्बजितोम्हि राज ॥[3]

[हे राजन्, बूढ़े और रोग से पीड़ित, आयु-समाप्त होकर मरे तथा काषाय वस्त्रधारी प्रव्रजित को देखकर मैं प्रव्रजित हुआ हूँ।]

---

१. तिचीवरञ्च पत्तञ्च वासी सूची च बन्धनं।
परिस्सावनेन अट्ठेते युत्तयोगस्स भिक्खुनो ॥
[योग में युक्त भिक्षु के लिए तीन चीवर, पात्र, छुरा, सूई, कायबन्धन और पानी छानने का वस्त्र—ये आठ परिष्कार है।]

२. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ १०६-१११।

३. पपञ्चसूदनी २, ४, ३, सुमंलविलासिनी २, १, जातक आदि में भी।

दीघनिकाय[१] से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतः कौशाम्बी जी का कथन ग्राह्य नहीं है।

साधना

बोधिसत्व ने प्रव्रजित हो अनोमा नदी के किनारे अवस्थित अनूपिया नामक कस्बे के आमों के बाग में एक सप्ताह तक सुखपूर्वक व्यतीत किया। फिर वहाँ से तीस योजन मार्ग पैदल चलकर वे राजगृह पहुँचे। वहाँ उन्होंने भिक्षा के लिए नगर में प्रवेश किया। सारा नगर उनके रूप को देखकर आश्चर्य-चकित हो गया। मानों इन्द्र श्रमण-वेश में नगर में आ गया हो। यह समाचार राजा बिम्बिसार के पास भी पहुँचा। राजा ने प्रासाद के ऊपर खड़े हो बोधिसत्व को देखा और इनके सम्बन्ध में विशेष जानकारी प्राप्त करने के लिए अपने गुप्त-चरों को आज्ञा दी। गुप्तचर पीछे लग गये। बोधिसत्व ने भिक्षान्न ग्रहण कर नगर से निकल पाण्डव पर्वत की छाया मे बैठकर भोजन करना प्रारम्भ किया। उस समय उनके आँत मुख से निकलने के समान जान पड़ने लगे, क्योंकि उन्होंने ऐसा भोजन कभी आँख से देखा भी न था। उन्होंने अपने मन को समझाया और अपने उद्देश्य का स्मरण किया तथा शान्त होकर भोजन किया। राजा ने इन सब बातों को गुप्तचरों से सुनकर स्वयं बोधिसत्व के पास आ अपने सभी ऐश्वर्य अर्पित करने के लिए कहा और यह भी निवेदन किया कि आप संन्यास त्याग कर राज-ऐश्वर्य का अनुभव करें। किन्तु बोधिसत्व ने किसी भी प्रकार जब बिम्बिसार की प्रार्थना स्वीकार नहीं की, तब उसने यह अन्तिम निवेदन किया—"अच्छा, जब आप बुद्ध हों, तो पहले मेरे राज्य में आने की कृपा करें।"

बोधिसत्व राजा को वचन दे आलार कालाम के आश्रम में गये। वहाँ उससे ध्यान-समाधि की बातें सीखीं और आकिंचन्यायतन को प्राप्त कर लिया, किन्तु इतने से उन्हें सन्तोष नहीं हुआ। वे उद्रक रामपुत्र के पास गये और वहाँ उससे नैवसंज्ञानासंज्ञा का अभ्यास किया। फिर भी इस ध्यान-समापत्ति के लाभ से उन्हे पूर्ण शान्ति की प्राप्ति नहीं हुई। वे राजगृह को त्यागकर मगध देश में विचरण करते, जहाँ उरुबेला नामक स्थान था, वहाँ पहुँचे। कौण्डिन्य, भद्दिय, वप्प, महानाम और अस्सजी नामक पाँच परिव्राजक भी, जो उनके साथी हो गए थे, वे भी विचरण करते वहीं पहुँचे। बोधिसत्व ने वहाँ एक रमणीक सुन्दर भूमि-भाग में एक नदी को बहते देखा, जिसका घाट रमणीय एवं श्वेत था। चारों ओर विचरण करने के लिए ग्राम थे। उन्होंने यह देखकर सोचा—मेरी साधना के लिए यह स्थान बहुत उपयोगी है[२]। और दुष्कर तपश्चर्या प्रारम्भ कर दी। पाँचों परिव्राजक (पंचवर्गीय) "अब बुद्ध होंगे, अब बुद्ध होंगे" इस आशा से छः वर्षों तक बोधिसत्व की सेवा में लगे रहे। उस समय बोधिसत्व अक्षत तिल-तण्डुल से कालक्षेप करने लगे। पीछे आहार ग्रहण करना भी छोड़ दिये। देवता रोम के छिद्रों से उनके शरीर में ओज डालते थे। वे निराहार के कारण बहुत दुबले

---

१. दीघनिकाय २, १; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०९।

२. मज्झिम निकाय १, ३, ६; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०५।

हो गये। उनका स्वर्ण वर्ण शरीर काला हो गया। उनके शरीर में विद्यमान बत्तीस महा-पुरुष लक्षण छिप गये। एक बार श्वासरहित ध्यान करते समय बहुत ही क्लेश से पीड़ित एवं वेहोश हो टहलने के चतूबरे पर गिर पड़े। तदुपरान्त उन्होंने सोचा कि यह बुद्धत्व प्राप्त करने का मार्ग नहीं है। उन्हें अपने बचपन में जामुन वृक्ष के नीचे ध्यान लगाने की बात याद आई। उन्होंने सोचा शायद वही ज्ञान का मार्ग हो, किन्तु अत्यन्त कृश पतली काया से वह ध्यान-सुख मिलना सुकर नहीं था[१]। अतः उन्होंने पुनः आस-पास के ग्रामों में भिक्षाटन करके भोजन ग्रहण करना प्रारम्भ कर दिया। अब उनका शरीर पूर्ववत् स्वर्ण वर्ण हो गया। तब पंचवर्गीय भिक्षुओं ने सोचा कि छः वर्षों तक दुष्कर तपस्या करने पर भी यह बुद्ध नहीं हो सके। अब ग्रामों मे भिक्षा माँगकर भोजन कर रहे हैं, तो क्या बुद्ध होंगे? ये तो लालची हैं। तप के मार्ग से भ्रष्ट हैं। वे बोधिसत्व का साथ छोड़ वहाँ से अठारह योजन दूर ऋषि-पतन[२] को चले गये।

सुजाता की खीर

उस समय उरुवेला प्रदेश मे सेनानी नामक एक ग्राम था। जहाँ सेनानी नाम का ही एक सम्पन्न गृहस्थ रहता था। उसको सुजाता नामक एक पुत्री थी। सुजाता जब तरुणी हुई, तब उसने एक बरगद के वृक्ष पर देवता मानकर यह प्रार्थना की थी, "यदि मै अच्छे घर में विवाहित होकर पहले गर्भ से ही पुत्र प्राप्त करूँगी, तो बहुत बड़ी पूजा करूँगी।" उसकी वह प्रार्थना पूर्ण हुई। उसका विवाह वाराणसी नगरी में नगर-श्रेष्ठि के पुत्र से हुआ और पहले गर्भ से यश कुलपुत्र नामक सुन्दर पुत्र प्राप्त हुआ। वह जब अपनी ससुराल से सेनानी ग्राम लौटी, तब बोधिसत्व की दुष्कर तपश्चर्या के छः वर्ष व्यतीत हो चुके थे। सुजाता ने बरगद वृक्ष की पूजा के निमित्त आयोजन किया। वैशाख पूर्णिमा के प्रातः ही उसने शुद्ध गाय के दूध से खीर पकाना आरम्भ किया और अपनी पूर्णा नामक दासी को भेजकर देवस्थान को साफ करने के लिए कहा। वह जल्दी-जल्दी वृक्ष के नीचे गयी। उधर बोधिसत्व भी प्रातः काल शौच आदि से निवृत हो भिक्षा-काल की प्रतीक्षा करते हुए उसी वृक्ष के नीचे आकर बैठे। जब पूर्णा ने उन्हें देखा तो समझा कि वृक्ष-देवता स्वयं अपने हाथ से पूजा ग्रहण करने के लिए बैठे हैं। उसने शीघ्र लौटकर यह बात सुजाता से कही। सुजाता यह सुनते ही प्रसन्न हो उठी। वह खीर को थाल में रख दूसरे सोने के थाल से ढँक कपड़े से बाँध कर सब अलंकारों से अलंकृत हो थाल को अपने सिर पर रख वृक्ष की ओर चल पड़ी। वह बोधिसत्व को वृक्ष के नीचे देख बहुत सन्तुष्ट हुई और उन्हें वृक्ष का देवता समझ पहले देखने के स्थान से ही सम्मान-पूर्वक झुककर जा, सिर से थाल को उतारा और जल सहित बोधिसत्व के पास जा खड़ी हुई। घटिकार महाब्रह्मा द्वारा प्रदत्त मिट्टी का भिक्षा-पात्र इतने समय तक सदा बोधिसत्व के पास रहा, किन्तु इस समय वह अदृश्य हो गया। बोधिसत्व ने भिक्षा-पात्र को न देख दाहिने हाथ को फैलाकर जल ग्रहण किया। सुजाता ने पात्र सहित खीर को उन्हें अर्पण किया। बोधिसत्व

---

१. मज्झिम निकाय २, ४, ५; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३४५।

२. वर्तमान सारनाथ, जिला वाराणसी, उत्तर प्रदेश।

ने सुजाता की ओर देखा। उसने "आर्य, मैंने आपको यह प्रदान किया है। इसे ग्रहण कर यथारुचि पधारिये।" कह वन्दना की और फिर "जैसे मेरा मनोरथ पूर्ण हुआ, वैसे ही आपका भी पूर्ण हो।" कहकर एक लाख मुद्रा के मूल्य के उस स्वर्णथाल को पुराने पत्तल की भाँति छोड़कर चल दिया।

बोधिसत्व उस स्थान से उठकर थाल सहित निरंजरा नदी के किनारे गये। थाल को किनारे रख नदी में स्नान किया और फिर उनचास ग्रास करके उस खीर को खाया। फिर उसके पश्चात् सात सप्ताह तक उन्होंने कोई अन्न ग्रहण नहीं किया। खीर खा लेने के पश्चात् सोने के थाल को नदी मे फेंक दिया।

मार-विजय

बोधिसत्व नदी के किनारे सुपुष्पित शालवन मे दिन बिताते सायंकाल बोधिवृक्ष के पास गये। उस समय श्रोत्रिय नामक एक घास काटने वाला व्यक्ति सामने से आ रहा था। उसने उन्हें आठ मुट्ठी तृण दिया। उन्होंने तृण ले बोधिवृक्ष के नीचे जा तृणों के अग्रभाग को पकड़ कर हिलाया, जिससे आसन बन गया। बोधिसत्व ने बोधि-वृक्ष को पीठ की ओर करके पूर्व-मुख बैठ अपराजित आसन लगा यह संकल्प किया—"चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डी ही क्यों न शेष रह जायँ, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जायँ, किन्तु तो भी सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।"

उस समय देवपुत्र मार ने सोचा कि बोधिसत्व मेरे अधिकार से बाहर निकल जाना चाहते हैं। इन्हें नहीं निकलने देना चाहिए। वह शीघ्र अपनी सेना के पास गया और मार-घोषणा करवा अपनी सेना लेकर निकल पड़ा। मार सेना के बोधिवृक्ष के पास पहुँचने पर उनमें से एक भी बोधिसत्व के सामने खड़ा न रह सका। सभी सामने आते ही भाग निकले। बोधिसत्व अकेले ही बैठे रहे। मार ने अपने अनुचरों से कहा कि हम लोग सिद्धार्थ से सामने से युद्ध नहीं कर सकते, अतः पीछे से करें। जब बोधिसत्व ने मार की सेना को देखा तो उन्होंने यह सोचा—"ये इतने लोग मेरे अकेले के लिए बड़ा प्रयत्न कर रहे हैं। इस स्थान पर मेरी माता, पिता, भाई या दूसरा कोई सम्बन्धी नहीं है। ये मेरी दस पारमितायें ही मेरे चिरकाल से पाले हुए परिजन के समान हैं, इसलिए इन पारमिताओं को ही ढाल बनाकर इस पारमिता-शस्त्र को ही चलाकर मुझे इस सेना-समूह का विध्वंस करना होगा और वे दस पारमिताओं का स्मरण करते हुए बैठे रहे।

जातक निदान[1] में कहा गया है कि मार गिरिमेखला नामक हाथी पर चढ़कर सहस्र-बाहु से नाना प्रकार के आयुधों को ग्रहण किया था। मार सेना के सभी लोग विभिन्न प्रकार के हथियार लिए थे। सब नाना प्रकार के रंग तथा मुखवाले बने थे। उनके भय से एक भी देवता न ठहर सका। अब मारदेव पुत्र ने बोधिसत्व को भगाने के लिए आँधी उत्पन्न की। उसी समय पूर्व और पश्चिम से झंझावात उठकर चारों ओर से पर्वत-शिखरों को उखा-

---

१. जातक, प्रथम भाग, पृष्ठ ९३।

ड़ता, वृक्षों को नष्ट करता, नगरों को चूर्ण विचूर्ण करता आगे बढ़ा, किन्तु बोधिसत्व के पुण्यप्रताप से उसकी प्रचण्डता उनके चीवर के कोने को भी न हिला सकी। तब जल में डुवाने की इच्छा से उसने भयंकर महावर्षा आरम्भ की। उसके दिव्य बल से इतनी तेज वर्षा हुई कि उससे पृथ्वी में छेद पड़ गये, किन्तु बोधिसत्व के चीवर का कोना भी नहीं भींगा। तव उसने पत्थरों की वर्षा की। वे पत्थर बोधिसत्व के पास पहुँच कर दिव्य पुष्पों के गुच्छे बन गये। तदुपरान्त आयुध-वर्षा की। वे भी बोधिसत्व के पास पहुँच कर पुष्प बन गये।

इस प्रकार मार ने वायु, वर्षा, पाषाण, हथियार, धधकती राख, बालू, कीचड़ और अन्धकार की वर्षा को, किन्तु इतने से भी जब बोधिसत्व को न भगा सका तो अपनी सेना से कहा—"क्या देखते हो, इस कुमार को पकड़ो, मारो, भगाओ।" और स्वयं गिरिमेखला हाथी पर बैठ अपने चक्र को ले बोधिसत्व के पास जाकर बोला—"सिद्धार्थ, इस आसन से उठ। यह आसन तेरे लिए नहीं, मेरे लिए है।" बोधिसत्व ने कहा—मार, तूने पारमिताएँ पूर्ण नहीं कीं और न तो लोक हितार्थ कार्य ही किये, यह आसन तेरे लिए नहीं, मेरे ही लिए है।

मार अपने क्रोध के वेग को न रोक सका। उसने बोधिसत्व पर चक्र चलाया, किन्तु वह चक्र बोधिसत्व के ऊपर फूलों का चँदवा बन गया। तब मार की सेना ने बोधिसत्व को भगाने के लिए बड़ी-बड़ी पत्थर की शिलायें फेंकी। वे भी पुष्प-मालायें बनकर पृथ्वी पर बिखर गयीं। तब मार ने कहा—"पारमिताओं को पूर्ण करने वाले, बोधिसत्वों के बुद्धत्व-प्राप्ति के दिन जो आसन प्राप्त होता है, वह मेरे लिए ही है।"

"मार, तेरे दान देने का कौन साक्षी है?"

मार ने अपनी सेना की ओर हाथ फैलाकर कहा—"ये इतने लोग साक्षी हैं।" उस समय "मैं साक्षी हूँ, मैं साक्षी हूँ" सभी बोल उठे। तब मार ने बोधिसत्व से पूछा, "सिद्धार्थ, तूने दान दिया है, इसका कौन साक्षी है?"

"तेरे दान देने के साक्षी तो जीवित प्राणी हैं, किन्तु इस स्थान पर मेरे दान देने का कोई जीवित साक्षी नहीं है। मेरी साक्षिणी तो यह अचेतन महापृथ्वी भी है।"

बोधिसत्व ने यह कह कर अपने दाहिने हाथ को पृथ्वी से स्पर्श किया। "मैं साक्षिणी हूँ" पृथ्वी से महानाद हुआ। इस शब्द के होते ही मार के गिरिमेखला हाथी ने दोनों घुटने टेक दिये। मार-सेना भाग निकली।

पहले मार सेना के आने के समय ही देवता इधर-उधर भाग गये थे। वे अब बोधिसत्व के पास आ जुटे और उन्होंने बोधिसत्व पर पुष्प-वर्षा करते हुए घोषणा की—"जयो हि बुद्धस्स सिरीमतो अयं, मारस्स च पापिमतो पराजयो।" (श्रीमान् बुद्ध की यह महान् विजय है और पापी मार की पराजय)।

इस प्रकार सूर्यास्त होने से पूर्व ही बोधिसत्व ने मार की सेना को परास्त किया। उस समय बोधिसत्व के चीवर के ऊपर जो बोधिवृक्ष के अंकुर गिर रहे थे, ऐसा जान पड़ रहा था कि मानो उनकी पूजा के लिए लाल मूँगों की वर्षा हो रही हो।

बुद्धत्व-प्राप्ति

तदुपरान्त बोधिसत्व ने स्थिर चित्त हो समाधि-प्राप्ति के लिए चित्त लगाया । वे कामों और अकुशल धर्मों से अलग होकर वितर्क-विचार सहित विवेक से उत्पन्न प्रीति और सुख वाले प्रथम ध्यान को प्राप्त होकर विहरने लगे । इस ध्यान से उठकर स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो वितर्क-विचारों के शान्त हो जाने से भीतरी प्रसाद, चित्त की एकाग्रता से युक्त, वितर्क और विचार से रहित समाधि से उत्पन्न प्रीति-सुख वाले द्वितीय ध्यान को उन्होंने प्राप्त कर लिया । फिर वे द्वितीय ध्यान से भी उठकर प्रीति और विराग से उपेक्षक हो स्मृति और संप्रजन्य से युक्त हो, शरीर से सुख का अनुभव करते हुए तृतीय ध्यान को प्राप्त हो गये । उस ध्यान से भी उठे। सुख और दुःख के प्रहाण से, सौमनस्य और दौर्मनस्य के पूर्व ही अस्त हो जाने से सुख-दुःख से रहित, उपेक्षा से उत्पन्न स्मृति की पारिशुद्धि चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर लिये[1]।

इस प्रकार चतुर्थ ध्यान को प्राप्त कर स्थिर चित्त हो उन्होंने पूर्व-जन्मों के ज्ञान के लिए चित्त को लगाया और उन्हे रात्रि के प्रथम याम में पूर्वेनिवासानुस्मृति ज्ञान (पूर्व-जन्मों को जानने का ज्ञान) प्राप्त हुआ । और वे अपने अनेक पूर्व-जन्मों की बातों को जानने लगे । उन्हें प्रथम विद्या प्राप्त हुई । फिर उन्होंने प्राणियों के जन्म-मरण के ज्ञान के लिए चित्त को झुकाया । तब वे दिव्य-चक्षु से कर्मानुसार सुगति-दुर्गति प्राप्त प्राणियों को देखने लगे। इस दिव्य-चक्षु का ज्ञान उन्हें रात्रि के बिचले याम में हुआ । उन्हें यह द्वितीय विद्या प्राप्त हुई । अब बोधिसत्व ने चित्त-मलों (आश्रवों) के क्षय के लिए ज्ञान को लगाया । तब उन्होंने यथार्थ रूप से जान लिया कि यह दुःख है, यह दुःख-समुदय है, यह दुःख-निरोध है और यह दुःख-निरोध-गामिनी प्रतिपदा है । इस प्रकार जानते ही उनका चित्त कामाश्रव, भवाश्रव और अविद्याश्रव से मुक्त हो गया । मुक्त हो जाने पर उन्हें ऐसा ज्ञान हुआ कि मैं मुक्त हो गया हूँ । जन्म समाप्त हो गया है । ब्रह्मचर्य पूरा हो गया है । जो करना था वह मैंने कर लिया है । अब यहाँ के लिए कुछ करना शेष नहीं है । रात्रि के पिछले याम में बोधिसत्व को यह तीसरी विद्या प्राप्त हुई[2] । वे त्रैविद्य हो गये । उन्हें प्रतीत्यसमुत्पाद का ज्ञान हो आया । उन्होंने देख लिया कि अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं । संस्कार के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नाम और रूप, नाम और रूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतन के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से बूढा होना, मरना, शोक करना, रोना-पीटना, दुःख उठाना, बेचैनी और परेशानी होती है । इस प्रकार सारा दुःख-समुदाय उठ खड़ा होता है[3] ।

प्रतीत्यसमुत्पाद का सीधे और उल्टे जब बोधिसत्व मनन करने लगे तो पृथ्वी काँप उठी और उन्हें अरुणोदय के समय बुद्धत्व का साक्षात्कार हो गया । अब वे भगवान् बुद्ध हो गये । बुद्धत्व को प्राप्त करते ही उनके मुख से ये गाथायें निकल पड़ीं :—

---

१. विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १२९–१४९ । हिन्दी में भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा अनूदित और मज्झिमनिकाय २,४,५ हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३४९–३५० ।

२. मज्झिमनिकाय २, ४, ५ ; पृष्ठ ३५० ।

३. उदान : भिक्षु जगदीश काश्यप द्वारा हिन्दी में अनूदित, पृष्ठ १–२ ।

अनेकजातिसंसारं संधाविस्सं अनिब्बिसं ।
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खाजाति पुनप्पुनं ॥
गहकारक दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि ।
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं ।
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा ॥

[बिना रुके अनेक जन्मों तक संसार में दौड़ता रहा (इस काया रूपी) गृह को बनाने वाले (तृष्णा) को खोजते हुए पुनः पुनः दुःख (मय) जन्म में पड़ता रहा । हे गृहकारक, (तृष्णे) मैंने तुझे देख लिया, अब फिर तू घर नहीं बना सकेगा । तेरी सभी कड़ियाँ भग्न हो गयीं, गृह का शिखर गिर गया । चित्त संस्कार-रहित हो गया । अर्हत्व (तृष्णा-क्षय) प्राप्त हो गया[1]] ।

धर्मोपदेश के लिए ब्रह्मा द्वारा याचना

भगवान् बुद्ध एक सप्ताह तक अपने प्राप्त विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते उसी आसन पर बैठे रहे । दूसरे सप्ताह में वहाँ से उठकर आसन से पूर्व ओर खड़े हो अपने ज्ञान-प्राप्ति के आसन को एकटक से एक सप्ताह तक देखते रहे । फिर तीसरे सप्ताह मे खड़े होने के स्थान और उस वज्रासन के बीच एक हाथ चौड़े स्थान में चंक्रमण करते हुए बिताया । चौथे सप्ताह में रत्नघर में अभिधर्म का मनन करते हुए व्यतीत किया । पाँचवें सप्ताह में बोधिवृक्ष से चलकर अजपाल नामक बरगद वृक्ष के पास गये और वहाँ भी धर्म का विचार करते हुए विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते बैठे रहे । उस समय तक देवपुत्र मार भगवान् के दोषों को देखता हुआ पीछा करता रहा । किन्तु अब उसने देखा कि वे मेरे अधिकार से बाहर हो गये हैं तो वहुत चिन्तित हो भूमि पर रेखा खींचते उदास हो बैठ रहा । उस समय मार की तृष्णा, अरति और रगा नामक पुत्रियाँ उसके पास आयीं । उन्होंने अपने पिता के चिन्तित होने का कारण पूछा । मार ने सारा वृत्तान्त उन्हें कह सुनाया । तब लड़कियों ने कहा, "तात, आप चिन्ता न करें । हम स्त्रियाँ हैं । उसे अभी रागादि के पाश में बाँधकर ले आयेंगी ।" मार के मना करने पर भी वे श्रृंगार, हाव-भाव एवं सम्पूर्ण नारी-सुलभ युक्तियों द्वारा भगवान् को मोहित करने के लिए उनके पास गयीं । उन्होंने विविध मोहक चेष्टाओं एवं मधुर वचनों से उन्हें मोहित करने का प्रयत्न किया, किन्तु भगवान् बुद्ध पर उनका कोई प्रभाव नहीं पड़ा । वे अपनी हार मानकर अपने पिता के पास लौट गयीं[2] ।

तथागत उस सप्ताह को वहीं व्यतीत कर 'मुचलिन्द' नामक वृक्ष के नीचे गये । उस समय पूरे सप्ताह की बदली रही । भगवान् को ठंढक से बचाने के लिए नागराज मुचलिन्द ने उनके ऊपर अपने फन को फैलाकर और सात गेंडुरी से उनके शरीर को लपेट रखा । भगवान् एक सप्ताह तक उसी दशा में विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते रहे । सातवें सप्ताह में वे राजायतन वृक्ष के पास गये और उन्होंने सातवाँ सप्ताह वहीं बैठकर बिताया । इन सात

१. धम्मपद, गाथा संख्या १५३, १५४, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदिन, पृष्ठ ५४ ।
२. संयुत्त निकाय ४, ३, ५ । भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित, पृष्ठ १०५-१०७ ।

सप्ताहों में भगवान् ने न मुख धोया, न शरीर-शुद्धि की और न भोजन ही किया। उन्होंने विमुक्ति-सुख का आनन्द लेते हुए इन दिनों को व्यतीत कर दिया। उनचासवें दिन उन्होंने मुख-हाथ धोया और शरीर-क्रिया की।

उस समय तपस्सु और भल्लिक नामक दो व्यापारी पाँच सौ बैलगाड़ियों के साथ उत्कल[1] देश से व्यापार करने के लिए मध्यदेश जा रहे थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध को देखकर उन्हें प्रणाम किया और भोजन के लिए मट्ठा और लड्डू देते हुए प्रार्थना की—"भन्ते, भगवान्, कृपाकर इस आहार को ग्रहण करें।" तब भगवान् ने सोचा कि मैं इन वस्तुओं को किस में ग्रहण करूँ। हाथ में लेना उचित नहीं है। जिस दिन भगवान् ने सुजाता की खीर को ग्रहण किया था, उसी दिन उनका पात्र अदृश्य हो गया था और तब से उनके पास पात्र नहीं था। उनके इस विचार को जानते ही चारों महाराजा चारों दिशाओं से पत्थर के भिक्षा-पात्र लाए। भगवान् ने उनमें से एक पात्र को ग्रहण किया और उसी मे मट्ठा और लड्डू लेकर भोजन किया। भोजन करने के पश्चात् भगवान् ने दानानुमोदन किया। उन दोनों ने भगवान् से कहा—"भन्ते, हम दोनों भगवान् तथा धर्म की शरण जाते हैं। आज से भगवान् हम दोनों को अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।" संसार मे वे ही दोनों दो वचनों से प्रथम उपासक हुए। उन व्यापारियों ने भगवान् से पूजा के निमित्त कोई वस्तु माँगी, तब तथागत ने अपने सिर पर दाहिने हाथ को फेरकर उन्हे कुछ केश दिए। उन व्यापारियों ने उन केशों को भीतर रखकर अपने नगर में एक सुन्दर चैत्य का निर्माण कराया। उस सप्ताह के बीतने पर भगवान् राजायतन से अजपाल बरगद के नीचे गये और वहाँ एकान्त में ध्याना-वस्थित हो विहार करने लगे। तब उनके चित्त में यह वितर्क पैदा हुआ—"मैंने गम्भीर, बहुत ही कठिनाई से जानने योग्य, केवल तर्क से अप्राप्य उत्तम धर्म को पा लिया है। ये संसारी लोग काम-वासना मे अनुरक्त हैं। इन्हे प्रतीत्य समुत्पाद का समझना कठिन है। सभी संस्कारों के समाप्त हो जाने पर तृष्णा के क्षय से प्राप्त जो निर्वाण है, वह भी इनके लिए कठिन है। यदि मैं उपदेश करूँ और ये उसे न समझ पायें, तो मेरे लिए यह कष्ट मात्र ही होगा[2]।"

तथागत के धर्मोपदेश की अनिच्छा को जान सहम्पति ब्रह्मा ने विचार किया। "यदि तथागत अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का चित्त धर्म-प्रचार की ओर न झुका तो लोक का नाश हो जायगा।" तुरन्त वह ब्रह्मलोक से अन्तर्ध्यान हो भगवान् के सामने प्रकट हुए और दोनों हाथ जोड़कर उन्होंने प्रार्थना की—"भन्ते, भगवान्, धर्मोपदेश करें। सुगत, धर्मोपदेश करें। अल्प मल वाले प्राणी भी हैं। धर्म के न सुनने से वे नष्ट हो जायेंगे। आप उपदेश करें। धर्म को सुनने वाले भी होंगे।" तब भगवान् ने ब्रह्मा के अभिप्राय को जान प्राणियों पर दया करके बुद्ध-नेत्र से लोक का अवलोकन किया। तब उन्हें अल्पमल, तीक्ष्ण-बुद्धि, सुस्वभाव, सुबोध्य

---

१. उड़ीसा।

२. मज्झिम निकाय १, ३, ६; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०६। विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ७७–७८।

प्राणी दिखाई दिये। जो परलोक तथा बुराई से डरने वाले थे। उन्होंने ब्रह्मा से कहा—"मै उपदेश करूँगा। अमृत का द्वार सबके लिए खुला है[1]।" तदुपरान्त तथागत ने यह विचार किया कि मैं पहले किसे उपदेश दूँ? कौन इसे शीघ्र जान लेगा? तब उनके मन में हुआ कि आलारकालाम विद्वान् पुरुष हैं, उसी को पहले धर्मोपदेश करूँ, वह शीघ्र समझ लेगा, किन्तु उन्हें ज्ञात हुआ कि एक सप्ताह पहले ही आलारकालाम का देहान्त हो गया है। फिर उन्होंने उद्रक रामपुत्र को उपदेश करने का विचार किया, किन्तु वह भी उसी रात मर गया था। तव तथागत ने सोचा कि पंचवर्गीय भिक्षु मेरे बहुत काम करने वाले थे। उन्होंने साधना में लगे रहने पर मेरी सेवा की थी, क्यों न मैं पहले उन्हे ही उपदेश दूँ। उन्होंने यह भी विचार किया कि पंचवर्गीय भिक्षु इस समय कहाँ हैं? तब उन्होंने अपने दिव्य-चक्षु से देखा कि वे वाराणसी के ऋषिपतन मृगदाय में विहार कर रहे हैं। वे उरुबेला में इच्छानुसार विहार कर वाराणसी की ओर चल दिये। मार्ग में उपक नामक आजीवक ने उन्हें देखा। देखकर वह उनके पास गया और पूछा कि "आपके कौन गुरु है? आप किसके धर्म को मानते हैं?" भगवान् ने कहा—"मेरा कोई गुरु नहीं है। मैं सम्यक् सम्बुद्ध, शान्ति और निर्वाण को प्राप्त हूँ। मैं काशी जनपद के श्रेष्ठ नगर वाराणसी को जा रहा हूँ। वहाँ धर्मचक्र-प्रवर्तन कर अमृत-दुन्दुभी वजाऊँगा।"

तथागत वहाँ से क्रमशः यात्रा करते हुए ऋषिपतन मृगदाय पहुँचे।

धर्मचक्र-प्रवर्तन

पंचवर्गीय भिक्षुओं ने तथागत को आते हुए दूर से ही देखा। उन्होंने आपस में निश्चय किया कि यह श्रमण गौतम साधना-भ्रष्ट है। हमें न तो इसको प्रणाम करना चाहिए और न तो सम्मान-सत्कार ही। बैठने वाला केवल आसन दे देना चाहिए। यदि इच्छा होगी तो बैठेगा। जैसे-जैसे भगवान् उनके पास आते गये, वैसे-वैसे उनके पहले के विचार परिवर्तित होते गये। जब भगवान् उनके पास पहुँच गये तब एक ने उनका पात्र लिया, दूसरे ने आसन बिछाया और तीसरे ने पैर धोने के लिए जल और पीढ़ा ला रखा। भगवान् बैठकर पैर धोये। भगवान् ने उन्हें उपदेश देना चाहा, तो पहले उन्होंने तथागत को साधना-भ्रष्ट जानकर ध्यान ही नहीं दिया, तब शास्ता ने उनसे पूछा—"क्या पहले भी मैने कभी ऐसा कहा था कि मैं अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हूँ?"

"नहीं, भन्ते।"

वस, क्या था। पंचवर्गीय भिक्षु तथागत की बातों पर ध्यान देने लगे। तथागत ने धर्मचक्र प्रवर्तन सूत्र का उपदेश देते हुए कहा—"व्यक्ति को काम-वासना में लिप्त रहने तथा अपने को कष्ट देने वाले इन दो अन्तों को त्यागकर मध्यम मार्ग (मज्झिमा पटिपदा) पर चलना चाहिए। इसी पर चलने से कल्याण तथा ज्ञान प्राप्ति सम्भव है। मध्यम मार्ग आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही नाम है। चार आर्यसत्यों के बोध के उपरान्त व्यक्ति के सारे सांसारिक

---

१. मज्झिम निकाय, पृष्ठ १०६ तथा विनयपिटक, पृष्ठ ७८।

बन्धन कट जाते हैं। वह कृतकरणीय हो जाता है। परमशान्ति निर्वाण का साक्षात्कार कर लेता है।"

तथागत ने यह प्रथम धर्मोपदेश आषाढ़ी पूर्णिमा को दिया था।

भगवान् के इस उपदेश को सुनकर अञ्ञाकौण्डिन्य को "जो कुछ उत्पन्न होने के स्वभाव वाला है वह सब नाश होनेवाला है।" यह विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ। तब अञ्ञाकौण्डिन्य ने भगवान् के पास प्रव्रज्या एवं उपसम्पदा की याचना की। भगवान् ने कहा, "भिक्षु, आओ, धर्म स्वाख्यात है, भली प्रकार दुःख के क्षय के लिए ब्रह्मचर्य का पालन करो।" वही आयुष्मान् कौण्डिन्य की उपसम्पदा हुई। तदुपरान्त भगवान् के उपदेश को सुनकर आयुष्मान् वप्प और आयुष्मान् भद्दिय को धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ और वे भी भगवान् के पास उपसम्पन्न हुए। उसके पीछे तीन भिक्षु भिक्षाटन करके भोजन लाते और उससे सभी लोग यापन करते। कुछ दिनों के पश्चात् आयुष्मान् महानाम और आयुष्मान् अश्वजित् को भी धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया और वे भी उपसम्पदा प्राप्त कर लिए।

उस दिनों वाराणसी के सेठ का यश नामक एक सुकुमार लड़का था। वह घर में काम-वासना में जीवन व्यतीत कर रहा था। एक दिन उसे इस जीवन से विरक्ति उत्पन्न हो गयी। वह प्रातः ही वाराणसी से निकल कर ऋषिपतन मृगदाय की ओर चल दिया। भगवान् से जब उसकी भेंट हुई। तब उसने कहा—"सारा संसार सन्तप्त और पाड़ित है।" भगवान् ने उसे उपदेश दिया। भगवान् के उपदेश को सुनकर जैसे कालिमा-रहित शुद्ध वस्त्र भली प्रकार रंग पकड़ता है, वैसे ही यशकुलपुत्र को धर्म-चक्षु उत्पन्न हुआ।

यश को खोजते हुए उसका पिता भी वहीं पहुँचा, जहाँ यश और भगवान् विराजमान थे। भगवान् ने उसे भी उपदेश दिया। उसने उपदेश सुनकर कहा—"मैं भगवान् की शरण जाता हूँ, धर्म और भिक्षुसंघ की भी। मुझे आज से आप अञ्जलिबद्ध शरणागत उपासक समझें।" यह नगरश्रेष्ठि ही संसार में तीन वचनों वाला प्रथम उपासक हुआ।

यश भी भगवान् के पास प्रव्रजित एवं उपसम्पन्न हो गया। उसके पश्चात् वाराणसी के उसके चार मित्र भी उसका अनुगमन करते हुए भिक्षु हो गए। इसी प्रकार वाराणसी के आसपास के अन्य भी पचास तरुणों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या तथा उपसम्पदा ग्रहण की। इस प्रकार भगवान् के साथ उस समय संसार में एकसठ अर्हत् थे। वर्षा के तीन मास ऋषिपतन मृगदाय में व्यतीत होने के पश्चात् भगवान् ने भिक्षुओं से कहा—"भिक्षुओ, जितने भी स्वर्गीय और सांसारिक बन्धन हैं, मैं उन सबसे मुक्त हूँ और तुम भी मुक्त हो। भिक्षुओ, बहुजन के हित के लिए, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिए, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिए, हित के लिए, सुख के लिए विचरण करो। एक साथ दो मत जाओ। भिक्षुओ, आरम्भ, मध्य, और अन्त सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

पैंतालीस वर्षों तक चारिका और उपदेश

तथागत धर्म-प्रचार के लिए भिक्षुओं को दिशाओं में प्रेषित कर स्वयं उरुबेला की ओर चल दिये। मार्ग में उन्होंने तीस भद्रवर्गीय नामक तरुणों को प्रव्रजित किया। उरुबेला पहुँचने

पर उरुवेल काश्यप, नदी काश्यप और गया काश्यप—ये तीन जटाधारी संन्यासी भी अपने सम्पूर्ण शिष्यसमूह के साथ भगवान् के शिष्य हो गये। उरुबेला तथा गया में कुछ दिनों व्यतीत कर तथागत विचरण करते राजगृह पहुँचे। जब मगध के राजा बिम्बिसार ने सुना कि शाक्य-कुल से प्रव्रजित श्रमण गौतम राजगृह पहुँच गये हैं और उनकी ऐसी मंगलकीर्ति फैली है कि "वे भगवान् अर्हत् हैं, सम्यक् सम्बुद्ध हैं, देवताओं और मनुष्यों के शास्ता हैं।" तब वह बहुत बड़े मनुष्यों के समूह के साथ भगवान् के दर्शन के लिए गया और भगवान् के उपदेश को सुनकर उसे भी विमल धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया। वह भी उनका उपासक बन गया।

बिम्बिसार ने अपने वेणुवन उद्यान को भगवान् तथा उनके संघ को अर्पित कर दिया। जो पीछे चल कर वेणुवन महाविहार नाम से प्रसिद्ध हुआ।

भगवान् की कीर्ति धीरे-धीरे चारों ओर फैलने लगी। ज्ञान-पिपासु लोग उनके पास आने लगे। उनके राजगृह में रहते हुए सारिपुत्र और मौद्गल्यायन भी आकर उनके पास भिक्षु बन गये थे। जो पीछे प्रधान शिष्य बने। महाकाश्यप ने भी वहीं प्रव्रज्या ली थी।

जिस समय तथागत वेणुवन उद्यान में विहार कर रहे थे, उस समय शुद्धोदन महाराज को पता लगा कि मेरा लड़का ज्ञान प्राप्त कर उपदेश कर रहा है और वह राजगृह में है। तब उन्होंने कपिलवस्तु आने के लिए अपने आमात्यों द्वारा निमंत्रण भेजा। जितने आमात्य निमंत्रण लेकर गये, वे भगवान् के पास जाकर प्रव्रजित हो गये और फिर लौटकर आये नहीं। तब महाराज शुद्धोदन ने अपने सर्वार्थसाधक आमात्य (निजी सचिव) कालउदायी को भगवान् को लाने के लिए भेजा। कालउदायी द्वारा निमंत्रित हो तथागत ने चैत्र मास के प्रारम्भ में राजगृह से कपिलवस्तु के लिए प्रस्थान कर दिया। क्रमशः चलते हुए भगवान् भिक्षु-संघ के साथ कपिलवस्तु पहुँचे और वहाँ न्यग्रोधाराम नामक उद्यान में ठहरे। भगवान् के दर्शन के लिए सारा नगर उमड़ पड़ा। महाराज शुद्धोदन तथा सभी शाक्य राजकुमार एवं राजकुमारियाँ उनके दर्शनार्थ गये। एक बहुत बड़े सम्मेलन के समान कपिलवस्तुवासी लोगों की भीड़ एकत्र हुई थी। भगवान् ने उन्हे उपदेश दिया। वे भगवान् के उपदेश से सन्तुष्ट हो अपने-अपने घर लौट गये, किन्तु किसी ने भगवान् को भोजन के लिए निमंत्रित नहीं किया।

दूसरे दिन भिक्षाटन के समय तथागत ने भिक्षुसंघ सहित नगर में प्रवेश किया। उनके भिक्षाटन करने की बात सुनकर आश्चर्य-चकित हो सभी लोग देखने लगे। राहुलमाता ने भी उन्हें भिक्षाटन करते देखा। देखते ही उन्होंने महाराज शुद्धोदन को सूचित किया। राजा सुनते ही घबड़ाये हुए, धोती सँभालते हुए वेग से भगवान् के पास गये। और बोले—"हमें क्यों लजवाते हैं ? क्यों भिक्षा माँग रहे हैं ? क्या इतने भिक्षुओं के लिये मेरे यहाँ भोजन नहीं मिल सकता ?"

"महाराज, हमारे वंश का यही आचार है।"

"भन्ते, हमारा क्षत्रिय वंश कभी भिक्षाचारी नहीं रहा है।"

' महाराज, वह तो आपका राजवंश है, हमारा वंश बुद्धों का वंश है और हम भिक्षाचार से ही जीविका चलाते हैं। वहीं पर सड़क में खड़े ही भगवान् ने संक्षेप में राजा को उपदेश दिया।

जिसे सुनकर राजा ने अनागामी फल को प्राप्त कर लिया। उन्होंने भगवान् का पात्र अपने हाथ में ले लिया और भिक्षुओं सहित प्रासाद में ले जाकर भोजन कराया। भोजन के उपरान्त राहुलमाता को छोड़ सभी रनिवास ने आ-आकर भगवान् की वन्दना की। जब राहुलमाता से कहा गया कि जाओ आर्यपुत्र की वन्दना करो, तो उन्होंने कहा—"यदि मेरे में गुण हैं तो आर्यपुत्र स्वयं मेरे पास आयेंगे। आने पर ही वन्दना करूँगी।"

भगवान् भी राजा को पात्र दे दोनों प्रधान शिष्यों के साथ यशोधरा के पास गये। यशोधरा ने उनके पैरों को पकड़ कर सिर से लगा अपनी इच्छा के अनुसार वन्दना की। राजा ने यशोधरा के गुण सुनाते हुए कहा कि मेरी बेटी आपके काषाय वस्त्र पहनने को सुनकर स्वयं भी काषायधारिणी हो गयी। वह एकाहारिणी है। मालागन्ध तथा ऊँचे आसनादि से विरक्त है। तब तथागत ने भी चन्दकिन्नर[1] जातक कहकर यशोधरा के गुणों का वर्णन किया।

दूसरे दिन राजकुमार नन्द का अभिषेक, गृह-प्रवेश एवं विवाह होने वाले थे। उसी दिन भगवान् ने नन्द को भी प्रव्रजित कर दिया। सातवें दिन यशोधरा ने राहुलकुमार को अलंकृत कर भगवान् के पास भेजा और कहा कि वे तेरे पिता हैं। उनसे उत्तराधिकार माँग। राहुलकुमार भगवान् के पास जाकर बोला—'श्रमण, तेरी छाया सुखमय है।" और भी इसी प्रकार की बातें करता खड़ा रहा। जब भगवान् आसन से उठकर चले तब राहुल कुमार भी उनके पीछे-पीछे हो लिया। न्यग्रोधाराम में पहुँचने पर भगवान् ने सारिपुत्र से कहा—"सारिपुत्र, राहुल को प्रव्रजित करो।" राहुल भी सात वर्ष की अवस्था में ही भिक्षु हो गया। जब महाराज शुद्धोदन को यह ज्ञात हुआ तो उन्हें बहुत कष्ट हुआ। उन्होंने भगवान् के पास आकर निवेदन किया—"भन्ते, भविष्य में माता-पिता की आज्ञा के बिना किसी को प्रव्रजित न किया जाय।" भगवान् ने महाराज शुद्धोदन की बात स्वीकार कर ली।

राहुल कुमार की प्रव्रज्या के पश्चात् भगवान् मल्ल देश की ओर चारिका के लिए चल दिए। मल्ल देश के अनूपिया नामक ग्राम में ठहरे। वहीं पर भद्दिय, अनुरुद्ध, आनन्द, भृगु, किम्बिल और देवदत्त ये छः शाक्य कुमार भिक्षु बने। उपालि नामक नाई भी वहीं प्रव्रजित हुआ। इनमें नाई पहले प्रव्रजित हुआ और शाक्य राजकुमार पीछे। भगवान् वहाँ से विचरण करते हुए राजगृह गये और शीतवन नामक श्मशान में ठहरे। जिस समय भगवान् शीतवन में ठहरे हुए थे, उसी समय श्रावस्ती का महासेठ अनाथपिण्डिक (सुदत्त) किसी काम से राज-गृह आया हुआ था। वह भगवान् से मिला और उनके उपदेश से प्रभावित हो भिक्षु-संघ सहित उन्हें दान दिया तथा श्रावस्ती आने के लिए भी निमन्त्रण दिया। भगवान् ने उसके निमन्त्रण को स्वीकार कर लिया। राजगृह में इच्छानुसार विहार कर भगवान् ने श्रावस्ती की ओर प्रस्थान किया। उधर अनाथपिण्डिक ने श्रावस्ती पहुँच कर १८ करोड़ मुद्रा से जेतवन की भूमि को क्रय कर, चौवन करोड़ मुद्रा को व्यय कर जेतवनाराम नामक विहार बनवा कर प्रस्तुत किया। जब भगवान् भिक्षुसंघ-सहित श्रावस्ती पहुँचे, तब अनाथपिण्डिक ने अपने पूरे परिवार सहित बड़े उत्साहपूर्वक भगवान् का स्वागत किया और आगत-अनागत बुद्ध-प्रमुख

---

१. जातक ५८५।

चातुर्दिश भिक्षुसंघ को अर्पित किया। पीछे विशाखा महा उपासिका ने भी श्रावस्ती में पूर्वाराम नामक एक विहार का निर्माण कराया था। जो सत्ताइस करोड़ मुद्रा में निर्मित हुआ था। भगवान् ने इन दोनों विहारों में पच्चीस वर्षावास किया था। वहाँ से भगवान् पुनः चारिका करते राजगृह लौट गये थे। भगवान् ने चौथा वर्षावास राजगृह के वेणुवन कलन्दक निवाप में किया और वहाँ उन्होंने उग्रसेन श्रेष्ठिपुत्र को बुद्ध-धर्म में दीक्षित किया, जो कि एक रस्सी पर नाचनेवाली नटिनी के प्रेम-पाश में बँधकर स्वयं नट बन गया था।

भगवान् के बुद्धत्व प्राप्त करने के पाँचवें वर्ष मे महाराज शुद्धोदन की मृत्यु हो गयी थी। उन्हीं दिनों शाक्य और कोलियों में रोहिणी नदी के जल के लिए विवाद उठ खड़ा हुआ था। भगवान् ने स्वयं जाकर उसे शान्त किया। भगवान् दूसरी बार कपिलवस्तु पहुँचे और न्यग्रोधाराम में ठहरे। महाप्रजापती गौतमी भगवान् के पास आयी और भिक्षुणी बनने के लिए अनुमति चाही, किन्तु भगवान् ने अनुमति न दी। वे वहाँ से वैशाली चले गये। वे वहाँ महावन की कूटागारशाला में विहार करते थे। तब महाप्रजापती गौतमी अपने केशों को कटाकर काषाय वस्त्र पहन बहुत-सी शाक्य स्त्रियों के साथ भगवान् के पास पहुँची। आयुष्मान् आनन्द की सहायता से उसने भिक्षुणी बनने की आज्ञा प्राप्त कर ली और वहीं से भिक्षुणी-संघ का प्रारम्भ हुआ।

भगवान् ने छठाँ वर्षावास मंकुल पर्वत पर किया। उन दिनों राजगृह में एक सेठ को एक चन्दन की लकड़ी का टुकड़ा मिला था। उसने उसे खराद कर भिक्षा-पात्र बना बाँस पर लटका दिया और घोषणा कर दी, कि जो [illegible] ऋद्धिमान् हो, वह उड़कर उसे ले ले। अनेक तैर्थिकों ने उस पात्र को लेने का असफल प्रयत्न किया। उस समय पिण्डोल भारद्वाज नामक एक भिक्षु ने नगर मे भिक्षाटन के लिए जा ऋद्धिबल से उक्त पात्र को ले लिया। जब भगवान् को यह ज्ञात हुआ तब उन्होंने पिण्डोल भारद्वाज को धिक्कारा और नियम बनाया—"भिक्षुओ, गृहस्थों को उत्तरमनुष्य-धर्म ऋद्धिप्रातिहार्य नहीं दिखाना चाहिए। जो दिखाए उसे दुष्कृत की आपत्ति होगी।" भगवान् ने उस भिक्षा-पात्र को टुकड़े-टुकड़े करा दिया।

जब बिम्बिसार को यह ज्ञात हुआ कि भगवान् ने भिक्षुओं के लिए प्रातिहार्य करना मना कर दिया है, तब वह भगवान् के पास आया और प्रातिहार्य करने के सम्बन्ध में प्रश्न पूछा। भगवान् ने कहा कि भिक्षु प्रातिहार्य नहीं करेंगे, किन्तु मैं प्रातिहार्य करूँगा और आज से चार मास पश्चात् आषाढ़ पूर्णिमा को श्रावस्ती में करूँगा। भगवान् चारिका करते श्रावस्ती गये और उन्होंने वहाँ यमक प्रातिहार्य की। सातवाँ वर्षावास भगवान् ने त्रयस्त्रिंश लोक के पाण्डुकम्बल शिलासन पर किया और अपनी माता को प्रमुख कर अभिधर्म पिटक का उपदेश दिया। आश्विन पूर्णिमा के दिन भगवान् संकाश्य नामक स्थान पर स्वर्ग से उतरे और वहाँ से विचरण करते श्रावस्ती के जेतवनाराम पहुँचे। अब कोशल नरेश प्रसेनजित् भी उनका भक्त हो गया। इसी समय चिञ्चा माणविका ने निष्कलंक भगवान् को कलंकित करने का दुष्प्रयास किया था। वहाँ से भगवान् चारिका करते सुंसुमारगिरि गये और भेषकलावन मृगदाय में आठवाँ वर्षावास किया। भगवान् ने बोधिराज कुमार को यहीं उपदेश दिया था।

नौवाँ वर्षावास भगवान् ने कौशाम्बी में किया और वहाँ से कुरु देश की ओर चल पड़े। कम्मासदम्म नामक नगर में पहुँचे। एक ब्राह्मण ने मागन्दिय नामक अपनी परम सुन्दरी पुत्री को उन्हें देने का प्रस्ताव किया, किन्तु भगवान् ने तिरस्कार के साथ उसे अस्वीकार करते हुए इस गाथा को कहा—

"दिस्वान तण्हं अरतिं रगञ्च, नाहोसि छन्दो अपि मेथुनस्मिं।
किमेविदं मुत्तकरीसपुण्णं, पादापि नं सम्फुसितुं न इच्छे।।"[१]

[तृष्णा, अरति और रगा को देखकर भी मैथुन की इच्छा नहीं हुई। मल-मूत्र से भरा हुआ यह शरीर क्या है? इसे पैरों से भी छूना नहीं चाहता।]

वहाँ से विचरण करते भगवान् कौशाम्बी पहुँचे। उस समय कौशाम्बी के भिक्षुओं में विनय को लेकर विवाद उठ खड़ा हुआ था। भिक्षु दो भागों में होकर परस्पर विवाद कर रहे थे। वे भगवान् के समझाने पर भी नहीं शान्त हुए। तब भगवान् वहाँ से अकेले ही निकल पारलेय्यक वन में चले गये और दसवाँ वर्षावास वहीं किया। वहाँ से भगवान् श्रावस्ती गये। ग्यारहवाँ वर्षावास उन्होंने मगध देश के नाला नामक ग्राम में किया और बारहवाँ वर्षावास वेरञ्जा में। जब भगवान् वेरञ्जा में वर्षावास कर रहे थे, तब वहाँ महादुर्भिक्ष पड़ा था। उत्तरापथ से आये व्यापारियों के जौ को कूट-पीस कर भिक्षु भोजन करते थे और भगवान् को देते थे। वर्षावास के तीन मास इसी प्रकार बिताये। वहाँ से भगवान् मथुरा गये और वृन्दावन[२] नामक विहार में ठहरे। आयुष्मान् महाकात्यायन जो अवन्ति नरेश चण्ड प्रद्योत के पुरोहित-पुत्र थे, प्रायः वहीं विहार करते थे। तेरहवाँ वर्षावास भगवान् ने चालिय पर्वत पर किया और चौदहवाँ श्रावस्ती में। वहाँ से चलकर भगवान् कपिलवस्तु पहुँचे और पन्द्रहवाँ वर्षावास कपिलवस्तु में किया। सोलहवाँ वर्षावास आलवी नगर में किया। जहाँ आलवकयक्ष का उन्होंने दमन किया था। भगवान् आलवी से राजगृह चले गये और वहाँ सत्रहवाँ वर्षावास किये। वहाँ से भगवान् आलवी होते हुए चालिय पर्वत गये और दो वर्षावास उन्होंने क्रमशः वहीं किया। वहाँ से चारिका करते हुए भगवान् राजगृह आये और बीसवाँ वर्षावास वहीं किया। इस बार भगवान् ने राजगृह से श्रावस्ती के लिए प्रस्थान किया और क्रमशः पच्चीस वर्षावास श्रावस्ती में किया। श्रावस्ती में रहते हुए ही भगवान् ने अंगुलिमाल डाकू को बौद्धधर्म में दीक्षित किया। इन पच्चीस वर्षों में भगवान् वर्षावास में श्रावस्ती में निवास करते थे तथा अन्य समयों में मध्यदेश के जनपदों में विचरण कर धर्मोपदेश देते थे। मगध, कोशल, वज्जि, वत्स, पंचाल, चेदि, अंग, अंगुत्तराप, सुम्भ, कुरु, सूरसेन, विदेह, काशी, शाक्य, कोलिय, मल्ल, कालाम, भर्ग आदि जनपदों के निगमों एवं ग्रामों में तथागत के विचरण कर धर्मोपदेश करने का वर्णन त्रिपिटक में मिलता है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने उक्त जनपदों के उन नगरों की एक विस्तृत सूची प्रस्तुत की है, जिनमें कि तथागत ने निवास किया था तथा धर्मोपदेश दिया था[३]।

---

१. सुत्तनिपात, मागन्दियसुत्त ४७, पृष्ठ १८३।

२. पालि नाम गुन्दावन—अगुंत्तर निकाय।

३. बोधिवृक्ष की छाया में, पृष्ठ ४०-४२ तथा बुद्धकालीन भारतीय भूगोल, पृष्ठ १५-१८।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का आधार है[१]। इसे बिना जाने बुद्धधर्म को समझ सकना सम्भव नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है, जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है[२]।" प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य-कारण का सिद्धान्त कहते हैं। "इसके होने से यह होता है और इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है तथा इसके नहीं होने से यह नहीं होता है और इसके रुक जाने से यह रुक जाता है[३]।" इसे जानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद कौन-सा है? भिक्षुओ, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस सारे दुःख-समूह का समुदय होता है। भिक्षुओ, यह प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है[४]।"

प्रतीत्य शब्द का अर्थ है कारण और समुत्पाद का अर्थ है उत्पन्न होना। अनादि काल से व्यक्ति की उत्पत्ति हेतु-फल के अनुसार हो रही है और जबतक हेतुफल बने रहेंगे, तबतक उसकी सन्तति अविच्छिन्न रूप बनी रहेगी। इस सन्तति को अटूट बनाये रखने में किसी अदृश्य शक्ति का सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हेतुफल (कार्य-कारण) के कारण यह सम्बन्ध सदा बना रहता है। एक के विनाश के पश्चात् उसी के कारण से दूसरे की उत्पत्ति होती है और यह क्रम उस समय तक बना रहता है, जबतक कि हेतु का सर्वथा विनाश न हो जाय।

प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग हैं। ऊपर तथागत के शब्दों में उन्हें उद्धृत किया गया है। उन्हे इस प्रकार समझना चाहिए :—

१. अविद्या	←————	१२. जरा-मरण
२. संस्कार		११. जाति
३. विज्ञान		१०. भव
४. नाम-रूप		९. उपादान
५. छः आयतन		८. तृष्णा
६. स्पर्श	————→	७. वेदना

अविद्या आदि कारण है और इसके ही विनष्ट होने से सारा चक्र समाप्त हो जाता है। अनुलोम तथा विलोम से ये चौबीस होते हैं। जिस प्रकार अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं और सारा चक्र गतिमान् हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध

---

१. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५१३।
२. मज्झिमनिकाय १, ३, ८।
३. उदान, पृष्ठ १ तथा ३।
४. संयुत्तनिकाय १२, १, १; हिन्दी अनुवाद, पहला भाग, पृष्ठ १९२।

हो जाता है[1] और सम्पूर्ण चक्र समाप्त हो जाता है। इन अंगों में एक से दूसरे के प्रत्यय होने के चौबीस प्रकार हैं। इन्हें भी 'प्रत्यय' कहते हैं। पट्ठान नामक ग्रन्थ में इन प्रत्ययों की विशद् व्याख्या की गयी है[2]। ये प्रत्यय हैं—

(१) हेतु प्रत्यय,	(२) आलम्बन प्रत्यय,	(३) अधिपति प्रत्यय,
(४) अनन्तर प्रत्यय	(५) निश्रय प्रत्यय,	(६) सहजात प्रत्यय,
(७) अन्योन्य प्रत्यय,	(८) निश्रय प्रत्यय,	(९) उपनिश्रय प्रत्यय,
(१०) पुरेजात प्रत्यय,	(११) पश्चात्-जात प्रत्यय,	(१२) आसेवन प्रत्यय,
(१३) कर्म प्रत्यय,	(१४) विपाक प्रत्यय,	(१५) आहार प्रत्यय,
(१६) इन्द्रिय प्रत्यय,	(१७) ध्यान प्रत्यय,	(१८) मार्ग प्रत्यय,
(१९) सम्प्रयुक्त प्रत्यय,	(२०) विप्रयुक्त प्रत्यय,	(२१) अस्ति प्रत्यय,
(२२) नास्ति प्रत्यय,	(२३) विगत प्रत्यय,	(२४) अविगत प्रत्यय।

जिस प्रकार बीज से अंकुर होता है और अंकुर बढ़कर वृक्ष होता है, बीज को अंकुरित होने के लिए उपयुक्त भूमि, जल, वायु और वातावरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अविद्या आदि हेतु उक्त प्रत्ययों के सहारे फलित होते हैं और भव चक्र गतिशील हो जाता है। जिस प्रकार दग्ध बीज से अंकुर आदि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के क्षय होने से नष्ट अविद्या और फिर पल्लवित नहीं होती और भव-चक्र सदा के लिए निरुद्ध हो जाता है।

यह प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का प्रधान अंग होते हुए भी गम्भीर है। भगवान् ने इसकी गम्भीरता के विषय मे कहा है—"आनन्द, यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर के रूप में दिखाई देने वाला है। आनन्द, इस धर्म के अज्ञान से, अवबोध न होने से, ऐसे यह प्रजा (प्राणी) अँझुराई ताँत-सी हो गयी है। वँधी गाँठ-सी हो गयी है। मूँज-भाभड़-सी हो गयी है। अपाय, दुर्गति, विनिपात, संसार का अतिक्रमण नहीं कर पाती[3]।"

बोधिपक्षीय धर्म

भगवान् बुद्ध ने अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में जो धर्मोपदेश दिया था, वह सब बोधिपक्षीय धर्म में समाविष्ट हैं। बोधिपक्षीय धर्म समग्र बुद्धदर्शन का आधार है। इसीलिए तथागत ने भिक्षुओं को बार-बार स्मरण दिलाया था कि उन्होंने जिन बोधिपक्षीय धर्मों का उपदेश दिया है, वे भली प्रकार उनका आचरण करेंगे, उनका अभ्यास करेंगे और उनके अभ्यास में ही विमुक्ति का साक्षात्कार होगा। यह बुद्ध-शासन भी दीर्घकाल तक रहेगा। अपने महा-परिनिर्वाण लाभ करने के समय तक भगवान् ने इन्हीं धर्मों की ओर भिक्षुओं का ध्यान आकर्षित किया था—"इसलिए भिक्षुओ, मैंने जो धर्म जानकर उपदेश किए हैं, तुम

१. उदान, पृष्ठ ३।
२. नवनीत टीका, पृष्ठ १८१–२३१।
३. दीघनिकाय २, २; विशुद्धिमार्ग भाग, २, पृष्ठ १९२।

प्रतीत्य समुत्पाद

प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का आधार है[१]। इसे बिना जाने बुद्धधर्म को समझ सकना सम्भव नहीं है। भगवान् ने स्वयं कहा है—"जो प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है, वह धर्म को देखता है, जो धर्म को देखता है, वह प्रतीत्य समुत्पाद को देखता है[२]।" प्रतीत्यसमुत्पाद को कार्य-कारण का सिद्धान्त कहते हैं। "इसके होने से यह होता है और इसके उत्पन्न होने से यह उत्पन्न हो जाता है तथा इसके नहीं होने से यह नहीं होता है और इसके रुक जाने से यह रुक जाता है[३]।" इसे जानना ही प्रतीत्यसमुत्पाद है। तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ, प्रतीत्यसमुत्पाद कौन-सा है? भिक्षुओ, अविद्या के प्रत्यय से संस्कार, संस्कारों के प्रत्यय से विज्ञान, विज्ञान के प्रत्यय से नामरूप, नामरूप के प्रत्यय से छः आयतन, छः आयतनों के प्रत्यय से स्पर्श, स्पर्श के प्रत्यय से वेदना, वेदना के प्रत्यय से तृष्णा, तृष्णा के प्रत्यय से उपादान, उपादान के प्रत्यय से भव, भव के प्रत्यय से जाति (जन्म), जाति के प्रत्यय से जरा, मरण, शोक, परिदेव, दुःख दौर्मनस्य, उपायास उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार इस सारे दुःख-समूह का समुदय होता है। भिक्षुओ, यह प्रतीत्य समुत्पाद कहा जाता है[४]।"

प्रतीत्य शब्द का अर्थ है कारण और समुत्पाद का अर्थ है उत्पन्न होना। अनादि काल से व्यक्ति की उत्पत्ति हेतु-फल के अनुसार हो रही है और जबतक हेतुफल बने रहेंगे, तबतक उसकी सन्तति अविच्छिन्न रूप बनी रहेगी। इस सन्तति को अटूट बनाये रखने में किसी अदृश्य शक्ति का सम्बन्ध नहीं है, प्रत्युत हेतुफल (कार्य-कारण) के कारण यह सम्बन्ध सदा बना रहता है। एक के विनाश के पश्चात् उसी के कारण से दूसरे की उत्पत्ति होती है और यह क्रम उस समय तक बना रहता है, जबतक कि हेतु का सर्वथा विनाश न हो जाय।

प्रतीत्यसमुत्पाद के बारह अंग हैं। ऊपर तथागत के शब्दों में उन्हें उद्धृत किया गया है। उन्हें इस प्रकार समझना चाहिए :—

१. अविद्या ←	१२. जरा-मरण
२. संस्कार	११. जाति
३. विज्ञान	१०. भव
४. नाम-रूप	९. उपादान
५. छः आयतन	८. तृष्णा
६. स्पर्श →	७. वेदना

अविद्या आदि कारण है और इसके ही विनष्ट होने से सारा चक्र समाप्त हो जाता है। अनुलोम तथा विलोम से ये चौबीस होते हैं। जिस प्रकार अविद्या के प्रत्यय से संस्कार होते हैं और सारा चक्र गतिमान् हो जाता है, उसी प्रकार अविद्या के निरोध से संस्कारों का निरोध

१. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५१३।
२. मज्झिमनिकाय १, ३, ८।
३. उदान, पृष्ठ १ तथा ३।
४. संयुत्तनिकाय १२, १, १; हिन्दी अनुवाद, पहला भाग, पृष्ठ १९२।

हो जाता है[1] और सम्पूर्ण चक्र समाप्त हो जाता है। इन अंगों में एक से दूसरे के प्रत्यय होने के चौबीस प्रकार हैं। इन्हें भी 'प्रत्यय' कहते हैं। पट्ठान नामक ग्रन्थ में इन प्रत्ययों की विशद् व्याख्या की गयी है[2]। ये प्रत्यय हैं—

(१) हेतु प्रत्यय,	(२) आलम्बन प्रत्यय,	(३) अधिपति प्रत्यय,
(४) अनन्तर प्रत्यय	(५) निश्रय प्रत्यय,	(६) सहजात प्रत्यय,
(७) अन्योन्य प्रत्यय,	(८) निश्रय प्रत्यय,	(९) उपनिश्रय प्रत्यय,
(१०) पुरेजात प्रत्यय,	(११) पश्चात्-जात प्रत्यय,	(१२) आसेवन प्रत्यय,
(१३) कर्म प्रत्यय,	(१४) विपाक प्रत्यय,	(१५) आहार प्रत्यय,
(१६) इन्द्रिय प्रत्यय,	(१७) ध्यान प्रत्यय,	(१८) मार्ग प्रत्यय,
(१९) सम्प्रयुक्त प्रत्यय,	(२०) विप्रयुक्त प्रत्यय,	(२१) अस्ति प्रत्यय,
(२२) नास्ति प्रत्यय,	(२३) विगत प्रत्यय,	(२४) अविगत प्रत्यय।

जिस प्रकार बीज से अंकुर होता है और अंकुर बढ़कर वृक्ष होता है, बीज को अंकुरित होने के लिए उपयुक्त भूमि, जल, वायु और वातावरण की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार अविद्या आदि हेतु उक्त प्रत्ययों के सहारे फलित होते हैं और भव चक्र गतिशील हो जाता है। जिस प्रकार दग्ध बीज से अंकुर आदि की उत्पत्ति नहीं होती, उसी प्रकार राग, द्वेष और मोह के क्षय होने से नष्ट अविद्या और फिर पल्लवित नहीं होती और भव-चक्र सदा के लिए निरुद्ध हो जाता है।

यह प्रतीत्य समुत्पाद बुद्ध-दर्शन का प्रधान अंग होते हुए भी गम्भीर है। भगवान् ने इसकी गम्भीरता के विषय में कहा है—"आनन्द, यह प्रतीत्य समुत्पाद गम्भीर है और गम्भीर के रूप में दिखाई देने वाला है। आनन्द, इस धर्म के अज्ञान से, अवबोध न होने से, ऐसे यह प्रजा (प्राणी) अँझुराई ताँत-सी हो गयी है। बँधी गाँठ-सी हो गयी है। मूँज-भाभड़-सी हो गयी है। अपाय, दुर्गति, विनिपात, संसार का अतिक्रमण नहीं कर पाती[3]।"

बोधिपक्षीय धर्म

भगवान् बुद्ध ने अपने सम्पूर्ण जीवन-काल में जो धर्मोपदेश दिया था, वह सब बोधिपक्षीय धर्म में समाविष्ट हैं। बोधिपक्षीय धर्म समग्र बुद्धदर्शन का आधार है। इसीलिए तथागत ने भिक्षुओं को बार-बार स्मरण दिलाया था कि उन्होंने जिन बोधिपक्षीय धर्मों का उपदेश दिया है, वे भली प्रकार उनका आचरण करेंगे, उनका अभ्यास करेंगे और उनके अभ्यास में ही विमुक्ति का साक्षात्कार होगा। यह बुद्ध-शासन भी दीर्घकाल तक रहेगा। अपने महा-परिनिर्वाण लाभ करने के समय तक भगवान् ने इन्हीं धर्मों की ओर भिक्षुओं का ध्यान आकर्षित किया था—"इसलिए भिक्षुओ, मैंने जो धर्म जानकर उपदेश किए हैं, तुम

१. उदान, पृष्ठ ३।
२. नवनीत टीका, पृष्ठ १८१–२३१।
३. दीघनिकाय २, २; विशुद्धिमार्ग भाग, २, पृष्ठ १९२।

भली प्रकार सीखकर उनका सेवन करना, भावना करना, बढ़ाना, जिसमें कि यह ब्रह्मचर्य चिरस्थायी हो, यह ब्रह्मचर्य बहुजन के हित-सुख तथा लोक पर अनुकम्पा करने के लिए हो। देव-मनुष्यों के अर्थ-हित-सुख के लिए हो। भिक्षुओ, मैंने कौन से धर्म, जानकर उपदेश दिए हैं? जैसे कि (१) चार स्मृति प्रस्थान (२) चार सम्यक् प्रधान (३) चार ऋद्धिपाद (४) पाँच इन्द्रिय, (५) पाँच बल, (६) सात बोध्यंग, (७) आर्य अष्टांगिक मार्ग[१]।" इन्हें ही बोधिपक्षीय धर्म कहते हैं। ये सैंतीस हैं। इनके सम्बन्ध में किसी प्रकार का मतभेद अथवा विवाद नहीं था। सभी भिक्षु एक मत से इनका पालन एवं आचरण करते थे[२]।

"बोधि" शब्द का अर्थ है ज्ञान और "पक्षीय" पक्ष का द्योतक है। तात्पर्य वे धर्म बोधिपक्षीय धर्म हैं जो ज्ञान के पक्ष में रहनेवाले हों जिनके पालन करने से ज्ञान की प्राप्ति हो सके। आचार्य बुद्धघोष ने इनकी व्याख्या इस प्रकार की है—ये सैंतीस धर्म बूझने (जानने) के अर्थ से "बोध" नाम से पुकारे जाने वाले आर्य-मार्ग के पक्ष में होने से बोधिपक्षीय कहे जाते हैं। "पक्षीय" का अर्थ है उपकार करने वाले[३]।

स्मृति का उपस्थान ही स्मृति-प्रस्थान कहा जाता है। [illegible] वेदनानुपश्यना, चित्तानुपश्यना तथा धर्मानुपश्यना—ये चार स्मृति प्रस्थान हैं। काया को उसकी स्थिति के अनुसार जानते रहने की स्मृति को कायानुपश्यना कहते हैं। सुख-दुःख आदि अनुभूतियों को जानते रहने की स्मृति का नाम वेदनानुपश्यना है। चित्त की सभी अवस्थाओं को जानते रहने की स्मृति ही चित्तानुपश्यना है। मन के सभी धर्मों को जानते रहने की स्मृति धर्मानुपश्यना है। इनकी विस्तृत व्याख्या दीघनिकाय के महासतिपट्ठान सुत्त में की गयी है[४]। इन चार स्मृति प्रस्थानों का उपदेश करके तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ, जो कोई इन चार स्मृति प्रस्थानों की इस प्रकार सात वर्ष भावना करे, उसको दो फलों में एक अवश्य होना चाहिए—इसी जन्म में आज्ञा (अर्हत्व) का साक्षात्कार या उपाधिशेष होने पर अनागामी-भाव। रहने दो भिक्षुओ, सात वर्ष, जो कोई इन चार स्मृति प्रस्थानों को इस प्रकार छः वर्ष भावना करे, पाँच वर्ष, चार वर्ष, तीन वर्ष, एक वर्ष, सात मास, छः मास, पाँच मास, चार मास, तीन मास, दो मास, एक मास, अर्द्ध मास, सप्ताह भर भावना करे। भिक्षुओ, ये जो चार स्मृति प्रस्थान हैं, वे प्राणियों की विशुद्धि के लिए, शोक-कष्ट के विनाश के लिए, दुःख-दौर्मनस्य के अतिक्रमण के लिए, सत्य (न्याय) की प्राप्ति के लिए, निर्वाण की प्राप्ति और साक्षात् करने के लिए, एकायन मार्ग है[५]।" चार स्मृति प्रस्थानों का अभ्यास करते हुए विहरने को आत्म-शरण होकर विहरना कहा गया है[६]। चित्त की एकाग्रता और समाधि-प्राप्ति के लिए यह प्रधान साधन है।

'प्रधान' का अर्थ है प्रयत्न। "शोभन प्रयत्न सम्यक् प्रधान है[७]।" सम्यक् प्रधान से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। यह चार प्रकार का होता है। (१) अनुत्पन्न पाप या

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १०३।
२. मज्झिमनिकाय ३, १, ४, पृष्ठ ४४२।
३. विशुद्धिमार्ग भाग २ पृष्ठ २६७।
४. दीघनिकाय २, ९, पृष्ठ १९०–१९८।
५. दीघनिकाय २, ९, पृष्ठ १९८।
६. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ ६५।
७. विशुद्धिमार्ग भाग २, पृष्ठ २६७।

अकुशल धर्मों को न उत्पन्न होने देने के लिए प्रयत्न करना। (२) उत्पन्न पाप या अकुशल धर्मों के विनाश के लिए प्रयत्न करना। (३) अनुत्पन्न कुशलधर्मों की उत्पत्ति के लिए प्रयत्न करना। (४) उत्पन्न कुशलधर्मों की वृद्धि के लिए प्रयत्न करना[१]।

'ऋद्धि' का अर्थ है सिद्ध होना[२]। ऋद्धि का पाद ही ऋद्धिपाद है। वह चार प्रकार का होता है—(१) छन्द ऋद्धिपाद, (२) वीर्य ऋद्धिपाद, (३) चित्त ऋद्धिपाद, (४) मीमांसा ऋद्धिपाद। भगवान् ने कहा है—"उदायी, मैंने श्रावकों को प्रतिपदा बतला दी है जिस पर आरूढ़ हो मेरे श्रावक चारों ऋद्धिपादों की भावना करते हैं और बहुत से मेरे श्रावक इनकी भावना कर अर्हत् पद प्राप्त हो विहरते हैं[३]।" इन्हीं चार ऋद्धिपादों के सम्बन्ध में भगवान् ने अन्तिम समय में कहा था—"आनन्द, जिसने चार ऋद्धिपाद साधे हैं, बढ़ा लिए हैं, रास्ता कर लिए हैं, घर कर लिए हैं। अनुत्थित, परिचित और सुसमारब्ध कर लिए हैं। यदि वह चाहे तो कल्पभर ठहर सकता है या कल्प के बचे काल तक। तथागत ने भी आनन्द, चार ऋद्धिपाद साधे हैं, यदि तथागत चाहें तो कल्पभर ठहर सकते हैं या कल्प के बचे काल तक[४]।"

इन्द्रिय पाँच हैं—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञा। ये उपशम अर्थात् निर्वाण (सम्बोधि) की ओर ले जानेवाले हैं[५]। विशुद्धिमार्ग में कहा गया है—अ-श्रद्धा, आलस्य, प्रमाद, विक्षेप, संमोह को पछाड़ने से, पछाड़ना कहलाने वाले अधिपति के अर्थ से इन्द्रिय हैं[६]।"

बल भी पाँच हैं—(१) श्रद्धा, (२) वीर्य, (३) स्मृति, (४) समाधि, (५) प्रज्ञा। ये भी अ-श्रद्धा आदि में नहीं पछाड़े जाने से अविचलित होने के अर्थ से बल हैं[७]।

"बोधि" (ज्ञान) प्राप्त करने वाले व्यक्ति के अंग होने से ही बोध्यंग कहा जाता है[८]। इनसे युक्त व्यक्ति ही सम्बोधि प्राप्त करता है। ये सात हैं—(१) स्मृति सम्बोध्यंग, (२) धर्म-विचय सम्बोध्यंग, (३) वीर्य-सम्बोध्यंग, (४) प्रीति सम्बोध्यंग, (५) प्रश्रब्धि सम्बोध्यंग, (६) समाधि सम्बोध्यंग, (७) उपेक्षा सम्बोध्यंग। तथागत ने इन सात बोध्यंगों की भावना के सात फल बतलाये हैं—"भिक्षुओ, इस प्रकार सात बोध्यंगों के भावित और अभ्यास हो जाने पर इसके सात अच्छे परिणाम होते हैं। कौन-से सात अच्छे परिणाम ?

(१) अपने देखते ही देखते परम ज्ञान को पैठकर देख लेता है।

(२) यदि नहीं तो मरने के समय उसका लाभ करता है।

(३) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचेवाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से अपने भीतर ही भीतर निर्वाण पा लेता है।

---

१. मज्झिमनिकाय २, ३, ७, पृष्ठ ३०८। २. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ ४।
३. मज्झिमनिकाय, २, ३, ७, पृष्ठ ३०८।
४. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ ६७। ५. मज्झिमनिकाय २, ३, ७, पृष्ठ ३०८–९।
६. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २६८। ७. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २६८।
८. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २६८।

(४) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचेवाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से आगे चलकर निर्वाण पा लेता है।

(५) यदि वह भी नहीं, तो असंस्कार निर्वाण को प्राप्त करता है।

(६) यदि वह भी नहीं, तो संस्कार निर्वाण को प्राप्त करता है।

(७) यदि वह भी नहीं, तो ऊपर उठने वाला (उर्ध्व स्रोत), श्रेष्ठ मार्ग पर जाने वाला (अकनिष्टगामी) होता है।

भिक्षुओ, सात बोध्यंगों के भावित और अभ्यास हो जाने पर यही उसके सात अच्छे परिणाम होते हैं[1]।" भगवान् ने यह भी कहा है कि सात बोध्यंगों की भावना करने से विद्या और विमुक्ति पूर्ण होती है[2]। जो इनका अभ्यास करता है वह निर्वाण की ओर झुका होता है[3]।

आर्य अष्टांगिक मार्ग का चार आर्यसत्यों के अन्तर्गत वर्णन किया जा चुका है।

ये सैंतीस बोधिपक्षीय धर्म असंस्कृतगामी (निर्वाण की ओर ले जाने वाले) कहे गये हैं[4]। भगवान् ने इन सैंतीस बोधिपक्षीय धर्मो का उपदेश देने के पश्चात् कहा है—"भिक्षुओ, ये वृक्ष-मूल हैं, ये शून्य-गृह हैं, ध्यान करो, मत प्रमाद करो, ऐसा नहीं कि पीछे पश्चात्ताप करना पड़े। तुम्हारे लिये मेरा यही उपदेश है[5]।"

अनित्य-दुःख-अनात्म : त्रिलक्षण

बुद्धदर्शन संसार को अनित्य, दुःख और अनात्म इन तीन दृष्टियों से देखता है। इन्हीं दृष्टियों को त्रिलक्षण कहते हैं। बिना इनको जाने बुद्धदर्शन को समझा नहीं जा सकता है। इन्हें जानकर और भली प्रकार इनका मनन करके ही विपश्यना द्वारा निर्वाण का साक्षात्कार किया जा सकता है। धम्मपद में इन तीनों का महत्व इस प्रकार बतलाया गया है :—

सब्बे सङ्खारा अनिच्चा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥[6]

[सभी संस्कार अनित्य हैं—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद (विराग) को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि (निर्वाण) का मार्ग है।]

सब्बे सङ्खारा दुक्खा'ति यदा पञ्ञाय पस्सति।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया॥[7]

[सभी संस्कार दुःख हैं—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है।]

---

१. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५२।
२. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५३।
३. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६५४।
४. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६०१।
५. संयुत्तनिकाय, भाग २, पृष्ठ ६०१।
६. धम्मपद, गाथा-संख्या २७७।
७. धम्मपद, गाथा-संख्या २७८।

सब्बे धम्मा अनत्ता'ति यदा पञ्ञाय पस्सति ।
अथ निब्बिन्दति दुक्खे, एस मग्गो विसुद्धिया ॥[१]

[सभी धर्म (पञ्चस्कन्ध) अनात्म हैं,—ऐसा जब प्रज्ञा से देखता है, तब सभी दुःखों से निर्वेद को प्राप्त होता है, यही विशुद्धि का मार्ग है ।]

संसार में जो कुछ भी है वह सब अनित्य है । सदा एक समान रहनेवाला नहीं है । सभी उत्पत्ति, स्थिति और नाश होने के तीन क्षणों में विभक्त हैं । रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान सभी अनित्य हैं[२] । इसीलिए विशुद्धिमार्ग में अनित्य पंचस्कन्ध को कहा गया है[३] । जो अनित्य लक्षणवाला है वह दुःख है और जो दुःख है वह अनात्मा है, इसीलिए बुद्ध दर्शन अनित्य, दुःख, अनात्म इन तीन लक्षणों को प्रधान रूप से मानता है—"भिक्षुओ, रूप अनित्य है । जो अनित्य है वह दुःख है । जो दुःख है वह अनात्म है । जो अनात्म है वह न तो मेरा, न तो मैं, न तो मेरी आत्मा है । इसे यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक देखना चाहिए[४] ।" जिन हेतु और प्रत्ययों से पञ्चस्कन्ध की उत्पत्ति होती है वे भी अनित्य, दुःख, अनात्म हैं[५] । ऋषिपतन मृगदाय में भगवान् ने पंचवर्गीय भिक्षुओं को उपदेश देते हुए अनित्य, दुःख और अनात्म को इस प्रकार समझाया था—"भिक्षुओ, रूप अनात्म है। यदि रूप आत्मा होता तो यह दुःख का कारण नहीं बनता और तब कोई ऐसा कह सकता—"मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा नहीं होवे" क्योंकि रूप अनात्मा है इसीलिए यह दुःख का कारण होता है और कोई ऐसा नहीं कह सकता—"मेरा रूप ऐसा होवे, मेरा रूप ऐसा नहीं होवे । भिक्षुओ, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान अनात्म हैं, तो भिक्षुओ, क्या समझते हो रूप नित्य है या अनित्य ?"

"अनित्य भन्ते !"

"जो नित्य है वह दुःख है या सुख ?"

"दुःख भन्ते !"

"जो अनित्य, दुःख और विपरिणामधर्मा है । क्या उसे ऐसा समझना ठीक है कि यह मेरा है, यह मैं हूँ, यह मेरी आत्मा है ?"

"नहीं भन्ते !"

"भिक्षुओ, इसीलिए जो भी रूप अतीत, अनागत, वर्तमान, भीतरी, बाहरी, स्थूल, सूक्ष्म, हीन, प्रणीत, दूर में या निकट में हैं सभी को यथार्थतः प्रज्ञापूर्वक ऐसा समझना चाहिए कि यह मेरा नहीं है । यह मैं नहीं हूँ । यह मेरी आत्मा नहीं है[६] ।"

---

१. धम्मपद गाथा, संख्या २७९ ।
२. संयुत्तनिकाय, २१, १, २, १; दूसरा भाग, पृ० ३३० ।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृ० २५८ ।
४. संयुत्तनिकाय, २१, १, २, ४, पृ० ३३०, दूसरा भाग ।
५. संयुत्तनिकाय, २१, १, २, ७-९, दूसरा भाग, पृ० ३३१ ।
६. संयुत्तनिकाय २१, २, १, ७; दूसरा भाग, पृष्ठ ३५१–५२ ।

भगवान् बुद्ध के ये दार्शनिक क्रान्तिकारी विचार थे। दुःख कहने और मानने पर भी अनित्य और अनात्म के विचार भारतीय दर्शन में उनसे पूर्व नहीं प्रवेश पा सके थे। दुःख की व्याख्या भी अन्य दार्शनिकों से भिन्न थी। व्यक्ति की उत्पत्ति से लेकर मृत्यु पर्यन्त चित्त-सन्तति के रूप में परिवर्तनशील जीवन उत्पत्ति, स्थिति और लय इन क्षणत्रय के अनुसार क्षणिक है। वह शाश्वत, ध्रुव, चिरस्थायी, सदा एक-सा रहनेवाला नहीं है। वह विकृत होनेवाला है। इसी प्रकार वह दुःखमय है। सुखानुभूति तृणाग्र से ओस की बूँद चाटने के समान कल्पना मात्र है। किसी को अपने ऊपर वशता प्राप्त नहीं है। कोई भी ईश्वर, परमात्मा या अलौकिक शक्ति ऐसी नहीं है, जो उसे निर्मित करे या अपनी इच्छा के अनुसार उसका संचालन करे। बुद्ध धर्म की यह सबसे बड़ी विशेषता है कि वह अनित्य, दुःख और अनात्म को मानते हुए आत्मा, परमात्मा को नहीं मानता, किन्तु जीवन को इसी जन्म तक सीमित नहीं मानता। कर्म-विपाक के अनुसार व्यक्ति का पुनर्जन्म तबतक होता रहता है जबतक कि वह निर्वाण का साक्षात्कार न कर ले[1]।

कर्म और पुनर्जन्म

भगवान् बुद्ध कर्मवादी थे। वे कर्मो का विभाजन कर बतलाने के कारण विभज्जवादी (विभक्तवादी) भी थे[2]। वे अक्रियावाद के निन्दक एवं कर्मवाद के प्रशंसक थे। बुद्धधर्म के अनुसार कर्म और उसका विपाक (फल) ये दो ही विद्यमान हैं। कर्म से विपाक होता है और विपाक से कर्म और फिर कर्म से पुनर्जन्म; इस प्रकार यह संसार चल रहा है—

कम्मा विपाका वत्तन्ति, विपाको कम्मसम्भवो।
कम्मा पुनब्भवो होति एवं लोको पवत्तति ॥[3]

जब कर्म रुक जाता है, तब विपाक रुक जाता है और फिर पुनर्जन्म नहीं होता। कर्म के ही कारण प्राणियों में विभिन्न प्रकार के भेद दिखाई देते हैं। एक बार शुभ नामक एक ब्राह्मण तरुण ने भगवान् से पूछा था—"हे गौतम, क्या हेतु है, क्या कारण है कि मनुष्य ही होते मनुष्य रूपवालों में हीनता और उत्तमता दिखाई पड़ती है? हे गौतम, यहाँ मनुष्य अल्पायु देखने में आते है और दीर्घायु भी, बहुरोगी-अल्परोगी, कुरूप-रूपवान्, असमर्थ-समर्थ, दरिद्र-धनवान्, निर्बुद्धि-प्रज्ञावान् मनुष्य यहाँ दिखाई पड़ते हैं। हे गौतम, क्या कारण है कि यहाँ प्राणियों में इतनी हीनता और उत्तमता दिखाई पड़ती है?"

"माणवक, प्राणी कर्मस्वक् (कर्म ही है अपना जिनका) हैं, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्मप्रतिशरण हैं। कर्म ही प्राणियों को इस हीनता और उत्तमता में विभक्त करता है[4]।"

---

१. बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित।
२. मज्झिमनिकाय २, ५, ९ पृष्ठ ४१४। ३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २०५।
४. मज्झिमनिकाय ३, ४, ५, पृष्ठ ५५२।

इस उद्धरण से कर्म के प्रति बुद्धधर्म का मन्तव्य स्पष्ट ज्ञात हो जाता है। अच्छे-बुरे कर्म के कारण ही व्यक्ति अच्छा-बुरा होता है और उसी से उसकी उत्पत्ति में विषमता दिखाई देती है। इसीलिए तथागत ने कहा है—"सारे पापों का न करना, पुण्यों का संचय करना, अपने चित्त को परिशुद्ध करना—यह बुद्धों की शिक्षा है[1]।" इसलिए व्यक्ति को काया, वाणी और मन से सदा कुशल (पुण्य) कर्म करने चाहिए तथा अकुशल (पाप) कर्म छोड़ देना चाहिए। कर्म से ही कोई ऊँच-नीच होता है। कर्म से ही कोई ब्राह्मण होता है और कर्म से ही नीच (वसल)। जन्म से कोई नीच और जन्म से ब्राह्मण नहीं होता[2]।

कर्मों का विभाजन अनेक प्रकार से किया गया है। विशुद्धिमार्ग में कर्मो के कर्मान्तिर और विपाकान्तर बारह प्रकार से समझाये गये है[3]। दृष्टधर्म वेदनीय, उपपद्य वेदनीय, अपरापर्य वेदनीय और अहोसि कर्म के चार प्रकार के कर्म-विभाजन हैं। दृष्ट-कर्म वेदनीय उस कर्म को कहते है जिसका कि फल इसी जन्म में मिल जाता है। मरने के बाद ठीक दूसरे जन्म में उपपद्य वेदनीय का फल प्राप्त होता है। अपरापर्य वेदनीय कर्म जब अवसर पाता है तब अपना फल देता है; किन्तु जो कर्म अपना फल कभी भी नहीं दे सकते उन्हें अहोसि-कर्म कहते हैं।

दूसरे भी चार प्रकार के कर्म होते हैं—यद्गरुक, यद्बहुल, यदासन्न और कृतत्वात्। जो कर्म सबसे महान् होता है, वह शीघ्र फल देता है उसे यद्गरुक कर्म कहते हैं। जो प्रायः किया गया होता है उसे यद्बहुल कर्म कहते हैं। जो कर्म मृत्यु के समीप किया गया रहता है उसे यदासन्न कहते हैं और इनसे रहित बार-बार किया गया कर्म कृतत्वात् कहा जाता है।

इसी प्रकार अन्य भी चार कर्म-भेद हैं—जनक, उपस्तम्भक, उपपीड़क और उपघातक। जिस कर्म के कारण प्रतिसन्धि होती है उसे जनक कहते हैं। जिस कर्म के कारण बहुत दिनों तक जीवन बना रहता है, उसे उपस्तम्भक कहते हैं। जो कर्म बाधा उत्पन्न करता है उसे उपपीड़क कहते हैं और उपघातक कर्म वह है जो सभी प्रकार के कर्म-विपाक को हटाकर स्वयं अपना फल देने लगता है।

बुद्धधर्म आत्मा को न मानते हुए भी कर्म और पुनर्जन्म को मानता है। कहा है—"कर्म का कर्त्ता नहीं है और न विपाक को भोगनेवाला। शुद्धधर्म (संस्कार) मात्र प्रवर्तित होते हैं—इस प्रकार जानना सम्यक् दर्शन है[4]।" भगवान् बुद्ध ने स्वयं अपने ५५० पूर्व-जन्मों की चर्यायें बतलाई हैं। जातकट्ठकथा ऐसी ही चर्याओं का संग्रह है। जब व्यक्ति की मृत्यु होती है तब इस शरीर से निकलकर दूसरा जन्म धारण करने वाली कोई आत्मा जैसी वस्तु नहीं है। जब मृत्यु होती है तब यहाँ के पञ्चस्कन्ध यहीं रह जाते हैं और कर्म के कारण दूसरी प्रतिसन्धि हो जाती है। मिलिन्द प्रश्न में इसे इस प्रकार समझाया गया है—

"भन्ते, ऐसा कोई जीव है जो इस शरीर से निकल कर दूसरे में प्रवेश करता है?"

"नहीं महाराज!"

---

१. धम्मपद १८३, पृष्ठ ६५।
२. सुत्तनिपात, वसलसुत्तं, गाथा २७।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २०४।
४. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २०५।

"भन्ते, यदि इस शरीर से निकलकर दूसरे शरीर में जाने वाला कोई नहीं है तब तो वह अपने पाप-कर्मों से मुक्त हो गया ?"

"हाँ, महाराज, यदि उसका फिर भी जन्म नहीं हो तो अवश्य वह अपने पाप-कर्मों से मुक्त हो गया और यदि फिर भी वह जन्म ग्रहण करे तो मुक्त नहीं हुआ। जैसे महाराज, यदि कोई आदमी किसी दूसरे का आम चुरा ले तो दण्ड का भागी होगा या नहीं ?

"हाँ भन्ते, होगा।"

"महाराज, उस आम को तो उसने रोपा नहीं था जिसे उसने लिया, फिर दण्ड का भागी कैसे होगा ?"

"भन्ते, उसके रोपे हुए आम से ही यह भी उत्पन्न हुआ, इसलिए वह दण्ड का भागी होगा।"

"महाराज, इसी प्रकार एक पुरुष इस शरीर से अच्छे और बुरे कर्मों को करता है। उन कर्मों के प्रभाव से दूसरा शरीर जन्म लेता है, इसलिए वह अपने पाप-कर्मों से मुक्त नहीं हुआ।

जैसे महाराज, कोई एक बत्ती से दूसरी बत्ती जला ले तो क्या यहाँ एक बत्ती दूसरी से संक्रमण करती है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज, इसी तरह बिना एक शरीर से दूसरे शरीर में कुछ गये हुए ही पुनर्जन्म होता है।

महाराज, क्या आपको कोई श्लोक याद है जिसे आपने अपने गुरु के मुख से सीखा था ?"

"हाँ याद है।"

"महाराज, क्या वह श्लोक आचार्य के मुख से निकलकर आपमें घुस गया है ?"

"नहीं भन्ते !"

"महाराज, इसी तरह बिना एक शरीर में कुछ गये हुए ही पुनर्जन्म होता है[१]।"

कर्म और पुनर्जन्म का तारतम्य तब तक बना रहता है जब तक कि निर्वाण का साक्षात्कार न हो जाय, किन्तु जब निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है तब कर्म और पुनर्जन्म रुक जाते हैं, अविद्या के कारण ही व्यक्ति कर्म करता रहता है और उन्हीं कर्मों से संस्कार बनते रहते हैं और सम्पूर्ण भव-चक्र जारी रहता है, किन्तु जब अविद्या नष्ट हो जाती है, विद्या प्राप्त होती है, तब कर्म का क्षय हो जाता है और संस्कारों का होना बन्द हो जाता है और फिर पुनर्जन्म नहीं होता।

निर्वाण

निर्वाण बुद्धधर्म का अन्तिम लक्ष्य है। इसे इसी जीवन में अनुभव किया जा सकता है। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने बोधि-वृक्ष के नीचे निर्वाण का साक्षात्कार किया था। वह गम्भीर,

---

१. मिलिन्द प्रश्न, पृष्ठ ८९–९०।

दुर्बोध्य, शान्त, उत्तम एवं तर्क रहित है। वह ज्ञानियों द्वारा अपने भीतर अनुभव करने की वस्तु है। वह न उत्पन्न होता है और न विनष्ट होता है। वह एक स्थिति है जो परम शान्त और रोग-शोक से रहित है।[१] वह परम सुख है।[२] उसे प्राप्त कर परम शान्ति प्राप्त होती है।[३] इसीलिए निर्वाण को उत्तम शान्ति अथवा शान्तपद भी कहते हैं। वह निर्वाण विमुक्ति रस वाला है।[४] इसका ज्ञान राग, द्वेष, मोह के क्षय होने पर होता है। यह बुद्धधर्म का सार है। यहाँ न तो पृथ्वी है, न जल है, न वायु है, न प्रकाश है, न अन्धकार है। निर्वाण का समझना आसान नहीं।[५] निर्वाण की स्थिति के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ, वह एक आयतन है, जहाँ न तो पृथ्वी, न जल, न तेज, न वायु, न आकाशानन्त्यायतन, न विज्ञानानत्यायतन, न आकिंचन्यायतन, न नैवसंज्ञानासंज्ञायतन है, वहाँ न तो यह लोक है, न परलोक है, और न चन्द्रमा-सूर्य हैं। भिक्षुओ, न तो मैं उसे अगति और न गति कहता हूँ, न स्थिति और न च्युति कहता हूँ। उसे उत्पत्ति भी नहीं कहता हूँ। वह न तो कहीं ठहरा है, न प्रवर्तित होता है और न उसका कोई आधार है। यही दुःखों का अन्त है।[६]" निर्वाण अजात, अभूत, अकृत और असंस्कृत है।[७] निर्वाण प्राप्त कर लेने से आवागमन रुक जाता है और जन्म-मृत्यु नहीं होते। तब यह लोक और परलोक भी नहीं होता है। यही दुःखों का अन्त है।[८] निर्वाण के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—"यह शरीर जात, भूत, उत्पन्न, कृत, संस्कृत, अध्रुव, बुढ़ापा और मृत्यु से पीड़ित, रोगों का घर, क्षणभंगुर तथा आहार और तृष्णा से होने वाला है, उसमें प्रेम करना ठीक नहीं, उसका निस्तार (निर्वाण) शान्त है। वह तर्क से नहीं जाना जा सकता, वह ध्रुव, अजात, न उत्पन्न होने वाला तथा शोक और राग रहित है। सभी दुःखों का वहाँ निरोध हो जाता है। वह संस्कारों की शान्ति एवं परम सुख है।"[९]

निर्वाण को अमृतपद भी कहा जाता है और यह अमृत इसलिए है कि जरा, जन्म, व्याधि से रहित अच्युत पद है। वह परम योगक्षेम है। उसे प्राप्त कर लेने के पश्चात् कुछ करना शेष नहीं रहता, इसलिए वह भव का निरोध भी है। एक यही वस्तु ऐसी है, जो नित्य है। व्यक्ति को इसका अनुभव सर्वप्रथम स्रोतापत्ति फल की प्राप्ति के समय किंचितमात्र होता है। उसके पश्चात् सकृदागामी और अनागामी में क्रमशः अधिक, अर्हत्-फल की प्राप्ति के साथ इसका पूर्ण साक्षात्कार हो जाता है। अर्हत्व भी इसे ही कहते हैं। ध्यान प्राप्त भिक्षुओं को इस जीवन में इसके सुख की अनुभूति संज्ञावेदयित निरोध समापत्ति के समय पूर्ण रूप से होती है, किन्तु यह केवल ध्यान से प्राप्य नहीं है।

निर्वाण प्राप्त व्यक्ति जब परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, तब उसकी अवस्था उसी प्रकार होती है, जिस प्रकार कि लोहे की घन की चोट पड़ने पर जो चिनगारियाँ उठती हैं वह

---

१. इतिवुत्तक, पृष्ठ ३६।
२. धम्मपद १५, ८ (निब्बानं परमं सुखं)।
३. थेरी गाथा १५।
४. विनयपिटक चुल्लवग्ग।
५. उदान, पृष्ठ ११०।
६. उदान, पृष्ठ १०९।
७. उदान, पृष्ठ ११०–१११।
८. उदान, पृष्ठ १११।
९. उदान, पृष्ठ १२१।

तुरन्त ही बुझ जाती हैं। कहाँ गयीं, कुछ पता नहीं चलता। इसी प्रकार काम-बन्धन से मुक्त हो निर्वाण पाये हुए, अचल सुख प्राप्त किये हुए व्यक्ति की गति का कोई भी पता नहीं लगा सकता।[1] उसकी निर्वाण-प्राप्ति प्रदीप के बुझ जाने के समान होती है[2]।

प्राप्ति-भेद के अनुसार निर्वाण दो प्रकार का होता है। सोपादिशेष निर्वाण और अनुपादिशेष निर्वाण। शरीर रहते इसी जीवन में निर्वाण के जिस सुख का अनुभव करते हैं अर्थात् राग, द्वेष, मोह के क्षय होने पर इस जीवन में ही जिस निर्वाण-सुख की अनुभूति होती है वह सोपादिशेष निर्वाण है और जिस निर्वाण सुख की अनुभूति पञ्चस्कन्ध के न रहने पर होती है अर्थात् परिनिर्वाण प्राप्त करने के पश्चात् जिस अजर, अमर, शिव, अच्युत, परमशान्त, सुख, अकृत का लाभ होता है वह अनुपादिशेष निर्वाण है। भगवान् बुद्ध ने सोपादिशेष निर्वाण का उरुवेला में बोधिवृक्ष के नीचे साक्षात्कार किया था और अनुपादिशेष निर्वाण का लाभ उन्हें कुशीनारा में महापरिनिर्वाण के समय हुआ था।

संघ का महत्व

बुद्धधर्म में संघ एक प्रमुख इकाई है। त्रिरत्न में एक रत्न है। यह निर्वाण प्राप्त, जीवन-मुक्त भिक्षुओं का संघ है, जिसमें चार पुरुष युग्म और आठ पुरुष पुद्गल होते हैं। वह भगवान् का श्रावक संघ सुमार्ग पर चलनेवाला है। सीधे मार्ग पर चलनेवाला है। उचित और न्याय मार्ग पर चलनेवाला है। वह आह्वान करने योग्य है। पाहुन बनाने योग्य है। दान देने योग्य है। हाथ जोड़ने योग्य है और लोक के लिए पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र है[3]। इस सङ्घ का बहुत बड़ा महत्व है। संघ के सामने व्यक्ति तुच्छ है। यहाँ तक कि संघ बुद्ध से भी महान् है। एक समय महाप्रजापती गौतमी भगवान् बुद्ध के पास गयीं और उन्हें अपने हाथ से काते और बुने हुए एक जोड़े वस्त्र को दान देना चहीं। भगवान् ने उसे स्वयं न ग्रहण कर संघ को देने के लिए कहा। साथ ही उन्होंने यह भी कहा कि संघ को देने से मैं भी पूजित होऊँगा और संघ भी[4]। इससे स्पष्ट है कि बुद्धधर्म में संघ का क्या स्थान है।

भिक्षु और भिक्षुणी संघ

भगवान् बुद्ध ने संघ की स्थापना सर्वप्रथम 'ऋषिपतन मृगदाय' में की थी और वहीं यशकुलपुत्र का पिता संसार में सबसे पहले त्रिशरण ग्रहण किया था। बुद्ध, धर्म और संघ ये त्रिशरण कहलाते हैं। सब उपासक-उपासिका, भिक्षु-भिक्षुणी को इन शरणों को ग्रहण करना पड़ता है। भगवान् बुद्ध से पूर्व ऐसा संगठित भिक्षु संघ नहीं था। वैदिक काल में भिक्षुओं के जमात थे, किन्तु धर्म-प्रचार आदि के लिए उनमें संगठन नहीं था। भगवान् बुद्ध का भिक्षु संघ एक संगठित संस्था के समान था। यही कारण है कि कुछ विद्वानों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भगवान् बुद्ध का भिक्षु-संघ कोई नयी स्थापना नहीं थी, प्रत्युत उन्होंने गणतन्त्रों के आधार पर भिक्षुओं के एक प्रजातन्त्र वर्ग का निर्माण किया था, जो राजनीतिक

---

१. उदान, पृष्ठ १२७। २. रतनसुत्त, सुत्तनिपात गाथा १४।
३. विशुद्धमार्ग, भाग १, पृष्ठ १९९। ४. मज्झिमनिकाय, ३, ४, १२, पृष्ठ ५७९।

संघटनों की भाँति एक धार्मिक संघटन था[1]। इस संघ-निर्माण की प्रशंसा करते हुए श्री काशी प्रसाद जायसवाल ने लिखा है—"बौद्ध संघ के जन्म का इतिहास सारे संसार के त्यागियों के सम्प्रदायों के जन्म का इतिहास है। इसलिए भारतीय प्रजातन्त्र के संघटनात्मक गर्भ से बुद्ध के धार्मिक संघ के जन्म का इतिहास केवल इस देशवालों के लिए ही नहीं, बल्कि शेष सारे संसार के लिए भी विशेष मनोरंजक होगा[2]।" श्री जायसवाल ने भिक्षु-संघ की जो महत्ता बतलायी है वह तो स्वीकार्य है किन्तु भारतीय गणतन्त्रों की देन कहना संगत नहीं, क्योंकि भगवान् का भिक्षुसंघ एक पवित्र परिभाषा के साथ युक्त है। वह ध्यानियों के लिए वर्णित चालीस कर्मस्थानों में एक कर्मस्थान भी है[3]। जिसकी अनुस्मृति से ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है। जिसकी मुहूर्त भर भी पूजा सौ वर्ष के अग्निहोत्र से श्रेष्ठ है[4]। विशुद्धिमार्ग में कहा गया है—"संघानुस्मृति में लगा हुआ भिक्षु संघ का गौरव और प्रतिष्ठा करने वाला होता है। वह श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होता है। भय-भैरव को सहनेवाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है। संघ के साथ रहने का विचार होता है। संघगुणानुस्मृति के साथ रहनेवाले का शरीर एकत्र संघ के उपोशथ गृह के समान पूजनीय होता है। संघ के गुण की प्राप्ति के लिए चित्त झुकता है। उल्लंघनीय वस्तुओं के आ पड़ने पर उसे संघ को सम्मुख देखने के समान लज्जा और संकोच हो आता है। यदि वह ज्ञान को नहीं भी प्राप्त कर लेता है तो सुगति परायण होता है[5]।" ऐसे विमुक्ति की ओर ले जानेवाले संघ को प्रजातन्त्र का अनुकरण मात्र कहना भिक्षु संघ की वास्तविक परिभाषा का अतिक्रमण करना है। तथागत का श्रावक संघ ज्ञानियों का संघ है। वह राग, द्वेष और मोह से रहित परम शुद्ध भिक्षुओं का संघ है।

भगवान् का संघ जिस पवित्र उद्देश्य से चारिका कर विश्व का कल्याण किया उसकी गुणगरिमा वर्णनातीत है। प्रारम्भ के कुछ समय तक केवल भिक्षु संघ ही था, किन्तु महाप्रजापती गौतमी के प्रव्रजित हो जाने के पश्चात् भिक्षुणी संघ की भी स्थापना हो गयी थी। इन दोनों संघों ने आमोत्कर्ष के साथ ही "बहुजन हिताय बहुजन सुखाय" महान् कार्य किया। भिक्षु संघ ने तथागत के धर्म-घोष से संसार को उद्घोषित किया तो भिक्षुणी संघ ने धर्म की दुन्दुभी बजायी। भगवान् के संघ के चार अंग थे—भिक्षु, भिक्षुणी, उपासक और उपासिका। इनमें भिक्षु और भिक्षुणी गृह का त्यागकर मुक्ति-मार्ग के पथिक हो गये थे और उपासक तथा उपासिका गृहवासी होते हुए इन गृह-त्यागियों के अवलम्ब थे।

भगवान् बुद्ध ने सदा यह प्रयत्न किया कि उनके भिक्षु और भिक्षुणी संघ में कभी मतभेद पैदा न हो। सब मिलजुल कर रहें। उन्होंने इस बात के महत्व को बतलाते हुए संघ की उन्नति के लिए सात अपरिहानीय धर्मो का उपदेश किया था। वे सात धर्म ये

---

१. हिन्दू राजतन्त्र, पहला खण्ड, पृष्ठ ६८।

२. हिन्दू राजतन्त्र, पहला खण्ड, पृष्ठ ७२।

३. अंगुत्तर निकाय, ६, १, ९। ४. धम्मपद, गाथा १०६।

५. विशुद्धिमार्ग, पहला भाग, पृष्ठ २०१।

हैं—(१) बार-बार बैठक करना। (२) एक साथ बैठना और उठना तथा संघ के कामों को करना। (३) नियमों का उल्लंघन न करना। भली प्रकार उनपर चलना। (४) वृद्ध भिक्षुओं का सत्कार-सम्मान करना। (५) बार-बार आवागमन में डालने वाली तृष्णा के वश में न पड़ना। (६) आरण्यक शयनासनों में रहने की अभिलाषा करना। (७) अपने गुरुभाइयों की सुख-सुविधा का ध्यान रखना।

जब तक भिक्षु इन सात बातों का पालन करते रहेंगे तब तक उनकी उन्नति होती रहेगी, अवनति नहीं[१]। यही धर्म भिक्षुणी संघ के लिए भी उन्नतिगामी हैं। भगवान् बुद्ध ने संघ के फूट की बहुत ही निन्दा की थी और उन्होंने संघ में फूट तथा मैत्री होने के कारणों पर भी प्रकाश डाला था[२]। उन्होंने यह भी कहा था कि जो संघ में मैत्री कराता है वह महान् पुण्य को प्राप्त करता है और फूट उत्पन्न करने वाला नरकगामी होता है—"संघ की एकता सुखदायक है और सुखदायक है मिलजुल कर रहनेवालों का अनुग्रह भी। मेल में रत, धर्म में स्थित पुरुप अपने योगक्षेम का नाश नहीं करता। संघ में मेल करके कल्प भर वह स्वर्ग में आनन्द करता है[३]।" जो भिक्षु संघ में फूट डालता है उसे संघादिसेस की आपत्ति होती है[४]। यही विधान भिक्षुणियों के लिए भी आचरणीय है[५]। धम्मपद में भी भगवान् बुद्ध ने संघ की मैत्री को सुखदायक कहा है :—

सुखो बुद्धानं उप्पादो सुखा सद्धम्मदेसना।
सुखा संघस्स सामग्गी समग्गानं तपो सुखो[६]॥

[सुखदायक है बुद्धों का जन्म, सुखदायक है सद्धर्म का उपदेश, संघ में एकता सुखदायक है और सुखदायक है एकतायुक्त हो तप करना।]

ऐसे महान् भिक्षु और भिक्षुणी संघ की शरण जाकर आत्म-हित करने का आदेश विमानवत्थु में दिया गया है—"जो चार शुद्ध पुरुषों का युग्म है और जो धर्मदर्शी आठ पुरुष-पुद्गल हैं, जिन्हें दिया गया दान महाफलदायक कहा गया है—उस संघ की शरण जाओ[७]।"

जनता पर प्रभाव

भगवान् के भिक्षु-भिक्षुणी संघ में सभी वर्गों एवं कुलों के लोग प्रव्रजित होकर सम्मिलित हुए थे, बुद्धधर्म में जातिभेद, कुल-भेद, वर्ग या वर्णभेद के लिए स्थान नहीं था। सब समान थे। जैसे समुद्र में मिल जाने के उपरान्त सभी सरितायें अपना नाम खो देती हैं और केवल "समुद्र" नाम से ही जानी जाती हैं, वैसे ही क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—चारों वर्णों

---

१. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ १३–१५।
२. विनयपिटक, पृष्ठ ५९३–९४।
३. विनयपिटक, पृष्ठ ४९४।
४. विनयपिटक, पृष्ठ १२–१३।
५. विनयपिटक, पृष्ठ ४६।
६. धम्मपद, गाथा, संख्या १९४।
७. विमानवत्थु ५३ (गाथा संख्या ३)।

के लोग संघ में सम्मिलित होकर शाक्यपुत्रीय श्रमण (बौद्धभिक्षु) हो जाते थे, उनके पूर्व के नाम-गोत्र समाप्त हो जाते थे[1]। संघ की यह एक महान् विशेषता थी। इस संघ में राजा-रंक, ब्राह्मण-चाण्डाल सभी एक समान आदृत एवं सम्मानित थे। ये सभी विभिन्न परिस्थितियों में घरबार छोड़कर प्रव्रजित हुए थे, अतः उनका जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वे जनता से आये थे और उसके सुख-दुःखों से भली प्रकार परिचित थे, अतः उनकी बातों का जनता पर प्रभाव पड़ना अनिवार्य था। भिक्षु-भिक्षुणी संघ ने ग्राम-ग्राम पैदल चारिका कर लोगों को सन्मार्ग दिखलाया। कहीं-कहीं उनका विरोध किया गया था, किन्तु वह क्षणिक था। मगध में जब प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुलपुत्र भगवान् के पास भिक्षु हो गये थे तब लोग देखकर निन्दा करते और दुःखी होते थे—"अपुत्र बनाने को श्रमण गौतम आया है, विधवा बनाने को श्रमण गौतम आया है, कुल-नाश के लिए श्रमण गौतम आया है। अभी उसने एक सहस्र जटिलों को प्रव्रजित किया। इन ढाई सौ संजय के परिव्राजकों को भी प्रव्रजित किया। अब मगध के प्रसिद्ध-प्रसिद्ध कुलपुत्र भी श्रमण गौतम के पास प्रव्रजित हो रहे हैं। वे भिक्षुओं को देखकर इस प्रकार कहते थे—

"महाश्रमण मगधों के गिरिव्रज में आया है।

संजय के सभी चेलों को तो ले लिया, अब किसको लेनेवाला है?"[2]

किन्तु जब लोगों को ज्ञात हो गया कि भगवान् का संघ धर्म-मार्ग पर आरूढ़ है तब वे ही उनके प्रशंसक हो गये। "आपका स्वागत है, आपका आना उत्तम हुआ।" राजा मगध श्रेणिक बिम्बिसार से आयुष्मान् गौतम ही अधिक सुख विहारी हैं।[3] वे मनुष्य सुखी हैं जो बुद्ध की उपासना कर गौतम के शासन में लग, अप्रमत्त होकर शिक्षा ग्रहण करते हैं।[4]

भिक्षु और भिक्षुणी संघ ने बुद्धधर्म का प्रचार बड़े उत्साह और लगन से किया। लोक पर अनुकम्पा करके ही उन्होंने उपदेश दिया। यही कारण था कि राजा बिम्बिसार, प्रसेनजित्, पुक्कुसाति, चण्डप्रद्योत, उदयन, बोधिराजकुमार, शाक्य, मल्ल, लिच्छवि आदि बुद्ध-भक्त हो गये। भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए स्थान-स्थान पर विहारों का निर्माण हो गया। अनाथपिण्डिक, विशाखा, घोषित आदि धनवानों ने उनके लिए अपना सर्वस्व-न्यौछावर कर दिया। उनके घर प्रतिदिन भिक्षु-भिक्षुणियों के लिए भोजन-दान दिया जाने लगा और उनका द्वार इन संघों के लिए सदा खुला रहने लगा। इस संघ में प्रविष्ट लोगों में कोई किसी का भाई था, तो कोई पिता, कोई पुत्र था तो कोई भांजा, कोई माँ थी तो कोई पुत्री, कोई बहिन थी तो कोई पत्नी। सभी श्रद्धा से गृहत्याग कर प्रव्रजित हुए थे, अतः उनका स्वागत होना स्वाभाविक था। यही कारण था कि थोड़े ही दिनों में भिक्षु-भिक्षुणी संघ के सदस्यों की संख्या पर्याप्त बढ़ गयी थी और सम्पूर्ण देश में काषाय वस्त्रधारी विचरण करने लगे थे। इनके प्रभाव में आकर लोगों ने पञ्चशील का पालन प्रारम्भ कर दिया। जीवहिंसा, चोरी, कामभोगों के

---

१. उदान, पृष्ठ ७५। २. विनयपिटक, पृष्ठ १००।

३. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ६०।

४. संयुत्तनिकाय भाग १, पृष्ठ ५४ (वेण्हुसुत्त २, २, २)।

मिथ्याचार, मृषावाद और मादकद्रव्यों का सेवन कम हो गये। लोग धार्मिक और सदाचारी बनने का प्रयत्न करने लगे। यज्ञों में होने वाली हिंसा बन्द हो गयी और उसे लोग पाप समझने लगे। इन संघों के कारण समाज की बहुत कुछ बुराइयाँ बन्द हो गयीं। बुराइयों को बन्द करने के लिए शासकों को बहुत प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं हुई। कुछ लोग कहते हैं कि इन संघों का जनता पर बुरा भी प्रभाव पड़ा। बहुत से परिवार नष्ट हो गये। कारण, माता-पिता, पुत्र-पुत्री, पति-पत्नी के वियोग ने उनकी रीढ़ तोड़ दी और वे फिर सम्हल न सके। देश में विरक्तों का ही एक समाज बन खड़ा हुआ[1]। किन्तु इसमें वास्तविक सत्य केवल इतना ही है कि यह संघ केवल भिक्षा माँगकर खाने वाला ही नहीं था, प्रत्युत समाज का महान् सुधारक था। इसने केवल विरक्तों का ही समाज नहीं खड़ा कर दिया, प्रत्युत सम्पूर्ण देश में सदाचार का बिगुल बजाया, लोगों का मन पाप एवं बुराइयों की ओर से हटा कर पुण्य तथा सदाचार की ओर लगाया, जिससे समाज का उत्थान हुआ। और यही कारण था कि भारत विश्वगुरु बन सका। लोगों के हित-सुख के लिए इन संघों ने अपने कष्ट का ध्यान न देकर चारिकाएँ की। वेरंजा में पड़े अकाल तक के कष्टों को सहकर धर्म-प्रचार किया। उनमें सहिष्णुता थी। वे कष्टों को आनन्दपूर्ण भोगने के लिये तत्पर थे, जनता का हित उनके सामने था। वे भिक्षाटन भी उसी प्रकार करते थे जैसे भ्रमर पुष्प के वर्ण और गन्ध को विना हानि पहुँचाये, रस को लेकर चल देता है[2]। भगवान् के ये संघ विश्व के लिए एक अनुपम आदर्श थे। इन्होंने भारतीय समाज का जो कल्याण किया और इनके प्रभाव से भारतीय समाज जिस प्रकार उन्नति का पथ अपनाया वह भारत के इतिहास में अविस्मरणीय है। "संघ सरणं गच्छामि" (मैं संघ की शरण जाता हूँ) से ही उसकी उपयोगिता एवं महानता प्रगट है। देवता भी उस संघ के दर्शनार्थ जाते थे—"इस वन में देवताओं का यह महासमूह एकत्र हुआ है, हम लोग भी इस अजेय संघ के दर्शनार्थ इस धर्म-सम्मेलन में आये हुए हैं[3]।" जहाँ कि राग आदि रूपी कण्टक, अर्गल तथा रोड़े को नष्ट कर ज्ञानीजन शुद्ध, विमल, दान्त और श्रेष्ठ होकर विचरण करते हैं[4]।" ऐसे भिक्षु-भिक्षुणी संघ के उद्देश्य एवं कार्य भी महान् थे—

"धर्म को कहे, प्रकाशित करे, ऋषियों की ध्वजा को धारण करे।
सुभाषित ही ऋषियों की ध्वजा है, धर्म ही उनकी ध्वजा है[5]॥"

स्त्रियों का बुद्धधर्म में स्थान

वैदिक काल में भारतीय समाज में स्त्रियों का गौरवपूर्ण स्थान था, किन्तु धीरे-धीरे उनकी अवस्था चिन्तनीय हो गयी थी। बुद्धकाल से कुछ पूर्व स्त्रियाँ हीन समझी जाने लगी

---

१. जातक कालीन भारतीय संस्कृति, पृष्ठ १५९।
२. धम्मपद, गाथा संख्या ४९।
३. दीघनिकाय, पृष्ठ १७७ (महासमयसुत्त २, ७)।
४. दीघनिकाय, पृष्ठ १७७ (महासमयसुत्त २, ७)।
५. संयुत्तनिकाय २०, ७, पहला भाग, पृष्ठ ३१४।

थीं। न तो उनकी शिक्षा की व्यवस्था थी न तो उन्हें स्वतन्त्रता ही थी। वैदिक काल में केवल विवाहिता स्त्री वेदों का पठन-पाठन नहीं कर सकती थी, किन्तु पीछे स्त्रियाँ प्रायः अशिक्षिता ही रहने लगीं। दासियों की प्रथा प्रबल हो चली थी। वेश्या-वृत्ति भी समाज में प्रचलित हो गयी थी। भगवान् बुद्ध को स्त्री जाति की इस दशा पर बड़ी दया आयी। उन्होंने स्त्रियों को भी पुरुषों के समान अधिकार प्रदान किया और कहा कि स्त्री तथा पुरुष दोनों का कर्तव्य है कि वे एक-दूसरे की सेवा करें। जहाँ उन्होंने स्त्रियों को कहा कि तुम्हें पति-परायण होना चाहिए, वहीं पुरुषों को भी कहा कि तुम्हें पाँच प्रकार से अपनी धर्मपत्नियों की सेवा करनी चाहिये—(१) पत्नी का सम्मान करके, (२) उसका अपमान न करके, (३) पर-स्त्री-गमन न करके, (४) उसे धनधान्य प्रदान कर घर की स्वामिनी बना करके, और (५) आभूषण-वस्त्रों को इच्छानुसार प्रदान करके।

भगवान् बुद्ध ने समाज में फैली स्त्रियों के प्रति हीन मनोभावना को दूर करने का प्रयत्न किया। एक समय भगवान् बुद्ध श्रावस्ती के जेतवन विहार में रहते थे। उस समय कोसलनरेश प्रसेनजित् की रानी मल्लिका ने पुत्री को प्रसव किया। राजा भगवान् के पास बैठा उपदेश सुन रहा था। वहीं एक दूत ने इस सन्देश को राजा से कहा। राजा ने जब सुना कि मल्लिका ने पुत्री को जन्म दिया है, तब उसका मुख उदास हो गया। वह कुछ चिन्तित भी हो गया। इसे देखकर तथागत ने राजा को समझाया और कहा कि जो वीर पुत्र उत्पन्न होते हैं उनकी जननी स्त्रियाँ ही हैं, वही स्त्रियाँ पति, स्वसुर एवं सास की सेवा भी करती हैं, अतः इनसे कभी भी घृणा नहीं करनी चाहिए।[1]

यद्यपि तथागत ने पहले स्त्रियों को भिक्षुणी बनाना अस्वीकार कर दिया था, किन्तु पीछे उन्होंने इस बात को स्वीकार किया कि जिस प्रकार पुरुष निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं वैसे ही स्त्रियाँ भी निर्वाण लाभ कर सकती हैं। पुरुषों के समान उनमें भी सभी गुण विद्यमान हैं और उन्होंने कुछ नियमों के साथ स्त्रियों को भी भिक्षुणी बनाना स्वीकार कर लिया।[2]

इस भिक्षुणी संघ में सहस्रों दुःखित एवं पीड़ित नारियों ने सम्मिलित होकर अपना कल्याण किया। अम्बपाली, अड्ढकासी, विमला जैसी दूषित जीवन व्यतीत करनेवाली नारियों ने भी उस उत्तम भिक्षुणी सङ्घ में प्रवेश कर अपना जीवन सफल बनाया। जिस प्रकार भिक्षुओं में सारिपुत्र और मौद्गल्यायन महाप्रज्ञावान् थे उसी प्रकार भिक्षुणियों में भी क्षेमा और उत्पलवर्णा थीं। भिक्षुणियों द्वारा कही गई उल्लासपूर्ण वाणी थेरीगाथा नामक ग्रन्थ में विद्यमान है। जिन्हें पढ़कर उनके ज्ञान का पता लगता है। संयुत्तनिकाय और मज्झिमनिकाय में अनेक भिक्षुणियों द्वारा उपदिष्ट सूत्र भी बुद्ध-वचनामृत की भाँति माने जाते हैं। गृहस्थ जीवन व्यतीत करनेवाली महिलाओं में भी विशाखा, मल्लिका आदि के उज्ज्वल चरित्र हमें प्रेरणा प्रदान करते हैं।

---

१. संयुत्तनिकाय, ३, २, ६, पहला भाग, पृष्ठ ७८।
२. बुद्धचर्या, पृष्ठ ७३-७५।

भगवान् बुद्ध की शिक्षा का समाज पर इतना गहरा प्रभाव पड़ा कि दासियाँ तक मुक्ति की कामना करने लगीं और वे भी भिक्षुणी संघ में सम्मिलित होती गयीं। बुद्ध काल से पूर्व हमें कहीं भी ऐसा उल्लेख नहीं मिलता कि महिलाओं के लिए भी शिक्षा की कोई सुव्यवस्था थी अथवा उनके लिए अलग विद्यालय आदि थे। केवल धनी मानी लोग अपने घरों में थोड़ी-बहुत शिक्षा अपनी पुत्रियों को दिला देते थे, किन्तु भगवान् के भिक्षुणी संघ ने इस दिशा में महान् क्रान्ति का कार्य किया। सभी भिक्षुणी विहार महिला शिक्षणशाला के सदृश हो गए। वहाँ प्रव्रजित एवं गृहस्थ दोनों प्रकार की महिलाएँ शिक्षा पाने लगीं।

बुद्धकाल में स्त्रियों को "दो अंगुल भर प्रज्ञावाली"[१] कहा जाता था। पालि-साहित्य में इस प्रकार के अनेक उदाहरण उपलब्ध हैं। भिक्षुणी संयुत्त में एक कथा आयी है। उसमें कहा गया है कि उस समय मार सोमा नामक भिक्षुणी को डरा, कँपा और रोंगटे खड़े कर देने तथा समाधि से गिरा देने के विचार से वहाँ आया जहाँ सोमा भिक्षुणी थी, और उससे कहा—"ऋषि लोग जिस पद को पाते हैं, उसका पाना बड़ा कठिन है। दो अंगुल भर प्रज्ञा-वाली स्त्रियाँ उसे नहीं पा सकती हैं।" तब सोमा भिक्षुणी ने उसके मन के विचार को जानकर कहा—"जब चित्त समाहित हो जाता है, ज्ञान उपस्थित रहता है और धर्म का पूर्णतः साक्षात्कार होता है, तब स्त्री-भाव क्या करेगा? जिस किसी को ऐसा विचार होता है कि मैं स्त्री हूँ अथवा पुरुष हूँ, उसी से मार, तू ऐसा कह सकता है।"[२]

सोमा भिक्षुणी ने वास्तव में मार को समुचित उत्तर दिया था। "स्त्रियों की प्रज्ञा दो अंगुल की होती है"—ऐसा कहना नारी-समाज का अपमान करना है। भगवान् बुद्ध ने स्त्रियों की बुद्धि की बहुत प्रशंसा की है और बतलाया है कि वे बड़ी बुद्धिमती होती हैं। सुलसा जातक में तथागत ने स्त्रियों की विवेचना करते हुए कहा है—"स्त्रियाँ विलक्षण और पण्डिता होती हैं। सभी जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होता, सूक्ष्म विचार करनेवाली स्त्रियाँ भी पण्डिता होती हैं।"[३]

बुद्धकालीन उन महिलाओं ने स्वयं भी अपने सम्बन्ध में बहुत कुछ कहा है। उन्होंने तथागत के उपदेशों को सुनकर अपना सारा जीवन पुरुषों के स्वार्थमय चंगुल से निकलकर व्यतीत किया था और संयमपूर्वक मध्यम मार्ग का अवलम्बन कर ज्ञान को प्राप्त किया था। चन्द्रा ने अपने सम्बन्ध में कैसी उदात्त वाणी कही है—"अहो, अमोघ था देवी का उपदेश! मैं आज तीनों विद्याओं की ज्ञाता हूँ। सब चित्तमलों से विमुक्त हूँ।"[४] वाशिष्ठी ने तो अपने को सर्वोत्तम मंगल की अधिकारिणी कहा है—"मैं सर्वोत्तम मंगल की अधिकारिणी हो गयी। अब मेरे सब शोक दूर हो गये। वह वस्तु ही मुझे ज्ञात हो गयी, जिससे शोक की उत्पत्ति होती है।"[५] इस प्रकार की जीवन-मुक्ता महिलाओं के जीवन चरित्र तथा उनकी ओजस्वी वाणियाँ आज भी हमें त्रिपिटक में उपलब्ध हैं।

---

१. संयुत्तनिकाय, ५, २, पहला भाग, पृष्ठ १०९।

२. संयुत्तनिकाय, ५, २, पहला भाग, पृष्ठ १०८-९।

३. तुलसा जातक, ४१८। ४. थेरीगाथाएँ, पृष्ठ ४२। ५. थेरीगाथाएँ, पृष्ठ ४५।

इन महिलाओं में राजकुमारियाँ, रानियाँ और श्रेष्ठिजनों की भी दुहिताएँ थीं। जिन्होंने अपना सर्वस्व त्याग कर मुक्ति प्राप्त की थीं। इनमें ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तथा व्याध-कुलों की भी महिलाएँ थीं। तथागत के धर्म में सबके लिए मार्ग खुला था। इस महायज्ञ में सब समान थीं। न वहाँ जाति-भेद का कोई प्रश्न था और न तो किसी प्रकार की संकीर्ण मनोवृत्ति ही थी। जैसे सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर एक हो जाती हैं उसी प्रकार तथागत के धर्म में प्रव्रजित होकर सभी स्त्रियाँ 'बुद्धपुत्रियाँ' हो जाती थीं।[१]

तथागत के हृदय में नारी-समाज के प्रति जो दया-भावना थी, उसे जानने के लिए यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भगवान् बुद्ध ने जहाँ अम्बपाली जैसी गणिकाओं का उद्धार किया, यशोधरा के शयन-कक्ष में स्वयं पदार्पण किया और पटाचारा आदि सन्तप्त-हृदया नारियों को आश्वासन प्रदान किया, वहीं उन्होंने स्त्री एवं पुरुष समाज के कल्याण का भी सदा समान रूप से ध्यान रखा। उन्होंने स्त्रियों से कहा—"तुम्हें भी पुरुषों जैसा अधिकार प्राप्त है। तुम मातृत्व से आगे बढ़कर केवलत्त्व को प्राप्त कर सकती हो। तुम भी गृह-लक्ष्मी ही नहीं, विश्वपूज्या बन सकती हो। राग, द्वेष, मोह का नाश कर तुम भी संसार के सभी दुःखों से छुटकारा पा सकती हो। जैसी करुणा भगवान् बुद्ध में स्त्री-समाज पर थी, वैसी आज तक किसी धर्म-संस्थापक अथवा गुरु में नहीं पाई जाती।"[२]

भगवान् बुद्ध के सम्पर्क में जितनी नारियाँ आयीं, उनमें तीन प्रकार की थीं—(१) माताएँ, (२) भिक्षुणियाँ, (३) उपासिकायें। माताओं के लिए भगवान् बुद्ध ने कहा कि "सुखा मेत्तेय्यता लोके[३]" अर्थात् संसार में माता की सेवा करना परम सुखदायक है। माता-पिता की सेवा अड़तीस मंगलों में से एक है[४]। माता-पिता ही पूर्व ब्रह्मा हैं। जो व्यक्ति इनकी सेवा करता है, वह ब्रह्मा के साथ रहता है[५]। भिक्षुणियों को उन्होंने संयम के साथ रहकर ध्यान-भावना करने की शिक्षा दी और उपासिकाओं को सदाचारिणी रह धर्म-पालन करते हुए सुखमय गृहस्थ जीवन व्यतीत करने की सलाह दी। उन्होंने कहा कि बचपन में विवाह नहीं करना चाहिए, क्योंकि छोटी कन्याओं का विवाह पतन का कारण होता है[६]। पुरुष को उन्होंने एक पत्नी-व्रत का परामर्श दिया[७]। तथापि हम देखते हैं कि बुद्धकाल में बहुविवाह की प्रथा प्रचलित थी और राजभवनों में बहुत-सी रानियाँ होती थीं, जिनका जीवन दुःखी होता था।

भगवान् बुद्ध का धर्म एक ऐसा धर्म है जो कर्त्तव्य परायणता एवं शील, सदाचार की ओर अग्रसर करता है। जिसमें पुरुष एवं नारी-समाज सब प्रकार से सन्तुष्ट एवं सुखी रह

---

१. उदान ५, ४, पृष्ठ ७५।
२. सौन्दर्य और साधिकाएँ : विद्यावती मालविका द्वारा लिखित, पृष्ठ ५७-५८।
३. धम्मपद २३, १३।
४. सुत्तनिपात, पृष्ठ ५३।
५. इतिवुत्तक, पृष्ठ ६२।
६. सुत्तनिपात, पराभवसुत्त, पृष्ठ २३, गाथा २०।
७. सुत्तनिपात पराभवसुत्त, पृष्ठ २३, गाथा १८।

सकता है। स्त्रियों के प्रति भगवान् बुद्ध द्वारा कही गयी इन उक्तियों में कितनी उच्च भावना परिलक्षित हो रही है—

देवता—"यहाँ सबसे बड़ा सखा कौन है?"
बुद्ध—"भार्या सबसे बड़ी साथिन है।"
देवता—"कोई स्त्री किससे पहिचानी जाती है?"
बुद्ध—"कोई स्त्री अपने पति से पहिचानी जाती है।"
देवता—"कौन-सा सामान सबसे उत्तम है।"
बुद्ध—स्त्री सभी सामानों से उत्तम है[1]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धधर्म में नारी का एक सम्मानपूर्ण स्थान है। वह पुरुषों के समान ज्ञान, बुद्धि एवं सभी शक्तियों से सम्पन्न है। उसके अनादर में मनुष्य का पतन है तथा उसको सम्मान प्रदान करने में सुख-समृद्धि के साम्राज्य की प्राप्ति। वह घर प्रणम्य है जिस घर में स्त्रियों का सम्मान होता है और धर्म के साथ जहाँ स्त्रियों का पालन-पोषण किया जाता है—"हे मातलि, जो गृहस्थ पुण्य करने वाले, शीलवान् तथा धर्म के साथ स्त्री का पालन-पोषण करते हैं, उन उपासकों को मैं प्रणाम करता हूँ[2]।"

स्थविरवाद बौद्धधर्म का ऐतिहासिक दिग्दर्शन

भगवान् बुद्ध ने ई० पूर्व ५८८ में ऋषिपतन मृगदाय में प्रथम उपदेश दिया था और वहीं भिक्षुसंघ का निर्माण हुआ था। ऋषिपतन मृगदाय में वर्षावास की समाप्ति के समय तक उनके साठ शिष्य हो गये थे। वहाँ से उरुबेला जाते समय तीस और उरुबेला में एक हजार भिक्षुओं की संख्या और बढ़ गयी थी। जब भगवान् ने राजगृह में प्रवेश किया तब उनके साथ एक हजार तिरानबे भिक्षुओं का संघ था। वहाँ संजय परिब्राजक के ढाई सौ शिष्य तथागत के पास आकर भिक्षु हो गये थे। उनके साथ सारिपुत्र और मौद्गल्यायन ने भी भिक्षु-दीक्षा ली थी। इस प्रकार उस समय तक भिक्षु संघ की कुल संख्या एक हजार तीन सौ पैंतालीस हो गयी थी[3]। उसके पश्चात् भगवान् के भिक्षु शिष्यों की संख्या निरन्तर बढ़ती गयी थी। भगवान् के साथ कभी साढ़े बारह सौ भिक्षु चारिका करते थे[4], तो कभी पाँच सौ[5]। भगवान् कभी अपने उपस्थाक (सेवक) के साथ विचरण करते थे,[6] तो कभी अकेले भी;[7] किन्तु भगवान् के साथ अधिकतर पाँच सौ भिक्षुओं की चारिका करने का वर्णन मिलता है। भगवान् ने मध्यदेश की सीमा के अन्तर्गत ही पैंतालीस वर्षों तक पैदल घूम-घूमकर उपदेश दिया था। उनके उपदेश से प्रभावित होकर बहुसंख्यक जनता ने उनके धर्म को स्वीकार किया

---

१. संयुत्तनिकाय १, ८, ७, पहला भाग, पृष्ठ ४७।
२. संयुत्तनिकाय ११, २, ८, पहला भाग, पृष्ठ १८५।
३. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ १५३।
४. दीघनिकाय १, २, पृष्ठ १६।
५. दीघनिकाय पृष्ठ ३४, ४४, ४८, ८२, ८६, २८१, ३०२ आदि।
६. उदान, पृष्ठ ४७–५१।
७. उदान, पृष्ठ ५६–५८।

था। सर्वप्रथम बुद्धविहार का निर्माण राजगृह में श्रेणिक बिम्बिसार द्वारा कराया गया था। उसके पश्चात् वहीं राजगृह-श्रेष्ठी द्वारा साठ विहार बनवाकर आगत अनागत चातुर्दिश संघ को प्रदान किया गया था[1]। विहारों के न होने से पहले भिक्षु जंगल, वृक्ष के नीचे, पर्वत, कन्दरा, गिरिगुहा, श्मशान, वनप्रस्थ, खुले मैदान, पुआल के गंज आदि में जहाँ-तहाँ निवास करते थे[2]। विहार निर्माण के आदर्श के अनुसार श्रावस्ती, कपिलवस्तु, वैशाली, ऋषिपतन मृगदाय, कौशाम्बी, कुशीनारा, सुंसुमारगिरि, कीटागिरि, आलवी आदि स्थानों में सुन्दर-सुन्दर विहारों के निर्माण हो गये। इन विहारों के नैवासिक भिक्षु समीपस्थ क्षेत्रों में धर्म-प्रचार एवं उसके संवर्द्धन का कार्य करने लगे। ये विहार बुद्ध-धर्म के प्रचार-केन्द्र हो गये। श्रद्धालु जनता ने इन विहारों के लिए धन व्यय करने में अधिक उत्साह प्रकट किया। फलतः इन विहारों के माध्यम से भिक्षुओं की संख्या अहर्निश बढ़ने लगी। इसी प्रकार भिक्षुणी संघ की स्थापना (ई० पूर्व ५८७) के पश्चात् भिक्षुणियों के लिए विहारों का भी निर्माण हुआ, जिनमें भिक्षुणियाँ रहकर धर्म-प्रचार एवं आत्मसाधना में निरत रहीं। यद्यपि भगवान् ने मध्यदेश मे ही धर्मोपदेश का कार्य किया, किन्तु उनके शिष्य अवन्ती, सूनापरान्त, मद्र, बंग, उत्कल, पैठन, गोदावरी के प्रदेश, उत्तरापथ आदि में जाकर सद्धर्म का सन्देश वहाँ की जनता को दिया। महावंश में तथागत के तीन बार लंका जाने का भी वर्णन है[3]। ऐसे ही वे सूनापरान्त प्रदेश में भी ऋद्धिबल से गये थे—ऐसा उल्लेख अट्ठकथाग्रन्थों में मिलता है[4]। ऐतिहासिक दृष्टिकोण से केवल इतना ही माना जा सकता है कि बुद्धधर्म इन प्रदेशों में भी सार्थवाहों, भिक्षुओं, उपासक-उपासिकाओं आदि के द्वारा किसी-न-किसी रूप में पहुँच चुका था। भगवान् बुद्ध की महिमा धीरे-धीरे चातुर्दिश व्यापिनी होती जा रही थी और कुक्कुटवती (वर्तमान क्वेटा) के राजा कप्पिन, उज्जयिनी के पुरोहित-पुत्र आयुष्मान् महाकात्यायन आदि कुलपुत्रों ने इसी प्रकार बुद्धोत्पत्ति के समाचार को सुना था और उन्होंने तथागत का दर्शन कर भिक्षु-दीक्षा ग्रहण की थी।

उस समय भिक्षुओं के लिए तथागत का एकमात्र आदेश था—"चुन्द, श्रावकों के हितैषी, अनुकम्पक, शास्ता को अनुकम्पा करके जो करना चाहिए, वह तुम्हारे लिए मैंने कर दिया। चुन्द, ये वृक्षमूल है, ये सूने घर हैं, ध्यानरत होओ। चुन्द मत प्रमाद करो, मत पीछे पश्चात्ताप करने वाले बनना—यह तुम्हारे लिए हमारा अनुशासन (उपदेश) है[5]।" भिक्षुओं ने इस आदेश के पालन का प्राणपन प्रयत्न किया। उन्होंने अपने उद्योग, सहिष्णुता, आचरण की पवित्रता, समाधि और प्रज्ञा के सहारे पैंतालीस वर्षों के बीच ही बुद्धधर्म को लोकप्रिय बना दिया। भिक्षु-भिक्षुणियों का समाज में एक उच्च एवं गौरवास्पद स्थान हो गया। उनके दर्शन के लिए दूर-दूर की जनता उनके पास आने लगी।

---

१. विनयपिटक ६, १, २, पृष्ठ ४५१। २. विनयपिटक, पृष्ठ ४५०।

३. महावंश, पृष्ठ १–७।

४. पपञ्चसूदनी, पुण्णोवाद सुत्त की अट्ठकथा ३, ५, ३; संयुत्तनिकायट्ठकथा ३४, ४, ६ में भी।

५. मज्झिमनिकाय १, १, ८, पृष्ठ २९।

जिस समय भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण (ई० पूर्व ५४३) हुआ, उस समय उनकी पवित्र अस्थियों (फूलों) के लिए सात नरेशों ने अपने सन्देश भेजे और अस्थियों के न मिलने की आशंका से वे युद्ध के लिए सन्नद्ध हो गये[१] । जिन्हें द्रोण नामक ब्राह्मण ने शान्त किया था। इस घटना से ही स्पष्ट है कि तत्कालीन जनता के अतिरिक्त नरेशों में भी तथागत और उनके संघ के प्रति प्रगाढ़ श्रद्धा थी । भगवान् के इस वचन से भी यह प्रगट है—"आनन्द, तथागत की शरीर-पूजा के प्रति तुम लोग निश्चिन्त रहना । आनन्द, तुम लोग सदर्थ के लिए प्रयत्न करना, सदर्थ के लिए उद्योग करना, सदर्थ में अप्रमादी, उद्योगी, आत्मसंयमी हो विरहना । आनन्द, क्षत्रिय पण्डित भी, ब्राह्मण पण्डित भी, गृहपति पण्डित भी तथागत में अत्यन्त अनुरक्त हैं, वे तथागत की शरीर-पूजा करेंगे[२] ।"

इतना होते हुए भी सर्वत्र और सदा तथागत और उनके भिक्षु-भिक्षुणी संघ की प्रशंसा ही नहीं हुई और न स्वागत ही हुआ । अनेक स्थानों में भिक्षुओं को भले-बुरे शब्द सुनने पड़े[३] । वेरंजा के अकाल का सामना करना पड़ा[४] । ऐसे ही राजगृह के दुर्भिक्ष में भी कष्ट भोगने पड़े[५] । देवदत्त[६], सुन्दरी परिब्राजिका[७], चिंचा माणविका[८] आदि द्वारा निन्दित करने के जघन्य प्रयासों को क्षमाशीलतापूर्वक देखना पड़ा । अनेक बार भिक्षु-भिक्षुणियों पर चोरों द्वारा आक्रमण भी किये गये[९] । भिक्षुणियों के साथ बलात्कार की भी घटनायें घटीं[१०] । यहाँ तक भी हुआ कि एक बार जब तथागत बड़े भारी भिक्षुसंघ के साथ थूण नामक ग्राम में पहुँचे तो वहाँ के लोगों ने इसलिए कूँओं को घास-भूसी से ऊपर तक भर दिया कि ये मथमुण्डे नकली साधु पानी न पीने पावें[११] । तथागत के शिष्यों को घरों में जला तक डाला गया[१२] । कुछ को अपना राज्य हाथ से धोना पड़ा[१३] और कुछ को कारावास में प्राण गँवाने पड़े[१४] । फिर भी बुद्ध-शासन की उन्नति होती ही गयी । ऐसी घटनायें भी कम ही घटीं ।

इस प्रकार हम देखते हैं कि लगभग आधी शताब्दी में ही स्थविरवाद बुद्धधर्म जड़ पकड़कर दृढ़मूल हो गया और उसकी विजय-दुन्दुभी चारों ओर बजने लगी ।

●

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १९३-१९५ । २. [illegible], पृ० १४५ ।
३. विनयपिटक, पृष्ठ ३९८-३९९ तथा उदान, पृष्ठ १८ ।
४. बुद्धचर्या पृष्ठ १३२ ; पाराजिका १, २ । ५. विनयपिटक, पृष्ठ ४७४ ।
६. विनयपिटक, पृष्ठ ४८०-४८९ । ७. उदान, पृष्ठ ५९ ।
८. बुद्धचर्या, पृष्ठ ३१६-१७ । ९. बुद्धचर्या, पृष्ठ ४८२ ।
१०. थेरीगाथायें, पृष्ठ ९५-९६ । ११. उदान, पृष्ठ १०६-७ ।
१२. उदान, पृष्ठ १०७-८ ।
१३. पपञ्चसूदनी, २, ४, ९; मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ३६७ ।
१४. दीघनिकाय, पृष्ठ १६-१७ ।

[आ] महायान का उदय और विकास

प्रथम सङ्गीति

बुद्ध-वचनों का सङ्कलन

सर्वजन हितैषी लोकानुकम्पक शास्ता का महापरिनिर्वाण ईस्वी पूर्व ५४३ की वैशाख-पूर्णिमा को कुशीनारा के युग्म—शालवृक्षों के नीचे हुआ था। उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध ने अपने शिष्यों को धर्म और विनय का अवलम्बन प्रदान किया था, और कहा था—"आनन्द, सम्भवतः तुम लोगों को ऐसा हो कि चले गये गुरु का यह उपदेश है, अब हमारा शास्ता (गुरु) नहीं है। आनन्द, इसे ऐसा न समझना। मैंने जो धर्म और विनय का उपदेश किया है, प्रज्ञप्त किया है, मेरे पश्चात् वही तुम्हारा शास्ता है।"[१] अतः अब भिक्षुओं के शास्ता धर्म और विनय ही रह गए थे। इनका पालन करना तथागत का सम्मान-सत्कार करना था।[२] किन्तु भगवान् के महापरिनिर्वाण के एक सप्ताह के पश्चात् एक ऐसी घटना घटी, जिसने कि भिक्षुओं को धर्म और विनय के संरक्षण के प्रति सतर्क कर दिया। उन्हे उनकी सुरक्षा के प्रति प्रयत्न-शील होना पड़ा और उसी के फलस्वरूप प्रथम संगीति हुई।

तथागत का महापरिनिर्वाण हुए एक सप्ताह हुआ था। आयुष्मान् महाकाश्यप पाँच सौ भिक्षुओं के बड़े संघ के साथ पावा से कुशीनारा जा रहे थे। मार्ग मे उन्हे कुशीनारा से आता हुआ एक आजीवक मिला। उससे आयुष्मान् महाकाश्यप को ज्ञात हुआ कि एक सप्ताह पूर्व भगवान् का महापरिनिर्वाण हो गया। इस समाचार को सुनते ही वहाँ जितने भिक्षु उपस्थित थे, उनमे ज्ञान-प्राप्त लोगों को महान् धर्म-संवेग प्राप्त हुआ और जिन लोगों ने अभी ज्ञान नहीं प्राप्त किया था, उनमें से कुछ रोने तथा विलाप करने लगे। उन्हीं के बीच वृद्धा-वस्था मे प्रव्रजित हुआ एक सुभद्र नामक भिक्षु था। उसने रोते-विलपते भिक्षुओं को इस प्रकार समझाना प्रारम्भ किया—"मत आवुसो, शोक करो। मत रोओ। हम लोग इस महा-श्रमण से सुमुक्त हो गये। हम लोग पीड़ित रहा करते थे—"यह तुम्हें विहित है, यह तुम्हें

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १७१ (सो वो ममच्चयेन सत्थाति)।

२. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १३८-१३९।

विहित नहीं है, अब हम जो चाहेंगे, वह करेंगे और जो नहीं चाहेंगे, वह नहीं करेंगे।"[१] सुभद्र की इस बात को सुनकर आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षुओं को समझाया और उन्हें शान्त किया।

कुशीनारा पहुँचने पर भगवान् के अन्त्येष्ठि-संस्कार के पश्चात् आयुष्मान् महाकाश्यप ने भिक्षु-संघ को सुभद्र की बात सुनाई और कहा कि हम एकत्र होकर धर्म और विनय की संगीति (संगायन) करें, जिससे कि धर्म और विनय की सुरक्षा हो सके और अधर्म एवं अविनय दबाये जा सकें। इस कार्य के लिए राजगृह में वैभार पर्वत के पार्श्व में स्थित सप्तपर्णी गुहा निश्चित की गयी। उसी समय आयुष्मान् आनन्द के साथ ५०० संगीति-कारक भिक्षुओं का भी निर्वाचन कर लिया गया। अन्य भिक्षुओं को यह आदेश दिया गया कि वे संगीति के समय अन्यत्र वर्षावास करें, राजगृह न जाँय।

निर्वाचित भिक्षु आषाढ़पूर्णिमा तक राजगृह पहुँच गये। पहले मास में उन्होंने विहारों के प्रतिसंस्करण कराये। सप्तपर्णी गुहा में संगीति के लिए उन्होंने मण्डप का निर्माण कराया। प्रथम मास इन्हीं कार्यों मे व्यतीत हो गया। श्रावण मास के कृष्णपक्ष को द्वितीया को स्थविर लोग संगीति के लिए मण्डप में एकत्र हुए।[२] तब तक आयुष्मान् आनन्द ने अर्हत्व नहीं प्राप्त किया था, किन्तु उसी दिन उन्हें ज्ञान प्राप्त हो गया और वे भी मण्डप में अपने आसन पर ऋद्धिबल से आकर बैठ गये।[३] संगीति के लिए आयुष्मान् महाकाश्यप संघनायक निर्वाचित हुए और उन्होंने विनय को आयुष्मान् उपालि से तथा धर्म (सूत्र और अभिधर्म) को आयुष्मान् आनन्द से पूछा। उन महास्थविरों ने सभी पूछे गए प्रश्नों के क्रमशः उत्तर दिये।

विनयपिटक के पञ्चशतिका स्कन्धक में इस संगीति का बहुत ही सुन्दर वर्णन आया हुआ है। किस प्रकार प्रश्न पूछे गये और उनके उत्तर दिए गये—इसका स्पष्ट चित्रण वहाँ उपलब्ध हैं।[४] संगीति-मण्डप में उपस्थित भिक्षु-संघ को आयुष्मान् महाकाश्यप ने इस प्रकार ज्ञापित किया—

"आवुसो, संघ, सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूँ?"

आयुष्मान् उपालि ने भी सङ्घ को ज्ञापित किया—"भन्ते, सङ्घ, सुने, यदि सङ्घ को पसन्द है तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गये विनय का उत्तर दूँ?"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् उपालि से कहा—"आवुसो उपालि, प्रथम पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गयी?"

"भन्ते, राजगृह में।"

"किसको लेकर?"

"सुदिन्न कलन्दपुत्र को लेकर।"

---

१. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृ० १८९।		२. महावंश, पृ० १३।

३. विनयपिटक, ११, १, २, पृष्ठ ५४२; बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१२।

४. विनयपिटक, पृष्ठ ५४१-४७।

"किस बात में ?"

"मैथुन धर्म में।"

तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने उपालि से प्रथम पराजिका की वस्तु (कथा) भी पूछी, निदान (कारण) भी पूछा, व्यक्ति भी पूछा, प्रज्ञप्ति (विधान) भी पूछी, अनु-प्रज्ञप्ति भी पूछी, आपत्ति भी पूछी, अनापत्ति भी पूछी।

विनय की सारी बात समाप्त हो जाने पर आयुष्मान् आनन्द से धर्म पूछा—"आवुस आनन्द, ब्रह्मजाल सूत्र कहाँ कहा गया था ?"

"राजगृह और नालन्दा के बीच, अम्बलट्ठिका के राजागार में।"

"किसको लेकर ?"

"सुप्रिय परिव्राजक और ब्रह्मदत्त माणवक को लेकर।"

इसी प्रकार आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् आनन्द से सम्पूर्ण धर्म पूछे। जब सम्पूर्ण प्रश्नोत्तर समाप्त हो गये, तब सभी सङ्गीतिकारक भिक्षुओं ने एक साथ मिलकर उसका सस्वर पाठ किया। इस प्रथम सङ्गीति में अन्यूनाधिक पाँच सौ भिक्षु सम्मिलित हुए थे, इसलिए इस सङ्गीति को पञ्चशतिका कहते हैं।[१] यह सङ्गीति सात मास में समाप्त हुई थी।[२]

महावंश में कहा गया है—"महाकाश्यप स्थविर ने सुगत के इस शासन को पाँच हजार वर्ष तक स्थिर रहने के योग्य कर दिया, इसीलिए सङ्गीति की समाप्ति पर प्रमुदित हुई पृथ्वी समुद्र-पर्यन्त छः बार कम्पित हुई। संसार में और भी अनेक आश्चर्य हुए। स्थविरों द्वारा की जाने के कारण यह सङ्गीति स्थविर-परम्परा की कहलाती है।"[३]

यह सङ्गीति बुद्ध-वचनों के सङ्कलन का महान् कार्य था। भगवान् बुद्ध ने बुद्धत्व-प्राप्ति से लेकर महापरिनिर्वाण-पर्यन्त जो कुछ भी कहा, उपदेश दिया, वे सब बुद्ध-वचन थे, किन्तु उन सबका न तो किसी को ज्ञान था और न तो सब सङ्कलित ही किए जा सकते थे। सम्प्रति उन सब बुद्ध-वचनों को जानने का कोई साधन भी नहीं है। हमारे लिए सङ्गीति-कारक महास्थविरों ने जिन बुद्ध-वचनों का सङ्कलन किया था, वे ही उपलब्ध हैं। इन बुद्ध-वचनों को तथागत के शिष्यों ने कण्ठस्थ कर रखा था। उन्होंने सङ्गीति के समय उनके सङ्कलन में सहयोग प्रदान किया। यद्यपि विनय के संग्राहक आयुष्मान् उपालि थे और धर्म के आयुष्मान् आनन्द तथापि बुद्ध-वचनों के सङ्कलन में सभी सङ्गीति-कारक भिक्षुओं का सहयोग प्राप्त था। इस कार्य में आयुष्मान् उपालि और आयुष्मान् आनन्द का प्रधानत्व अपेक्षित था ही; क्योंकि भगवान् ने अपने जीवनकाल में ही इन महास्थविरों को एतदग्र (श्रेष्ठ) की उपाधि दी थी और कहा था—"भिक्षुओ, मेरे विनयधारी भिक्षुओं में उपालि सर्वश्रेष्ठ है और बहुश्रुतों, गतिमानों, स्थितिमानों तथा उपस्थाकों में आनन्द सर्वश्रेष्ठ है।"[४]

---

१. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१७; विनयपिटक, पृष्ठ ५४७। २. महावंश, पृष्ठ १४।

३. महावंश, पृष्ठ १४। दीपवंश में कहा गया है—
"तस्मा हि सो थेरवादो, अग्गवादोति वुच्चति।"—(४, ३२)।

४. बुद्धचर्या, पृ० ४३८।

त्रिपिटक पालि का आकार

इस प्रथम सङ्गीति में सङ्कलित सभी बुद्धवचनों को तीन पिटकों में विभक्त किया गया—(१) विनयपिटक, (२) सुत्तपिटक, (३) अभिधम्मपिटक। इन्हीं तीन पिटकों के समूह को त्रिपिटक (तिपिटक) कहते हैं। त्रिपिटक का शाब्दिक अर्थ है, तीन पिटारी या तीन मञ्जूषा। वास्तव में त्रिपिटक बुद्धवचन रूपी रत्नों की मञ्जूषा ही है। त्रिपिटक का विस्तार इस प्रकार है :—

विनयपिटक में पाँच ग्रंथ हैं—पाराजिका, पाचित्तिय, महावग्ग, चुल्लवग्ग और परिवार।

सुत्तपिटक में पाँच निकाय है—दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुत्तनिकाय, अङ्गुत्तर-निकाय और खुद्दकनिकाय।

खुद्दकनिकाय में पन्द्रह ग्रन्थ हैं—खुद्दक पाठ, धम्मपद, उदान, इतिवुत्तक, सुत्तनिपात, विमानवत्थु, पेतवत्थु, थेरगाथा, थेरीगाथा, जातक, निद्देस, पटिसम्भिदामग्ग, अपदान, बुद्धवंस और चारियापिटक।

दीघनिकाय में ब्रह्मजाल आदि चौंतीस सूत्र और तीन वर्ग हैं। सूत्रों के दीर्घ (लम्बे) होने के कारण दीघनिकाय कहा जाता है। ऐसे ही दूसरों को भी समझना चाहिए। मज्झिम-निकाय मे मध्यम परिमाण के पन्द्रह वर्ग और मूल परियाय आदि एक सौ तिरपन सूत्र हैं। संयुत्तनिकाय में वेदना संयुत्त आदि चौवन संयुत्त और ओघतरण आदि सात हजार सात सौ बासठ सूत्र हैं। अङ्गुत्तरनिकाय में ग्यारह निपात और चित्तपरियादान आदि नौ हजार पाँच सौ सत्तावन सूत्र हैं।

दीघनिकाय आदि चार निकायों को छोड़कर शेष बुद्ध-वचन को [illegible] कहा जाता है।[१]

अभिधम्मपिटक में सात ग्रन्थ हैं—धम्मसङ्गणी, विभङ्ग, धातुकथा, पुग्गलपञ्ञत्ति, कथावत्थु, यमक और पट्ठान। ये सभी बुद्ध-वचन हैं।[२]

संक्षेप में पालित्रिपिटक का यही आकार है। इसमें सभी बुद्धवचन ही संकलित नहीं हैं प्रत्युत प्रधान बुद्ध-श्रावकों के भी वचन संकलित हैं। किन्तु वे सभी बुद्ध-वचन ही माने जाते हैं, क्योंकि शिष्यों ने जो कुछ उपदेश दिया है उन्होंने उसे भगवान् बुद्ध से ही सीखा है अथवा उन्हीं के उपदेश को अपने शब्दों में अपने ढंग से कहा है। आयुष्मान् उत्तर का कथन है—"जो सुभाषित है, वह सब उन भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध का वचन है, उसीसे ले लेकर हम तथा अन्य कहते हैं[३]।" "तथागत की धर्मदेशना अपरिमाण पदों और व्यञ्जनों वाली [illegible]।" यह सम्पूर्ण पालि त्रिपिटक सुत्त, गेय्य, वेय्याकरण, गाथा, उदान, इतिवुत्तक, जातक, भुतधम्म, वेदल्ल—इन नौ अंगों से सुशोभित है[५], इसीलिए त्रिपिटक को नवांग बुद्ध-वचन

---

२. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१८।
४. अंगुत्तरनिकाय ४, ४, ८।

भी कहते हैं। इस त्रिपिटक में भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट बयासी हजार (श्लोक प्रमाण) वचन संग्रहीत हैं और भिक्षुओं द्वारा उपदिष्ट दो हजार। सम्पूर्ण धर्मस्कन्ध चौरासी हजार हैं। आयुष्मान् आनन्द ने कहा है—"मैंने बयासी हजार (धर्मस्कन्ध) भगवान् बुद्ध से ग्रहण किया और भिक्षुओं से दो हजार। ये चौरासी हजार धर्म (इस समय) त्रिपिटक में विद्यमान हैं[1]।"

द्वितीय संगीति

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के पश्चात् सौ वर्षों तक भिक्षु-संघ परिशुद्ध एवं निर्मल स्थरविरवाद का पालन किया और धर्मदायाद होकर बुद्ध-शासन को प्रसारित एवं प्रचारित किया, किन्तु सौ वर्षों के व्यतीत होते ही वैशाली में रहनेवाले वज्जिपुत्तक भिक्षुओं में कुछ दोष उत्पन्न हो गये। उन्होंने इन दस बातों का प्रचार करना प्रारम्भ किया—(१) इस विचार से सींग में नमक, अपने पास रखा जा सकता है कि जहाँ अलोना होगा, वहाँ उसका उपयोग करेंगे[2]। (२) दोपहर में दो अंगुल छाया को बिता कर भी विकाल में भोजन करना विहित है[3]। (३) भोजन कर चुकने पर ग्राम के भीतर भोजन करने जाया जा सकता है[4]। (४) एक सीमा के बहुत से आवासों मे उपोसथ करना उचित है[5]। (५) यह विचार करके एक वर्ग के संघ का विनय-कर्म करना कि जो भिक्षु पीछे आयेंगे, उनको स्वीकृति दे देंगे[6]। (६) आचार्य और उपाध्याय द्वारा किये गये आचरण को उचित मानकर उसी का आचरण करना[7]। (७) जो दूध दूधपन को छोड़ चुका है और दहीपन को नहीं प्राप्त हुआ है, उसे भोजन कर चुकने पर अधिक पीना[8]। (८) जो सुरा अभी सुरापन को प्राप्त नहीं हुई है, उसका पीना विहित है[9]। (९) बिना किनारी का आसन रखा जा सकता है[10]। (१०) सोना, चाँदी (जातरूप, रजत) ग्रहण किया जा सकता है[11]।

उन्हीं दिनों आयुष्मान् यशकाकण्डकपुत्र चारिका करते हुए वैशाली पहुँचे और वहाँ महावन की कूटगारशाला में ठहरे। उस समय वैशाली के भिक्षु उपोसथ के दिन काँसे की थाली को पानी से भरकर भिक्षु-संघ के बीच रख देते थे और आने-जानेवाले उपासकों से कहते थे—"आवुसो, सङ्घ को कार्षापण दो। सङ्घ के परिष्कार के काम आयेगा।" उस दिन प्राप्त हिरण्य का एक भाग यश को भी दिया जाने लगा। यश ने इस कर्म को विनय-विरुद्ध बतलाया और उन भिक्षुओं तथा उपासकों को फटकारा। तब भिक्षुओं ने उन्हें प्रतिसारणीय दण्ड दिया। आयुष्मान् यश एक अनुदूत भिक्षु के साथ वैशाली नगर में

---

१. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५१८; समन्तपासादिका, पठम संगीति; बाहिरनिदान वण्णना, पृष्ठ २७; थेरगाथा १०२४।

"द्वासीतिं बुद्धतो गण्हिं, द्वे सहस्सानि भिक्खुतो।
चतुरासीति सहस्सानि, येमे धम्मा पवत्तिनो॥"

२. शृंगिलवणकल्प।
३. द्वयंगुल कल्प।
४. ग्रामान्तर कल्प।
५. आवास कल्प।
६. अनुमति कल्प।
७. आचीर्ण कल्प।
८. अमथित कल्प।
९. जलोगी कल्प।
१०. अदशक निषीदनकल्प।
११. जातरूप-रजतकल्प।

गये और वहाँ उन्होंने अपने कृतदोष के लिए क्षमा माँगने के स्थान पर वैशाली के भिक्षुओं के विनय विरोधी कार्य का और भी भंडाफोड़ किया। वैशालीवासी उपासक यश के पक्ष में हो गये। जब आयुष्मान् यश विहार लौटे और अनुदूत भिक्षु से वहाँ के भिक्षुओं को उक्त घटना ज्ञात हुई तब उन्होंने एकत्र हो विचार किया—"यह यशकाकण्डकपुत्र हमारी विनय विरोधी बात को गृहस्थों में प्रकाशित करता है। अच्छा तो हम इसका उत्क्षेपणीय कर्म करें।" वे उनका उत्क्षेपणीय कर्म करने के लिए एकत्र हुए। तब आयुष्मान् यश ऋद्धिबल से वहाँ से अदृश्य हो गये और कौशाम्बी जा खड़े हुए।

आयुष्मान् यश ने इस झगड़े को निपटाने के लिए भिक्षुओं को अपने पक्ष में करना प्रारम्भ किया। उधर जब वैशालीवालों को इसका पता लगा तब वे भी अपना पक्ष दृढ़ करने में लग गये। झगड़ा पूर्व व पश्चिम का झगड़ा बन गया। बड़े-बड़े महास्थविर इस विवाद को शान्त करने की कामना से वैशाली में एकत्र हुए। संघ की बैठक बुलाई गयी। उसमें निर्णय करने के लिए पूर्व के चार और पश्चिम के चार भिक्षुओं का निर्वाचन किया गया। पूर्व के निर्वाचित भिक्षुओं में सर्वकामी, साढ़, क्षुद्रशोभित और वार्षग्रामिक थे और पश्चिम के भिक्षुओं में रेवत, संभूत साणवासी यशकाकण्डकपुत्र और सुमन थे। उस विवाद को शान्त करने के लिए उद्वाहिका (हाथ उठाकर मत देना) द्वारा निर्णय करना निश्चित किया गया। बालुकाराम नामक विहार में संघ-सभा प्रारम्भ हुई। संघ ने निर्णय किया कि वज्जिपुत्तक भिक्षुओं ने जिन दस बातों का प्रचार करना प्रारम्भ किया है, वे धर्म-विरुद्ध, विनयविरुद्ध, शास्ता के शासन से बाहर की हैं। अन्त में घोषणा की गयी—"यह विवाद निहित हो गया। शान्त, उपशान्त हो गया[1]।"

महावंश[2] के अनुसार उस समय वहाँ बारह लाख भिक्षु उपस्थित हुए थे। रेवत स्थविर सब भिक्षुओं मे प्रधान थे। उन्होंने धर्म को चिरस्थायी बनाने के विचार से संगीति-कारक सात सौ अर्हत् भिक्षुओं को चुना। कालाशोक राजा की संरक्षता में बालुकाराम में यह द्वितीय संगीति सम्पन्न हुई, जिस प्रकार प्रथम संगीति की गयी थी, उसी प्रकार यह संगीति भी आठ मास में समाप्त हुई। इस संगीति मे अन्यूनाधिक सात सौ भिक्षु थे, इसलिए यह संगीति सप्तशतिका कही जाती है[3]। दीपवंश का यह वर्णन सर्वथा ही अशुद्ध है कि वैशाली की कूटागारशाला मे ही यह संगीति हुई थी[4]। क्योंकि विनय-पिटक मे बालुकाराम में ही संगीति का उल्लेख है[5]। ऐसे ही महावंश मे भी[6]।

---

१. विनयपिटक, पृष्ठ ५५८; बुद्धचर्या, पृष्ठ ५२७।

२. महावंश, पृष्ठ १९–२०।

३. विनयपिटक, पृष्ठ ५५८।

४. दीपवंश ५, ६८। गाथा इस प्रकार है—
कूटागारसालायेव वेसालियं पुरुत्तमे।
अट्ठमासेहि निट्ठासि दुतियो संगहो अयं॥

५. विनयपिटक, पृष्ठ ५५६।

६. महावंश, पृष्ठ २०; गाथा २२२। गाथा इस प्रकार है—
सब्बे ते वालिकारामे कालासोकेन रक्खिता।
रेवतथेरपामोक्खा अकरुं धम्मसंगहं॥

स्थविरवाद से महासांघिक आदि भिक्षुनिकायों का आविर्भाव

इस द्वितीय संगीति के समय भिक्षुसंघ में इतना बड़ा मतभेद उत्पन्न हो गया कि फिर वह पूर्ववत् संगठित नहीं रह सका। महावंश[1] के अनुसार इसमें दस हजार भिक्षुओं का निष्कासन स्थविरवादी परम्परागत संघ से किया गया था। दीपवंश[2] में भी इसी का उल्लेख है। उस समय बहिष्कृत भिक्षुओं ने एकत्र होकर अपना अलग संघ बनाया और उसका नाम महासांघिक रखा। उन्हें महासंगीतिक और महानिकायिक भी कहते हैं[3]। उन्होंने भी अपनी अलग संगीति की। इस संगीति का वर्णन दीपवंश मे इस प्रकार आया है—"महासंगीतिक भिक्षुओं ने बुद्धशासन के विरुद्ध कार्य किया। उन्होंने मूल संग्रह (त्रिपिटक) को तोड़-कर दूसरा संग्रह बनाया। अन्यत्र संग्रहीत सूत्र अन्यत्र कर दिया। अर्थ और धर्म को विनय तथा पाँचों निकायों में छिन्न-भिन्न कर दिया। उन्होंने सूत्र और विनय के अपने अनुकूल अंशों को ग्रहण किया और शेष छोड़ दिया। ऐसे ही परिवार, अर्थोद्धार, अभिधर्म के छः प्रकरण, पटिसम्भिदामग्ग, निद्देस और जातक के कुछ भागों को छोड़कर अपने त्रिपिटक का संस्कार किया। नाम, वेश, परिष्कार, ओढ़ने-पहनने के ढंग इत्यादि स्वाभाविक बातों में भी परिवर्तन कर दिया[4]।"

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महासांघिक भिक्षुओं की संख्या बहुत अधिक थी और उन्होंने अपनी अलग संगीति की। स्थविरवादी संगीति में केवल सात सौ ही भिक्षु सम्मिलित हुए थे जब कि महासांघिकों की संगीति में दस हजार भिक्षुओं का बहुत बड़ा संघ सम्मिलित हुआ था। स्थरविरवादियों की संगीति वैशाली में हुई थी और महासांघिकों ने अपनी संगीति कौशाम्वी में की[5]। यद्यपि महावंश, दीपवंश आदि स्थविरवादी ग्रन्थों में महासांघिकों को "दुष्ट भिक्षु"[6] कहा गया है, तथापि इनका अपना स्वतंत्र साहित्य था और इनका पक्ष भी सशक्त नहीं था—ऐसा नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि इन्होंने अपने स्वतन्त्र त्रिपिटक की रचना की और स्थविरवादी त्रिपिटक के क्रम तथा अनेक अंशों को परिवर्तित कर दिया। अब परम्परागत बुद्धधर्म के भिक्षुओं के दो प्रधान विभाग (निकाय) हो गये—स्थविरवाद तथा महासांघिक। पीछे इनके अन्य भी विभाग समयानुसार होते गये। यद्यपि द्वितीय संगीति भिक्षुओं के विवाद को शान्त करने के लिए हुई थी, किन्तु संघ मे एक ऐसी क्रान्ति हुई, जिसे रोका नहीं जा सका और क्रमशः भिक्षु-संघ अनेक विभाग, उप-विभाग में विभक्त होता गया।

---

१. महावंश, पृष्ठ २१। २. दीपवंश ४, ६९।

३. दीपवंश ५, २, ७०।

४. दीपवंश ५, २, ७१–७७; धर्मदूत, वर्ष १५, अंक १–२, पृष्ठ ४६, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त' शीर्षक लेख।

५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५४९।

६. महावंश, पृष्ठ २१। (निग्गहीता पापभिक्खू ते दस सहस्सका—गाथा २२८)।

अठारह भिक्षु-निकाय

कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा के अनुसार अशोक के समय तक भिक्षुनिकायों की संख्या बढ़कर अठारह हो गयी थी। ये भिक्षुनिकाय स्थविरवाद और महासांघिक ही से निकले थे। महासांघिकों के कुल छः निकाय थे और स्थविरवादियों के बारह। महावंश में इन निकायों की गणना इस प्रकार दी गयी है—"द्वीतीय संगीति करने वाले स्थविरों द्वारा मर्दन किये गये उन दस हजार दुष्ट भिक्षुओं ने महासांघिक नामक आचार्यवाद की स्थापना की। फिर उससे गोकुलिक और एक व्यवहारिक उत्पन्न हुए। गोकुलिकों से प्रज्ञप्तिवादी तथा बाहुलिक और उन्हीं से चैत्यवाद। महासांघिकों के साथ ये छः हुए। फिर स्थविरवाद में से ही महीशासक भिक्षु और वज्जिपुत्तक ये दो निकाय हुए। वज्जिपुत्तक भिक्षुओं से धर्मोत्तरीय, भद्रयानिक, छन्नागारिक और सम्मितीय हुए। महीशासक भिक्षुओं में से सर्वास्तिवाद और धर्मगुप्तिक ये दो निकाय हुए। सर्वास्तिवाद से काश्यपीय, उनसे सांक्रांतिक और फिर उनसे सूत्रवादी हुए। स्थविरवाद के साथ ये सब बारह होते हैं और पहले कहे गये छः मिलकर कुल अठारह हुए[1]।" इन निकायों को इस प्रकार समझना चाहिए—
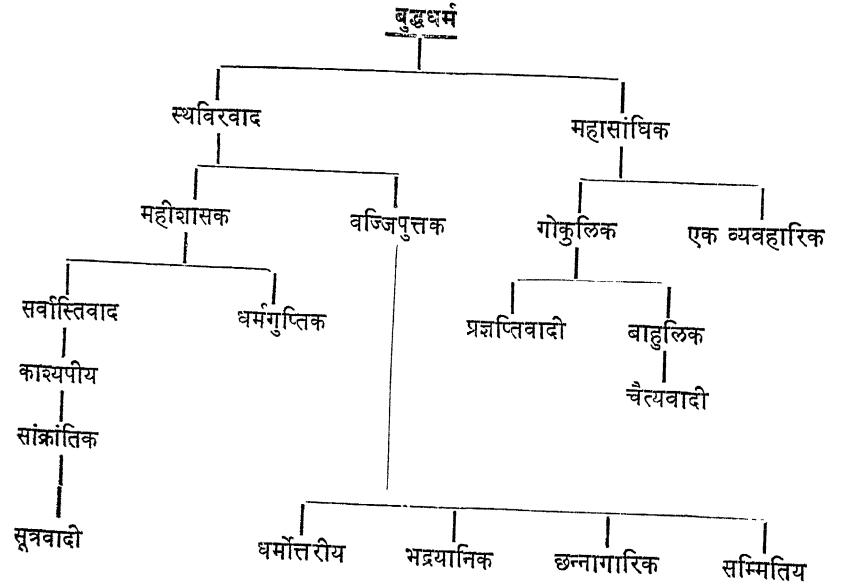
भदन्त वसुमित्र द्वारा [illegible] नामक ग्रन्थ में इन निकायों की गणना इस प्रकार दी गयी है[2] :—

---

१. महावंश, पृष्ठ २१।

२. विनयपिटक की भूमिका, पृष्ठ २।
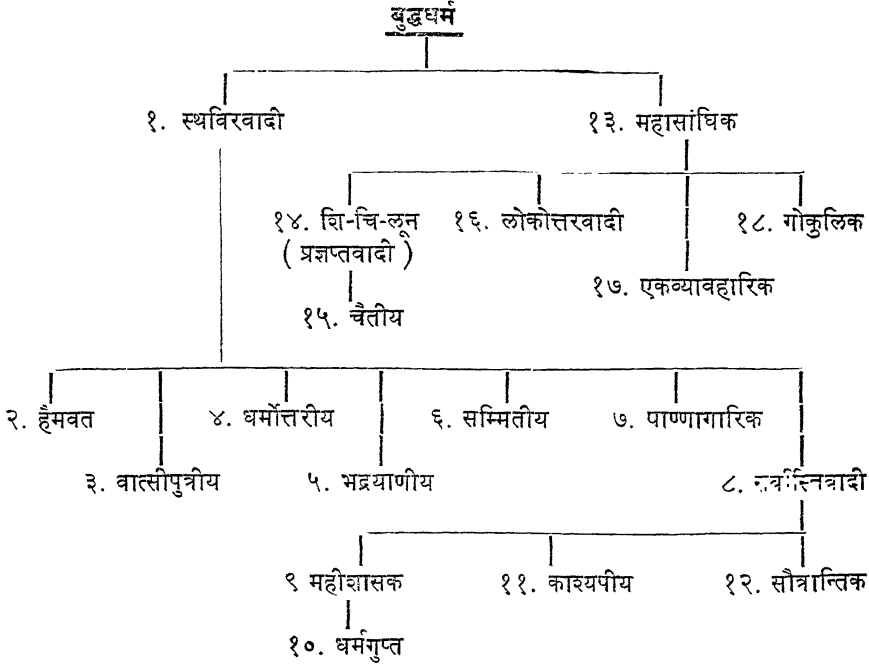
उक्त दोनों विभागों में अन्तर है, किन्तु दोनों में निकायों की गणना समान है। इससे यह जान पड़ता है कि ये सभी निकाय एक समय विद्यमान थे। केवल ग्रन्थों में ही इनका वर्णन नहीं आया है। इनके अपने सिद्धान्त और प्रतिपाद्य ग्रन्थ भी थे। इनमें से अनेक निकायों के नाम सारनाथ, साँची, बुद्धगया, कार्ला, अजन्ता, कन्हेरी आदि स्थानों में अंकित पाये गये हैं।[1] केवल सारनाथ में ही वात्सीपुत्रीय, सर्वास्तिवादी, सम्मितीय और महायान के नाम अंकित मिले हैं।[2]

उनके सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय

अठारह निकायों में से स्थविरवाद के सम्बन्ध मे पहले लिखा जा चुका है। स्थविरवाद ही बुद्धकाल से लेकर द्वितीय [illegible] था। उसके पश्चात् उत्पन्न महासांघिक आदि के सिद्धान्तों का ज्ञान हमें [illegible] की अट्ठकथा से होता है और उसी से हम जानते हैं कि अशोक के समय में आयुष्मान् मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने इन निकायों के सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन में ही कथावत्थु की देशना की थी, जिसमें २१६ शंकाओं का समाधान किया गया है।[3] यद्यपि कथावत्थु में सभी निकायों के सिद्धान्तों का खण्डन-मण्डन है, किन्तु अट्ठकथा के लेखक आचार्य बुद्धघोष ने इनमें से केवल ८ ही निकायों के सिद्धान्तों को गिनाया है। अट्ठकथा १७

---

१. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १२३।

२. सारनाथ का इतिहास, अध्याय १२, पृष्ठ १४१-१४२ और १५५।

३. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२७।

सिद्धान्तों के सम्बन्ध में मौन है। १३० का सम्बन्ध अर्वाचीन निकायों से कर दिया है और ४० सिद्धान्तों में बहुत-से सम्मिलित हैं।[1] इसी से यह ज्ञात होता है कि पाँचवीं शताब्दी तक अनेक प्राचीन एवं अर्वाचीन निकायों के सिद्धान्तों का अन्तर कर सकना कठिन हो गया था। कुछ ऐसे भी निकाय थे, जिनका अस्तित्व समाप्त हो गया था, और जो थे, उनके सिद्धान्त अन्य निकायों में भी मिलते थे। कुछ विद्वानों का यह मत ग्राह्य नहीं है कि [illegible] में पीछे के भी निकायों के खण्डन-मण्डन पीछे जोड़ दिए गये।[2] वास्तव में जिन सिद्धान्तों के खण्डन-मण्डन किए गए हैं, वे सभी प्राचीन निकायों के सिद्धान्तों को अलग-अलग करके उनका परिचय दे सकना सम्भव नहीं है। मूल रूप से स्थविरवाद और महासाङ्घिक निकायों के सिद्धान्त ज्ञात हैं और इन्हीं के विभागों-उपविभागों में से कुछ के ज्ञात हो सके हैं, जिनका आधार [illegible] की अट्ठकथा है। इनमें महासाङ्घिक और उसके निकायान्तर्गत गोकुलिक तथा स्थविरवाद के महीशासक, वज्जिपुत्तक, भद्रयानिक, सम्मितिय, सर्वास्तिवादी और काश्यपीय—इन आठ निकायों के ही सिद्धान्तों का परिचय हमें प्राप्त है।

महासाङ्घिक मानते थे कि सम्यक् वचन, कर्मान्त और आजीव 'रूप' हैं, जिन्हें कि स्थविरवाद तीन विरति नाम से चैतसिक धर्म मानता है।[3] ऐसे ही चक्षु, श्रोत्र, घ्राण, जिह्वा, काय—इन पाँच विज्ञानों से युक्त व्यक्ति के लिए मार्ग-भावना और उन्हें आभोग सहित मानते थे।[4] उनका कहना था कि व्यक्ति लौकिक और लोकोत्तर दोनों शीलों से युक्त होकर मार्ग की भावना करता है।[5] वे मानते थे कि शील ग्रहण करने मात्र से शील की अभिवृद्धि अहर्निश होती रहती है।[6] शील उत्पन्न होकर जब निरुद्ध हो जाता है, तब भी उसके ग्रहण करने के कारण शील-उपचय होता है, अतः वह शीलवान् होता है।[7] काय-विज्ञप्ति और काय-कर्म तथा वची विज्ञप्ति और वची कर्म शील हैं।[8] अव्याकृत अहेतुक धर्म [illegible] होते हैं[9]। ज्ञान द्वारा अज्ञान के दूर हो जाने पर, फिर चक्षुविज्ञान आदि के अनुसार ज्ञान-विप्रयुक्त चित्त के रहते, उस मार्ग में चित्त प्रवर्तित नहीं होता, इसलिए उसे ज्ञान नहीं कहना चाहिए[10]। संवर और असंवर दोनों ही कर्म हैं[11]। सभी कर्म स-विपाक हैं अर्थात् विपाकवाले हैं[12]। शब्द विपाक है[13]। षडायतन कर्म के करने से उत्पन्न है, अतः विपाक है[14]। कुशल और अकुशल के बीच अन्योन्य प्रतिसन्धि कहना ठीक नहीं है, किन्तु जो एक वस्तु में ही आसक्त होता और विरक्त होता है, इसलिए उसकी अन्योन्य प्रतिसन्धि होती है[15]। जो धर्म-हेतु-प्रत्यय से

---

१. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२६।
२. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४२७-२८।
३. कथावत्थु २, २०, २।
४. कथावत्थु २, १०, ५।
५. कथावत्थु २, १०, ६।
६. वही, २, १०, ९।
७. कथावत्थु, २, १०, ७।
८. वही, २, १०, १०।
९. वही, ३, ११, १-३।
१०. वही, ३, ११, ४।
११. वही, ३, १२, १।
१२. वही, ३, १२, २।
१३. वही, ३, १२, ३।
१४. वही, ३, १२, ४।
१५. वही, ३, १४, १।

प्रत्यय होता है, वह उन्हीं का होता है जिनका कि हेतुप्रत्यय से प्रत्यय होता है[१]। प्रसाद-चक्षु ही रूप को देखता है[२]। किञ्चितमात्र संयोजन के अप्रहीण होने पर भी अर्हत्व की प्राप्ति होती है[३]। सभी दिशाओं मे बुद्ध रहते हैं।[४]

गोकुलिक सम्भवतः मथुरा के पास के रहनेवाले थे।[५] ये मानते थे कि सभी संसार तप्त, दहकते हुए अङ्गारों के समान है। भगवान् के एक वचन के अनुसार ये सभी संस्कारों को दुःखमय ही मानते थे,[६] किन्तु स्थविरवाद ने क्षणिक सुखमय संस्कारों को भी माना है।[७]

इस प्रकार महासाङ्घिक और गोकुलिक निकायों के उक्त सिद्धान्त परम्परागत स्थविर-वाद के विरुद्ध थे, जिनका निराकरण कथावत्थुप्पकरण में किया गया है।

स्थविरवाद के दो प्रधान निकायों महीशासक तथा वज्जिपुत्तक के सिद्धान्तों का वर्णन कथावत्थुप्पकरण मे आया है और इन दोनों के कतिपय उपनिकायों का भी। महीशासक प्रति-संख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध दोनों को एक में करके निरोध सत्य बतलाते थे, जबकि स्थविरवाद एक ही निरोध (निर्वाण) मानता है[९]। प्रतीत्यसमुत्पाद इनकी दृष्टि मे असंस्कृत हैं,[१०] किन्तु स्थविरवाद में प्रत्ययों से उत्पन्न होने के कारण संस्कृत माना जाता है। ये मानते थे कि आकाश असंस्कृत है, किन्तु स्थविरवाद परिच्छेदाकाश को संस्कृत और अजटाकाश तथा कृत्स्नाकाश (कसिणुग्घाटिमाकास) को प्रज्ञप्तिमात्र मानता है[११]। इनकी यह भी मान्यता थी कि काय और वाक् विज्ञप्ति से उत्पन्न रूप ही कायकर्म और वाक्कर्म है, वह कुशल विज्ञप्ति से कुशल और अकुशल विज्ञप्ति से अकुशल होता है[१२]। ये सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को रूप मानते थे, जबकि ये चैतसिक धर्म हैं[१३]। ऊपर हम कह आये हैं कि महासाङ्घिक निकाय भी तीनों विरतियों को रूप मानता था। काय विज्ञप्ति और वाक् विज्ञप्ति रूप कुशल और अकुशल दोनों होते हैं।[१४] इनका कथन था कि बिना ध्यान की उपचार समापत्ति को प्राप्त किए ही एक ध्यान से दूसरे ध्यान को प्राप्त किया जा सकता है[१५]। यह निकाय मानता था कि लौकिक श्रद्धा केवल श्रद्धा ही है। वह श्रद्धा-इन्द्रिय नहीं है। ऐसे ही लौकिक वीर्य, स्मृति, समाधि और प्रज्ञा को भी ये इन्द्रिय नहीं मानते थे।[१६]

---

१. कथावत्थु, ३, १५, १।
२. वही, ४, १८, ९।
३. वही, ५, २१, ५।
४. वही, ५, २१, ८।
५. भिक्षु धर्मरक्षित : धर्मदूत, वर्ष १५, अंक १-२, पृष्ठ ४७ (भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त)।
६. कथावत्थु, १, २, ८।
७. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४३०।
८. कथावत्थु, १, २, ११।
९. भिक्षु धर्मरक्षित : भिक्षुनिकाय और उनके सिद्धान्त, 'धर्मदूत', वर्ष १५, अंक १-२, पृष्ठ ४७।
१०. कथावत्थु, २, ६, २।
११. वही, २, ६, ६।
१२. वही, २, ८, ९।
१३. वही, २, १०, २।
१४. वही, ४, १६, ७।
१५. वही, ४, १८, ६।
१६. वही, ४, १९, ८।

वज्जिपुत्तक भिक्षुनिकाय का कहना था कि अर्हत् भिक्षु भी अपने अर्हत्व से च्युत होता है। जो स्थविरवाद के सर्वथा विपरीत था[१]। इस निकाय के अन्य भी इसी प्रकार अपने सिद्धान्त रहे होंगे, किन्तु उन्हें सम्प्रति जानने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इनके दो उपनिकायों भद्रयानिक और सम्मितिय के सिद्धान्तों की चर्चा कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में आयी है।

भद्रयानिक अर्हत्व की प्राप्ति क्रमशः मार्गों से क्लेश प्रहाण के पश्चात् मानते थे। यह उनका मत नानाअभिसमय का प्रतिपादक था। जो स्थविरवाद के प्रतिकूल है, क्योंकि अभिसमय (ज्ञानप्राप्ति) एक क्षण में होता है, न कि नाना क्षणों या कालान्तरों में[२]।

सम्मितिय भी अर्हत् की परिहानि मानते थे[३]। इनकी दृष्टि में परिनिर्मित देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोकों में मार्गभावना सम्भव नहीं है[४]। स्रोतापत्ति आदि में विभिन्न समयों में अभिसमय के कारण थोड़ा-थोड़ा करके क्लेशों का प्रहाण होता है[५]। ये मानते थे कि ध्यान प्राप्त पृथक् जन सत्य के अभिसमय के साथ ही अनागामी हो जाता है और उसके पृथक् जन रहने के समय ही काम-राग और व्यापाद प्रहीण हो जाते हैं[६]। भद्रयानिकों की भाँति ये भी मानते थे कि सोलह भागों में करके क्रमशः क्लेशों का प्रहाण कर अर्हत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति थोड़ा-थोड़ा करके होती है[७]। अनुलोम गोत्रभू मार्ग के क्षण क्लेशों के उत्पन्न होने के कारण स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त व्यक्ति के दो बन्धन दूर हो गये रहते हैं[८]। चतुर्थध्यान प्राप्त व्यक्ति का मांसचक्षु ही दिव्य-चक्षु हो जाता है[९]। परिभोग (सेवन) करना ही पुण्य है[१०]। इनका मत था कि अन्तराभव नामक एक स्थान है, जहाँ प्राणी दिव्य चक्षुवाला न होते हुए भी दिव्य चक्षु प्राप्त जैसा होता है और बुद्धिमान् न होते हुए भी बुद्धिमान्-जैसा होता है, वह माता-पिता के सहवास और माता के ऋतुमती होने के समय को देखता हुआ एक सप्ताह या उससे अधिक रुकता है[११]। ये ब्रह्मकायिक देवताओं का शरीर छः आयतनों वाला मानते थे[१२]। महीशासकों के समान ये भी काय और वाक्विज्ञप्ति रूप को ही काय-कर्म और वाक्-कर्म मानते थे और उसे भी कुशल से उत्पन्न को कुशल और अकुशल से उत्पन्न को अकुशल कहते थे[१३]। जीवित-इन्द्रिय चित्त से विप्रयुक्त अरूपधर्म है, इसलिए रूप जीवित इन्द्रिय नहीं है[१४]। अर्हत् कुछ पूर्वकर्मों के कारण अर्हत्व से च्युत हो सकता है[१५]। सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को ये भी महीशासक और महासांघिकों की भाँति रूप मानते थे[१६]।

---

१. वही, १, १, २।
२. कथावत्थु १, २, ९।
३. वही, १, १, २।
४. वही, १, १, ३।
५. वही, १, १, ४।
६. वही, १, १, ५।
७. वही, १, २, ९।
८. वही, १ ३, ५।
९. कथावत्थु, १, ३, ७।
१०. वही, २, ७, ५।
११. वही, २, ८, २।
१२. वही, २, ८, ७।
१३. वही, २, ८, ९।
१४. वही, २, ८, १०।
१५. वही, २, ८, ११।
१६. वही, २, १०, २।

विज्ञप्ति को ये भी शील कहते थे[१]। अव्याकृत अहेतुक चित्तविप्रयुत होते हैं[२]। काय विज्ञप्ति और वाक्‌विज्ञप्ति रूप कुशल भी होता है और अकुशल भी[3]। कर्म करने से उत्पन्न चित्त और चैतसिक की भाँति कर्म करने से उत्पन्न रूप भी विपाक है[४]। ध्यानों के पञ्चविधि विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, वह केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की दशा है[५]।

महीशासक भिक्षुनिकाय के उपनिकायों में से केवल सर्वास्तिवादी और काश्यपीय निकायों के सिद्धान्तों का वर्णन उपलब्ध है। सर्वास्तिवादी भी अर्हत् की च्युति को स्वीकार करते थे[६]। इनका कहना था कि सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान के धर्म अपने स्कन्ध के स्वभाव को नहीं त्यागते, वे सभी सर्वदा विद्यमान रहते हैं[७]। ये भी नानाभिसमय को मानते थे[८]। एकचित्तक्षण में भी उत्पन्न एकाग्रता को समाधि न मानकर चित्त-सन्तति को ही समाधि मानते थे[९]।

काश्यपीय निकाय के भिक्षु भूतकालीन किन्हीं-किन्हीं बातों को वर्तमान में विद्यमान होने की मान्यता रखते थे और उनकी यह प्रधान विशेषता थी[१०]।

उक्त वर्णित भिक्षु-निकायों के सिद्धान्त स्थविरवाद के विरुद्ध थे, जिनका कथावत्थुप्प-करण में खण्डन किया गया है और स्थविरवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि इन निकायों के साहित्य का विश्लेषण किया जा सके और यह निर्णय हो सके कि कौन-कौन ग्रन्थ किस निकाय से सम्बन्धित हैं तो इनके सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सके। यह कार्य उसी समय सर्वाङ्ग रूप से परिपूर्ण हो सकेगा, जबकि तिब्बती, चीनी, जापानी, खोतनी आदि भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का इस दृष्टिकोण से अध्ययन कर प्राप्त सामग्री एकत्र की जाय एवं प्राचीन बौद्ध गुहा-मन्दिरों, नष्टावशेषों, विहारों, स्तूपों आदि से प्राप्त लेखों का भी अध्ययन किया जाय तथा बृहत्तर भारत एवं एशिया के साहित्य, अभिलेख, शिलालेख आदि का सर्वेक्षण कर पूरी सामग्री सङ्कलित की जाय।

अशोक के समय में तृतीय सङ्गीति

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अशोक मगध साम्राज्य का शासक बना। चार वर्ष पश्चात् उसका राज्याभिषेक हुआ। पहले उसका पिता बिम्बिसार ब्राह्मणधर्म का भक्त था। अतः उसने भी तीन वर्षों तक पिता का ही अनुसरण किया। उसके पश्चात् चौथे वर्ष (३२१ ई० पूर्व) वह बुद्ध-भक्त बना। उसके बौद्ध बनने की घटना समन्त-पासादिका, महावंश और दीपवंश में इस प्रकार वर्णित है[११]—

---

१. वही, २, १०, १०।
२. वही, ३, ११, १-३।
३. कथावत्थु, ४, १६, ७।
४. वही, ४, १६, ८।
५. वही, ४, १८, ७।
६. वही, १, २।
७. वही, १, १, ६।
८. वही, १, २, ९।
९. वही, ३, ११, ८।
१०. वही, १, १, ८।
११. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३१।

वज्जिपुत्तक भिक्षुनिकाय का कहना था कि अर्हत् भिक्षु भी अपने अर्हत्व से च्युत होता है। जो स्थविरवाद के सर्वथा विपरीत था[१]। इस निकाय के अन्य भी इसी प्रकार अपने सिद्धान्त रहे होंगे, किन्तु उन्हें सम्प्रति जानने के साधन उपलब्ध नहीं हैं। इनके दो उपनिकायों भद्रयानिक और सम्मितिय के सिद्धान्तों की चर्चा कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में आयी है।

भद्रयानिक अर्हत्व की प्राप्ति क्रमशः मार्गों से क्लेश प्रहाण के पश्चात् मानते थे। यह उनका मत नानाअभिसमय का प्रतिपादक था। जो स्थविरवाद के प्रतिकूल है, क्योंकि अभिसमय (ज्ञानप्राप्ति) एक क्षण में होता है, न कि नाना क्षणों या कालान्तरों में[२]।

सम्मितिय भी अर्हत् की परिहानि मानते थे[३]। इनकी दृष्टि में परिनिर्मित देवलोक से लेकर ऊपर के देवलोकों में मार्गभावना सम्भव नहीं है[४]। स्रोतापत्ति आदि में विभिन्न समयों में अभिसमय के कारण थोड़ा-थोड़ा करके क्लेशों का प्रहाण होता है[५]। ये मानते थे कि ध्यान प्राप्त पृथक् जन सत्य के अभिसमय के साथ ही अनागामी हो जाता है और उसके पृथक् जन रहने के समय ही काम-राग और व्यापाद प्रहीण हो जाते हैं[६]। भद्रयानिकों की भाँति ये भी मानते थे कि सोलह भागों में करके क्रमशः क्लेशों का प्रहाण कर अर्हत्व की प्राप्ति होती है। अर्थात् ज्ञान की प्राप्ति थोड़ा-थोड़ा करके होती है[७]। अनुलोम गोत्रभू मार्ग के क्षण क्लेशों के उत्पन्न होने के कारण स्रोतापत्ति मार्ग प्राप्त व्यक्ति के दो बन्धन दूर हो गये रहते हैं[८]। चतुर्थध्यान प्राप्त व्यक्ति का मांसचक्षु ही दिव्य-चक्षु हो जाता है[९]। परिभोग (सेवन) करना ही पुण्य है[१०]। इनका मत था कि अन्तराभव नामक एक स्थान है, जहाँ प्राणी दिव्य चक्षुवाला न होते हुए भी दिव्य चक्षु प्राप्त जैसा होता है और बुद्धिमान् न होते हुए भी बुद्धिमान्-जैसा होता है, वह माता-पिता के सहवास और माता के ऋतुमती होने के समय को देखता हुआ एक सप्ताह या उससे अधिक रुकता है[११]। ये ब्रह्मकायिक देवताओं का शरीर छः आयतनों वाला मानते थे[१२]। महीशासकों के समान ये भी काय और वाक्‌विज्ञप्ति रूप को ही काय-कर्म और वाक्-कर्म मानते थे और उसे भी कुशल से उत्पन्न को कुशल और अकुशल से उत्पन्न को अकुशल कहते थे[१३]। जीवित-इन्द्रिय चित्त से विप्रयुक्त अरूपधर्म है, इसलिए रूप जीवित इन्द्रिय नहीं है[१४]। अर्हत् कुछ पूर्वकर्मों के कारण अर्हत्व से च्युत हो सकता है[१५]। सम्यक् वचन, सम्यक् कर्मान्त और सम्यक् आजीव को ये भी महीशासक और महासांघिकों की भाँति रूप मानते थे[१६]।

---

१. वही, १, १, २।
२. कथावत्थु १, २, ९।
३. वही, १, १, २।
४. वही, १, १, ३।
५. वही, १, १, ४।
६. वही, १, १, ५।
७. वही, १, २, ९।
८. वही, १ ३, ५।
९. कथावत्थु, १, ३, ७।
१०. वही, २, ७, ५।
११. वही, २, ८, २।
१२. वही, २, ८, ७।
१३. वही, २, ८, ९।
१४. वही, २, ८, १०।
१५. वही, २, ८, ११।
१६. वही, २, १०, २।

विज्ञप्ति को ये भी शील कहते थे[१]। अव्याकृत अहेतुक चित्तविप्रयुत होते हैं[२]। काय विज्ञप्ति और वाक्विज्ञप्ति रूप कुशल भी होता है और अकुशल भी[३]। कर्म करने से उत्पन्न चित्त और चैतसिक की भाँति कर्म करने से उत्पन्न रूप भी विपाक है[४]। ध्यानों के पञ्चविधि विभाजन में जिसे द्वितीय ध्यान कहा जाता है, वह केवल प्रथम और द्वितीय ध्यान के बीच की दशा है[५]।

महीशासक भिक्षुनिकाय के उपनिकायों में से केवल सर्वास्तिवादी और काश्यपीय निकायों के सिद्धान्तों का वर्णन उपलब्ध है। सर्वास्तिवादी भी अर्हत् की च्युति को स्वीकार करते थे[६]। इनका कहना था कि सभी भूत, भविष्यत् और वर्तमान के धर्म अपने स्कन्ध के स्वभाव को नहीं त्यागते, वे सभी सर्वदा विद्यमान रहते हैं[७]। ये भी नानाभिसमय को मानते थे[८]। एकचित्तक्षण मे भी उत्पन्न एकाग्रता को समाधि न मानकर चित्त-सन्तति को ही समाधि मानते थे[९]।

काश्यपीय निकाय के भिक्षु भूतकालीन किन्हीं-किन्हीं बातों को वर्तमान में विद्यमान होने की मान्यता रखते थे और उनकी यह प्रधान विशेपता थी[१०]।

उक्त वर्णित [illegible] के सिद्धान्त स्थविरवाद के विरुद्ध थे, जिनका कथावत्थुप्पकरण में खण्डन किया गया है और स्थविरवाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यदि इन निकायों के साहित्य का विश्लेषण किया जा सके और यह निर्णय हो सके कि कौन-कौन ग्रन्थ किस निकाय से सम्बन्धित हैं तो इनके सिद्धान्तों का पूर्ण परिचय प्राप्त हो सके। यह कार्य उसी समय सर्वाङ्ग रूप से परिपूर्ण हो सकेगा, जबकि तिब्बती, चीनी, जापानी, खोतनी आदि भाषाओं में अनूदित ग्रन्थों का इस दृष्टिकोण से अध्ययन कर प्राप्त सामग्री एकत्र की जाय एवं प्राचीन बौद्ध गुहा-मन्दिरों, नष्टावशेषों, विहारों, स्तूपों आदि से प्राप्त लेखों का भी अध्ययन किया जाय तथा बृहत्तर भारत एवं एशिया के साहित्य, अभिलेख, शिलालेख आदि का सर्वेक्षण कर पूरी सामग्री सङ्कलित की जाय।

अशोक के समय में तृतीय सङ्गीति

भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के २१४ वर्ष पश्चात् अशोक मगध साम्राज्य का शासक बना। चार वर्ष पश्चात् उसका राज्याभिषेक हुआ। पहले उसका पिता बिम्बिसार ब्राह्मणधर्म का भक्त था। अतः उसने भी तीन वर्षों तक पिता का ही अनुसरण किया। उसके पश्चात् चौथे वर्ष (३२१ ई० पूर्व) वह बुद्ध-भक्त बना। उसके बौद्ध बनने की घटना समन्तपासादिका, महावंश और दीपवंश में इस प्रकार वर्णित है[११]—

---

१. वही, २, १०, १०।
२. वही, ३, ११, १-३।
३. कथावत्थु, ४, १६, ७।
४. वही, ४, १६, ८।
५. वही, ४, १८, ७।
६. वही, १, २।
७. वही, १, १, ६।
८. वही, १, २, ९।
९. वही, ३, ११, ८।
१०. वही, १, १, ८।
११. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३१।

एक दिन न्यग्रोध श्रामणेर अशोक के राजभवनवाले मार्ग से जा रहा था। वह बड़े ही शान्त, दान्त और ईर्य्या-पथयुक्त था। उसी समय अशोक ने खिड़की से जाते हुए देखा। देखकर उसका मन श्रामणेर पर प्रसन्न हो गया। यह श्रामणेर बिन्दुसार के ज्येष्ठ पुत्र सुमन का लड़का था, किन्तु इस बात को अशोक नहीं जानता था। अशोक ने उसे राजभवन में बुलाया और कहा—"अपने योग्य आसन पर बैठिए।" श्रामणेर वहाँ किसी दूसरे भिक्षु को न देख राजसिंहासन के पास गया और राजा के सहारे सिंहासन पर बैठ गया। राजा ने अपने लिए बने हुए भोजन को मँगाकर उसे खिलाया। भोजनोपरान्त राजा ने पूछा—"भगवान् बुद्ध ने जो उपदेश दिया है, उसे जानते हैं ?"

"हाँ महाराज, एक देशना जानता हूँ।"

"तो उसे मुझे भी बतायें।"

श्रामणेर ने धम्मपद के अप्पमादवग्ग की पहली गाथा कह सुनाई :—

अप्पमादो अमतपदं, पमादो मच्चुनो पदं।
अप्पमत्ता न मीयन्ति, ये पमत्ता यथा मता॥[१]

[प्रमाद न करना अमृत-पद का साधक है और प्रमाद करना मृत्युपद का। अप्रमादी नहीं मरते, किन्तु प्रमादी तो मरे ही हैं।]

अशोक ने इस गाथा को सुनकर अत्यधिक सन्तोष एवं धर्मरस का अनुभव किया। वह उसी दिन से बुद्ध-भक्त हो गया और बुद्ध, धर्म तथा संघ के लिए अपरमित धन व्यय करने लगा। उसने अशोकराम नामक पाटलिपुत्र में एक सुन्दर विहार का निर्माण कराया और नित्य साठ हजार भिक्षुओं को भोजन कराने लगा। उसने सम्पूर्ण जम्बूद्वीप के चौरासी हजार नगरों मे चौरासी हजार चैत्यों से युक्त चौरासी हजार विहार बनवाये[२]। ये सभी विहार तीन वर्षों में बनकर तैयार हुए थे। उसी वर्ष अशोक ने बहुत बड़ा उत्सव मनाया और धर्मदायाद बनने की इच्छा से अपने पुत्र महेन्द्र तथा अपनी पुत्री संघमित्रा को प्रव्रजित करा दिया। अशोक के इन कार्यों से बौद्ध भिक्षुओं का बड़ा लाभ-सत्कार बढ़ा और दूसरे पंथ के सन्यासियों का लाभ-सत्कार कम हो गया। उन्हे भोजन के लिए भी कष्ट होने लगा। वे धीरे-धीरे भिक्षु होने लगे। अधिकांश प्रव्रज्या न पाने पर अपने ही मुण्डन कर काषाय वस्त्र पहन विहारों में विचरने लगे। वे उपोसथ में भी, प्रवारणा में भी, संघकर्म में भी, गण-कर्म में भी सम्मिलित हो जाते थे। भिक्षु उनके साथ उपोसथ नहीं करते थे। उन्होंने एक साथ उपोसथ करना वन्द कर दिया। अशोक ने एक मन्त्री को भेजकर इस विवाद को शान्त करने का प्रयत्न किया, किन्तु जब वह असफल रहा, तब उस समय के प्रधान विद्वान् भिक्षु मोग्गलिपुत्ततिस्स को अहोगंग पर्वत से बुलवाया। वे पहले पाटलिपुत्र में ही रहते थे, किन्तु विवाद उत्पन्न होने के पश्चात् अशोकाराम से वहाँ चले गये थे। उनके आने पर अशोकाराम में सभी भिक्षु एकत्र किये गये। राजा और

१. धम्मपद २, १।
२. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३२; महावंश, पृष्ठ २५-२६; समन्तपासादिका का बाहिरनिदान।

स्थविर ने एक-एक मत वाले भिक्षुओं को एक-एक जगह कर अलग-अलग पूछा—"सम्यक् सम्बुद्ध किस वाद (मत) के माननेवाले थे ?" तब उन्होंने अपने-अपने मतों के अनुसार शाश्वत-वादी आदि बतलाया, क्योंकि वे भिक्षु तो हो गये थे, किन्तु उनकी दृष्टियाँ (मत) पूर्ववत् ही थीं। जब राजा ने देखा कि ये दूसरे पंथ वाले हैं, तब उन्हें श्वेत वस्त्र पहनाकर अप्रव्रजित कर दिया। इस प्रकार साठ हजार भिक्षु गृहस्थ बना दिये गये[१]।

अब भिक्षुसंघ सर्वथा शुद्ध हो गया। उस दिन भिक्षुओं ने एकत्र होकर उपोसथ किया। उस समागम में मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने दूसरे वादों को मर्दन करते हुए [illegible] का भाषण किया[२]। महावंश का यह कथन कि कथावत्थुप्पकरण की देशना तृतीय संगीति में हुई, दीपवंश और विनयपिटक की अट्ठकथा से मेल नहीं खाता। उक्त दोनों ग्रन्थ महावंश से प्राचीन हैं और दोनो में यह कहा गया है कि कथावत्थु की देशना उपोसथ के दिन हुए महा-समागम में हुई थी[३]।

तदुपरान्त मोग्गलिपुत्ततिस्स स्थविर ने एक हजार त्रिपिटक पारंगत अर्हत् भिक्षुओं को चुनकर प्रथम तथा द्वितीय संगीति की भाँति अशोकाराम विहार में तृतीय संगीति की। यह संगीति नौ मास मे समाप्त हुई थी[४]। जिस समय यह संगीति पूर्ण हुई उस समय राजा का अभिषेक हुए सत्रह वर्ष हुआ था और मोग्गलिपुत्ततिस्स की अवस्था बहत्तर वर्ष थी। महावंश के अनुसार यह संगीति आश्विनपूर्णिमा को ई० पूर्व २३५ में पूर्ण हुई थी[५]।

कुछ विद्वान् इस संगीति के अस्तित्व के प्रति सन्देह करते है और कहते हैं कि यह सम्पूर्ण भिक्षु-संघ की संगीति नहीं रही होगी और यदि संगीति हुई भी हो तो उससे अशोक का सम्बन्ध नही रहा होगा, क्योंकि अशोक के शिलालेखों में इसका वर्णन नहीं मिलता[६]। आगे हम देखेंगे कि इस संगीति के पश्चात् धर्म-प्रचार के लिए विभिन्न देशों में भिक्षु भेजे गये थे और उनकी अस्थियाँ नामांकित पत्थर की मंजूषाओं में प्राप्त हो चुकी हैं[७]।

---

१. महावंश, गाथा ४९५। गाथा इस प्रकार है—
ते मिच्छादिट्ठिके सब्बे राजा उप्पब्बजापयि।
सब्बे सट्ठिसहस्सानि अहेसुं उप्पब्बजापिता ॥

२. समन्तपासादिका, बाहिरनिदानवण्णना, पृष्ठ ५७।

३. दीपवंश ७, ५४-५६; बाहिरनिदानवण्णना, पृष्ठ ५७; बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३५।

४. दीपवंश ७, ५८। गाथा इस प्रकार है—
असोकाराम विहारम्हि धम्मराजेन कारिते।
नवमासेहि निट्ठासि ततियो सङ्गहो अयं ॥

५. महावंश गाथा ५०५। गाथा इस प्रकार है—
रञ्ञो सत्तरसे वस्से द्वासत्ततिसमो इसि।
महापवारणायं सो संगीतिं तं समापयि ॥

६. पालि साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ८६। ७. नेपाल-यात्रा, पृष्ठ ११५।

मोग्गलिपुत्ततिस्स, मज्झिम, सबहेमवताचरिय कासपगोत (समूचे हिमालय के आचार्य काश्यपगोत्र), दुंदुभिस्सर के दायाद गोतीपुत्र के नाम वाली मंजूषायें और उनकी अस्थियाँ साँची और सोनारी के स्तूपों से मिल चुकी हैं[१]। ऐसे ही कुछ वर्षों पूर्व अशोकपुत्र महेन्द्र और पुत्री संघमित्रा की अस्थियाँ श्रीलंका में पायी गयी थीं[२]। इन प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर तृतीय संगीति की ऐतिहासिकता के विषय में सन्देह करना निर्मूल है। जब संगीति के पश्चात् धर्म-प्रचारार्थ नियोजित भिक्षुओं का अस्तित्व प्रमाणित है तो संगीति को ही क्यों अनैतिहासिक माना जाय ?

विदेशों में धर्म-प्रचार

तृतीय संगीति के समाप्त होने पर बौद्धधर्म के प्रचारार्थ विभिन्न प्रदेशों में प्रचारक भिक्षु भेजे गये। महावंश के अनुसार ये प्रचारक प्रत्यन्त[३] (पच्चन्त) देशों में भेजे गये[४] और कार्तिक मास में उन्होंने प्रस्थान किया[५]। धर्म-प्रचार की यह एक सुव्यवस्थित योजना थी। आसपास का कोई भी देश ऐसा न रहा जो इससे अछूता हो। जो भिक्षु धर्म-प्रचार के लिए भेजे गये उनके सम्मान का भी पूर्ण ध्यान रखा गया। उनसे सदा सम्बन्ध बनाये रखा गया और जब उनका देहान्त हुआ, तब उनकी अस्थियाँ भारत मँगा ली गयीं और यहाँ सम्मान-पूर्वक उनकी अस्थियों का स्तूपों में निधान किया गया। ऐसे ही स्थविरों की अस्थियाँ साँची और सोनारी के स्तूपों से प्राप्त हुई हैं[६]। जिन-जिन देशों में जो-जो धर्म-प्रचारक भेजे गये, उनके नाम महावंश, दीपवंश और समन्तपासादिका में सुरक्षित हैं। अशोक के शिलालेखों में भी उन देशों के नाम आये हुए हैं जहाँ कि धर्म-प्रचारक भिक्षु भेजे गये थे। उससे ज्ञात होता है कि प्रचारक केवल प्रत्यन्त देशों में ही नहीं गये थे, प्रत्युत सुदूर देशों तक जाकर इन्होंने अशोक-काल में ही सद्धर्म की देशना की थी। यवन, काम्बोज, गान्धार, राष्ट्रिक, पितनिक, भोज, आन्ध्र, पुलिन्द आदि स्वाधीन राज्यों मे तथा केरलपुत्र, चोल, पाण्ड्य नामक दक्षिणी भारत के स्वाधीन राज्यों में और सिंहल द्वीप में भी इनके जाकर धर्म-प्रचार करने का वर्णन मिलता है। ये प्रचारक उस समय के प्रसिद्ध पाँच यूनानी राज्यों में भी गये थे और उन देशवासियों को इन्होंने बुद्धधर्म दिया था। इस प्रकार सीरिया और बैक्ट्रिया के राजा अन्तियोकस (एण्टियोकस थियोस ई० पूर्व २६१-२४६), मिश्र के राजा तुरमय (टोलेमी फिलाडेल्फस ई० पूर्व २८५–२४७), मेसिडोनिया के राजा अन्तकिन (एण्टिगोनस ई० पूर्व २७८–२१९), सिरीनी के राजा मग (मेगस ई० पूर्व २८५–२५८) और एपिरस के राजा अलिक सुन्दर

---

१. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृष्ठ ६७३।
२. धर्मदूत, वर्ष १६, अंक ५, पृष्ठ १३५, सन् १९५१।
३. सीमान्त या पड़ोसी देशों को प्रत्यन्त देश कहते हैं।
४. दीपवंश (८, १–३) और समन्तपासादिका में भी प्रत्यन्त देशों में धर्म-प्रचारकों के भेजे जाने का उल्लेख है—"पच्चन्तम्हि पतिट्ठानं दिस्वा दिब्बेन चक्खुना"—दीपवंश ८, २।
५. महावंश, पृष्ठ ६४।
६. देखिये, ऊपर।

(एलेक्जेण्डर ई० पूर्व २७२–२५८) के देशों तक उसी समय सद्धर्म की ज्योति पहुँच गयी थी[१]। सुवर्ण-भूमि (बर्मा) में भी बुद्धशासन के ये धर्मदूत गये थे[२]। समन्तपासादिका आदि में इनकी नामावली इस प्रकार दी गयी है[३]—

१. मध्यान्तिक (मज्झन्तिक) स्थविर—कश्मीर और गन्धार[४] प्रदेश में।
२. महादेव स्थविर—महिषमण्डल[५] (महिंसक मण्डल) में।
३. रक्षित स्थविर—वनवासी[६] में।
४. यवन धर्मरक्षित स्थविर (योनक धम्मरक्खित)—अपरान्त में[७]।
५. महाधर्मरक्षित स्थविर—महाराष्ट्र में।
६. महारक्षित स्थविर—यवन देश[८] में।
७. मध्यम स्थविर (मज्झिम थेर)—हिमालय प्रदेश मे।
८. शोण और उत्तर स्थविर—[९] सुवर्ण भूमि मे।
९. महेन्द्र, इट्टिय, उत्तिय, सम्बल, भद्रशाल—ताम्रपर्णीद्वीप[१०] में।

समन्तपासादिका के अनुसार उक्त इन सभी देशों तथा प्रदेशों में एक साथ पाँच-पाँच भिक्षु भेजे गये थे, जिससे कि वे वहाँ के इच्छुक लोगों को प्रव्रजितकर उपसम्पन्न कर सकें, क्योंकि प्रत्यन्त देशों मे उपसम्पदा के लिए पंचवर्गीय गण पर्याप्त होता है[११]। किन्तु हमें केवल ताम्रपर्णी (लंका) द्वीप जाने वाले ही पाँच भिक्षुओं के नाम महावंश आदि में मिले है। हाँ, उसकी टीका में साथ जानेवाले भिक्षुओं के नाम भी वर्णित हैं। हिमालय में जाने वाले भिक्षु मध्यम स्थविर (मज्झिमथेर) के चार सहयोगियों के नाम टीका में इस प्रकार हैं—कस्सपगोत्त, दुन्दुभिस्सर, सहदेव और मूलकदेव। और, साँची के स्तूप से मोग्गलिपुत्त स्थविर की जो अस्थि-मंजूषा प्राप्त हुई है, उसके ढक्कन के ऊपर और भीतर हारितीपुत, मज्झिम तथा सवहेमवताचरिय (समूचे हिमालय के आचार्य) कासपगोत के नाम अंकित है। एक दूसरी मंजूषा में हिमालय के दुदुभिसर के दायाद (उत्तराधिकारी) गोतीपुत का नाम खुदा हुआ है[१२]। इससे टीका की बात सत्य जान पड़ती है, और समन्तपासादिका का यह भी वर्णन ठीक जान पड़ता है कि ये धर्म-प्रचारक भिक्षु पाँच-पाँच भिक्षुओं के संघ के साथ गये थे। महावंश में

---

१. शिलालेख २। २. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३७।
३. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३७; महावंश, पृष्ठ ६४; दीपवंश, ८, ४–१२।
४. पेशावर के आसपास का प्रान्त।
५. महेश्वर (इन्दौर राज्य) से ऊपर का प्रदेश, जो कि विन्ध्याचल और सतपुड़ा की पर्वत-मालाओं के बीच पड़ता है।
६. उत्तरी कनारा। ७. गुजरात प्रदेश।
८. यूनानी राजाओं के देश—बाह्लीक, सिरिया, मिश्र, यूनान आदि।
९. बर्मा। १०. लंका द्वीप।
११. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५३७।
१२. भारतीय इतिहास की रूपरेखा, भाग २, पृष्ठ ६७३।

इन धर्मदूतों द्वारा उक्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार करने तथा वहाँ की जनता द्वारा इनके स्वागत करने एवं बौद्धधर्म ग्रहण करने का सुन्दर वर्णन आया है[1]। इनमें भी सबसे विशद् वर्णन लंका में धर्म-प्रचार का है। वहाँ अशोकपुत्र महेन्द्र धर्म-प्रचार के लिए गए थे और पीछे उन्होंने अपनी बहिन भिक्षुणी संघमित्रा को भी बुला लिया था, जो बुद्धगया से बोधिवृक्ष की शाखा लेकर लंका गयी थीं[2]। ये दोनों जीवनपर्यन्त वहीं धर्म-प्रचार में संलग्न रहे[3]।

बुद्धधर्म को जनता का धर्म बनाने का प्रयत्न

अशोक ने बौद्धधर्म ग्रहण के पश्चात् लगभग ढाई वर्षो तक बौद्धधर्म के प्रचार के लिए उत्तम प्रयत्न नही किया; किन्तु उसके पश्चात् वह प्राणपन धर्म-प्रचार में जुट गया[4]। उसने बौद्धविहारों, स्तूपों आदि का निर्माण कराया[5]। धर्मशालायें, प्याऊ, बाग, जलाशय, औषधालय आदि के निर्माण किये[6]। तृतीय संगीति कराई और धर्मदूतों को देश-देशान्तर में भेजा। जनता में बुद्धधर्म के प्रचार के लिए उसने स्वर्ग-नरक के दृश्य दिखलाने की व्यवस्था की[7]। धर्म महामात्यों की नियुक्ति की, जो धर्म-प्रचार कार्य मे सहायता प्रदान करते तथा उसके संचालन की देखरेख करते थे[8]। पर्वतों, गुहाओं, प्रस्तरखण्डों एवं स्तम्भों पर धर्म-आदेश अंकित कराये और जनता को धर्म-पालन के महत्व को समझाया। उसने धर्म-विजय को सबसे बड़ी विजय की संज्ञा दी[9] और प्रजा एवं अपने अमात्यों को आदेश दिया कि सब लोग धर्म-भेरी बजायें तथा धर्म-घोष करें, भेरी-घोष का त्याग कर दें[10]। उसने सबसे सुन्दर आचरण की अपेक्षा की[11]। हिंसा बन्द कर दी[12]। उसने नाच-तमाशा आदि के स्थान पर विमान-दर्शन आदि का प्रचलन किया। जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ाने के लिए उसने पूर्ण सहिष्णुता से कार्य किया। उदारता उसका प्रधान गुण था[13]। उसने उन लोगों के साथ भी अच्छा व्यवहार किया जो कि बुद्धधर्म के अनुयायी नहीं थे। उसका कहना था कि सब लोग धर्म का पालन करें, मिल-जुलकर रहें। एक धर्म के लोग दूसरे धर्मावलम्बियों की निन्दा या अपमान न करें, एक दूसरे के धर्म को सुनें[14]। उसने अपने धर्ममहामात्यों को आदेश दिया था कि वे लोगों को धर्म समझायें और उन्हें सन्मार्ग पर लायें। जनता मे धर्म के कारण फूट उत्पन्न न

---

१. महावंश, द्वादश परिच्छेद। २. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५४०।
३. महावंश, विंश परिच्छेद, पृष्ठ १०६–१०९।
४. गौण शिलालेख १। ५. महावंश, पृष्ठ ३२।
६. महावंश, पृष्ठ ३५। अशोक द्वितीय शिलालेख।
७. चौथा शिलालेख। ८. पाँचवाँ शिलालेख।
९. तेरहवाँ शिलालेख—"इयं चु मु देवानं पियषा ये धंमविजयें" अर्थात् जो धर्म का विजय है, उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है।
१०. चौथा शिलालेख—भेलिघोसे अहो धंमघोसे।
११. बारहवाँ शिलालेख। १२. चौथा शिलालेख।
१३. बारहवाँ शिलालेख। १४. प्र० शिलालेख १२।

होने दें और प्रति उपोसथ के दिन उसे धर्म एवं आदेश को भली प्रकार समझायें[१]। उसने धर्म-यात्रा का प्रचलन किया और मृगया छोड़कर उसके स्थान पर श्रमण-ब्राह्मणों का दर्शन, दान, वृद्धों का दर्शन और उनके लिए स्वर्णदान, जानपद लोगों का दर्शन, धर्म अनुशासन और धर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के रूप में धर्म-यात्रा होने लगी[२]। लोगों के सुख-दुःख जानने के लिए उसने प्रति पाँचवें वर्ष अपने महामात्यों के अनुसंयान (दौरा) की व्यवस्था की। स्वयं भी अनुसंयान करने लगा[३]। उसने प्रजा के कार्य की जानकारी के लिए प्रतिवेदकों की नियुक्ति की, जो सब समय प्रजा की बात राजा तक पहुँचा सकते थे। उसका कहना था—"सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्तव्य माना है और उसका मूल है उद्योग और कार्यतत्परता। सब लोगों का हित करने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम नहीं है। जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ वह इसीलिए कि जीवों के ऋण से मुक्त होऊँ। बिना उत्कट पराक्रम के यह दुष्कर है[४]।" उसने व्यवहार और दण्ड में समता स्थापित की[५]।

अशोक ने बुद्धधर्म को जनता मे पहुँचाने के लिए यथाशक्य प्रयत्न किया। उसने युद्ध के स्थान पर धर्म-विजय की जो घोषणा की, उससे कलिंग युद्ध से त्रसित जनता आनन्दित हो उठी। उसने अपने धर्म-प्रचार के लिए अस्त्र शस्त्र अथवा शक्ति का उपयोग नहीं किया। करुणा, दया, मैत्री, अहिंसा ही उसके प्रधान अस्त्र थे। जहाँ उसने धर्म-प्रचारक भिक्षुओं को देश-देशान्तरों में भेजा और पड़ोसी देशों को बुद्ध-सन्देश दिया तथा अपने राज्य में सारी जनता को अपनी सहिष्णुता से बुद्धधर्म की ओर आकर्षित किया, वहीं उसने अपने पूरे परिवार को बौद्ध बना दिया। अपने पुत्र-पुत्री तक को प्रव्रजित कर दिया। उसके अनुज तिस्स और जामाता अग्नि-ब्रह्मा भी भिक्षु बन गये[६]। इस कार्य का साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वह धर्म कोई अवश्य महान् धर्म होगा जिसे पूरा राजपरिवार ग्रहण करे और उसके महामात्य प्रचार-कार्य में नियुक्त रहे। इस प्रकार जनता के विचार मे परिवर्तन आने लगा। प्रत्येक उपोसथ के दिन बौद्ध-धर्म सम्बन्धी प्रवचनों को सुनकर, विमान आदि के दृश्य देखकर, भिक्षुओं के सत्कर्म एवं सदाचरण से प्रभावित होकर जनता बुद्धधर्म और संघ की शरण जाने लगी। एक प्रकार से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में बुद्धधर्म का धर्म-घोष सुनाई देने लगा। चारों ओर धर्म-दुन्दुभी बज उठी। अशोक के ही शब्दों में उसने अपने पराक्रम से उस जम्बूद्वीप के मनुष्यों को देवताओं से मिला दिया[७]। उसके औषधालय, जलाशय, मार्ग, उद्यान आदि सार्वजनिक हित-सुख के निर्माण-कार्य से भी जनता ने उसका साथ दिया। अशोक जिस धर्म का प्रचार चाहता था और स्वयं उसका महान् प्रचारक था, उस धर्म की यह महान् विशेषतायें थीं—"पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य पवित्रता[८], प्राणियों को न मारना, जन्तुओं की

---

१. सारनाथ का स्तम्भ लेख; सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ १३४-१३६।
२. अशोक का आठवाँ शिलालेख। ३. कलिंग शिलालेख १।
४. छठाँ शिलालेख। ५. चौथा स्तम्भलेख।
६. महावंश, पृष्ठ ३३, ३८।
७. गौण शिलालेख १। ८. दूसरा स्तम्भलेख।

इन धर्मदूतों द्वारा उक्त प्रदेशों में धर्म-प्रचार करने तथा वहाँ की जनता द्वारा इनके स्वागत करने एवं बौद्धधर्म ग्रहण करने का सुन्दर वर्णन आया है[१]। इनमें भी सबसे विशद् वर्णन लंका में धर्म-प्रचार का है। वहाँ अशोकपुत्र महेन्द्र धर्म-प्रचार के लिए गए थे और पीछे उन्होंने अपनी बहिन भिक्षुणी संघमित्रा को भी बुला लिया था, जो बुद्धगया से बोधिवृक्ष की शाखा लेकर लंका गयी थीं[२]। ये दोनों जीवनपर्यन्त वहीं धर्म-प्रचार मे संलग्न रहे[३]।

बुद्धधर्म को जनता का धर्म बनाने का प्रयत्न

अशोक ने बौद्धधर्म ग्रहण के पश्चात् लगभग ढाई वर्षो तक बौद्धधर्म के प्रचार के लिए उत्तम प्रयत्न नहीं किया; किन्तु उसके पश्चात् वह प्राणपन धर्म-प्रचार में जुट गया[४]। उसने बौद्धविहारों, स्तूपों आदि का निर्माण कराया[५]। धर्मशालायें, प्याऊ, बाग, जलाशय, औषधालय आदि के निर्माण किये[६]। तृतीय संगीति कराई और धर्मदूतों को देश-देशान्तर में भेजा। जनता में बुद्धधर्म के प्रचार के लिए उसने स्वर्ग-नरक के दृश्य दिखलाने की व्यवस्था की[७]। धर्म महामात्यों की नियुक्ति की, जो धर्म-प्रचार कार्य मे सहायता प्रदान करते तथा उसके संचालन की देखरेख करते थे[८]। पर्वतों, गुहाओं, प्रस्तरखण्डों एवं स्तम्भों पर धर्म-आदेश अंकित कराये और जनता को धर्म-पालन के महत्व को समझाया। उसने धर्म-विजय को सबसे बड़ी विजय की संज्ञा दी[९] और प्रजा एवं अपने अमात्यों को आदेश दिया कि सब लोग धर्म-भेरी बजायें तथा धर्मघोष करें, भेरी-घोष का त्याग कर दें[१०]। उसने सबसे सुन्दर आचरण की अपेक्षा की[११]। हिंसा बन्द कर दी[१२]। उसने नाच-तमाशा आदि के स्थान पर विमान-दर्शन आदि का प्रचलन किया। जनता में धर्म के प्रति श्रद्धा बढ़ाने के लिए उसने पूर्ण सहिष्णुता से कार्य किया। उदारता उसका प्रधान गुण था[१३]। उसने उन लोगों के साथ भी अच्छा व्यवहार किया जो कि बुद्धधर्म के अनुयायी नहीं थे। उसका कहना था कि सब लोग धर्म का पालन करें, मिल-जुलकर रहें। एक धर्म के लोग दूसरे धर्मावलम्बियों की निन्दा या अपमान न करें, एक-दूसरे के धर्म को सुनें[१४]। उसने अपने धर्ममहामात्यों को आदेश दिया था कि वे लोगों को धर्म समझायें और उन्हें सन्मार्ग पर लायें। जनता में धर्म के कारण फूट उत्पन्न न

---

१. महावंश, द्वादश परिच्छेद। २. बुद्धचर्या, पृष्ठ ५४०।

३. महावंश, विंश परिच्छेद, पृष्ठ १०६–१०९।

४. गौण शिलालेख १। ५. महावंश, पृष्ठ ३२।

६. महावंश, पृष्ठ ३५। अशोक द्वितीय शिलालेख।

७. चौथा शिलालेख। ८. पाँचवाँ शिलालेख।

९. तेरहवाँ शिलालेख—"इयं चु मु देवानं पियषा ये धंमविजयें" अर्थात् जो धर्म का विजय है, उसे ही देवताओं का प्रिय मुख्य विजय मानता है।

१०. चौथा शिलालेख—भेलिघोसे अहो धंमघोसे।

११. बारहवाँ शिलालेख। १२. चौथा शिलालेख।

१३. बारहवाँ शिलालेख। १४. प्र० शिलालेख १२।

होने दें और प्रति उपोसथ के दिन उसे धर्म एवं आदेश को भली प्रकार समझायें[१]। उसने धर्म-यात्रा का प्रचलन किया और मृगया छोड़कर उसके स्थान पर श्रमण-ब्राह्मणों का दर्शन, दान, वृद्धों का दर्शन और उनके लिए स्वर्णदान, जानपद लोगों का दर्शन, धर्म अनुशासन और धर्म सम्बन्धी प्रश्नोत्तर के रूप में धर्म-यात्रा होने लगी[२]। लोगों के सुख-दुःख जानने के लिए उसने प्रति पाँचवें वर्ष अपने महामात्यों के अनुसंयान (दौरा) की व्यवस्था की। स्वयं भी अनुसंयान करने लगा[३]। उसने प्रजा के कार्य की जानकारी के लिए प्रतिवेदकों की नियुक्ति की, जो सब समय प्रजा की बात राजा तक पहुँचा सकते थे। उसका कहना था--"सब लोगों का हित करना ही मैंने अपना कर्तव्य माना है और उसका मूल है उद्योग और कार्यतत्परता। सब लोगों का हित करने के अतिरिक्त मुझे कुछ काम नहीं है। जो कुछ मैं पराक्रम करता हूँ वह इसीलिए कि जीवों के ऋण से मुक्त होऊँ। बिना उत्कट पराक्रम के यह दुष्कर है[४]।" उसने व्यवहार और दण्ड में समता स्थापित की[५]।

अशोक ने बुद्धधर्म को जनता मे पहुँचाने के लिए यथाशक्य प्रयत्न किया। उसने युद्ध के स्थान पर धर्म-विजय की जो घोषणा की, उससे कलिंग युद्ध से त्रसित जनता आनन्दित हो उठी। उसने अपने धर्म-प्रचार के लिए अस्त्र शस्त्र अथवा शक्ति का उपयोग नहीं किया। करुणा, दया, मैत्री, अहिंसा ही उसके प्रधान अस्त्र थे। जहाँ उसने धर्म-प्रचारक भिक्षुओं को देश-देशान्तरों में भेजा और पड़ोसी देशों को बुद्ध-सन्देश दिया तथा अपने राज्य मे सारी जनता को अपनी सहिष्णुता से बुद्धधर्म की ओर आकर्षित किया, वहीं उसने अपने पूरे परिवार को बौद्ध बना दिया। अपने पुत्र-पुत्री तक को प्रव्रजित कर दिया। उसके अनुज तिस्स और जामाता अग्नि-ब्रह्मा भी भिक्षु बन गये[६]। इस कार्य का साधारण जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा। वह धर्म कोई अवश्य महान् धर्म होगा जिसे पूरा राजपरिवार ग्रहण करे और उसके महामात्य प्रचार-कार्य में नियुक्त रहे। इस प्रकार जनता के विचार मे परिवर्तन आने लगा। प्रत्येक उपोसथ के दिन बौद्ध-धर्म सम्बन्धी प्रवचनों को सुनकर, विमान आदि के दृश्य देखकर, भिक्षुओं के सत्कर्म एवं सदाचरण से प्रभावित होकर जनता बुद्धधर्म और संघ की शरण जाने लगी। एक प्रकार से सम्पूर्ण जम्बूद्वीप में बुद्धधर्म का धर्म-घोष सुनाई देने लगा। चारों ओर धर्म-दुन्दुभी बज उठी। अशोक के ही शब्दों में उसने अपने पराक्रम से उस जम्बूद्वीप के मनुष्यों को देवताओं से मिला दिया[७]। उसके औषधालय, जलाशय, मार्ग, उद्यान आदि सार्वजनिक हित-सुख के निर्माण-कार्य से भी जनता ने उसका साथ दिया। अशोक जिस धर्म का प्रचार चाहता था और स्वयं उसका महान् प्रचारक था, उस धर्म की यह महान् विशेषतायें थीं—"पाप न करना, बहुत कल्याण करना, दया, दान, सत्य पवित्रता[८], प्राणियों को न मारना, जन्तुओं की

---

१. सारनाथ का स्तम्भ लेख; सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ १३४-१३६।
२. अशोक का आठवाँ शिलालेख।
३. कलिंग शिलालेख १।
४. छठाँ शिलालेख।
५. चौथा स्तम्भलेख।
६. महावंश, पृष्ठ ३३, ३८।
७. गौण शिलालेख १।
८. दूसरा स्तम्भलेख।

अविहिंसा, ज्ञानियों, ब्राह्मणों और श्रमणों के प्रति आदरपूर्ण व्यवहार, माता-पिता की शुश्रूषा[१]", "दासों और भृत्यों से उचित व्यवहार, गुरुजनों की पूजा, प्राणियों के प्रति संयम, श्रमणों और ब्राह्मणों को दान[२]। यह धर्म सर्वसाधारण के लिये मान्य एवं परिपालनीय था। यह मानव-धर्म था। इसका विरोध किसी भी प्रकार नहीं किया जा सकता था। इस धर्म का पालन छोटे-बड़े, सब वर्गों के लिये उत्कट पराक्रम किये बिना दुष्कर था[३] और इस धर्म का आचरण सदाचारी व्यक्ति द्वारा ही हो सकता था[४]।

अशोक की यह महान् धर्म-विजय थी, जो विश्व के इतिहास में अपनी समता नहीं रखती। इस धर्म-विजय के माध्यम से ही उस समय जम्बूद्वीप के सभी पड़ोसी देश मैत्री के एक दृढ़ सूत्र में आबद्ध हो गये। उनकी धर्म-भूमि भारत, गुरु-भूमि भी बन गया। इस प्रकार अशोक द्वारा बुद्धधर्म को जनता का धर्म बनाने का जो स्तुत्य प्रयास किया गया, वह भारत के सांस्कृतिक इतिहास मे सदा अमर रहेगा।

महायान और हीनयान

द्वितीय संगीति के पश्चात् ही भिक्षु-संघ में फूट उत्पन्न हो गयी थी और भिक्षु स्थविर-वाद तथा महासांघिक दो प्रधान निकायों मे बँट गये थे। अशोक के समय में यद्यपि धर्म-प्रचार के बहुत कार्य किये गये, तृतीय संगीति कर उन्हें मिलाने एवं उनमें सुधार करने का प्रयत्न किया गया, किन्तु निकायों की बाढ़ को नहीं रोका जा सका। अशोक के समय में जो तैर्थिक लाभ-सत्कार के लिये स्वयं चीवर धारण कर भिक्षु बन गये थे, वे विभक्तवादी स्थविरवाद से बहिष्कृत होने पर उन्हीं में मिलते गये और उनकी संख्या बढ़ती गयी। भिक्षु-निकायों की गणना अब १८ से भी अधिक हो गयी। कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा में इन नवीन निकायों की संख्या ८ दी गयी हैं। उनके नाम हैं—अन्धक, अपरशैलीय, पूर्वशैलीय, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, वैतुल्ल (वैपुल्य), उत्तरापथक और हेतुवादी। महावंश में—हैमवत, राजगिरिक, सिद्धार्थिक, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय और वाजिरिया (वज्रयानिक)—इन छः निकायों का नाम गिनाया गया है और कहा गया है कि ये जम्बूद्वीप में उत्पन्न हुए थे[५]। इससे जान पड़ता है कि हैमवत और उत्तरापथक एक ही निकाय का नाम है। कथावत्थु की अट्ठकथा में यह भी बतलाया गया है कि पूर्वशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थिक—ये पीछे के उत्पन्न निकाय अन्धक (आन्ध्रक = आन्ध्र के) कहलाते हैं[६]। सिंहली भाषा में लिखे निकाय-संग्रह[७] नामक एक प्राचीन ग्रन्थ का कहना है कि इन निकायों के अपने सिद्धान्त-प्रतिपादक ग्रन्थ भी थे। हैमवतों ने "वर्ण-पिटक" की रचना की थी, राजगिरिक वालों ने "अंगुलिमाल पिटक" की, सिद्धार्थिकों ने "गूढ़वेस्सन्तर" की, पूर्वशैलियों ने "रट्ठपालगज्जन" की, अपरशैलियों ने "आलवकगज्जन" की और वाजिरिय

१. चौथा शिलालेख। २. नौवाँ शिलालेख।
३. दसवाँ शिलालेख। ४. चौथा शिलालेख।
५. महावंसो, गाथा संख्या २३७–३८।
६. कथावत्थुप्पकरण की अट्ठकथा १, १, ९। ७. चतुर्थ परिच्छेद।

भिक्षुओं ने (१) गूढविनय, (२) मायाजालतन्त्र, (३) समाजतंत्र, (४) महासमयतत्व, (५) तत्वसंग्रह, (६) भूतचामर, (७) वज्रामृत, (८) चक्रसंवर- (९) द्वादशचक्र, (१०) मेरुकाद्बुद, (११) महामाया, (१२) पदनिःक्षेप, (१३) चतुष्टिष्ट, (१४) परामर्श, (१५) [illegible] (१६) सर्वबुद्ध, (१७) सर्वगुप्त, (१८) समुच्चय, (१९) मायामरीचिकल्प, (२०) हेरम्बकल्प, (२१) [illegible]कल्प, (२२) राजकल्प, (२३) वज्रगन्धारकल्प (२४) मरीचिगुप्त कल्प, (२५) शुद्ध समुच्चय कल्प और (२६) माया-मरीचि कल्प ग्रन्थों की रचना की। वैतुल्यवादियों ने [illegible] और अन्धकों ने रत्नकूट नामक ग्रन्थ लिखे[१]। इन भिक्षु-निकायों में से वाजिरिय भिक्षुओं का वर्णन कथावत्थु की अट्ठकथा में उपलब्ध नहीं है, किन्तु महावंश के अनुसार यह भी प्राचीन निकाय है जो तृतीय संगीति के पश्चात् उत्पन्न हुआ था[२]। कथावत्थु की अट्ठकथा से ज्ञात होता है कि ये प्रायः सभी नवीन निकाय महासांघिकों से ही उत्पन्न हुए थे। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है[३] कि इनका सम्बन्ध सम्मितिय भिक्षुओं से भी था, किन्तु अट्ठकथा से ही ज्ञात होता है कि सम्मितिय स्थविरवादी उपनिकाय के भिक्षु थे और बहुत से सिद्धान्त ऐसे थे जो महासांघिक और स्थविरवादी उपनिकायों के समान थे, जिनका कि [illegible] स्थविर ने कथावत्थु में खण्डन किया[४]। हम ऊपर कह आये हैं कि महसांघिकों की संख्या अधिक थी और उन्होंने स्थविरवादियों के विरुद्ध अपनी संगीति का आयोजन कौशाम्बी में किया था, जिस समय स्थविरवादी भिक्षु केवल ७०० एकत्र होकर द्वितीय संगीति कर रहे थे, उस समय महासांघिक भिक्षु १०,००० की संख्या में थे और तभी से वे अपने को स्थविरवाद से सर्वथा अलग तथा उच्च मानने लगे थे और स्थविरवादियों के विरुद्ध हीन-भावना का प्रचार प्रारम्भ कर दिया था। महायान और हीनयान की उत्पत्ति का यही प्रारम्भ था। कथावत्थु से हमें महासांघिकों और उसके उपनिकायों में ही महायान के बीज और अंकुर मिलते हैं। सम्मितिय भिक्षुओं के कुछ सिद्धान्त महासांघिकों से मिलते थे, किन्तु लौकिक रूप में उनमें अन्तर था। अतः महा-सांघिकों के उपनिकाय अन्धक भिक्षुओं ने ही महायान का नामकरण किया। इनके कथावत्थु में वर्णित सिद्धान्त आज भी महायानग्रन्थों में उपलब्ध हैं। वेतुल्लवादी (वैतुल्यवादी) भिक्षुओं के सिद्धान्त अधिकतर महायान से मिलते हैं। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह मत सत्य

---

१. भिक्षु धर्मरक्षित, "धर्मदूत" वर्ष १५, अंक १–२, अंक १–२, पृष्ठ ४९।

२. महावंश, गाथा संख्या २३८।

३. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १२७, १३०।

४. कथावत्थु १, २, २। १, २, ९। १, २, ११। १, ३, ५। २, ६, २। २, ७, १। २, ७, २। २, ७, ३। २, ७, ४। २, ७, ५। २, ७, ६। २, ८, १। २, ८, २। २, ८, ९। २, ८, ११। २, ९, ४। २, ९, ४। २, १०, २। २, १०, १०। ३, ११, १–३। ३, ११, ८। ३, १४, ८। ४, १६, ८। ४, १७, २। ४, १७, ३४, १८, ४। ४, १८, ६। ४, १९, ८। ५, २१, ९। और ५, २३, ५।

है कि "वेतुल्लवादी और महायान एक सिद्ध होते हैं[१]।" वेतुल्लवादियों को अट्ठकथा में महा-शून्यवादी कहा गया है। इनके तीन सिद्धान्तों का वर्णन अट्ठकथा में उपलब्ध है। इनका कथन था कि (१) भगवान् बुद्ध तुषित भवन में उत्पन्न होते हैं। वे वहीं रहते हैं। मनुष्य लोक में नहीं आते। निर्मितरूप मात्र यहाँ दिखलाते हैं[२]। (२) भगवान् ने तुषित स्वर्ग में ही रहकर धर्म-देशना के लिए अभिनिर्मित (अपने द्वारा निर्मित बुद्ध) को भेजा। उनसे आनन्द ने उपदेश सुनकर धर्म-देशना की। भगवान् बुद्ध द्वारा कदापि धर्मोपदेश नहीं दिया गया[३]। (३) करुणा से, संयुक्त विचार से अथवा संसार मे एक साथ उत्पन्न होंगे—इस आशय से स्त्री के साथ बुद्ध-पूजा आदि करके प्रार्थना के रूप में एक अभिप्राय से मैथुन धर्म का सेवन किया जा सकता है[४]। महायान में भी कहा गया है कि भगवान् तथागत मौन हैं। भगवान् बुद्ध ने कभी किसी को कुछ नहीं सिखाया[५]। सद्धर्मपुण्डरीक मे यह बात सुपल्लवित हुई है। वहाँ कहा गया है कि तथागत का यथार्थ काय संभोग काय है। वे धर्मदेशना के लिए समय-समय पर लोक मे उत्पन्न होते हैं। यह उनका निर्माण काय है[६]। मैथुन धर्म के सेवन की बात वज्रयान गर्भित महायान मे बहुत ही विस्तृत हुआ[७]।

वैतुल्यवादियों के अतिरिक्त अंधक के अन्य उपनिकायों में भी महायान के तथ्य निहित थे। अन्धक और उत्तरापथकों का कथन था कि भगवान् के मल-मूत्र में अन्य गन्धों से बढ़कर सुगन्धि है[८]। ये संस्कारस्कन्ध को शून्य मानते थे[९]। मैथुन-सेवन के सम्बन्ध में वैतुल्य-वादी और अन्धकों के समान मत थे[१०]। इस प्रकार वे लोकोत्तरवादी थे। महासांघिक मानते थे कि संसार के चारों भागों में बुद्धों का निवास है[११]। यह धारणा महायान के "सुखावती व्यूह" नामक ग्रन्थ में परिपुष्ट हुई[१२] और आगे चलकर दृढमूल हो गयी। जैसा कि हमने ऊपर कहा है, महासांघिकों और उसके अन्धक उपनिकायों से महायान की उत्पत्ति हुई। इसे प्रकार समझना चाहिए :—

---

१. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १३०। २. कथावत्थु ४, १८, १।

३. वही, ४, १८, २। ४. वही, ५, २३, १।

५. मौनाः हि भगवन्तस्तथागताः। न मौनस्तथातैर्भाषितम।—लंकावतारसूत्र और माध्य-मिककारिका १५, २४—
"न क्वचित् कस्यचित् कश्चिद् धर्मो बुद्धेन देशितः।

६. बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १०४।

७. गुह्यसमाज तन्त्र—"सेवनं योपितामपि" यथा प्रज्ञोपायनिश्चयसिद्धि—"ललनारूप—मास्थाय सर्वत्रैव व्यवस्थिता"। और ज्ञानसिद्धि—"[illegible] भवेद् योगी समाहितः।"

८. कथावत्थु, ४, १८, ४। ९. वही, ४, १९, २।

१०. वही, ५, २३, १। ११. वही, कथा २०१।

१२. बौद्ध-धर्म-दर्शन, पृष्ठ १०५।
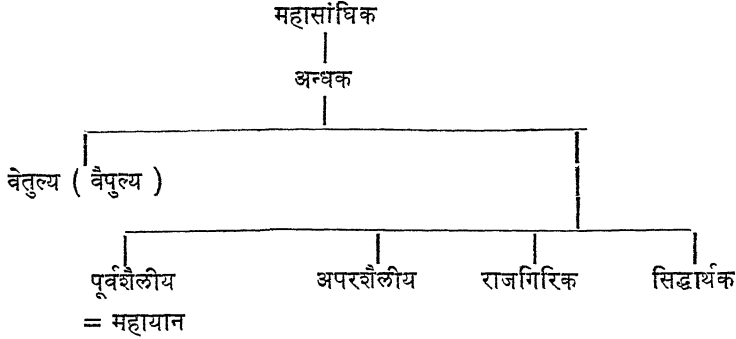
आचार्य नरेन्द्रदेव ने भी लिखा है—"लोकोत्तरवाद महासांघिकों में उत्पन्न हुआ। महासांघिक और स्थविरवाद पहले ही पृथक् हो चुके थे। विकसित होते-होते महासांघिक निकाय से महायान की उत्पत्ति हुई। बौद्ध संघ दो प्रधान यानों (मार्गों) में विभक्त हो गया—महायान और हीनयान[1]।" इस प्रकार महासांघिकनिकाय से ही महायान की उत्पत्ति सिद्ध होती है। जिसका बीजारोपण अशोक से पूर्व द्वितीय संगीति के समय ही हो चुका था। इसमें वज्रयान और तन्त्रयान के भी वीज विद्यमान थे।[2] धीरे-धीरे इनका विकास हुआ और अशोक के पश्चात् प्रथम शताब्दी ई० पूर्व में महायान पल्लवित होकर जन-समाज में प्रचलित हो गया।

नागार्जुन द्वारा महायान का व्यवस्थित किया जाना

महायान की उत्पत्ति बीजरूप में यद्यपि तीसरी शताब्दी ई० पूर्व ही हो चुकी थी और वह महासांघिक निकाय तथा उसके उपनिकायों के रूप में देशकाल के अनुसार विकसित हो रहा था, किन्तु इसे व्यवस्थित रूप दूसरी ईस्वी शताब्दी में ही प्राप्त हो सका। उसी समय इसकी ओर लोगों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित हुआ। जब इसे भदन्त नागार्जुन का कृतत्व प्राप्त हुआ। भदन्त नागार्जुन का जन्म विदर्भ (बरार) में हुआ था। वे श्रीपर्वत (नागार्जुनीकोंडा) में रहते थे। वहीं रहते हुए उन्होंने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ [illegible] की रचना की। यह ग्रन्थ शून्यवाद पर लिखा गया एक महान् ग्रन्थ है, जिसका प्रभाव सर्वास्तिवाद पर भी पड़ा। यही कारण है कि अश्वघोष सर्वास्तिवादी होते हुए भी महायान की शिक्षाओं से प्रभावित हुए थे। उनकी रचनाओं में महायान के पूर्वरूप के दर्शन होते हैं[3]। हुएनसांग ने लिखा है कि—अश्वघोष, नागार्जुन और कुमारलब्ध (कुमारलात) समकालीन थे। उसने यह भी लिखा है कि—ये तत्कालीन बौद्ध-जगत् के चार सूर्य के समान थे। लामा तारानाथ के अनुसार नागार्जुन कनिष्क के समय में उत्पन्न हुए थे। इस प्रकार नागार्जुन का समय द्वितीय शताब्दी हो सकता है[4]। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने नागार्जुन द्वारा लिखे

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १०५।
२. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५४।
३. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५५५।
४. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० १६७।

बीस ग्रन्थों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि नागार्जुन के बारह ग्रन्थ अत्यन्त प्रसिद्ध थे[१]—(१) माध्यमिककारिका, (२) [illegible] शास्त्र, (३) महाप्रज्ञापारमिता सूत्रकारिका शास्त्र, (४) उपाय कौशल्य, (५) प्रमाण विध्वंसन, (६) विग्रह व्यावर्तनी, (७) चतुः-स्तव, (८) युक्ति षष्टिका, (९) शून्यता सप्तति, (१०) प्रतीत्य समुत्पाद हृदय, (११) महायान विंशय, (१२) सुहृल्लेख। नागार्जुन के नाम के साथ अनेक अद्भुत बातें जुटी हुई हैं। उन्हें रसायन शास्त्र का ज्ञाता और वैद्यक का भी आचार्य मानते हैं। उनके नाम से अब भी तिव्वत में अष्टांगहृदय नामक वैद्यक ग्रन्थ प्रचलित है, किन्तु महायान को व्यवस्थित रूप देनेवाले भदन्त नागार्जुन का उनसे सम्बन्ध नहीं है[२]।

नागार्जुन का निवासस्थान श्रीपर्वत था और उसके पास ही धान्यकटक में विहारों एवं स्तूपों का द्वितीय ई० शताब्दी पूर्व में मौलिक रूप से निर्माण हुआ था। अतः नागार्जुन का धान्यकटक से प्रगाढ़ सम्बन्ध था[3]। धान्यकटक के ही पास अन्धकनिकायों के भिक्षुओं का बाहुल्य था। पश्चिम के पर्वतों पर अपरशैलीय रहते थे तथा पूर्व के पर्वतों पर पूर्वशैलीय। राजगिरिक, वैपुल्यवादी तथा सिद्धार्थक भी आन्ध्रप्रदेश में ही रहते थे। इसी हेतु इन्हें अन्धक (आन्ध्रक—आन्ध्र के रहनेवाले) कहा जाता था और जैसा हम पहले कह आए हैं अन्धक महासांघिकनिकाय से उत्पन्न हुए थे। इन्हीं से महायान का उदय हुआ था। नागार्जुन एक ऐसे वातावरण में थे, जहाँ चारों ओर इन महायानी विचारांकुरित भिक्षुओं का प्रभाव था। नागार्जुन की भी दीक्षा एवं शिक्षा इन्हीं द्वारा हुई थी। उन्होंने माध्यमिककारिका जैसे महान् ग्रन्थ का निर्माण कर शून्यवाद का प्रतिपादन किया। जो उस समय सभी बौद्ध दार्शनिकों को प्रभावित किया। पूर्वकाल में अंकुरित महायान इनके समय में पल्लवित हुआ और पीछे अपने प्रभाव में सभी बौद्ध सम्प्रदायों को आत्मसात् कर लिया। दार्शनिक जगत् के ये एक क्रान्ति-कारी भिक्षु थे[४]। नागार्जुन का प्रभाव आन्ध्र के सातवाहन नरेशों पर भी था। गौतमीपुत्र यज्ञश्री इनका अभिन्न मित्र था। उसी के लिए इन्होंने पत्र के रूप में सुहृल्लेख नामक ग्रन्थ लिखा था। इनके शून्यवाद की कृति विदेशों तक फैली थी और ये बोधिसत्व के रूप में माने जाने लगे थे। लंका से भदन्त आर्यदेव इनके दर्शन का ज्ञान प्राप्त करने आए थे और उन्होंने इनका शिष्यत्व ग्रहण किया था। नागार्जुन की शून्यता के प्रतिपादन की प्रसिद्धि बहुत थी। उन्होंने स्वयं लिखा है—"जो इस शून्यता को समझ सकता है, वह सभी अर्थों को समझ सकता है और जो शून्यता को नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता है।[५] नागार्जुन

---

१. बोधिवृक्ष की छाया में, पृ० १५६।

२. दर्शन दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६८।

३. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५६।

४. शान्ति भिक्षु शास्त्री : बोधिचर्यावतार की भूमिका, पृष्ठ ३६।

५. दर्शन दिग्दर्शन, पृ० ५६९। श्लोक इस प्रकार है—
प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किञ्चित् न भवति शून्यता यस्य॥

ने शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद और अनेक अर्थोंवाली मध्यमा प्रतिपदा को कहा है। विश्व और उसकी सभी जड़ और चेतन वस्तुएँ किसी भी स्थिर अचल तत्व (आत्मा आदि) से सर्वथा शून्य हैं। जो उसको समझता है, वही चारों आर्यसत्यों को समझ सकता है और चारों आर्य-सत्यों को समझने पर उसे तृष्णानिरोध (निर्वाण) की प्राप्ति होती है और वह धर्म-अधर्म की बातों को जान सकता है[१]। नागार्जुन के प्रतीत्य-समुत्पाद का दो अर्थ था—(१) हेतु से उत्पत्ति—सभी वस्तुएँ अपनी उत्पत्ति में दूसरे हेतु-प्रत्यय पर आश्रित हैं। (२) सभी वस्तुएँ एक क्षण के पश्चात् नष्ट हो जाती हैं और दूसरी वस्तु उत्पन्न होती है अर्थात् उत्पत्ति विच्छिन्न प्रवाह-सी है। नागार्जुन ने शाश्वतवाद और उच्छेदवाद के विरुद्ध विच्छिन्न प्रवाह को माना[२]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का मत है कि नागार्जुन का दर्शन 'शून्यवाद' वास्तविकता का अपलाप करता है। लोक को शून्य मानकर उसकी समस्याओं के अस्तित्व को अस्वीकार करने के लिए इससे बढ़कर दर्शन नहीं मिलेगा[३]। नागार्जुन ने अपने सुहृल्लेख में लिखा है—

"ये स्कन्ध न इच्छा से, न काल से, न प्रकृति से, न स्वभाव से, न ईश्वर से उत्पन्न होते हैं।" "यहाँ सभी कुछ अनित्य, अनात्म, अशरण, अनाथ और अस्थान है। इसलिए तुम इस तुच्छ केले के तने के समान असार जगत् से विरति धारण करो।" शील, समाधि और प्रज्ञा के द्वारा शान्तपद निर्वाण को प्राप्त करो, जो अजर और अमर है तथा जहाँ न धरती है, न जल, न आग, न वायु, न सूर्य, न चन्द्रमा।" "जहाँ प्रज्ञा नहीं है, वहाँ ध्यान भी नहीं है। जहाँ ध्यान नहीं है, वहाँ प्रज्ञा भी नहीं है, किन्तु जानो कि जिसमें ध्यान और प्रज्ञा दोनों हैं, उसके लिए यह भव-सागर रमणीक निकुञ्ज जैसा है[४]।"

नागार्जुन के इन प्रवचनों एवं शून्यवाद के प्रशस्त सिद्धान्त का जनता पर बहुत गहरा प्रभाव पड़ा और इनके आकर्षण में आकर जनता महायान को अपनाने लगी। महायान की ख्याति का सर्वाधिक श्रेय भदन्त नागार्जुन को ही है। दक्षिण भारत की यह देन 'महायान' धीरे-धीरे देश-देशान्तर में प्रसारित होने लगी। आचार्य चन्द्रकीर्ति ने माध्यमिककारिका की वृत्ति में लिखा है—"नागार्जुन दर्शन-तेज में परवादियों के मत और लोकमानस तथा उसके अन्धकार ईंधन के समान भस्म हो जाते हैं। उनके तीक्ष्ण तर्क-शरों से संसारोत्पादक निःशेष अरि सेनाएँ नष्ट हो जाती हैं[५] और यही कारण था कि परवादी भदन्त नागार्जुन से परास्त होकर महायान के अनुयायी बनने लगे। नागार्जुन का यह एक महान् कार्य था, इसीलिए वे महायान के जन्मदाता न होते हुए भी उसके युग-प्रवर्तक आदिपुरुष माने जाते हैं।

महायान और हीनयान का पारस्परिक तथा सैद्धान्तिक सम्बन्ध

महायान और हीनयान दोनों ही एक ही भिक्षु-संघ से प्रादुर्भूत दो धाराएँ थीं। हीनयान स्थविरवाद का नाम था और महायान उसके विरुद्ध उठ खड़े हुए कुछ भिक्षु-निकायों

---

१. दर्शन-दिग्दर्शन, पृष्ठ ५६९। २. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५७३।
३. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५७६।
४. बोधिवृक्ष की छाया में, पृ० १५९-१६०। ५. बौद्धधर्म दर्शन, पृ० ७८८।

का सम्मिश्रण। प्रारम्भ में यद्यपि केवल बुद्धधर्म ही था और सब [illegible] थे। पीछे तीसरी शताब्दी में वह नागार्जुन द्वारा व्यवस्थित किया गया, तो उसका प्रभाव बढ़ा। हीनयान वुद्धोपदिष्ट पालि-साहित्य को ही आधार मानकर परिशुद्ध स्थविर-परम्परा का परिपोषक था, किन्तु महायान बुद्ध को लोकोत्तर मानकर उनके अद्‌भुत रहस्यों से युक्त लीला-कार्यों के साथ उनके उपदेशों को मानना प्रारम्भ किया। एक प्रकार से हीनयान और महायान में पारस्परिक वहुत सम्बन्ध भी था। पीछे हम देखते हैं कि हीनयानी भिक्षु भी महायानी हो सकते थे। एक ही परिवार में दोनों के माननेवाले सहिष्णु भाव से रह सकते थे। हुएनसांग ने ऐसे भिक्षुओं का उल्लेख किया है, जो हीनयानी होकर भी महायान के अनुयायी थे और विनय में पूर्ण थे[1]। हीनयान और महायान दोनों समान रूप से सत्य और निर्वाण-प्राप्ति की कामना से ही धर्म का आचरण करते थे। हम देखते हैं कि पीछे नालन्दा, विक्रमशिला आदि भिक्षु-पीठों में दोनों यानों की शिक्षा समान रूप से दी जाती थी, अतः पारस्परिक सम्बन्ध में दोनों एक थे, समान थे और दोनों मे कोई विशेष भेद नहीं था।

ऐतिहासिक प्रमाणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि दूसरी शताब्दी में दक्षिण भारत मे महासांघिक भिक्षुओं का प्राधान्य था। इन्हीं का एक निकाय अन्धक भी था। अन्धकनिकाय वालों का अपना त्रिपिटक था और उसकी अट्ठकथा भी अपनी ही थी। आचार्य बुद्धघोष ने अपनी अट्ठकथाओं में अन्धक अट्ठकथा का उल्लेख किया है[2]। यही अन्धक और उसके अन्य उपनिकाय महायान की उत्पत्ति के स्रोत थे और इन सबका प्रधान केन्द्र दक्षिण भारत ही था। यह बात इससे भी प्रमाणित हो जाती है कि मंजुश्री बोधिसत्व ने प्रज्ञा पारमिता पर सर्वप्रथम उपदेश उड़ीसा (आदिविस) में दिया था। प्रज्ञा पारमिताओं में यह बात बार-बार दुहराई गई है कि महायान धर्म की उत्पत्ति दक्षिणापथ में होगी और वहाँ से वह पूर्वी देशों मे फैलेगा तथा उत्तरी भारत में विशेष रूप से समृद्ध होगा[3]। हम देखते हैं कि नालन्दा मे यद्यपि हीनयान और महायान दोनों की शिक्षा दी जाती थी, किन्तु वह महायान प्रधान विद्यालय था और ऐतिहासिक दृष्टि से महायान की उत्पत्ति कनिष्क-काल के पहले हो चुकी थी। नागार्जुन के प्रभाव के कारण वह बढ़ता गया और धीरे-धीरे हीनयान पर भी उसका प्रभुत्व जमता गया। नागार्जुन के शिष्य नाग, आर्यदेव आदि ने महायान के प्रचार के लिए महान् कार्य किया था। उनके पश्चात् असंग, बसुबन्धु जैसे महान् विद्वान् भी इसी के प्रचारक हुए। महायान की साधना बहुत विस्तृत थी और उसकी दार्शनिक दृष्टियाँ भी बहुत विशाल थीं। जिनके विकास ने कई शताब्दियों तक भारतीय जन-समाज को अपनी ओर लगाये रखा। हम देखते हैं कि प्रारम्भ में महायान के जो लक्षण उदय हुए थे, उनमें प्रधानतः दो बातें थीं—(१) बुद्ध को लोकोत्तर मानना और (२)

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १०६।

२. भिक्षु धर्मरक्षित : पालि अट्ठकथा ग्रन्थ और उनके लेखक, 'धर्मदूत', वर्ष १८, अंक १-२, पृष्ठ ३।

३. वौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५५७ तथा एक्सपेक्ट्स ऑफ़ महायान बुद्धिज्म, लेखक : नलिनाक्षदत्त, पृष्ठ ४१।

बोधिसत्व के सिद्धान्त का प्रतिपादन करना। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का मत है कि वस्तुतः महासांघिक भी हीनयानी ही थे, केवल बुद्ध के सम्बन्ध मे उनके विचार भिन्न थे[१]। इस प्रकार स्पष्ट है कि महायान और हीनयान का पारस्परिक प्रगाढ़ सम्बन्ध था। दोनों एक वृक्ष की दो शाखाओं की भाँति थे और ऐसी शाखाओं की भाँति जिनका अति निकट सम्पर्क था। यह उपमा अधिक उपयुक्त नहीं है, क्योंकि इन दोनों यानों में कभी कोई महान् साम्प्रदायिक कलह का रूप जनसमाज मे दृष्टिगत नहीं हुआ। केवल प्रारम्भ मे ही कुछ बातों को लेकर मतभेद उत्पन्न हुआ था, जो विचारधाराओं की विभिन्नता मात्र थी। यही कारण था कि आगे चलकर सम्पूर्ण भारत में ही नहीं प्रत्युत कुछ बाह्य देशों में भी महायान बढ़ता और विकसित होता गया तथा एक समय महायान और हीनयान का अन्तर भी साधारण जनता की दृष्टि में नगण्य हो गया। इस बात के साक्षी सारनाथ, बुद्धगया, श्रावस्ती, कौशाम्बी, साँची आदि से प्राप्त तत्कालीन मूर्तियाँ और लेख हैं।

जब हम महायान और हीनयान के सम्बन्धों पर विचार करते हैं, तब यह ज्ञात होता है कि भगवान् बुद्ध ने केवल एक ही यान (मार्ग) का उपदेश दिया था और वह था मध्यम मार्ग (एकायनोयं भिक्खवे मग्गो[२])। जो विशुद्धि का सर्वोत्तम मार्ग था। महायान में भी कहा गया है कि बुद्ध केवल एक ही यान का उपदेश देते हैं। वे किसी अन्य का उपदेश नहीं देते[३]। वह यान है—'बुद्धयान'[४]। किन्तु इस बुद्धयान और पूर्वोक्त एकायन मार्ग में भेद था। एकायन मार्ग संसार के सभी दुःखों से मुक्ति की ओर ले जानेवाला सत्वों की विशुद्धि का मार्ग था तो बुद्धयान बोधिसत्व के गुणधर्मो की पूर्ति के उपरान्त बुद्धत्व प्राप्त करानेवाला था। अर्थात् एक शीघ्र निर्वाण तक पहुँचाने वाला लघु मार्ग था तो दूसरा सत्वोपकार के पश्चात् बुद्ध बनानेवाला था। इस प्रकार एक 'हीन' था और दूसरा 'महा'। बुद्धत्व की प्राप्ति के लिए महायान ने पीछे अनेक यानों की बात कही[५]। इनमें तीन यान अधिक प्रसिद्ध हुए—श्रावकयान, प्रत्येकबुद्धयान और महायान[६]। सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र में कहा गया है कि परमार्थ रूप से देखने पर एक ही यान है। भिन्न-भिन्न यानों का उपदेश तो अज्ञों को

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृष्ठ ५५८।

२. दीघनिकाय, महासतिपट्ठान सुत्त, २, ९।

३. एकं हि यानं द्वितीयं न विद्यते, तृतीयं हि नैवास्ति कदाचि लोके।

—सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, उपायकौशल्य परिवर्तः।

४. एकमेवाहं शारिपुत्र, यानमारम्भ सत्वानां धर्म देशयामि यदिदं बुद्धयानम्। न किञ्चि शारिपुत्र, द्वितीयं वा तृतीयं यानं संविद्यते।

—सद्धर्मपुण्डरीक सूत्र, उपायकौशल्य परिवर्तः।

५. लङ्कावतार सूत्र में देवयान, ब्रह्मयान और श्रावकयान कहा गया है, ऐसे ही तीन यानों का वर्णन सद्धर्मपुण्डरीक में भी आया है।

—देखिए, बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५५९।

६. त्रीणि यानानि—श्रावकयानं प्रत्येकबुद्धयानं महायानञ्चेति।

—धर्मसंग्रह, नागार्जुनकृत, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित, पृष्ठ १।

आकृष्ट करने के लिए ही है[1]। अद्वय वज्रसंग्रह में कहा गया है कि लक्ष्य तक पहुँचाने के लिए भगवान् ने तीन प्रकार के यानों का उपदेश दिया है अन्यथा एक से अधिक यान नहीं है[2]। उपर्युक्त तीनों यानों में हीनयान श्रावकयान की साधना का अनुगमन करता है। जो बुद्ध के उपदेश को सुनकर उसके अनुसार आचरण करें, वे श्रावक हैं और उनका वह श्रावकयान है। प्रत्येकबुद्धयान प्रतीत्यसमुत्पाद का साक्षात्कार कर स्वयं सुख का अनुभव करते हैं। बुद्धयान ब्रह्मविहार तथा पारमिताओं की साधना है। बुद्धयान को ही महायान कहते हैं। इस प्रकार महायान से हीनयान निम्नकोटि का है। क्योंकि महायान बुद्धों का मार्ग है और हीनयान बुद्ध के बतलाए हुए धर्म को सुनकर उस पर चलनेवाले श्रावकों का। हीनयान से केवल अर्हत्व की ही प्राप्ति हो सकती है, किन्तु महायान बुद्धत्व-प्राप्ति का साधन है।[3]

महायान और हीनयान दोनों ही दो प्रकार की बुद्ध-देशना मानते हैं—(१) संवृति (सम्मुति = व्यावहारिक) और (२) परमार्थ ; किन्तु दोनों की मान्यताओं में भेद है। महायान मानता है कि भगवान् बुद्ध लोकोत्तर है, वे इस लोक में न आये और न उन्होंने देशना की, जिस बुद्ध ने उपदेश किया वह वास्तविक बुद्ध द्वारा निर्मित रूप था। वास्तव में बुद्ध न तो जन्म लेते है और न परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं। बुद्ध का संसार में आना और धर्मोपदेश करना एक माया थी। बुद्ध लोक के पिता और स्वयंभू हैं, वे सदा गृध्रकूट पर्वत पर निवास करते हैं। वे सत्वों को 'उपाय कौशल्य' से उपदेश देते हैं और उनका धर्मोपदेश निरन्तर होता है[4]। इसीलिए महायान का कथन है कि बुद्ध गुह्य (गूढ़) और प्रकट दो प्रकार से उपदेश देते हैं। उनका गुह्य उपदेश केवल प्रज्ञावान् शिष्यों तक ही सीमित होता है, जिन्हें कि बोधिसत्व कहा जाता है और इन्हीं बोधिसत्वों का मार्ग महायान है। महायान को ही बुद्धयान और तथागतयान भी कहते हैं[5]। शेष हीनयानी है। हीनयानियों को तथागत की

---

१. उपाय कौशल्य परिवर्तः।

२. धर्मधातोरसम्भेदाद् यानभेदोऽस्ति न प्रभो। यानत्रितयमाख्यातं त्वया सत्वावतारतः॥

—अद्वयवज्र संग्रह।

३. महायान, पृष्ठ १४।

४. एवमहं लोकपिता स्वयंभूः चिकित्सकः सर्वप्रजान नाथः।
विपरीत मूढांश्च विदित्व बालान् अनिर्वृत दर्शयामि॥ २१॥

—सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ ३२६।

अचिन्तिया कल्पसहस्रकोट्यो श्रासां प्रमाणं न कदाचि विद्यते।
प्राप्तामया एष तदाग्रबोधिर्धर्म च देशेम्यहु नित्यकालम्॥ २२॥

—सद्धर्मपुण्डरीक, पृ० ३२३।

एवं च हं तेष वदामि पश्चात् इहैवनाहं तद आसि निर्वृतः।
उपायकौशल्य ममेति भिक्षवः पुनः पुनो भोम्यहु जीवलोके॥ ७॥

—सद्धर्मपुण्डरीक, पृष्ठ ३२४।

५. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, पृ० ५७८।

देशना 'उपाय कौशल्य' से होती है। स्थविरवाद का कथन है कि धर्मोपदेश में लोक-व्यवहार को लेकर जो देशना होती है वह व्यावहारिक (सम्मुति) है और वस्तु के वास्तविक स्वभाव एवं लक्षण को प्रकट करनेवाली देशना पारमार्थिक है। इस प्रकार सत्य दो प्रकार के होते हैं—लोक-संवृति और परमार्थ[१]। स्थविरवाद मानता है कि पारमिताओं को पूर्ण कर बुद्ध संसार में जन्म लेते हैं, उपदेश करते हैं और महापरिनिर्वाण को प्राप्त करते है; वे सदा जीवित रहनेवाले नहीं हैं। महापरिनिर्वाण प्राप्त हो जाने पर उन्हें कोई नहीं देख सकता कि वे कहाँ गये या कहाँ है। दीघनिकाय मे कहा गया है—"भिक्षुओ, भव-तृष्णा के उच्छिन्न हो जाने पर भी तथागत का शरीर रहता है। जब तक उनका शरीर रहता है, तभी तक उन्हें मनुष्य और देवता देख सकते हैं। शरीरपात हो जाने के बाद उनके जीवन-प्रवाह के निरुद्ध हो जाने से उन्हें देव और मनुष्य नहीं देख सकते। भिक्षुओ, जैसे किसी आम के गुच्छे की ढेंप टूट जाने पर उस ढेंप से लगे सभी आम नीचे आ गिरते हैं, उसी तरह भव-तृष्णा के छिन्न हो जाने पर तथागत का शरीर होता है[२]।"

महायान ने इसी भावना से प्रेरित होकर त्रिकाय का प्रतिपादन किया। उन्होंने बुद्धकाया को तीन प्रकार से माना—रूपकाय, धर्मकाय और सम्भोगकाय। रूपकाय बुद्ध के भौतिककाय को कहा जाता है। जिस रूप में भगवान् बुद्ध ने जन्म लेकर उपदेश दिया था वह उनका रूपकाय है। धर्म और वास्तविक बुद्ध धर्मकाय है और उनका आनन्दमय स्वरूप सम्भोगकाय है। तात्पर्य यह कि जिस शरीर को धारण कर या जिसका निर्माण कर तथागत संसार में देशना करते हैं वह उनका रूपकाय है। वास्तविक बुद्ध धर्मकाय है। उसे उनका आध्यात्मिक शरीर माना जाता है। उसे ही बुद्धकाय, प्रज्ञाकाय, स्वाभाविककाय, बोधिकाय और सद्धर्मकाय भी कहते हैं। यही परमार्थ सत्य है। तुषित लोक में रहकर लोक-कल्याण के लिए जो वे बोधिसत्वों को मार्ग दिखलाते हैं, वह सम्भोगकाय है अर्थात् देवों के समान जिस काया में रहकर बुद्ध लोक-कल्याण में सदा तत्पर रहते हैं वह सम्भोगकाय है। स्थविरवाद में इनका खण्डन किया गया है और इस त्रिकायवाद को सर्वथा ही नहीं माना गया है[3]। जैसा कि ऊपर हमने कहा है बुद्ध मनुष्यों की भाँति संचित पुण्य-सम्भार से संसार में जन्म लेते हैं, तप करते हैं, ज्ञान प्राप्त कर उपदेश देते हैं और महापरिनिर्वाण को प्राप्त कर दीपक की भाँति बुझ जाते हैं—यही स्थविरवाद की मान्यता है।

महायान में बुद्ध-भक्ति पर विशेष बल दिया गया है, जब कि स्थविरवाद बुद्ध को अपना शास्ता (गुरु) मात्र मानता है महायानी बुद्ध मुक्तिदाता भी हैं,[४] किन्तु स्थविरवादी

---

१. दुवे सच्चानि अक्खासि सम्बुद्धो वदतं वरो।
सम्मुतिं परमत्थं च ततियं नूपलब्भति॥
सङ्केतवचनं सच्चं लोकसम्मुति कारणा।
परमत्थवचनं सच्चं धम्मानं भूतलक्खणं॥ —सुमंगलविलासिनी १, ८।

२. हिन्दी दीघनिकाय, पृष्ठ १५। ३. कथावत्थुप्पकरण ४, १८, १।

४. सद्धर्मपुण्डरीक २, ११ (यहाँ बुद्ध को 'सन्तारक' कहा गया है)।

बुद्ध व्यक्ति को उसके कर्म-विपाक के भोग से मुक्त नहीं कर सकते, उसे स्वयं प्रयत्न कर गुण-धर्मों की पूर्ति के पश्चात् संसार-दुःख से मुक्ति प्राप्त हो सकती है। कार्य व्यक्ति को ही करने हैं, तथागत तो केवल व्याख्याता हैं[१]। उनकी शरीर-पूजा वास्तविक पूजा नहीं है, प्रत्युत उनके बतलाए धर्म के मार्ग पर चलना ही उनकी यथार्थ पूजा है[२]। महायान के बुद्ध इस प्रकार संकल्प करते हैं—"जितने दुःखी प्राणी हैं, उन सब का भार मैं अपने ऊपर लेता हूँ।" किन्तु स्थविरवाद में—"मेरे बतलाए हुए मार्ग पर चलकर तुम सभी सांसारिक दुःखों से मुक्त हो जाओगे[३]।" महायान में पूजा, वन्दना, शरण-गमन, पाप-देशना, [illegible] अध्येषणा (प्रार्थना), याचना, बोधिचित्तोत्पाद और बोधिपरिणामना—ये नौ प्रकार की पूजाएँ मानी गयी हैं। इसी में भक्ति पूर्ण होती है।[४] इसी भाव को प्रकट करने के लिए बोधिचर्यावतार में कहा गया है—"मैं अपने आपको बुद्ध को समर्पित करता हूँ। मैं अपने सम्पूर्ण हृदय से बोधिसत्वों के प्रति आत्मसमर्पण करता हूँ। हे कारुणिक प्राणियो, मुझ पर अधिकार करो। मैं प्रेम के द्वारा तुम्हारा द स हो गया हूँ[५]।" यही भावना महायान और स्थविरवाद को अलग करती है। इस भावना ने ही अवलोकितेश्वर आदि बुद्धों की सृष्टि की और अगणित बुद्धों तथा बोधिसत्वों की कल्पना की। स्थविरवाद भी मानता है—"जो मुझे देखता है, वह धर्म को देखता है और जो धर्म को देखता है, वह मुझे देखता है[६]।" किन्तु इसमे बुद्ध की भक्ति नहीं, प्रत्युत यथार्थ रूप से बुद्ध-स्वरूप अर्थात् धर्म को देखना है और जो वास्तविक धर्म को देखता है, वही यथार्थ में बुद्ध के व्यक्तित्व को समझ सकता है। स्थविरवाद भी पूजा-वन्दना को मानता है, किन्तु यह केवल गुरु के सत्कार-सम्मान सदृश ही है। शरणगमन, पापदेशना आदि के भी आशय भिन्न हैं। बुद्ध की शरण जाना, धर्म की शरण जाना, संघ की शरण जाना, पाप-कर्म न करना, सभी पापों को त्याग कर पुण्यों का सञ्चय करना और अपने चित्त को राग, द्वेष, मोह से परिशुद्ध कर परम सुख निर्वाण को प्राप्त करना ही स्थविरवादी साधक का लक्ष्य है,[७] बुद्ध-भक्ति से ज्ञान प्राप्त करना नहीं। यदि कोई व्यक्ति जीवन-पर्यन्त भगवान् बुद्ध के चीवर के कोने को भी पकड़कर विचरे तो भी उसे तथागत उसके कर्म-विपाक के भोग से बचा नहीं सकते[८]।

महायान के निकाय, साहित्य और सिद्धान्त

महायान की उत्पत्ति के सम्बन्ध में प्रकाश डालते हुए पहले बतलाया गया है कि किस प्रकार महासांघिक के उपनिकायों तथा अन्धक और वैपुल्यवादियों से महायान का उद्भव हुआ था, जिसे कि नागार्जुन ने व्यवस्थित किया था और वह एक प्रभावशाली दर्शन तथा उसके अनुरूप प्रतिपादित धर्म से अलंकृत हो गया था। इस व्यवस्थित रूप का महायानी पूर्व के उन

---

१. धम्मपद, गाथा २७६।
२. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १३८-१३९।
३. धम्मपद, गाथा २७५।
४. महायान, पृष्ठ ८७।
५. बोधिचर्यावतार २, ८।
६. संयुत्तनिकाय ३, २१, २, ४, ५। हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृष्ठ ३७४।
७. धम्मपद १४, ५।
८. नाहं गमिस्सामि पमोचनाय।

सभी निकायों पर जो कि महासांघिकों की परम्परा के अन्तर्गत थे, ऐसा प्रभाव पड़ा कि वे सभी कुछ बातों में एक हो गए। उनमें केवल दार्शनिक मतभेद ही रहा। यान, त्रिकाय, सत्य, भक्ति, बोधचित्त, शरण-गमन में समान थे। महासांघिकों की छः निकाय-परम्परायें तथा अन्धक (वैपुल्य, पूर्वशैलीय, अपरशैलीय, राजगिरिक और सिद्धार्थक) महायान प्रतिपादक निकाय दो दार्शनिक निकायों में विभक्त हो गये। प्रायः उसी समय हीनयान के भी दो दार्शनिक भेद हो गये थे—(१) सर्वास्तिवाद (वैभाषिक) और (२) सौत्रान्तिक। कनिष्क के समय में जो संगीति हुई थी, उसमें ज्ञानप्रस्थानशास्त्र (पट्ठान) पर विभाषा नामक टीका लिखी गयी थी और जिन्होंने उसे माना वे वैभाषिक कहलाये। ये सभी सर्वास्तिवादी थे। जिन भिक्षुओं ने उसे नहीं माना और सुत्तपिटक पर जोर दिया, वे सौत्रान्तिक कहलाये। इनके ग्रन्थ भी कुछ भिन्न थे, किन्तु मूल पालि त्रिपिटक से बहुत साम्य रखते थे। ऐसे ही महायान के दार्शनिक निकाय माध्यमिक और योगाचार थे। माध्यमिक को शून्यवाद और योगाचर को विज्ञानवाद भी कहते हैं।

महायान का साहित्य बहुत विशाल है। इसके सभी ग्रन्थ संस्कृत या मिश्रित संस्कृत में हैं। पालि भाषा में एक भी महायानी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। हीनयानी ग्रन्थ ही पालि में हैं। महायान के नौ ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—(१) अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञ पारमिता, (२) गण्डव्यूह, (३) दशभूमिश्वरः, (४) समाधिराज, (५) लंकावतार सूत्र, (६) [illegible], (७) तथागतगुह्यक, (८) ललितविस्तर और (९) सुवर्ण प्रभास। अष्टसाहस्त्रिका प्रज्ञापारमिता में भगवान् बुद्ध की छः पारमिताओं का वर्णन है। यह ग्रन्थ शून्यता को प्रतिपादित करता है। इसमें शून्य को ही प्रज्ञापारमिता कहा गया है। गण्डव्यूह में धर्मकाय और शून्यता के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है। यह ग्रन्थ मंजुश्री बोधिसत्व की प्रशंसा में लिखा गया है। दशभूमिश्वरः में उन दशभूमियों का वर्णन है जिनसे कि बुद्धत्व प्राप्त होता है। इसे दशभूमिक सूत्र भी कहते हैं। समाधिराज में समाधि की अन्तिम अवस्था का वर्णन है। लंकावतारसूत्र योगाचार के सिद्धान्तों का प्रतिपादक है। सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र महायान का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसमें भगवान् बुद्ध को देवातिदेव, अनादि, अजन्मा, सृष्टिकर्त्ता आदि कहा गया है और बुद्ध-धातु तथा स्तूप-पूजा से भी निर्वाण प्राप्ति का उपदेश है। तथागतगुह्यक में भगवान् बुद्ध के ज्ञान और गुणों का वर्णन है। ललितविस्तर में तथागत के जीवनचरित्र का सुन्दर ढंग से वर्णन है। इसमें उन्हें स्वयम्भू तथा परमपुरुष माना गया है। सुवर्णप्रभास में पौराणिक बातों की अधिकता है और इसका स्वरूप तांत्रिक है। महायान के इन नौ ग्रन्थों को 'महायानसूत्र' नाम से जाना जाता है। ये महायान के मूल ग्रन्थ हैं।

इन ग्रन्थों के अतिरिक्त सुखावतीव्यूह, महावस्तु, जातकमाला, अवदानशतक, दिव्यावदान, अशोकावदान, कल्पद्रुमावदान, बोधिसत्वावदान, कल्पलता, व्रतावदान, धर्मसंग्रह, महाव्युत्पत्ति आदि भी महायानी सिद्धान्त के प्रतिपादक विशेष ग्रन्थों में सूत्र तथा अभिधर्म सम्बन्धी बातें ही प्रधान रूप से हैं। महायान तथा हीनयान के विनय में बहुत भेद न था, किन्तु महायानी विनयपिटक अपने मूलरूप में प्राप्त नहीं हो सका है। चीनी तथा तिब्बती भाषा में उसके अनूदित ग्रन्थ ही प्राप्त हुये हैं। उनके अनुसार डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने इन ग्रन्थों

का नाम गिनाया है[१]—(१) बोधिचर्यानिर्देश, (२) बोधिसत्व प्रातिमोक्षसूत्र, (३) भिक्षु विनय, (४) आकाशगर्भसूत्र, (५) उपालि परिपृच्छा, (६) उग्रदत्त परिपृच्छा, (७) रत्नमेघसूत्र, (८) रत्नराशिसूत्र।

ये महायानी ग्रन्थ माध्यमिक और योगाचार दोनों ही सिद्धान्तों के प्रतिपादक हैं अर्थात् इनमें दोनों दार्शनिक निकायों के सिद्धान्त हैं, किन्तु इन दोनों के अपने अलग-अलग ग्रन्थ हैं और इनकी परम्परा भी। योगाचार दर्शन के प्रवक्ता आचार्य मैत्रेय माने जाते हैं। उन्होंने पाँच ग्रन्थों की रचना की थी—(१) मध्यान्त विभाग, (२) अभिसमयालंकार प्रज्ञापारमितोपदेशशास्त्र, (३) महायानसूत्रालंकार, (४) महायान उत्तरतन्त्र और (५) धर्मधर्मताविभंग। आचार्य मैत्रेय के पश्चात् असंग, वसुबन्धु, दिङ्नाग, धर्मकीर्ति, शान्तरक्षित और कमलशील (विज्ञानवाद) के प्रमुख आचार्य हुए। असंग ने तीन ग्रन्थ लिखे—(१) महायान सूत्रालंकार, (२) योगाचारभूमिशास्त्र और (३) अभिसमयालंकार टीका। ऐसा माना जाता है कि महायानसूत्रालंकार की रचना असंग और उनके गुरु आचार्य मैत्रेय दोनों ने ही मिलकर की थी[२]। आचार्य वसुबन्धु ने विज्ञप्तिमात्रतासिद्धि, त्रिंशिका, सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र टीका और वज्रछेपिकाप्रज्ञापारमिता नामक ग्रन्थों का प्रणयन किया। दिङ्नाग के प्रमाण समुच्चयवृत्ति, न्यायप्रवेश, हेतुचक्रनिर्णय, प्रमाणशास्त्र, आलम्बनपरीक्षा, आलम्बनपरीक्षावृत्ति, त्रिकालपरीक्षा और मर्मप्रदीपवृत्ति ग्रन्थ हैं। दिङ्नाग के शिष्य शंकर स्वामी ने [illegible] और न्यायप्रवेश तर्कशास्त्र की रचना की थी। आचार्य धर्मपाल ने आलम्बनप्रत्ययध्यानशास्त्र और शतशास्त्रव्याख्या नामक ग्रन्थ लिखे थे। धर्मकीर्ति के सात ग्रन्थ अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—(१) प्रमाणवार्तिक, (२) न्यायविन्दु, (३) प्रमाणनिश्चय, (४) सम्बन्धपरीक्षक, (५) हेतुबिन्दु, (६) वादन्याय और (७) सन्तानान्तरसिद्धि। शान्तरक्षित और कमलशील को महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने योगचार के अन्तर्गत माना है[३], किन्तु डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने इन दोनों आचार्यों को योगाचार के अन्तर्गत मानते हुए भी यह कहकर कि वे मुख्यतः शून्यवादी थे, माध्यमिक निकाय में माना है। हमारा भी यही मत है। शान्तरक्षित ने तत्व-संग्रह नामक को लिखा था और कमलशील ने टीका "तत्वसंग्रहपंजिका" की रचना की थी।

माध्यमिक दर्शन के प्रवक्ता नागार्जुन थे। आर्यदेव, चन्द्रकीर्ति, भाव्य और बुद्धपालित भी इसी परम्परा के थे। नागार्जुन द्वारा लिखित बीस ग्रन्थ बतलाये जाते हैं, जिनमें बारह अत्यधिक प्रसिद्ध हैं—(१) माध्यमिककारिका, (२) दशभूमिविभाषाशास्त्र, (३) महाप्रज्ञापारमितासूत्रकारिका शास्त्र, (४) उपायकौशल्य, (५) प्रमाणविध्वंसक, (६) विग्रहव्यावर्तनी, (७) चतुः स्तव, (८) युक्तिषष्टिका, (९) शून्यतासप्तति, (१०) प्रतीत्यसमुत्पादहृदय, (११) महायानविंशक, (१२) सुहृल्लेख। आर्यदेव का चतुःशतक प्रसिद्ध

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ६२८।
२. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन प्रथमा भग, पृष्ठ ६४९।
३. दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ५७७।

बुद्धपालित ने माध्यमिक कारिकावृत्ति लिखी थी। मध्यहृदय कारिका, मध्यमार्गसंग्रह और हस्तरत्न भी उन्हीं के ग्रन्थ हैं। चन्द्रकीर्ति ने प्रसन्नपदा नामक माध्यमिककारिका की टीका लिखी थी। चतुः शतकवृत्ति और माध्यमिकावतार भी उन्हीं के ग्रन्थ हैं। शान्तिदेव के बोधिचर्यावतार और शिक्षासमुच्चय नामक प्रसिद्ध हैं। भाव्य (भावविवेक) ग्रन्थों के केवल तिब्वती अनुवाद ही मिले हैं[1]।

इस प्रकार महायान के विशाल साहित्य का संक्षेप में परिचय प्रस्तुत किया गया है। इसका पूर्ण परिचय प्रत्येक ग्रन्थ में वर्णित विषय आदि की विस्तृत व्याख्या से सम्भव है। किन्तु इस ग्रन्थ का विषयातिरेक होगा। अतः हमें अपने निर्दिष्ट विषय पर ही प्रकाश डालना सापेक्ष्य है।

महायान के दोनों दार्शनिक निकायों ने समयानुसार प्रौढ़ता प्राप्त की और अनेक आचार्यो एवं तत्सम्बन्धी सिद्धान्त प्रतिपादक उनकी कृतियों ने इन्हे और भी दृढ़ बना दिया। माध्यमिक और योगाचार दोनों ही दार्शनिक परम्परायें चल पड़ीं और इन्होंने विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के नाम से तत्कालीन दार्शनिकों एवं जन-समाज को अपनी ओर आकृष्ट किया। इन दार्शनिक निकायों के सिद्धान्तों का प्रभाव न केवल भारत में ही प्रत्युत तिब्वत, चीन, जापान, आदि देशों पर भी पड़ा। इनके सिद्धान्त गम्भीर होते हुए भी बौद्धों के लिए सहज, बोधगम्य तथा परम्परागत श्रद्धाभक्ति एवं भावना के अनुरूप थे। हम यहाँ विज्ञानवाद तथा शून्यवाद के दार्शनिक पक्ष पर संक्षेप में प्रकाश डालेंगे।

बौद्धधर्म में विज्ञान, मन, चित्त, आत्मा ये सब पर्यायवाची शब्द हैं। सतत प्रवाहमान चित्त-सन्तति के ही ये द्योतक हैं। विज्ञानवाद में इसी विज्ञान को प्रधानता दी गयी है। यद्यपि क्षणिकवाद, नैरात्म्यवाद और शून्यता के भी तत्त्व इसमें समन्वित हैं, किन्तु विज्ञानवाद की ही प्रधानता है। विज्ञानवाद मानता है कि जो कुछ भी यह जगत् है, सब चित्तमय है[2]। सम्पूर्ण जगत् विज्ञान का परिणाम है, मनोमय है। ज्ञान और ज्ञेय भिन्न नहीं हैं। आध्यात्म में जो ज्ञेय रूप विद्यमान है, वही बाह्य में प्रगट होता है। तात्पर्य यह कि व्यक्ति के भीतर प्रवर्तित विज्ञान का ही प्रत्यक्ष होता है, वाह्य वस्तुओं की कोई भिन्न स्थिति नहीं है। किसी वाह्य वस्तु के कारण विज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती, प्रत्युत एक विज्ञान से ही दूसरा विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान भी क्षणिक है, अतः एक क्षणिक विज्ञान से दूसरे क्षणिक विज्ञान की उत्पत्ति होती है, अर्थात् एक क्षणिक विज्ञान के निरोध के समानान्तर ही दूसरा विज्ञान उत्पन्न हो जाता है और उत्पत्ति तथा लय का यह क्रम सतत प्रवर्तित होता रहता है। विज्ञान के अतिरिक्त इस भौतिक काय में कोई दूसरी बाह्य वस्तु या सत्ता नहीं है। अपरिवर्तनशील, नित्य, कूटस्थ आदि स्वरूप वाली आत्मा के लिए कोई स्थान नहीं है। लंकावतार सूत्र में इस तथ्य को बतलाते हुये कहा गया है—"चित्त ही प्रवर्तित होता है, चित्त ही विमुक्त होता है, चित्त ही उत्पन्न होता है, चित्त ही निरुद्ध होता है, अन्य कोई भी पदार्थ चित्त के अतिरिक्त विद्यमान

---

१. बौद्धधर्म-दर्शन, पृष्ठ १७०।

२. चित्तमात्रं भो जिनपुत्र यदुत त्रैधातुकम्—दशभूमिश्वरसूत्र।

नहीं हैं[1]। ऐसे ही योगाचार भूमि में कहा गया है—"आध्यात्मिक शून्य है, बाह्य भी शून्य है, ऐसा कोई भी नहीं है जो शून्यता को अनुभव करता हो। सारे संस्कार क्षणिक हैं। उन्हें न तो कोई दूसरा उत्पन्न करता है और न वे स्वयं उत्पन्न होते हैं। प्रत्यय (कारण) होने पर ही नवीन पदार्थों का जन्म होता है। यदि प्रत्यय न हो तो इनकी उत्पत्ति ही न हो। उत्पन्न होनेवाले पदार्थों का स्वभाव भी क्षणिक है। रूप, वेदना, संज्ञा संस्कार और विज्ञान केवल माया, तत्वरहित, निस्सार हैं, इनके होने का भ्रममात्र है[2]। उनकी मिथ्या प्रतीति होती है। व्यवहारमात्र के लिए उनकी प्रज्ञप्ति है, वस्तुतः विज्ञान के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। जैसे किसी अन्धे को सुलोचन, मूर्ख को पण्डित, गँवार को गधा कहा जाय तो इन प्रयोगों को व्यवहारिक ही कहा जा सकता है, उसी प्रकार आत्मा और अपने से पृथक् वाह्य व्यवहार मात्र हैं, विज्ञान के अतिरिक्त वस्तुतः वे दोनों ही नहीं हैं। विज्ञान-समष्टि को ही आलयविज्ञान कहते हैं। इसी आलयविज्ञान से संसार की उत्पत्ति हुई है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि विज्ञानवाद ने अनित्यता, प्रतीत्य समुत्पाद, अनीश्वरवाद और नैरात्म्यवाद को मानते हुए विज्ञान की प्रधानता मानी है, इसीलिए योगाचार निकाय का विज्ञानवादी निकाय नाम ही पड़ गया।

शून्यवाद में प्रतीत्यसमुत्पाद को ही शून्यता माना गया है। प्रतीत्यसमुत्पाद से ही जगत् की उत्पत्ति होती है, जो इसे समझता है, वही चार आर्यसत्यों को जान सकता है और वही यह जानेगा कि सभी भौतिक तथा मानसिक पदार्थ कल्पित हैं। वे मृगमरीचिका, आकाश, बन्ध्या-पुत्र के समान तत्वतः शून्य हैं। वासना का ही यह लोक है जो अद्वय, वितथ और शून्य होता हुआ भी आलातचक्र की भांति गतिशील दृष्टिगत होता है[3]। शून्य ही परमतत्व है उसका बोध शब्द या प्रमाण से नहीं हो सकता। वह न भाव है, न अभाव, इन दोनों का संघात और न विघात। वह एक अव्यक्त अवस्था है[4]। इसके महात्म्य को बतलाते हुए आचार्य नागार्जुन ने कहा—"जो इस शून्यता को समझता है, वह सभी अर्थों को समझ सकता है और जो शून्यता को नहीं समझता, वह कुछ भी नहीं समझ सकता[5]।" इस वाद का प्रधान सिद्धान्त यह है कि कार्यकारण से ही सभी वस्तुएँ उत्पन्न होती हैं। वे हेतु-प्रत्यय पर ही अन्योन्याश्रित हैं। जो कार्य-कारण से होती है, जिस कार्य-कारण से स्थिति है और जो कार्य-

---

१. चित्तं प्रवर्तते चित्तं चित्तमत्र विमुच्यते।
चित्तं हि जायते नान्यच्चित्तनेव निरुध्यते।
—लंकावतारसूत्र गाथा १४५।

२. योगाचारभूमि (चिन्तामयी), दर्शनदिग्दर्शन, पृष्ठ ७१८।

३. लंकावतारसूत्र।

४. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, प्रथमभाग, पृष्ठ ६८०।

५. प्रभवति च शून्यतेयं यस्य प्रभवन्ति तस्य सर्वार्थाः।
प्रभवति न तस्य किंचित् न भवति शून्यता यस्य।
—माध्यमिक कारिका ७१।

कारण से ही नष्ट होता है उसकी परमार्थ सत्ता सम्भव नहीं, अतः वह सत्-असत् दोनों नहीं है। माध्यमिक कारिका में कहा गया है—'कारक है', इसे तो कर्म के प्रत्यय से ही कहा जाता है, 'कर्म है', इसे भी कारक के प्रत्यय से ही कहा जाता है। इसे छोड़ सत्ता की सिद्धि के लिए दूसरा कोई कारण नहीं है[1]।" इस प्रकार कर्म और कर्ता अन्योन्याश्रित है। तात्पर्य यह कि पृथक्-पृथक् दोनों में से किसी का भी अस्तित्व नहीं है। इसे ललितविस्तर में इस प्रकार समझाया गया है—बीज होने पर अंकुर होता है, किन्तु बीज को ही अंकुर नहीं कहा जा सकता और बीज से पृथक् उससे भिन्न भी अंकुर नहीं है, अतः बीज शाश्वत, स्थिर, या नित्य नहीं है, क्योंकि उसमें परिवर्तन देखा जाता है। वह उच्छिन्न या नष्ट भी नहीं होता, क्योंकि अंकुर बीज ही का रूपान्तर है[2]। इस प्रकार न कोई शाश्वत है और न किसी उच्छेद होता है। शून्यवाद सत्ता का निषेध करता और लोक को शून्य मानकर वासनामय जगत् से मुक्ति का आकांक्षी है। शून्यवाद का यही मन्तव्य है। विग्रहव्यावर्तनी में *नागार्जुन* ने शून्यवादी भगवान् बुद्ध को ही प्रणामकर ग्रन्थ को समाप्त किया है—

"यः शून्यतां प्रतीत्यसमुत्पादं मध्यमां प्रध्यमां प्रतिपदमनेकार्थां।
निजगाद प्रणमामि तमप्रतिमसम्बुद्धम्[3]।"

अर्थात् जिसने शून्यता प्रतीत्य-समुत्पाद और अनेक अर्थोवाली मध्यमा प्रतिपदा को कहा, उस अप्रतिम बुद्ध को प्रणाम करता हूँ[4]।

शून्यवाद के ऐसे वर्णन करने के साथ ही नागार्जुन ने यह भी कहा है कि भगवान् बुद्ध ने आत्मवाद, अनात्मवाद और न आत्मवाद, न अनात्मवाद भी सिखलाये हैं। प्रतीत्य-समुत्पाद भी शून्य में ही अन्तर्निहित हो जाता है। इस प्रकार शून्यता-दर्शन सापेक्षतावाद के रूप में स्पष्ट होता है। अतः शून्यवाद का सार इतना ही है कि पदार्थ प्रतीत्य समुत्पन्न होने के कारण सापेक्ष सत् हैं, निरपेक्ष सत् नहीं। निरपेक्ष सत्ता के न मानने का नाम ही शून्यवाद है[5]।

---

१. माध्यमिक कारिका ६२।
२. ललितविस्तर, पृष्ठ २१०।
३. विग्रहव्यावर्तनी ७२।
४. दर्शन-दिग्दर्शन' पृष्ठ ५७१।
५. महायान, पृष्ठ ११५।

दूसरा अध्याय

सन्तमत के स्रोत और बौद्धधर्म

महायान का विकास

बहुजन कल्याणकारी बौद्धधर्म के महायान सम्प्रदाय का उद्भव जिन कारणों से हुआ था, उनमें बौद्धधर्म को और भी लोकपरक बनाने की भावना निहित थी। भगवान् बुद्ध ने स्वातंत्र्य चिन्तन का उपदेश दिया था[1] और उनके इस उपदेश का प्रभाव उनके श्रावकों पर पड़ना स्वाभाविक ही था। उन्होंने यहाँ तक कहा था—"परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यम् भिक्षवो न तु गौरवात्[2]" अर्थात् भिक्षुओ, तुम्हें मेरे कथन की परीक्षा करके ही उसे ग्रहण करना चाहिये, केवल मेरे गौरव करने के भाव से ग्रहण नहीं करना चाहिए। इस प्रकार के तथागत-प्रवचन का प्रभाव यह हुआ कि भिक्षुओं मे स्वतंत्र चिन्तन की भावना उत्पन्न हुई और तथागत के महापरिनिर्वाण के उपरान्त ही कुछ सौ वर्षों में अनेक प्रकार की नवीन बातें भिक्षुसंघ में दृष्टिगत होने लगीं। इन्हीं के कारण संगीतियों का आयोजन हुआ था और इन्हीं के कारण नये भिक्षुनिकायों का जन्म भी। इन निकायों में महासांघिक बहुत प्रबल थे। हम कह आये हैं कि आगे चलकर पहली शताब्दी ईस्वी में अर्थात् तथागत के महापरिनिर्वाण के लगभग ४०० वर्षों के उपरान्त महासांघिकों से महायान का उदय हुआ। इसके विकसित होने में कई शताब्दियाँ लगी थीं। इसके विकास के मूल में सामाजिक तथा धर्मसम्बन्धी समयानुकूल आवश्यकताओं की पूर्ति, प्रधान कारण था। भिक्षुओं के सतत चिन्तन, देश, धर्म एवं राजनैतिक परिस्थितियों के अनुकूल चिन्तन की धारा नवीनरूप लेती गयी और उसी के अनुरूप बुद्ध, बौद्धधर्म तथा उसकी साधना भी अपने नवीन संस्कारों से प्रभावित होती गयी। जो भगवान् बुद्ध पहले केवल शास्ता, मार्गोपदेष्टा, धर्म-प्रवक्ता थे, वे महायान के विकास के साथ ही त्राता, मुक्तिदाता एवं उद्धारक बन गये। यह हम पहले कह आये हैं। अब पारमिताओं के प्रश्रय से बोधिसत्वों की भावना बढ़ी। इस बोधिसत्व की भावना के कारण अर्हत्व-प्राप्ति की इच्छा से अधिक, बुद्धत्व-प्राप्ति की अभिलाषा साधकों में दृढ़मूल हो गयी। वे जगत्-कल्याण के पश्चात् ही अपने कल्याण की दिशा मे चलने लगे। अब महायान में पूजा-भक्ति, गुरु-अर्चना आदि सम्मिलित हो गये और हीनयान कल्याणकारी होते हुए भी महायान के समक्ष 'हीन' दृष्टिगोचर होने लगा। दक्षिण भारत में प्रचलित भक्ति-भावना ने जोर पकड़ा और पूरे उत्तर भारत में उसका समादर हुआ, फलतः महायान के लिए मार्ग प्रशस्त होता गया। इसकी शिक्षाएँ जनता के लिए कल्याणकारी प्रतीत हुईं, जिनसे समाज महायान धर्म अंगीकार करता गया। महायान की जहाँ अनेक विशेषताएँ थीं, उनमें ये सात

---

१. अंगुत्तरनिकाय, कालामसुत्त, हिन्दी अनुवाद, भाग १, पृष्ठ १९१–१९७।

२. तत्वसंग्रह टीका, पृष्ठ १२ पर [illegible] में उद्धृत।

प्रमुख थीं—(१) महायान महान् और विशाल है, क्योंकि उसमें सम्पूर्ण जीव-जगत् के कल्याण की भावना है। (२) महायान में तो सारे जीवों के त्राण का साधन है। (३) महायान का लक्षण बोधि-प्राप्ति है। (४) महायान का आदर्श बोधिसत्व है जो प्राणियों के कल्याणार्थ सदा प्रयत्नशील रहता है। (५) महायान में भगवान् बुद्ध ने उपाय-कौशल्य से प्राणियों के अनुकूल नाना प्रकार का उपदेश दिया, किन्तु उनके सभी उपदेश परमार्थतः एक हैं। (६) बोधिसत्व की दस भूमियों का महायान में विधान है। (७) महायान के अनुसार भगवान् बुद्ध सभी प्राणियों की आवश्यकताओं को पूर्ण करते हैं[1]। महायान की इन विशेषताओं के ही कारण अनेक बोधिसत्वों, बुद्धों, देवी-देवताओं की कल्पना हुई और करुणामय बोधिसत्व अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि का प्रादुर्भाव हुआ। अवलोकितेश्वर की प्रार्थना में लोक-कल्याण की कैसी करुणाप्रेरित भावना है! वे लोकहित के लिए प्रार्थना करते हुए कहते हैं—"मैं करबद्ध सभी दिशा के सम्बुद्धों से प्रार्थना करता हूँ कि जो प्राणी ममता के कारण सांसारिक दुःख में पड़े हैं उनके लिये धर्म के दीपक को प्रज्वलित करें। मैं उन सभी आत्म-निग्रहीबुद्धों से आग्रह करता हूँ कि जो महापरिनिर्वाण प्राप्त करने के लिए प्रस्तुत हैं, वे असंख्य युगों तक रुके रहें, जिससे कि यह संसार अन्धकार से आवृत न हो जाय। मैंने अपनी साधना से जितने भी पुण्य प्राप्त किये हैं उनसे सभी प्राणियों के दुःख शान्त हों[2]।" अब महायान वैयक्तिक साधना का आधार न होकर लोक-हित-साधक साधना का स्वरूप ग्रहण कर लिया। उसका दर्शन पक्ष भी विकसित हुआ और बौद्धधर्म चार दार्शनिक निकायों में प्रचलित हुआ। इनमें सौत्रान्तिक और वैभाषिक हीनयान के थे तथा विज्ञानवाद एवं शून्यवाद महायान के। महायानी दर्शन-पक्ष का बहुत प्रचार हुआ, क्योंकि उसमें लोक-भावना के अनुरूप बौद्ध-दर्शन का प्रतिपादन था। इन चारों निकायों की उत्पत्ति के साथ ही बौद्धधर्म में नये विकास का सृजन प्रारम्भ हुआ, जो चौथी शताब्दी ईस्वी तक बहुत प्रबल हो गया। इनमें महायान के निकायों के विकास से जन-मानस ऐसा प्रभावित हुआ कि हीनयानी आचार्य तक महायानी कहलाने का गौरव प्राप्त करने के इच्छुक हो गये। महायान का यह विकास-क्रम आठवीं-नौवीं शताब्दी तक चलता रहा और उसके पश्चात् भी उसका क्रम अवरुद्ध नहीं हुआ, किन्तु ज्यों-ज्यों वह विकसित होता गया, बुद्ध की मूल शिक्षाओं से दूर हटता गया और आचार्यो की लोकहित-साधक भावना से प्रेरित होकर प्रचारित साधना ही उसके पास जनसमाज के लिए थाती रह गयी।

बौद्धधर्म में तान्त्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश

प्रारम्भिक बौद्धधर्म शुद्ध आचरण, चिन्तन और ज्ञान पर अवलम्बित था। शील उसका मूल आधार था, वह समाधि एवं प्रज्ञा-भावना से संवर्द्धित था[3]। उसमे मिथ्याजीव, मिथ्याकर्मान्त आदि का निषेध था। लोक-कल्याण की भावना से भी तन्त्र-मन्त्र, जादू-टोना,

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीयदर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६२।

२. सेकोद्देश टीका पृष्ठ ४८/१, २, ३/तथा सिद्धसाहित्य पृष्ठ १०१।

३. विशुद्धिमार्ग, प्रथम भाग, पृष्ठ २–७।

इन्द्रजाल आदि बातों का करना श्रमणशील के विपरीत थे[१]। फिर भी हमे स्थविरवाद के पालि त्रिपिटक में भी इन तथ्यों के बीज दृष्टिगत होते हैं। कुछ विद्वानों का मत है कि ये स्थल पीछे के हैं और प्रतिस्पर्द्धा में लिखे गये हैं[२], किन्तु यदि आटानाटीय[३], महासमय[४] आदि देवी-देवता, मन्त्र-परक एवं चमत्कार पूर्ण बातों से समन्वित सूत्रों को प्रक्षिप्त मान भी लें तो भी यह मानने में किसी प्रकार की आपत्ति न होगी कि बौद्धधर्म में परिशुद्ध ब्रह्मचर्य के निर्वाह एवं लोक-कल्याण की भावना से समंगीकृत करणीयमेत्त[५], रतन[६], महामंगल[७], खन्ध[८] आदि अनेक ऐसे सूत्र तथागत द्वारा उपदिष्ट थे, जिनके पाठ से भूत-प्रेतों से त्राण पाया जा सकता था। लिच्छवियों की राजधानी वैशाली में रतनसुत्त का पाठ इसका ज्वलन्त प्रमाण है। हम दीघनिकाय के कतिपय सूत्रों में यह भी पाते हैं कि भगवान् बुद्ध से पूर्व भी तन्त्र-मन्त्र, भूत-प्रेत, जादू-टोना की बातें जन-समाज मे विद्यमान थीं, जिन्हें तथागत ने भिक्षु-जीवन की सफलता के लिए बाधक बताते हुए निन्दितकर्म की संज्ञा दी थी[९]। हम यह भी देखते हैं कि यमक प्रातिहार्य[१०], ऋद्धि प्रदर्शन[११] आदि चमत्कारिक एवं अलौकिक बातें भी विद्यमान थीं। यद्यपि तथागत ने ऋद्धि प्रदर्शन के लिए भिक्षुओं को मना कर दिया था[१२]। ऋद्धिप्रातिहार्य, आदेशानाप्रातिहार्य तथा अनुशासनीप्रातिहार्य को तथागत जानते थे और भिक्षुओं को बतलाया भी था, किन्तु उनका कथन था—"ऋद्धिबल को दिखलाने में मैं दोष को देखकर हिचकता हूँ, संकोच करता हूँ और उससे घृणा करता हूँ[१३]।" क्योंकि गांधारी, चिन्तामणि आदि विद्याओं को जानकर भी प्रदर्शन कर सकते हैं[१४]। आगे चलकर जब महायान का उदय हुआ और वह अपने विकास की दिशा में बढ़ने लगा, तब ये उक्त बातें धीरे-धीरे अलौकिल चमत्कार की भाँति प्रस्फुटित हो गयीं। भगवान् बुद्ध को भी अलौकिक मान लिया गया[१५] और यह कहा गया कि वे इस लोक में आये ही नहीं थे[१६]। यहाँ जन्म, धर्मोपदेश, परनिर्वाण आदि की लीलायें तो निर्मित बुद्ध की थी[१७], यह तथागत का उपायकौशल्य था, वास्तव मे भगवान् बुद्ध ऐतिहासिक न होकर अनैतिहासिक थे[१८]। चौथी शताब्दी ईस्वी के आसपास इन अलौकिक बातो एवं मंत्रों से युक्त ग्रन्थों की

---

१. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त १, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १–१५।
२. महापण्डित राहुल सांकृत्यायन, पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १३६।
३. दीघनिकाय ३, ९।
४. दीघनिकाय २, ७।
५. सुत्तनिपात १, ८।
६. वही, २, १।
७. सुत्तनिपात २, ४।
८. संयुत्तनिकाय, विनयपिटक आदि में।
९. दीघनिकाय, ब्रह्मजालसुत्त १, १ तथा सामञ्ञफलसुत्त १, २।
१०. बुद्धचर्या, पृष्ठ ८१।
११. विनयपिटक, पृष्ठ ८९–९५।
१२. दीघिनकाय, केवट्टसुत्त १, ११।
१३. दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद पृष्ठ ७८, ७९।
१४. वही, पृठ ७९।
१५. वही ४, १८, १।
१६. कथावत्थु ५, २१ ७।
१७. वही, ४, १८, १।
१८. वही, ४, १८, २।

रचनाएँ हुई। इस कार्य में महायान के वैपुल्यवादी सबसे आगे रहे[१]। उन्होंने लम्बे-लम्बे सूत्रों के स्थान पर छोटे-छोटे सूत्रों की रचना की। अब मंत्र भी धारणी के रूप में बनने लगे और इस प्रकार के मंत्रों के सृजन हो गये—"ओं मुने-मुने महामुने स्वाहा", "ओं आ हुँ", 'ओं तारे तुत्तारे तुरे स्वाहा'[१]। 'ओं' शब्द का बौद्धधर्म में प्रवेश इसी काल में हुआ। अब 'स्वाहा' और 'ओं' शब्दों के योग से जिस भी मंत्र की रचना हो सकती थी। इस प्रकार महायान बौद्धधर्म में दो प्रकार की प्रवृत्तियाँ उत्पन्न हो गयीं—एक तो वह जो पारमिता धर्मों की पूर्ति से लोक-कल्याण की भावना से प्रेरित थी और दूसरी मंत्रों के बल से जगत्-कल्याण की कामना रखती थी। दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा पारमिताओं की पूर्ति से कोई भी व्यक्ति बुद्ध हो सकता है और वह इस अभ्यास-काल में बोधिसत्व है। इस साधना से ही उसमें बोधिचित्त उत्पन्न होता है और फिर वह प्रमुदिता, विमला, प्रभाकारी, अर्चिस्मती, सुदुर्जया, अभिमुखी, दूरंगमा, अचला साधुमती और मेधमयी—इन दस बोधिसत्व की भूमियों को प्राप्त कर लेता है। इसकी पूर्णता के उपरान्त वह साधक सम्बोधि को प्राप्त कर लेता है[२]। उधर मंत्र प्रणाली में पारमिता-शास्त्र को लघुरूप दिया गया। शतसाहस्रिका, दश साहस्रिका, अष्टसाहस्रिका, शतश्लोकी और यहाँ तक कि एक हृदयसूत्र के रूप में परिवर्तित हो गयी। उन मंत्रों के साथ मैत्रेय, वैरोचन, अक्षोभ्य आदि ध्यानी बुद्धों के नाम जुट गये। मंत्र-साधना के लिए मंत्र-तंत्र के भी विधान बन गये। इस प्रकार मंत्रयान के कारण बौद्धर्म में तांत्रिक प्रवृत्तियों का प्रवेश हुआ। इसी समय अवलोकितेश्वर, मंजुश्री आदि बोधिसत्वों के नाम पर भैरवीचक्र, स्त्री-सम्भोग आदि का भी प्रवेश हो गया। अब मंत्र, हठयोग और मैथुन ये तीन बौद्धधर्म में प्रधानरूप से प्रतिष्ठित हो गये[३]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इस मंत्रयान का काल-विभाजन इस प्रकार किया है[४]—मंत्रयान (नरम) ई० ४००-७०० और (२) वज्रयान (गरम) ई० ८००-१२००। इन यानों ने भगवान् बुद्ध को ही मंत्रों का उपदेष्टा मान लिया और तंत्राचार्यों द्वारा प्रतिपादित ग्रन्थों द्वारा तंत्रमार्ग को भगवान् बुद्ध द्वारा सम्मत सिद्ध कर दिया गया[५]। जिस प्रकार लंका, वर्मा, थाईलैंड-आदि स्थविरवादी बौद्धदेशों में आज भी त्रिपिटक के कुछ रक्षात्मक-भाव वाले रतन, मेत्त, महामङ्गल आदि सूत्रों को परित्राण पाठ नाम से पुकारा जाता है और उनके पाठसे अशुभ बातों, भूत-प्रेतों आदि से रक्षा होने की भावना प्रचलित है, उसी प्रकार महायान में सूत्रों को 'धारणी' रूप में कर लिया गया। धारणियों का रूप लघु होता था और इनका प्रयोजन मानव-रक्षा करना था। 'धारणी' शब्द का अर्थ रक्षा ही होता है। इन धारणियों में बुद्ध, बोधिसत्व और देवियों (ताराओं) की प्रार्थना होती है। जैसे स्थविरवादी रतन, मंगल सूत्रों में व्यक्त बुद्धगुणों तथा सदाचारों की दुहाई एवं सत्यवचन के प्रताप से रोग के शमन की कामना करते हैं, उसी प्रकार इन धारणियों के पाठ से रोग-नाश होता है, अनावृष्टि दूर होती है, व्यक्ति के अशुभ दिन शुभ हो जाते है, उसका मंगल होता

---

१. पुरातत्वनिवन्धावली, पृष्ठ १३७।

२. वही, पृष्ठ १३७।

३. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १११।

४. बौद्ध-दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ५६४।

है और वह वृद्धि-वैपुल्य को प्राप्त होता है। सम्प्रति नेपाल में महाप्रतिसार, महासहस्रमर्दिनी, महामयूरी, महाशीतकर्ता और महारक्षामन्त्रानुसारिणी ये पाँच धारणियाँ 'पंचरक्षा' नाम से प्रचलित हैं[1]। मंत्रयान के कारण ही इन धारणी-सूत्रों की रचनाएँ हुई। ये मंत्रपद के सदृश थे। इन्हीं के सहारे निर्वाण की भी प्राप्ति हो सकती थी। इन मंत्रों में गुह्यशक्ति मानी जाती थी। तथागतगुह्यक ग्रन्थ तंत्र का प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है जिसे अनुत्तर योगतंत्र कहते हैं। इसमें प्रधानतः योगसिद्धि की पाँच भूमियों का वर्णन है, जिन्हें मंडल, यंत्र, मंत्र और देवपूजन से प्राप्त किया का सकता है[2]। मंजुश्री मूलकल्प भी मंत्रयान का ही ग्रन्थ है। इसमें बतलाया गया है कि तथागत ने मंजुश्री को मंत्र, मुद्रा, मण्डल आदि का उपदेश दिया था। 'एकल्लवीरचण्डमहारोषण तंत्र' में प्रतीत्यसमुत्पाद की देशना के साथ योगिनियों की साधनाएँ भी हैं। 'श्रीचक्रसम्भार तंत्र' में मंत्र, ध्यान आदि का निरूपण है और उनकी प्रतीतात्मक व्याख्या भी है[3]।

मन्त्रयान ने अल्पाक्षर धारणी की रचना मे मन्त्रों के बीजाक्षरों का अत्यधिक प्रयोग किया गया और धारणी ने ही लघुमन्त्रों का रूप धारण कर लिया। अनेक बीजाक्षरोंकी कल्पना की गयी। वैरोचन का 'अ', अक्षोभ्य' का 'य', रत्नसम्भव का 'र', अमिताभ का 'भ', अमोघसिद्धि का 'ल' बीजाक्षर था[4]। इन मन्त्रों मे देवताओं की कल्पना से ऐसा माना जाने लगा कि अक्षरों मे सदा दैवशक्ति होती है, वे कभी नष्ट नहीं होते है, इस प्रकार तन्त्रों में शब्द-ब्रह्म की कल्पना मिलती है, जिससे यह माना जाता है कि मनुष्यों तथा देवों तक की सृष्टि हुई है[5]।

मन्त्रों के उपयोग हेतु यन्त्र, कवच आदि भी प्रचलित हुए। इन मन्त्रों को धातु, ताड़-पत्र या भोजपत्र पर लिखा जाता था। इसी समय मुद्रा की भावना भी विकसित हुई, जिससे अंगुलियों की मुद्राओं की साधना से समाधि को प्राप्त किया जा सकता था। पीछे ये मुद्रायें महामुद्रा प्रज्ञा तथा उनकी शक्ति नारी के रूप में मानी जाने लगीं, जिनके समागम से सिद्धि की प्राप्ति बतलाई गई। इन मुद्राओं में अवलोकितेश्वर द्वारा पद्म, शंख, वज्र आदि को धारण करनेवाली अंगुलियों को मुद्राएँ सम्मिलित थीं[6]। बौद्धधर्म में पाँच स्कन्ध माने जाते हैं—रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान। ये पञ्चस्कन्ध आत्मा या आत्मीय से शून्य माने जाते हैं। महायान के शून्यवाद में इनकी व्याख्या सापेक्ष्यवाद के ढंग पर की गयी थी। वही मन्त्र-तन्त्र में उलझ कर शून्य धर्मों के निराकार रूप को छोड़कर पाँच ध्यानी बुद्धों के रूप मे विकसित हो गयीं। क्रमशः ये ध्यानी बुद्ध थे—वैरोचन, रत्नसम्भव, अमिताभ, अमोघसिद्धि और अक्षोभ्य। इनकी पाँच शक्तियाँ भी मानी गयीं, जिन्हें इनकी पत्नियाँ भी कहा जाता है। ये थीं—मोहरति, ईर्ष्यारति, रागरति, वज्ररति और द्वेषरति। इनका जन्म पाँच कुलों से माना गया—मोह, ईर्ष्या, राग, वज्र तथा द्वेष। इनके रूप-रंग, चिह्न, वर्ण अक्षर, भूत आदि भी

---

१. बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १७६।
२. वही, पृष्ठ १७७।
३. वही, पृष्ठ १७८।
४. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १३९।
५. बौद्धधर्म दर्शन, पृष्ठ १३९।
६. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १३९।

कल्पित हुए[१]। इन बुद्धों की मूर्तियाँ भी शक्तियों के साथ निर्मित होने लगीं। मन्त्रयान में यह वज्रयान का परिलक्षित स्वरूप था। इस प्रकार हमने देखा कि महायानी बौद्धधर्म दक्षिण के पर्वत (धान्यकटक) के सिद्धों से प्रभावित होकर उनके द्वारा प्रचारित धारणियों, मन्त्रों, तन्त्रों को ही अंगीकृत कर पूर्ण तान्त्रिक हो गया। हम कह चुके हैं कि श्रीपर्वत से ही महायान का श्रीगणेश हुआ था। आचार्य नागार्जुन का वही वासस्थान था, अतः पीछे भी वही केन्द्र बना रहा और वहीं से सम्पूर्ण भारत में तान्त्रिकता फैली। भिक्षु तथा साधक बौद्धधर्म के सदाचार से दूर हटते हुए इन तान्त्रिक-प्रवृत्तियों में भी पड़कर सुख-प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील रहने लगे। इसकी परिसमाप्ति भी यहीं नहीं हुई। यह धीरे-धीरे घोर वज्रयान के रूप में परिवर्तित हो गया और तन्त्रयान ने वज्रयान का स्वरूप ग्रहण कर लिया।

वज्रयान का अभ्युदय

वज्रयान का अभ्युदय भी दक्षिण में श्रीपर्वत पर ही हुआ था। वज्रयानी ग्रन्थों में उसे वज्रपर्वत भी कहा गया है[२]। तिब्बती ग्रन्थों में कहा गया है कि तथागत ने सर्वप्रथम ऋषिपतन में श्रावकधर्मचक्र का प्रवर्तन किया, गृध्रकूट पर्वत पर महायान धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और धान्यकटक मे मन्त्रयान का धर्मचक्र प्रवर्तन किया[३]। किन्तु मंजुश्री मूलकल्प में श्रीपर्वत पर ही धान्यकटक को बतलाया गया है और यह भी कहा गया है कि वहीं तन्त्रमन्त्र की सिद्धि शीघ्र होती है[४]। अतः वज्रपर्वत तथा श्रीपर्वत एक ही स्थान का नाम सिद्ध होता है। तात्पर्य यह कि तन्त्र-मन्त्रों की उद्भव भूमि ही वज्रयान की जन्मभूमि थी। वास्तव मे वज्रयान अकस्मात् कहीं दूसरे स्थान या साधना-भूमि से उत्पन्न नहीं हुआ था, प्रत्युत यह तन्त्रयान का ही परवर्ती रूप था। तन्त्रयान की सभी प्रवृत्तियाँ तो इसमें थीं ही, कुछ अन्य बातें भी आ जुटीं, जिनका हम अभी वर्णन करेंगे।

'वज्र' शब्द के अनेक अर्थ होते हैं, किन्तु यहाँ वज्र का अर्थ शून्यता से लिया गया है। नैरात्म्य दर्शन ही शून्य स्वभाव होने के कारण वज्रयान नाम से अभिहित हुआ, किन्तु यह नैरात्म्यदर्शन अथवा शून्यवाद नागार्जुन के शून्यवाद से बहुत आगे बढ़ चुका था। इसमें अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्त करने का प्रधान मार्ग वज्र-साधना को ही बतलाया गया[५]। तथागत का भी वज्री नाम हो गया[६]। यही नहीं, वज्रसत्व, वज्रस्वभाव, वज्रज्ञान, वज्रयोग, वज्रवर्ण, वज्रवाराही, वज्ररूपिणी, वज्रमोहिनी आदि देवी-देवताओं की कल्पना कर ली गयी और तिल, यव, आसन, ध्वज, पात्र, अक्षत, अंजलि, पंचामृत—ये सभी उनकी उपासना में

---

१. वही, पृष्ठ १४०।

२. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४२। ३. वही, पृष्ठ १४०।

४. श्रीपर्वते महाशैले दक्षिणापथसंज्ञिके, श्रीधान्यकटके चैत्ये जिनधातुधरे भुवि।
सिध्यन्ते तत्र मन्त्रा वै क्षिप्रं सर्वार्थकर्मसु ॥—मंजुश्रीमूलकल्प, पृष्ठ ८८।

५. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४१।

६. बोधिचर्यावतार २, ५३—'नमस्यामि वज्रिणं।' (उन वज्री को नमस्कार करता हूँ)।

वज्रसिक्त होने आवश्यक हो गये[1]। पाँचों ध्यानी बुद्धों की पंक्ति में वज्रसत्व नामक छठें बुद्ध भी प्रतिष्ठित हो गये। उनकी शक्ति प्रज्ञापारमिता बनी और अस्त्र बना अमोघवज्र। इस बुद्ध की भी मूर्ति शक्ति के साथ बनने लगी।

वज्रयान में मद्य, मन्त्र, हठयोग और स्त्री मुख्य रूप से सम्मिलित हो गये[2]। जो बौद्धधर्म सदाचार की भित्ति पर खड़ा हुआ था, शील पर प्रतिष्ठित था[3], पंचशील, अष्टशील आदि जिसके धर्मलक्षण थे, वही पवित्र एवं परिशुद्ध बौद्धधर्म वज्रयान के रूप में घोर विकृत हो गया। अब उसके लिए जीवहिंसा करना, झूठ बोलना, चोरी करना और व्यभिचार करना जघन्य कर्म न होकर सिद्ध-प्राप्ति का मार्ग हो गया और उसे सभी बुद्धों की धर्मदेशना बतलाकर घोर वाममार्ग का प्रचार किया गया[4]। व्यभिचार की भी कोई सीमा न रही, माता, बहिन तक का विचार इन वज्रयानी साधकों ने त्याग दिया[5]। ज्ञानसिद्धि नामक ग्रन्थकार ने तो यहाँतक विधान रचना कर दी कि समाहित योगी सभी गम्यागम्य बातों से विमुक्त होता है[6]।

वज्रयान में सिद्धि प्राप्त करने के लिए जहाँ अनेक देवी-देवताओं, बुद्धों आदि की कल्पना की गयी, वहीं शान्ति, वशीकरण स्तम्भन, विद्वेषण, उच्चाटन और मारण आदि छः अभिचारों का विधान बनाया गया। एक ओर वज्रसिद्धि से अनुत्तर सम्यक् सम्बोधि प्राप्ति का लक्ष्य था, तो दूसरी ओर महान् असामाजिक, दुच्छील एवं उच्छृङ्खल अनैतिक बातें मुख्य रूप से सम्मिलित हो गयीं। महायान की लोकोपकारी भावना का वज्रयान ने विनाश-सा कर दिया। कहाँ करुणा-प्रेरित होकर जगत्-उद्धार के संकल्प और कहाँ यह अनैतिक आचरण! वह भी सम्यक् सम्बुद्ध के पवित्र धर्म के नाम पर! इतना कह दें कि ये सभी वामपन्थी बातें यौगिक चमत्कारों की सिद्धि की सहायक मानकर उनके अंग स्वरूप विभिन्न नामों से अभिहित हुई, जैसा कि पहले कहा गया है। अब वज्रयान ने विमुक्तिगामी न होकर प्रवृत्तिगामी रूप धारण कर लिया।

वज्रयान में साधक की अवस्था के अनुसार इसके चार तन्त्र थे—क्रियातन्त्र, चर्यातन्त्र, योगतन्त्र और अनुत्तरतन्त्र[7]। योगतन्त्र के भी तीन भेद हैं—महायोगतन्त्रयान, अनुत्तरयोग-

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४१। २. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४३।

३. सीले पतिट्ठाय नरो सपञ्ञो—विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १।

४. पाणिनश्च त्वया घात्या वक्तव्यं च मृषा वचः।
अदत्तं च त्वया ग्राह्यं सेवनं योषितामपि॥
अनेन वज्रमार्गेण वज्रसत्वान् प्रचोदयेत्।
एषो हि सर्वबुद्धानां समयः परमशाश्वतः॥ —गुह्यसमाजतन्त्र, पृष्ठ १२०।

५. जनयित्रीं स्वसारं च स्वपुत्रीं भागिनेयिकाम्।
कामयन् तत्वयोगेन लघु सिध्येद्धि साधकः॥ —वही, पृष्ठ २५।

६. [illegible] पेयापेयविवर्जितः।
गम्यागम्यविनिर्मुक्तो भवेद् योगी समाहितः॥ १८३॥

७. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४६।

तन्त्रयान और अतियोगतन्त्रयान। इन तन्त्रों में पूर्व चार के ही विस्तृत विधान वज्रयानी ग्रन्थों में उपलब्ध हैं। देह, गुरु का महत्व, मन्त्र, तन्त्र, हठयोग, जाति-पाँति का त्याग, मैथुन, गुह्यसाधनाएं, सिद्धियाँ, मण्डल, चक्रादि, अनुष्ठान आदि का इनमें परियोग है। क्रियातन्त्र में प्रारम्भिक साधना है, जिसे आदिकर्मिक की साधना कहा जाता है। चर्यातन्त्र पारमिताओं की पूर्ति हेतु दान, शील, क्षान्ति, वीर्य, ध्यान तथा प्रज्ञा की पूर्णता है। योगतन्त्र हठयोग की सिद्धि प्राप्त करनी है। यौगिक क्रियाओं द्वारा हठयोग का अभ्यास ही इसका प्रधान लक्ष्य है। अनुत्तरतन्त्र से अनुत्तरसिद्धि की प्राप्ति होती है। जब योगी इस सिद्धि को प्राप्त कर लेता है तब वह वज्रात्मक स्वभाव को प्राप्त हो सहज भाव में लीन हो जाता है, तब उसके लिए किसी भी प्रकार के आचार, गमनागमन आदि का बन्धन नहीं रह जाता[1]।

सारांश यह कि तान्त्रिक प्रवृत्तियों से ही वज्रयान का उदय हुआ और ये वज्रयानी घोर तान्त्रिकता में पड़कर बुद्ध की मूल शिक्षाओं से प्रायः दूर जा पड़े। ये अपने को अनुत्तर सिद्धि तथा सहज-भाव का ज्ञानी समझने लगे। इन्होंने सहज भावना पर बल दिया और अपनी गुह्यशक्तियों का प्रयोग लोक-उद्धार के लिए करने का संकल्प कर वज्र-साधना के मार्ग को अपनाया।

सहजयान

सहजयान वज्रयान का ही अन्तिम रूप है। कुछ विद्वानों का कहना है कि वज्रयान तथा सहजयान में बहुत अन्तर नहीं है, यह नाम भी ग्रन्थों में नहीं मिलता, यह पीछे का जोड़ा हुआ नाम है[2], किन्तु हम देखते हैं कि वज्रयान की सहजभावना ने ही सिद्धों की वाणियों में सहजसिद्धि का रूप धारण किया और सहजयान का प्रचार हुआ। इसमें भी हठयोग, मद्य, गुरु, मन्त्र, तन्त्र आदि वज्रयान की प्रवृत्तियाँ थीं। इसकी भावना में योगिनी का होना आवश्यक था, चाहे वह किसी भी जाति की क्यों न हो। योगिनियाँ प्रायः डोम, चमार आदि नीची जातियों की ही होती थीं। इनके सभी देवी-देवता, यहाँ तक कि बुद्ध भी युगबद्ध थे। इनकी मिथुनपरक भावना वज्रयान से भी आगे बढ़ गयी और ये लौकिक सुख से वंचित होकर साधना करना नहीं चाहते थे। पहले बौद्धधर्म में त्रिशरण (बुद्ध, धर्म, संघ) माना जाता था, किन्तु अब इन्होंने इनसे भी ऊपर गुरु की महत्ता सिद्ध की और चतुःशरण को प्रचारित किया। इसका प्रभाव अब भी तिब्बत में है, वहाँ पहले लामा अर्थात् गुरु की शरण जाने का विधान है; फिर बुद्ध, धर्म और संघ की[3]। आगे हम देखेंगे कि नाथों और सन्तों पर इस भावना का विशेष प्रभाव पड़ा।

सहजयान में सहज अथवा नैसर्गिक जीवन पर जोर दिया गया है[4]। सहजभावना को ही ऋजुमार्ग कहा गया है जिसमें जीवन को अपने नैसर्गिक रूप मे बिताना पड़ता है[5]। इसमें

---

१. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४४। २. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४९।
३. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ६। ४. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २७।
५. उजु रे उजु छाड़िड मा लेहु रे बंक, णिअहि बोहि मा जाहु रे लाङ्क।
वाम दाहिणे जो खाल-विखाला, सरह भणइ बया उजुवाट भाइला॥

ऋद्धि-सिद्धि के लोभ को छोड़कर सहजभावना ही कल्याणकारी मानी जाती है[१]। सहजयान कहता है कि यदि लोक में उत्पन्न होने से दुःख बहुत है तो सुख का सार भी वहीं है। लोक सहजानन्द से परिपूर्ण है, अतः नाचो, गाओ, विलसो[२]।

सहजभावना में शून्यता तथा करुणा प्रधान रूप से हैं, किन्तु जो शून्यता के बिना करुणा-भावना करता है वह हजारों जन्मों तक मुक्ति नहीं पा सकता[३]। जो सहज द्वारा चित्त को विशुद्ध कर जीवन का उपभोग नहीं करता और केवल शून्यता-भावना करता है, वह ज्ञान को न प्राप्त कर अज्ञान में ही भटकता रहता है[४]। सहज मे इसीलिए केवल शून्यता-भावना का निषेध किया गया है। करुणा तथा शून्यता दोनों की भावना आवश्यक है। दोनों के समरस में ही सिद्धि की प्राप्ति होती है। जो योगी या योगिनी इसकी भावना समरसता से करते हैं और जिन्हें सिद्धि प्राप्त हो जाती है, उन्हें लोक-प्रपंच स्पर्श तक नहीं करता। शून्य और करुणा समस्त जगत् का मूलधर्म है, इन्हीं की भावना से व्यक्ति मुक्त होकर परम सुख निर्वाण को प्राप्त करता है।

सहज को अमृत रस प्राप्ति की स्थिति भी कहा गया है, जिसे यह प्राप्त हो जाता है वह परमज्ञानी हो जाता है। वह गुह्य तथा रहस्यमय है, किन्तु उसकी साधना सर्वोत्तम है। जो अपने मनको शान्त, निश्चल और समरस कर देता है, वही सिद्ध की अवस्था को प्राप्त होता है[५]। इस प्रकार सहज भावना शून्यतत्व अथवा परमतत्व मानी गयी है। इसमें चित्त सबका वीज माना गया है। वह चिन्तामणि रूप है। उसकी सेवा करने से इच्छित फल की प्राप्ति होती है। उसे मुक्त करना साधक का परम कर्त्तव्य है। उसी की मुक्ति से परम सुख निर्वाण का साक्षात्कार होता है[६]। मनुष्य कर्म के बन्धन में बँधा है, जब वह इस बन्धन से मुक्त हो हो जाता है तब उसका मन मुक्त हो जाता है और फिर वह परिनिर्वाण को प्राप्त कर लेता है[७]।

सहजयान मिथुनपरक होने के कारण यह मानता है कि करुणा से परिभावित शून्य रूपी भगवती से योग और उसके चिन्तन से सिद्धि का साक्षात्कार होता है। मुक्ति स्वतः सिद्ध मानी गयी है। ब्रह्म या किसी सनातन सत्ता को नहीं माना गया है। लोक क्षणिक है, किन्तु वहीं सहजानन्द भी सम्भव है, अतः पीछे की बातों में न पड़कर प्रत्यक्ष का आनन्द-अनुभव उत्तम माना गया है[८]। जब मन का भ्रम दूर हो जाता है और चंचलतायें मिट जाती हैं तब परमसुख की स्थिति आती है[९]। वह परमसुख आदि-अन्त-मध्य रहित है, न वह संसार

१. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ३१।
२. जइ जग पूरिअ सहजानन्दे, णाच्चहु गाअहु विलसहु चंगे—दोहाकोश, पृष्ठ १३६।
३. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८७।
४. वही, पृष्ठ १८७।
५. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १७८।
६. दोहाकोश, पृष्ठ २३–२४।
७. वही, पृष्ठ ९१।
८. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ३५।
९. वही, पृष्ठ ३५।

कहलाने की परिधि मे आता है और न निर्वाण। उसमें अपने-पराये का भेद नहीं है। वही सर्वत्र विराजमान है[१]। वह शून्य और निरंजन है[२]। जब तक चित्त स्थिर न हो जाय, तबतक इसकी भावना आवश्यक है। इसकी भावना से जो महासुख की प्राप्ति होती है, उसकी अवस्था अक्षर-वर्ण-विवर्जित है। वह न त्याज्य है और न ग्राह्य ही है[३]।

इस प्रकार सहजयान में करुणासहित भावना, शून्यता, भोग में ही योग, देह को ही तीर्थ, संसार में ही सुखसार आदि को मानते हुए महासुख की प्राप्ति के साधन बतलाये गये हैं। इस साधना में लीन व्यक्ति का श्रमण होना बेकार है[४]। वह जिस किसी स्थिति में भी रहकर सहज की भावना कर सकता है[५]। सहज की प्राप्ति केवल सिद्धों को ही होती है, वे ही इस रहस्य को जानते हैं, अन्य साधकों का परमार्थज्ञान तुच्छ है। इस अनुत्तर सिद्धि के लाभ-हेतु सहज स्वभाव धारण करना अत्यन्त आवश्यक है[६]।

सिद्धों का युग

वज्रयान गर्भित सहजयान से ही सिद्धों का प्रादुर्भाव हुआ था। सभी सिद्ध सहज भावना के समर्थक तथा प्रचारक थे। इन्हे महायान के वज्र-सिद्धान्त को ग्रहण करने के कारण घोर वज्रयानी भी कहा जाता है[७], किन्तु ये सिद्ध विकसित सहजयान के ही प्रतिपादक थे। सहजयान इस सिद्ध-काल में ही पूर्ण विकास को प्राप्त हुआ। इन सिद्धों की संख्या चौरासी मानी जाती है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने इनकी पूरी संख्या तिब्बती साहित्य के आधार पर प्रस्तुत की है[८]। इन सिद्धों का काल ईस्वी सन् ८०० से १२०० ई० तक माना जाता है[९]। प्रथम सिद्ध सरहपाद थे और अन्तिम सिद्ध कालपाद[१०]। इनके पश्चात् भी सिद्ध हुए, किन्तु उनकी गणना इन चौरासी सिद्धों में नहीं होती। इन सिद्धों में कतिपय योगिनियाँ भी थीं। मणिभद्रा, मेखला, कनखला और लक्ष्मीकारा सिद्ध-योगिनियाँ ही मानी जाती हैं[११]। सिद्ध जाति-पाँति के निन्दक तथा उग्र भावनावाले थे, अतः इनमे ब्राह्मण, शूद्र, कायस्थ, कहार, तंतुवाय, दर्जी, मछुए, धोबी, चमार और चिड़ीमार भी सम्मिलित थे[१२]। ये सिद्ध पूरे वाममार्गी थे। इन्होंने भिक्षु-चीवर को धारण करना, शराब न पीना, स्त्री समागम से वंचित रहना हेय समझा और लोकनिन्दा की अवहेलना कर अपने को रहस्यवादी बतलाते हुए निम्न जाति की योगिनियों के साथ विचरण करना उचित माना। हम पहले कह आये हैं कि चमार,

---

१. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ ३६। २. सुणण णिरंजण पर [illegible] १३८।
३. "अक्खरवण्णविवज्जिअ, णउ सो विन्दु ण चित्त।" —वही, १४१।
४. वही, पृष्ठ १०३, १०४। ५. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८७।
६. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १८८६। ७. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ १४९।
८. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४७—१५६।
९. वही, पृष्ठ १५६। १०. वही, पृष्ठ १५६।
११. बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृष्ठ १२८।
१२. वही, पृष्ठ १२३।

डोम आदि नीच कुलोत्पन्न ललनाएँ ही सिद्धि-प्राप्ति के साधन मानी जाने लगीं। प्रधान रूप से इन सिद्धों मे निम्नलिखित प्रवृत्तियाँ प्रचलित थीं[१] ;—

(१) सभी सिद्ध तांत्रिक बौद्ध थे।

(२) वे अन्य सभी निकायों एवं धर्मों की निन्दा करते थे, किन्तु अपने सिद्धान्त का अनेक प्रकार से प्रतिपादन एवं समर्थन करते थे।

(३) वे उन बौद्धों की भी निन्दा करते थे जो तांत्रिक नहीं थे।

(४) वे सहज-भावना के प्रचारक थे। सहज-भावना के लिए तांत्रिक अनुष्ठान आवश्यक थे, किन्तु उसी समय तक, जबतक कि सिद्धि की प्राप्ति न हो जाय।

साधन से प्राप्त ज्ञान का ही नाम सिद्धि है और सिद्ध सिद्धियों को प्राप्त करने के अनेक साधन करते थे, इसीलिए वे सिद्ध कहलाते थे। ये सिद्धियाँ आध्यात्मिक मानी जाती थीं। बाह्य चमत्कारिक सिद्धियों से इनका तात्पर्य नहीं था। महासुख निर्वाण ही सर्वोत्तम सिद्धि है[२]। फिर भी कुछ सिद्ध कभी-कभी बाह्य चमत्कार भी दिखलाया करते थे, जो बौद्धधर्म की मूल भावना के विपरीत था। कुछ विद्वानों का मत है कि ये सिद्ध सिद्धि-प्राप्ति के लिए बेताल, वज्र, धातुभेद, रसायन एवं योगिनी की सहायता अपने निजी ढंग से लिया करते थे, इन्होंने इनका सर्वथा परित्याग नहीं किया था[३]। इसके स्पष्ट लक्षण सिद्धों की वाणियों मे मिलते है। सिद्ध कण्हपा का कहना है—"मै सहज क्षण अनुभव करता हुआ अब 'मण्डल-चक्र' से विमुक्त हो गया[४]।" मै इस बात को परमार्थ रूप से कहता हूँ कि जिस किसी ने अपने चित्त को निज गृहिणी के साथ रहकर निचश्ल बना लिया है वही वास्तव मे वज्रधर कहलाने योग्य है[५]। उन्होंने अपने को 'डोमिन' तथा 'कपाली' भी कहा है[६]। ऐसे ही सिद्ध भुसुकपा का कथन है—"मै आज निज गृहिणी के रूप मे चाण्डाली को ग्रहण कर पूरा बंगाली बन गया[७]।" सिद्ध गुंडरीपा ने भी ऐसे ही कहा है—"हे योगिनी, मै तेरे बिना एक क्षण भी जीवित नहीं रह सकता[८]।" वास्तविक सिद्ध तो वही माना जाता है जो अपने चित्त को समरस रूपी सहज में निचश्ल कर दिया है और जरा-मृत्यु से मुक्त हो गया है[९]।

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३०४।

२. तांत्रिक बौद्धसाधना और साहित्य, पृष्ठ २०१।

३. बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृष्ठ ११७।

४. मण्डलचक्क विमुक्क, अच्छऊँ सहज खणेहि ॥ १८॥ कण्हपा का दोहाकोप।

५. जेकिअ णिच्चल मण रअण, णिअघरिणी लइ एत्थ।
सोह वाजिर णाहुरे मयि बुत्तो परमत्थ ॥ ३१ ॥ —कण्हपा का दोहाकोप।

६. तूलो डोम्बी हाऊँ कपाली, तोहारे अन्तरे मोएघेणिलि हाड़ेरि माली—चर्या १०।

७. आजि भूसू बंगाली भइली. णिअ घरिणी चण्डाली लेली—चर्या ४९।

८. जोइनि तँह बिनु खनहिं न जीवनि-चर्या ४।

९. कण्हपा का दोहाकोष १९।

इन सिद्धों ने गुरु के माहात्म्य को माना और गुरु से भक्ति करने का उपदेश दिया। धर्म के सूक्ष्म उपदेश गुरु के मुँह से सुनना चाहिए, पोथी पढ़ने से कुछ भी नहीं होता। गुरु बुद्ध से भी बड़ा है। जो कहे, बिना सोचे-विचारे उसे उसी क्षण करना चाहिए[१]। इन सिद्धों ने ब्रह्म, ईश्वर, अर्हत्, बौद्ध, लोकायत और सांख्य—इन दर्शनों का खण्डन किया है। उन्होंने जाति-भेद को व्यर्थ बतलाया है। उनका कहना है—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से हुआ था, जब हुआ था, तब हुआ था, अब तो जैसे दूसरे होते है, ब्राह्मण भी वैसे ही होते हैं, तो ब्रह्मणत्व कहाँ रह गया? यदि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को संस्कार दो, वह ब्राह्मण बने, यदि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो वे भी वेद पढें। वे पढ़ते भी तो हैं, व्याकरण में वेद के शब्द हैं[२]।" ये सिद्ध महायान के वज्रगर्भित सहजयानी थे, फिर भी उन्होंने महायान का भी खण्डन किया है। उनका कहना है—जितने बड़े-बड़े स्थविर हैं किसी के दस शिष्य हैं, किसी के करांड़, सभी गेरुआ कपड़ा पहनते हैं, संन्यासी बनते है और लोगों को ठग कर खाते हैं, जो हीनयानी हैं उनका शील यदि भंग होता है तो वे उसी क्षण नरक में जाते हैं, जो शील की रक्षा करते है वे केवल स्वर्ग-लाभ करते हैं, मोक्ष नहीं। जो महायान को अपनाते हैं उन्हे भी मोक्ष नही मिलता, क्योंकि उनमें से कोई सूत्र की व्याख्या करते हैं, उनकी व्याख्या विचित्र होती है, इन नई व्याख्याओं से नरक होता है। कोई पोथी लिखते हैं, किन्तु पोथी का अर्थ नहीं जानते है, उनका भी नरक होता है। सहजपंथ को छोड़कर अन्य कोई पंथ नहीं। सहजपंथ को गुरु के मुख से सुनना चाहिए[३]। सिद्ध सरोरुह ने कहा है—"सहजमत पर नहीं आने से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। सहजधर्म मे वाच्य नहीं है, वाचक नहीं है और इनका सम्बन्ध भी नहीं है। जो जिस उपाय से भी मुक्ति की चेष्टा क्यों न करे अन्त मे सभी को सहजपंथ पर आना ही होगा[४]। उन्होंने शून्य के सम्बन्ध मे भी कहा है—"मनुष्य अपना स्वभाव ही नहीं समझता है। भाव भी नहीं है, अभाव भी नहीं है, सभी शून्य रूप है। अर्थात् भव और निर्वाण में कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक है, इसलिए सहजयान अद्वयवादी है। अपने-पराये में भेद न करना। सभी निरन्तर बुद्ध हैं। यही वह निर्मल परमपद्मरूपी चित्त स्वभावतः शुद्ध है। अद्वय चित्ततरु त्रिभुवन मे विस्तृत होकर स्फूर्ति पाता है, तब करुणा के पुष्प खिलते है और फल फलते है। उस फल का नाम परोपकार है[५]। यहीं तक नहीं, मन और निर्वाण के सम्बन्ध में इन सिद्धों की व्याख्या भी वैसी ही है। सरह का कथन है—"लोग झूटमूठ अपने मन-ही मन भव और निर्वाण की रचना करके अपने को बाँध रहे हैं, किन्तु हम अचिन्त्ययोगी है। हम नहीं जानते कि जन्म-मरण और भव कैसा होता है, जैसा जन्म है, मरण भी वैसा ही है। जीवन और मृत्यु मे कोई विशेष नहीं है, इस भव मे जिसके जन्म

---

१. श्री हर प्रसाद शास्त्री के बौद्धगान ओ दोहा की भूमिका, देखिये, 'धर्मदूत वर्ष २६, अंक ११, पृष्ठ २२३ मे प्रकाशित।

२. वही, पृष्ठ २२३।

३. वही, पृष्ठ २२४।

४. वही, पृष्ठ २२४।

५. वही, पृष्ठ २२४।

और मरण की शंका है, वही रस और रसायन की चेष्टा करे। जो योगी सारे चराचर और स्वर्ग में भ्रमण करते है, वे अजर और अमर कुछ भी नहीं हो सकते। जन्म से कर्म होता है या कर्म से जन्म, इसका निश्चय करना योगियों के लिये अचिन्तनीय है[1]।"

इन सिद्धों की दृष्टि में केवल मंत्र-जाप, प्रदीप, नैवेद्य-पूजा और तंत्र-मंत्र को धारण कर सहज की भावना न करना विभ्रम उत्पन्न करता है[2]। संन्यास धारणकर वन में रहना अथवा गृहवास करना बोधि-प्राप्ति का साधन नहीं, क्योंकि बोधि (ज्ञान) न घर में है न वन में। इस भेद को भली प्रकार जानकर चित्त को निर्मल करे। वही यथार्थ है। उसका बराबर सेवन करे[3]।

ऊपर हमने देखा है कि ये सिद्ध निरन्तर बुद्ध मानते थे अर्थात् सभी सदा बुद्ध-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के कारण उनका बोध नहीं होता है[4]। सिद्ध नरोपा ने इसी प्रकार 'आदि-बुद्ध' को अनादि, अमृत एवं सर्वज्ञ के रूप में माना और सबके लिए उस अन्तिम स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया[5]।

इस प्रकार ये सिद्ध आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक लोकभाषा में सहजयान का उपदेश करते रहे। इन पाँच सौ वर्षों तक दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक सर्वत्र इनका प्रभाव था। ये अन्य मतों का खण्डन करते, अपने पक्ष का प्रतिपादन एवं समर्थन करते और अपने वाममार्गी सहजमार्ग का प्रचार करते घूमते थे। हम आगे देखेंगे कि इन्हीं में से किस प्रकार नाथमत का उदय हुआ और इन सिद्धों में कतिपय नाथ सम्प्रदाय के भी सिद्ध थे, जो बौद्ध थे, यही कारण है कि नाथ सम्प्रदाय में बीज रूप से बौद्धधर्म विद्यमान है। नाथों के आदिगुरु अथवा नाथमत के प्रवर्तक सिद्धों में से ही थे। इस काल को हम सिद्धयुग

---

१. वही, पृष्ठ २२४—२२५। मूल पाठ इस प्रकार है—
अपणे रचि-रचि भव निर्वाणा, मिछे लोअ बन्धावए अपना।
अम्भे न जाणंहु अचिन्त जोइ, जाम मरण भव कइसण होई।
जइसो जाम मरण वि तइसो, जीवन्ते मअलें णाहि विशेसो।
जाएथु जाम मरण विसङ्का, सो करउ रस रसाणेरे कंखा।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किम्पि न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम, सरह भणति अचिन्त सो धाम।
—चर्य्याचर्य्य विनिश्चय, पत्रांक ३८।

२. किन्तहि दीपे किं णेवेज्जे, किन्तइ किज्जइ भावें।
मन्त ण तन्त धेअ धारण, सव्ववि रे वढ़ विब्भमकारण।
—दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २६।

३. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २७।

४. बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृष्ठ १२२।

५. वही, पृष्ठ १२३।

इन सिद्धों ने गुरु के माहात्म्य को माना और गुरु से भक्ति करने का उपदेश दिया। धर्म के सूक्ष्म उपदेश गुरु के मुँह से सुनना चाहिए, पोथी पढ़ने से कुछ भी नहीं होता। गुरु बुद्ध से भी बड़ा है। जो कहें, बिना सोचे-विचारे उसे उसी क्षण करना चाहिए[१]। इन सिद्धों ने ब्रह्म, ईश्वर, अर्हत्, बौद्ध, लोकायत और सांख्य—इन दर्शनों का खण्डन किया है। उन्होंने जाति-भेद को व्यर्थ बतलाया है। उनका कहना है—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से हुआ था, जब हुआ था, तब हुआ था, अब तो जैसे दूसरे होते है, ब्राह्मण भी वैसे ही होते हैं, तो ब्रह्मणत्व कहाँ रह गया? यदि संस्कार से ब्राह्मण होता है तो चांडाल को संस्कार दो, वह ब्राह्मण बने, यदि वेद पढ़ने से ब्राह्मण होता है तो वे भी वेद पढ़ें। वे पढ़ते भी तो हैं, व्याकरण में वेद के शब्द है[२]।" ये सिद्ध महायान के वज्रगर्भित सहजयानी थे, फिर भी उन्होंने महायान का भी खण्डन किया है। उनका कहना है—जितने बड़े-बड़े स्थविर हैं किसी के दस शिष्य हैं, किसी के करोड़, सभी गेरुआ कपड़ा पहनते है, संन्यासी बनते है और लोगों को ठग कर खाते है, जो हीनयानी है उनका शील यदि भंग होता है तो वे उसी क्षण नरक में जाते हैं, जो शील की रक्षा करते है वे केवल स्वर्ग-लाभ करते हैं, मोक्ष नहीं। जो महायान को अपनाते हैं उन्हे भी मोक्ष नहीं मिलता, क्योंकि उनमें से कोई सूत्र की व्याख्या करते हैं, उनकी व्याख्या विचित्र होती है, इन नई व्याख्याओं से नरक होता है। कोई पोथी लिखते है, किन्तु पोथी का अर्थ नहीं जानते हैं, उनका भी नरक होता है। सहजपंथ को छोड़कर अन्य कोई पंथ नहीं। सहजपंथ को गुरु के मुख से सुनना चाहिए[३]। सिद्ध सरोरुह ने कहा है—"सहजमत पर नहीं आने से मुक्ति नहीं प्राप्त हो सकती, क्योंकि मुक्ति का दूसरा मार्ग नहीं है। सहजधर्म मे वाच्य नहीं है, वाचक नहीं है और इनका सम्बन्ध भी नहीं है। जो जिस उपाय से भी मुक्ति की चेष्टा क्यों न करे अन्त मे सभी को सहजपंथ पर आना ही होगा[४]। उन्होंने शून्य के सम्बन्ध में भी कहा है—"मनुष्य अपना स्वभाव ही नहीं समझता है। भाव भी नही है, अभाव भी नहीं है, सभी शून्य रूप है। अर्थात् भव और निर्वाण मे कोई अन्तर नहीं है। दोनों एक हैं, इसलिए सहजयान अद्वयवादी हैं। अपने-पराये मे भेद न करना। सभी निरन्तर बुद्ध हैं। यही वह निर्मल परमपद्मरूपी चित्त स्वभावतः शुद्ध है। अद्वय चित्ततरु त्रिभुवन मे विस्तृत होकर स्फूर्ति पाता है, तब करुणा के पुष्प खिलते हैं और फल फलते है। उस फल का नाम परोपकार है[५]। यहीं तक नहीं, मन और निर्वाण के सम्बन्ध मे इन सिद्धो की व्याख्या भी वेसी ही है। सरह का कथन है—"लोग झूठमूठ अपने मन-ही मन भव और निर्वाण की रचना करके अपने को बाँध रहे हैं, किन्तु हम अचिन्त्ययोगी है। हम नहीं जानते कि जन्म-मरण और भव कैसा होता है, जैसा जन्म है, मरण भी वैसा ही है। जीवन और मृत्यु मे कोई विशेष नहीं है, इस भव मे जिसके जन्म

---

१. श्री हर प्रसाद शास्त्री के बौद्धगान ओ दोहा की भूमिका, देखिये, 'धर्मदूत वर्ष २६, अंक ११, पृष्ठ २२३ मे प्रकाशित।

२. वही, पृष्ठ २२३।

३. वही, पृष्ठ २२४।

४. वही, पृष्ठ २२४।

५. वही, पृष्ठ २२४।

और मरण की शंका है, वही रस और रसायन की चेष्टा करे। जो योगी सारे चराचर और स्वर्ग में भ्रमण करते हैं, वे अजर और अमर कुछ भी नहीं हो सकते। जन्म से कर्म होता है या कर्म से जन्म, इसका निश्चय करना योगियों के लिये अचिन्तनीय है[1]।"

इन सिद्धों की दृष्टि में केवल मंत्र-जाप, प्रदीप, नैवेद्य-पूजा और तंत्र-मंत्र को धारण कर सहज की भावना न करना विभ्रम उत्पन्न करता है[2]। संन्यास धारणकर वन में रहना अथवा गृहवास करना बोधि-प्राप्ति का साधन नहीं, क्योंकि बोधि (ज्ञान) न घर में है न वन में। इस भेद को भली प्रकार जानकर चित्त को निर्मल करे। वही यथार्थ है। उसका बराबर सेवन करे[3]।

ऊपर हमने देखा है कि ये सिद्ध निरन्तर बुद्ध मानते थे अर्थात् सभी सदा बुद्ध-स्वरूप हैं, किन्तु अज्ञान के कारण उनका बोध नहीं होता है[4]। सिद्ध नरोपा ने इसी प्रकार 'आदि-बुद्ध' को अनादि, अमृत एवं सर्वज्ञ के रूप में माना और सबके लिए उस अन्तिम स्थिति को प्राप्त करने का मार्ग बतलाया[5]।

इस प्रकार ये सिद्ध आठवीं शताब्दी से लेकर बारहवीं शताब्दी तक लोकभाषा में सहजयान का उपदेश करते रहे। इन पाँच सौ वर्षों तक दक्षिण से लेकर उत्तर भारत तक सर्वत्र इनका प्रभाव था। ये अन्य मतों का खण्डन करते, अपने पक्ष का प्रतिपादन एवं समर्थन करते और अपने वाममार्गी सहजमार्ग का प्रचार करते घूमते थे। हम आगे देखेंगे कि इन्हीं में से किस प्रकार नाथमत का उदय हुआ और इन सिद्धों में कतिपय नाथ सम्प्रदाय के भी सिद्ध थे, जो बौद्ध थे, यही कारण है कि नाथ सम्प्रदाय में बीज रूप में बौद्धधर्म विद्यमान है। नाथों के आदिगुरु अथवा नाथमत के प्रवर्तक सिद्धों में से ही थे। इस काल को हम सिद्धयुग

१. वही, पृष्ठ २२४–२२५। मूल पाठ इस प्रकार है—
अपणे रचि-रचि भव निर्वाणा, मिछे लोअ बन्धावए अपना।
अम्भे न जाणँहू अचिन्त जोइ, जाम मरण भव कइसण होई।
जइसो जाम मरण वि तइसो, जीवन्ते मअलें णाहि विशेसो।
जाएथु जाम मरण विसङ्का, सो करउ रस रसाणेरे कंखा।
जे सचराचर तिअस भमन्ति, ते अजरामर किम्पि न होन्ति।
जामे काम कि कामे जाम, सरह भणति अचिन्त सो धाम।
—चर्य्याचर्य्य विनिश्चय, पत्रांक ३८।

२. किन्तहि दीपे किं णेवेज्जे, किन्तइ किज्जइ भावें।
मन्त ण तन्त धेअ धारण, सव्ववि रे वढ़ विब्भमकारण।
—दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २६।

३. दोहाकोश भूमिका, पृष्ठ २७।

४. बौद्धसाहित्य की सांस्कृतिक झलक, पृष्ठ १२२।

५. वही, पृष्ठ १२३।

इसलिए कहते हैं, कि इसी समय इनका प्रभाव एवं संगठन था। इनकी जो परम्परा वज्रयान मे चल पड़ी थी और जिसका प्रारम्भ आठवीं शताब्दी में हुआ था, वह भारत पर मुसलमानों के प्रबल आक्रमण तक अटूट बनी रही। इनका प्रभाव नेपाल, तिब्बत आदि में एक दीर्घकाल तक बना रहा और सम्प्रति भी उन देशों में किसी न किसी रूप में है। अब भी नेपाल में गुभाजू (गुह्यवादी), वज्राचार्य (वज्रयानी), तान्त्रिक आदि विद्यमान हैं[1] और उनकी साधना विकृत रूप में प्रचलित है, भारत में भी सिद्धों की परम्परा तो टूट गयी, किन्तु उनके विचार नहीं गये। वे नाथ, सन्त, सिख आदि निर्गुण सम्प्रदायों की शिक्षाओं में बने हुए हैं और किसी न किसी रूप में घुमन्तू साधुओं में भी विद्यमान हैं, जिनपर कि सभी भारतीय सन्तों का प्रभाव पड़ा है और उन भारतीय सन्तों का, जिनका मूल स्रोत बौद्धधर्म है। हम आगे इसपर विस्तृत रूप से विचार करेंगे।

सिद्धों का जनसमाज पर प्रभाव

सिद्ध शिक्षित और अपने आगम के ज्ञाता थे। उनमें अधिकांश वेद-शास्त्र-पुराण के अध्येता एवं पारंगत थे। वे कबीर की भाँति 'मसि कागद छूओ नहिं' के अनुसरण करने वाले नहीं थे[2]। इसीलिए उन्होंने अपने पाण्डित्य से अन्य दार्शनिक सम्प्रदायों तथा मतों का खण्डन किया और अपने मत का बड़ी बुद्धिमत्ता से प्रतिपादन किया। उनमें जो सिद्ध-पण्डिता-योगिनियाँ थीं, वे भी अपने शास्त्र-आगम में निपुण थीं। उन्हे उनके गुह्याचारों एवं चमत्कारों से प्रभावित होकर ही डाकिनी संज्ञा मिली थी, जो पीछे 'डाइन' के नाम से कुत्सित रूप से समझी जाने लगी[3]। किन्तु सिद्ध-काल में इनका कम प्रभाव नहीं था। अपने प्रभाव एवं विद्वत्ता के कारण ही इनमें से कुछ ने चौरासी सिद्धों मे स्थान पाया।

सिद्ध बड़े तार्किक और अलौकिक चमत्कारों के धनी समझे जाते थे। ये जहाँ अपने तर्क-बल से दूसरे मतों का खण्डन करते थे, वहीं कभी-कभी कुछ चमत्कारिक बातें भी कर दिया करते थे, जिससे जनता इनके पीछे-पीछे लगी रहती थी[4]। ये अधिकतर वन आदि मे रहना पसन्द करते थे और लोगों को फटकारा करते थे। ये जितनी ही फटकार सुनाते थे, जनता इनके पीछे दौड़ती थी[5]। इन्होंने पूर्व के हीनयान तथा महायान का भी दोष दिखाया और गुह्यवादी होकर भैरवीचक्र के शराब, स्त्री समागम तथा तन्त्रमन्त्र से अपने को सहज-अनुयायी बतलाया[6]। प्रारम्भ में भैरवीचक्र की सभी क्रियायें गुप्त रखी जाती थीं और जब साधक उसमें पूर्ण दक्षता प्राप्त कर लेता था तब उसे पूर्ण दीक्षा दी जाती थी। इसका प्रभाव यह हुआ कि इनमें अनेक प्रकार के दुराचारों ने घर कर लिया। इन सिद्धों ने बोधि-सत्व, उनकी अलौकिक शक्तियों, चमत्कारों आदि से सम्बन्धित सहस्रों कथायें रच लीं

---

१. नेपाल यात्रा—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा लिखित।

२. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३०४।

३. वही, पृष्ठ ३०९।

४. बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १०।

५. बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १०।

६. वही, पृष्ठ ९।

और अपनी वेशभूषा तक में परिवर्तन कर लिया। कोई पनही बनाया करता था तो उसे पनहीपा कहा जाता था। कोई कम्बल ओढ़े रहता था तो उसे कमरीपा कहा जाता था, कोई ओखल रखे रहता था तो उसे ओखरीपा और ऐसे ही डमरू रखने के कारण डमरूपा आदि[1]। इन्होंने स्त्रियों को ही मुक्तिदात्री 'प्रज्ञा' और पुरुषों को ही मुक्ति का उपाय तथा शराब को ही 'अमृत' सिद्ध किया[2]। उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति और उसके गुरु सिद्ध अनंगवज्र तथा अन्य सहजयानी पण्डितों ने इन्हीं पर बल दिया और इनके महत्त्व को प्रकाशित करने वाली अनेक पुस्तकों की रचना की। जनसाधारण ने इनके पाण्डित्य, अनेक चमत्कार, रहस्यमयी वाणी एवं परम्परागत धारणाओं के वशीभूत हो इनका बड़ा सम्मान किया। लोग समझते थे कि ये सिद्ध स्वयं बुद्ध तथा बोधिसत्व के सदृश अलौकिक शक्तियों से सम्पन्न हैं। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की अलौकिक कथायें प्रचलित हो गयीं। रोग, पीड़ा, दुःख, दारिद्र्य, अनावृष्टि, अकाल, जय-पराजय, अभियान, पूजा-अर्चना, आवाह-विवाह-करने इन सिद्धों की सहायता की अपेक्षा की गयी। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का कथन है कि ये सिद्ध व्यभिचारी एवं शराबी हो गये थे। राजा तक अपनी कन्याएँ इन्हे प्रदान करते थे[3]।

सिद्धों का यह समय देश के लिए घातक सिद्ध हुआ। इस समय भारत के राजाओं में संगठन नहीं रह गया था। वे इन सिद्धों के पीछे भी बहुत धन व्यय करने लगे थे और जनता अन्धविश्वास में पड़ी थी। उधर पश्चिम की ओर से यवन आक्रमण प्रारम्भ हो गये थे। धीरे-धीरे पश्चिमी लुटेरों ने इन सिद्धों के मन्दिरों की धन-राशि को भी छीन लिया और ये अपने तंत्र-मंत्र के बलपर ही उन्हें देश से भगाने का प्रयत्न करते रह गये। इनकी सारी अलौकिक शक्तियाँ उस समय अदृश हो गयीं, जब कि सारनाथ, नालन्दा, ओदन्तपुरी आदि के विहार लूटे गये, उन्हें अग्नि से भस्मसात् किया गया और अगणित तारा, बोधिसत्व, बुद्ध आदि की रत्न-जटित वे मूर्तियाँ तोड़ डाली गयीं जिन्हे कि अद्भुत शक्तियों का केन्द्र समझा जाता था। बहुसंख्यक भिक्षु मार डाले गये, चाहे वे हीनयानी थे, महायानी या सहजयानी[4]। अब जनता ने इन सिद्धों का अनुगमन त्याग दिया और वह समझने लगी कि ये सिद्ध वास्तव में परमार्थ-द्रष्टा या प्रोक्ता न थे।

गुप्त-काल से ही बौद्धधर्म का ह्रास प्रारम्भ हो गया था और वैदिक परम्परागत धर्मों का पुनः उदय होने लगा था, जो कई शताब्दियों से बौद्धधर्म के व्यापक प्रभाव से दबा पड़ा था। वैष्णव तथा शैव धर्मों ने विशेष रूप से जनता पर अपना प्रभाव डालना प्रारम्भ कर दिया था, क्योंकि जन-समाज सिद्धों के आचार एवं धर्म से ऊब चुका था। इसी काल मे भगवान् बुद्ध, बोधिसत्व, तारा आदि हिन्दू धर्म के देवी-देवता बन गए, केवल नाम मात्र का अन्तर रह गया। भगवान् बुद्ध तो वैष्णवों के अवतारों में स्थान पा गए, इस पर हम आगे विचार करेंगे। सिद्धों ने जो निर्गुण-निरंजन, शून्य का उपदेश दिया था और बुद्ध को निरन्तर

---

१. वही, पृष्ठ १०।
२. वही, पृष्ठ १०।
३. बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १०।
४. वही, पृष्ठ ११।

तथा सर्वत्र माना था और यह भी कहा था कि बुद्ध लोकोत्तर हैं, उनकी माया से ही निर्मित बुद्ध उत्पन्न होते, तप करते, उपदेश देते और परिनिर्वाण को प्राप्त होते हैं, वास्तविक बुद्ध तो धरती पर कभी आते ही नहीं, वे करुणा एवं दया के मूल हैं, सभी सत्वों के उद्धार की भावना से ही बोधिसत्व जगदुद्धार में लगे रहते हैं, सहज-भावना से निरंजन अवस्था को प्राप्त किया जा सकता है आदि सिद्धों के उपदेशों से प्रभावित होकर सगुण एवं निर्गुण भक्ति की दो धाराएँ फूट चलीं। ये भक्ति की धारायें आठवीं से बारहवीं शताब्दियों के बीच प्रगट हुयीं, इनका बीज माध्यमिक एवं योगाचार की उत्पत्ति के साथ ही अंकुरित हो चुका था। इसी भावना से प्रभावित होकर बुद्ध-भक्ति की भावना ने जोर पकड़ा और शैव तथा वैष्णव धर्म बौद्धधर्म से प्रभावित हो आगे बढ़ने लगे। हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म कहीं गया नहीं, प्रत्युत सिद्धों की समाप्ति के साथ ही इन धर्मों में घुलमिल गया। हम देखते है कि बौद्धधर्मावलम्बी राजा हर्षवर्धन सूर्य एवं शिव की पूजा करता था। ऐसे ही हिन्दू देवी-देवताओं के सिर पर बुद्धमूर्त्ति, स्तूप आदि को निर्मित कर उन्हें बुद्धोपासक बना लिया गया था। गणेश के सिर पर स्तूप का निर्माण, नीलकण्ठ बोधिसत्व की मूर्त्तियों के निर्माण आदि इसके ज्वलन्त प्रमाण है।[१] यही कारण है कि बौद्ध स्थानों के उत्खनन में शिव, अग्नि, कार्त्तिकेय आदि की मूर्त्तियाँ पाई गयी है।[२] अब बौद्ध तथा हिन्दू परस्पर मिल कर रहने लगे थे। एक ही परिवार में हिन्दू-बौद्ध दोनों विचारों के लोग रह सकते थे। ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है सिद्धों के कारण बौद्धधर्म के गुह्याचार, तंत्र-मंत्र, सहज-भावना के अभिचार एवं घृणित रूप तथा अन्धविश्वासों से ऊबकर जनता धीरे-धीरे वैष्णव तथा शैव धर्मों की ओर बढ़ती गयी। हर्ष के बाद से ही बौद्धधर्म को राज्याश्रय पाना कठिन हो गया था और गुप्त राजा तो अपने को परमभागवत कहने, यज्ञ करने आदि में गौरव समझते थे, अतः इन धर्मों को राजाओं का बल मिला। फलतः बौद्धधर्म का ह्रास हुआ और ये धर्म उन्नति करने लगे। बारहवीं शताब्दी के यवन आक्रमणों ने बौद्धधर्म की रही-सही मर्यादा भी समाप्त कर दी। बारहवीं शताब्दी तक ही हम भारत में बौद्ध विहारों का निर्माण होता हुआ पाते हैं, उसके पश्चात् बहुत कम प्रमाण ऐसे मिलते हैं कि बौद्ध विहारों के निर्माण हुए हों। कुछ लोगों ने अपनी श्रद्धा-भक्ति व्यक्त करने के लिए पीछे भी छोटे-मोटे कुछ निर्माण-कार्य किये थे, किन्तु वे नगण्य हैं[३]।

उधर अनेक सिद्धों की विचारधाराओं में नाथ और सन्त मतों की मूलभावनाएँ अंकुरित हो चली थीं और वे ही पीछे पूर्ण विकसित होकर नाथ और उससे सन्त परम्परा बन गयीं। इन पर हम आगे विचार करेंगे। फल यह हुआ कि बारहवीं शताब्दी में सिद्धों का बौद्ध-जन समाज पर ऐसा बुरा प्रभाव पड़ा कि वह बौद्धधर्म को त्यागकर नाथ, सन्त, भागवत आदि धर्मों में अन्तर्भुक्त हो गया। वह जहाँ गया, बौद्धधर्म की विचारधारा उसमे रही ही। यवन आक्रमण काल में जब बौद्धभिक्षुओं का अपने भिक्षुवेष में रहना कठिन हो गया और

---

१. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ ८१। २. वही, पृष्ठ ८१।
३. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ ९८–९९।

अधिकांश भिक्षु जब मार डाले गये, बचे हुए नेपाल, तिब्बत आदि देशों की ओर चले गये, तब साधारण जनता अपने ही रक्त सम्बन्धी भाइयों में मिल गयी और उसने अपना नाम परिवर्तन कर लिया[१]। इस प्रकार सिद्ध-काल के अन्त की कहानी मध्ययुगीन भारत मे शैव और वैष्णव सम्प्रदायों के उदय एवं विकास का इतिहास है। इनमें भी विशेष रूप से शैव मतावलम्बी नाथ सम्प्रदाय तो सिद्धों से ही प्रादुर्भूत है। इसके प्रवक्ता एवं उपदेष्टा चौरासी सिद्धों में से ही थे।

नाथ सम्प्रदाय का जन्म

नाथ सम्प्रदाय के उद्भव के सम्बन्ध में विद्वानों के विभिन्न मत हैं। कुछ लोगों का मत है कि सिद्ध प्रच्छन्न नाथपंथी थे, क्योंकि कतिपय सिद्ध शिव तथा उनके गण हेरुक के भक्त थे[२]। कुछ विद्वानों का कथन है कि नाथसम्प्रदाय चौरासी सिद्धों से ही निकला हुआ एक क्रान्तिकारी पन्थ है[३]। इसी प्रकार कुछ विद्वान् यह मानते है कि सिद्धों में से अधिकांश साम्प्रदायिक रूप से ही बौद्ध थे, किन्तु विचारधारा के अनुसार नाथपन्थी थे[४]। इन विचारों का ऐतिहासिक तथा धार्मिक दृष्टि से पर्यवेक्षण करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वास्तव में नाथ सम्प्रदाय में सिद्धों की योग-पद्धति और सहजसमाधि प्रधान रूप से विद्यमान है। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन का यह कथन बिल्कुल ठीक है—"विचारों में यद्यपि अब नाथपन्थ अनीश्वरवाद को छोड़कर ईश्वरवादी हो गया है, तथापि अभी उसकी वाणियों में छान-बीन करने पर निर्वाण, शून्यवाद औ वज्रयान का बीज मिलेगा[५]।"

हम देखते हैं कि पालि साहित्य में 'नाथ' शब्द का प्रयोग दो अर्थों में हुआ है—तथागत[६] और ज्ञान प्राप्त भिक्षु (अर्हत्)। दस नाथकरण धर्मों में ऐसे ही भिक्षु के दस गुण बतलाये गये हैं[७]।

सिद्धों की वाणियों में उसे नाथस्वरूप कहा गया है, जिसका चित्त विस्फुरित हो जाय[८], अथवा जिसका मन निश्चल हो जाय[९], वही अनश्वर स्वभाव निर्वाण के समीप

---

१. बुद्धचर्या की भूमिका, पृष्ठ १४। २. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३१२–३२३।
३. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६२।
४. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, योगप्रवाह, पृष्ठ २१७।
५. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६३।
६. बुद्धो दसबलो सत्था, सब्बञ्ञू दिपदुत्तमो।
मुनिन्दो भगवा नाथो, चक्खुमा अङ्गीरसो मुनि ॥ १ ॥
लोकनाथो नधिवरो, महेसि च विनायको।
समन्तचक्खु सुगतो, भूरिपञ्ञो मारजी ॥ २ ॥—अभिधानप्पदीपिका।
७. दीघनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३०० और ३१२।
८. जत वि चित्तहि विप्फुरइ तत्त विणाह सरूअ—दोहाकोष, बागची, पृष्ठ ३१।
९. जो णत्थु णिच्चल किअउ मण सो धम्मक्खर पास—वही, पृष्ठ ४४।

पहुँचा हुआ है। सिद्ध कण्हपा ने साधक को वज्रधरनाथ कहा है[१]। इससे स्पष्ट है कि सिद्धों ने 'नाथ' शब्द को तथागतवाची न ग्रहण कर केवल स्थिर-चित्त-सिद्धिप्राप्त योगी का पर्याय-वाची माना। तात्पर्य यह कि हीनयान (स्थविरवाद) मे अर्हत् की जो स्थिति थी, वही स्थिति सिद्धों मे 'नाथ' की मानी गयी और इस प्रकार सिद्धि-प्राप्त सभी सिद्ध 'नाथ' थे। यही कारण है कि इन सिद्धों में कुछ ने अपने नाम के साथ नाथ' शब्द का प्रयोग किया। उन नाथ शब्दधारी सिद्धों को भी 'पा' या 'पाद' के साथ भी बहुधा स्मरण किया गया है[२], ये दोनों शब्द गौरवार्थ प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार उस काल में 'नाथ' शब्द का भी प्रयोग पूजार्ह के अर्थ में ही होता था, जो पीछे साम्प्रदायिक रूप धारण किया और नाथसम्प्रदाय का विकास हुआ।

नाथसम्प्रदाय के आदि पुरुष आदिनाथ माने जाते है[३]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने जालन्धरपा को ही आदिनाथ माना है[४] और उनके वंशवृक्ष में वतलाया है कि उत्तरी भारत की परम्परा के अनुसार सिद्ध सरहपा की परम्परा में जालन्धरपा हुए थे और मत्स्येन्द्र-नाथ उनके शिष्य थे तथा गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के। ऐसे ही दक्षिण भारत में प्रचलित परम्परा के अनुसार भी जालन्धरपा के शिष्य मत्येन्द्रनाथ और फिर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरख-नाथ थे[५]। गोरखनाथ ने अपने गुरु के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—'भणंत गोरष मछन्द्र का दास[६]।' 'आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, व्यंन्द तौले राषीले गोरष अवधूता[७]।' सिद्ध कण्हपा ने अपने गीतों में बार-बार सिद्ध जालन्धरपा का स्मरण किया है और उन्हें अपने कथन का साक्षी माना है[८]। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथविचारधारा का जन्म सिद्ध-परम्परा से हुआ था, जिसका संगठन गोरक्षपा अथवा गोरखनाथ ने किया था और तब से वह एक भिन्न सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का जन्म तो जालन्धरपा के समय से पूर्व ही हो चुका था, किन्तु उसने सम्प्रदाय का रूप गोरखनाथ के समय में अर्थात् नवीं शताब्दी ईस्वी में धारण किया। नाथसम्प्रदाय के नौ नाथ बहुत प्रसिद्ध थे जिन्हे पीछे सन्तों ने भी स्मरण किया है[९]।

---

१. वही पृष्ठ ४६।
२. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४८ में 'गोरक्षपा'।
३. वही, पृष्ठ १६२। 'एवं श्रीगुरुरादिनाथः।'
४. वही, पृष्ठ १६२। ५. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २२।
६. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५६। ७. वही, पृष्ठ १५६।
८. "साखि करब जालन्धरपाद।"—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५३।
९. चतुरशीति सिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ ४४।
सिध चौरासी, नाथ नौ बीचै सबै भुलान।
—सन्तकाव्य, पृष्ठ ५२२।

नाथ सम्प्रदाय में प्रारम्भ में सहजयान की सारी प्रवृत्तियाँ थीं, किन्तु गोरखनाथ ने उसका संस्कार किया। उन्होंने मैथुन और नारी का पूर्ण बहिष्कार किया[१]। यह भी आभास मिलता है कि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का भी उन्होंने विरोध किया था, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त नहीं हुई। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी था और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृङ्खलताओं का विरोध कर निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण कर दिया[२]। किन्तु हम देखते हैं कि गोरखनाथ ने केवल बौद्धों की ही इन प्रवृत्तियों का विरोध नहीं किया, उन्होंने शैवों तथा शाक्तों के भी वामाचार का विरोध किया। फिर भी गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में तो नाथों को ही तन्त्रों का प्रवर्तक माना गया है[3]। साथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में महामुद्रा, वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का वर्णन है[४], इससे सिद्ध होता है कि गोरखनाथ ने यद्यपि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विरोध किया था, किन्तु वे नाथसम्प्रदाय से सर्वथा बहिष्कृत नहीं हो पायीं, सहजयान प्रभावित नाथों में वे किसी न किसी रूप में बनी रहीं। हम आगे देखेंगे कि सिद्धों का यह प्रभाव केवल सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत वैष्णव, सूफी आदि सम्प्रदाय भी इससे प्रभावित हुए।

नाथों ने बौद्धधर्म की परम्परागत साधना, धर्म, चिन्तन संयम, विरक्ति, प्राणायाम आदि को अपने रूप से अंगीकार कर लिया। उन्होंने काया-शोधन, मनोमारण और संयत जीवन पर विशेष जोर दिया दिया। ये सारी प्रवृत्तियाँ बौद्धधर्मावलम्बी सिद्धों में विद्यमान थीं। महायान के जन्म के साथ ही धीरे-धीरे इन प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था और कालान्तर मे इनका स्वरूप बदल गया, यद्यपि मूल-भावना बनी रही। नाथों ने आनापान सति-भावना को इस प्रकार से हठयोग का रूप दिया—शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियों मे होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जायेगा जिसकी छाया नहीं पड़ती[५]। जब योगी साधना द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाता है तब उसे अनाहत नाद सुनाई पड़ता है जो समस्त सार तत्वों का सार है और गम्भीर से भी गम्भीर है। उसी समय उसे ब्रह्म की अनुभूति होती है जो वाणी द्वारा अव्यक्त है। जब उसकी अनुभूति होती है तब जान पड़ता है कि वही सत्य ह, सारे विवाद मिथ्या है[६]। आना-

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२०। २. नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १८८।

३. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ १९। ४. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२५।

५. अवधू नवघाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटे अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध।
—गोरखबानी (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), पृष्ठ १९।

६. सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद विवादं॥
—गोरखबानी, पृष्ठ ५।

पहुँचा हुआ है। सिद्ध कण्हपा ने साधक को वज्रधरनाथ कहा है[१]। इससे स्पष्ट है कि सिद्धों ने 'नाथ' शब्द को तथागतवाची न ग्रहण कर केवल स्थिर-चित्त-सिद्धिप्राप्त योगी का पर्यायवाची माना। तात्पर्य यह कि हीनयान (स्थविरवाद) में अर्हत् की जो स्थिति थी, वही स्थिति सिद्धों में 'नाथ' की मानी गयी और इस प्रकार सिद्धि-प्राप्त सभी सिद्ध 'नाथ' थे। यही कारण है कि इन सिद्धों में कुछ ने अपने नाम के साथ 'नाथ' शब्द का प्रयोग किया। उन नाथ शब्दधारी सिद्धों को भी 'पा' या 'पाद' के साथ भी बहुधा स्मरण किया गया है[२], ये दोनों शब्द गौरवार्थ प्रयुक्त होते थे। इसी प्रकार उस काल में 'नाथ' शब्द का भी प्रयोग पूजार्ह के अर्थ में ही होता था, जो पीछे साम्प्रदायिक रूप धारण किया और नाथसम्प्रदाय का विकास हुआ।

नाथसम्प्रदाय के आदि पुरुष आदिनाथ माने जाते हैं[३]। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने जालन्धरपा को ही आदिनाथ माना है[४] और उनके वंशवृक्ष में बतलाया है कि उत्तरी भारत की परम्परा के अनुसार सिद्ध सरहपा की परम्परा में जालन्धरपा हुए थे और मत्स्येन्द्रनाथ उनके शिष्य थे तथा गोरखनाथ मत्स्येन्द्रनाथ के। ऐसे ही दक्षिण भारत में प्रचलित परम्परा के अनुसार भी जालन्धरपा के शिष्य मत्येन्द्रनाथ और फिर मत्स्येन्द्र के शिष्य गोरखनाथ थे[५]। गोरखनाथ ने अपने गुरु के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—'भणंत गोरष मछन्द्र का दास[६]।' 'आदिनाथ नाती मछिंद्रनाथ पूता, व्यंन्द तौले राषीले गोरष अवधूता[७]।' सिद्ध कण्हपा ने अपने गीतों में बार-बार सिद्ध जालन्धरपा का स्मरण किया है और उन्हें अपने कथन का साक्षी माना है[८]। इस प्रकार स्पष्ट है कि नाथविचारधारा का जन्म सिद्ध-परम्परा से हुआ था, जिसका संगठन गोरक्षपा अथवा गोरखनाथ ने किया था और तब से वह एक भिन्न सम्प्रदाय का रूप धारण कर लिया था। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय का जन्म तो जालन्धरपा के समय से पूर्व ही हो चुका था, किन्तु उसने सम्प्रदाय का रूप गोरखनाथ के समय में अर्थात् नवीं शताब्दी ईस्वी में धारण किया। नाथसम्प्रदाय के नौ नाथ बहुत प्रसिद्ध थे जिन्हें पीछे सन्तों ने भी स्मरण किया है[९]।

---

१. वही पृष्ठ ४६।
२. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १४८ में 'गोरक्षपा'।
३. वही, पृष्ठ १६२। 'एवं श्रीगुरुरादिनाथः।'
४. वही, पृष्ठ १६२। ५. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २२।
६. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५६। ७. वही, पृष्ठ १५६।
८. "साखि करब जालन्धरपाद।"—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५३।
९. चतुरशीति सिद्धानां पूर्वादीनां दिशां न्यसेत्।
नवनाथस्थितिं चैव सिद्धागमेन कारयेत्।
—गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ ४४।
सिध चौरासी, नाथ नौ बीचै सबै भुलान।
—सन्तकाव्य, पृष्ठ ५२२।

नाथ सम्प्रदाय में प्रारम्भ में सहजयान की सारी प्रवृत्तियाँ थीं, किन्तु गोरखनाथ ने उसका संस्कार किया। उन्होंने मैथुन और नारी का पूर्ण बहिष्कार किया[१]। यह भी आभास मिलता है कि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का भी उन्होंने विरोध किया था, किन्तु ये प्रवृत्तियाँ सर्वथा समाप्त नहीं हुई। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने लिखा है कि गोरखनाथ की साधना का मूलस्वर शील, संयम और शुद्धतावादी था और उन्होंने तान्त्रिक उच्छृङ्खलताओं का विरोध कर निर्मम हथौड़े से साधु और गृहस्थ दोनों की कुरीतियों को चूर्ण कर दिया[२]। किन्तु हम देखते हैं कि गोरखनाथ ने केवल बौद्धों की ही इन प्रवृत्तियों का विरोध नहीं किया, उन्होंने शैवों तथा शाक्तों के भी वामाचार का विरोध किया। फिर भी गोरक्षसिद्धान्त संग्रह में तो नाथों को ही तन्त्रों का प्रवर्तक माना गया है[3]। साथ सम्प्रदाय के ग्रन्थों में महामुद्रा, वज्रोली, सहजोली आदि साधनाओं का वर्णन है[४], इससे सिद्ध होता है कि गोरखनाथ ने यद्यपि तान्त्रिक प्रवृत्तियों का विरोध किया था, किन्तु वे नाथसम्प्रदाय से सर्वथा बहिष्कृत नहीं हो पायीं, सहजयान प्रभावित नाथों में वे किसी न किसी रूप मे वनी रहीं। हम आगे देखेंगे कि सिद्धों का यह प्रभाव केवल सम्प्रदाय तक ही सीमित नहीं रहा, प्रत्युत वैष्णव, सूफी आदि सम्प्रदाय भी इससे प्रभावित हुए।

नाथो ने बौद्धधर्म की परम्परागत साधना, धर्म, चिन्तन संयम, विरक्ति, प्राणायाम आदि को अपने रूप से अंगीकार कर लिया। उन्होंने काया-शोधन, मनोमारण और संयत जीवन पर विशेष जोर दिया दिया। ये सारी प्रवृत्तियाँ बौद्धधर्मावलम्बी सिद्धों में विद्यमान थीं। महायान के जन्म के साथ ही धीरे-धीरे इन प्रवृत्तियों का विकास हो रहा था और कालान्तर में इनका स्वरूप बदल गया, यद्यपि मूल-भावना बनी रही। नाथों ने आनापान सति-भावना को इस प्रकार से हठयोग का रूप दिया—शरीर के नवों द्वारों को बन्द करके वायु के आने-जाने का मार्ग यदि अवरुद्ध कर लिया जाय तो उसका व्यापार ६४ सन्धियों मे होने लगेगा। इससे निश्चय ही कायाकल्प होगा और साधक एक ऐसे सिद्ध में परिणत हो जायेगा जिसकी छाया नहीं पड़ती[५]। जब योगी साधना द्वारा ब्रह्मरंध्र तक पहुँच जाता है तब उसे अनाहत नाद सुनाई पड़ता है जो समस्त सार तत्वों का सार है और गम्भीर से भी गम्भीर है। उसी समय उसे ब्रह्म की अनुभूति होती है जो वाणी द्वारा अव्यक्त है। जब उसकी अनुभूति होती है तब जान पड़ता है कि वही सत्य है, सारे विवाद मिथ्या है[६]। आना-

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२०। २. नाथसम्प्रदाय, पृष्ठ १८८।
३. गोरक्षसिद्धान्त संग्रह, पृष्ठ १९। ४. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३२५।
५. अवधू नवघाटी रोकिलै बाट, बाई बणिजै चौसठि हाट।
काया पलटे अविचल विध, छाया विवरजित निपजै सिध।
—गोरखबानी (हिन्दी साहित्य सम्मेलन), पृष्ठ १९।
६. सारमसारं गहर गंभीरं गगन उछलिया नादं।
मानिक पाया फेरि लुकाया झूठा वाद विवादं॥
—गोरखबानी, पृष्ठ ५।

पान-सति की भावना में आश्वास-प्रश्वास के मनन द्वारा चित्त को एकाग्र करने का विधान है। जब योगी आनापान (आश्वास-प्रश्वास) की भावना करता है तब उसकी चार स्मृतिप्रस्थान, बोध्यंग आदि की भी भावना पूर्ण हो जाती है और वह विद्या तथा विमुक्ति को पा लेता है[१]। इसी को एकायन मार्ग भी कहा गया है[२]। आनापान की यह भावना सिद्धों में प्रचलित थी और नाथों तक पहुँचते-पहुँचते वह अनाहत नाद का उत्पत्ति-केन्द्र बन गयी। मनोमारण-विधान भी इसी भावना की देन है। गोरखनाथ ने कहा है कि अपनी श्वास-क्रिया की धौंकनी के सहारे ही रस जमाकर योगी पूर्ण ज्ञानी हो जाता है[3]। इसी प्रकार शून्य, सहजशून्य, खसम, सहज, सहजसमाधि, गुरु, देह, चक्र-नाड़ी, पवन-निरोध, चंडग्नि, सुरति, मुद्रा, निर्वाण आदि प्रायः सभी धर्मतत्व सिद्धों के ही नाथ-सम्प्रदाय में मिलते हैं। यहाँ इनके विस्तार के लिए अवकाश नहीं है। नाथों ने मध्यम-मार्ग पर चलने का ही उपदेश दिया है—"मधि निरन्तर कीजै बास"[४]। यह मध्यम मार्ग इन्हें सिद्धों से ही मिला था। हम आगे यथास्थान सिद्धों और नाथों की वाणियों का अवलोकन सन्त-परम्परा में करेंगे।

बौद्धधर्म की भित्ति पर सिद्ध और नाथ सम्प्रदाय से सन्तमत का उदय

भगवान् बुद्ध की मूल शिक्षाओं में भक्ति के लिए स्थान न होकर ज्ञान-प्रधान चिन्तन को ही प्रश्रय प्राप्त था, किन्तु वक्कलि जैसे श्रद्धालु भिक्षु को उपदेश देते हुए तथागत ने कहा था—"वक्कलि, जो धर्म को देखता हैं, वह मुझे देखता है और जो मुझे देखता है वह धर्म को देखता है"[५]। साथ ही छः अनुस्मृति कर्मस्थानों में बुद्धानुस्मृति भी एक थी, जिसकी भावना में केवल बुद्धगुणों का ही अनुस्मरण करना था[६]। यही भावना आगे चलकर भक्ति का स्वरूप ग्रहण की। महायान ने इसे और भी सँवारा। उसने भगवान् बुद्ध को लोकोत्तर मानकर निर्मित काय द्वारा धर्मचक्र-प्रवर्तन आदि का प्रचार किया। इस विचार-पद्धति में बुद्ध के दो रूप हो गये—एक वह बुद्ध जो निःस्वभाव, धर्म-शून्य, धर्मतास्वरूप, निराकार और निरंजन है, वह कभी इस लोक में नहीं आता, न जन्म लेता और न उपदेश देता अथवा परिनिर्वाण को प्राप्त होता है, दूसरा उसी का माया-निर्मित स्वरूप है, उसकी लीला है, जो महामाया की कुक्षि से उत्पन्न हुआ, महाभिनिष्क्रमण कर तप किया, ज्ञान प्राप्त कर धर्मचक्र-प्रवर्तन किया और फिर बहुजन हिताय बहुजन सुखाय धर्मोपदेश करके महापरिनिर्वाण को प्राप्त किया। तात्पर्य यह कि एक ही बुद्ध का एक निर्गुण, निराकार रूप था तो दूसरा सगुण और साकार। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का यह कथन समीचीन है कि यह वैष्णव भक्ति के

---

१. मज्झिम निकाय, ३, २, ८, पृष्ठ ४९१। २. वही, १, १, १०।

३. गोरखबानी, पृष्ठ ९१, ९२। ४. गोरखबानी, पृष्ठ २१।

५. यो खो वक्कलि, धम्मं पस्सति सो मं पस्सति, यो मं पस्सति सो धम्मं पस्सति। धम्मं हि वक्कलि, पस्सन्तो मं पस्सति, मं पस्सन्तो धम्मं पस्सति—संयुत्त निकाय ३, २१, २, ४, ५ (हिन्दी अनुवाद-भिक्षु धर्मरक्षित, दूसरा भाग, पृष्ठ ३७४।)

६. विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १७६।

निर्गुण-सगुण रूपों के आविर्भाव से शताब्दियों पूर्व महायान ने कर दिया था[१]। पीछे की सगुण और निर्गुण दोनों शाखायें बौद्धधर्म की इसी भक्ति-भावना की देन है। राम और कृष्ण की [illegible] के रूप में दूसरे प्रकार के बुद्धस्वरूप का विकास हुआ और निर्गुण उपासना के रूप मे पहले प्रकार के बुद्धस्वरूप का। इस प्रकार हम देखते है कि वैष्णवधर्म की निर्गुण-सगुण दोनों ही भक्ति के स्वरूप का आविर्भाव शताब्दियों पूर्व महायान से हो चुका था[२]। एक स्वरूप मे राम "एक, अनीह, अरूप, अनामा, अज, सच्चिदानन्द, परमधामा, अगुण, अखण्ड, अनन्त, अनादि, परमार्थरूप, अविगत, अलख और अनूप है तो दूसरे मे दशरथसुत, लोक-मर्यादा की स्थापना करने वाले[३]। इस प्रकार भक्ति की दोनों कल्पनाएँ वैष्णव भक्ति-साधना से पूर्व ही तथागत के दो स्वरूपों में प्रगट हो चुकी थीं, जो आगे चलकर मध्ययुग मे पूर्ण विकास को प्राप्त हुई। इनका प्रभाव सिद्धो, नाथों, सन्तों, सूफियों आदि सबपर पड़ा था। शैव, शाक्त भी इस प्रभाव से वंचित न थे। नाथ तो शैव मतावलम्बी ही थे।

सम्प्रति इस विचार से सभी विद्वान् सहमत है कि निर्गुणवादी सन्तों की विचारधारा पूर्णरूप से बौद्धधर्म से प्रभावित थी और यह विचारधारा सिद्धों से होकर नाथों तक पहुँची थी और सन्तों ने नाथों से उसको ग्रहण किया था। यद्यपि प्रमुख सन्त कबीर ने नाथों का खण्डन किया है, किन्तु उनकी विचारधारा में हठयोग तथा तांत्रिक साधना को जो स्थान प्राप्त है और नाथों की सी भाषा का प्रयोग हुआ है, इसके लिए नाथसम्प्रदाय के ही वे ऋणी है[४]। कबीर के समय तक यद्यपि बौद्धधर्म का प्रगट रूप शेष न था, किन्तु शताब्दियों से जीर्ण-शीर्ण पड़ी उसकी भित्ति अब भी सिद्धों और नाथों से होती हुई जनता के विचारो मे व्याप्त थी। साथ ही वैष्णव, सूफी आदि सम्प्रदाय भी उसकी नैतिक शिक्षा, भक्ति-साधना, परमतत्व से किसी-न-किसी रूप से प्रभावित थे, उसी की निर्गुण साधना ने सन्तमत को जन्म दिया अर्थात् जो बौद्धधर्म का निर्गुण (शून्य) विचारधारा सिद्धों और नाथों से होकर प्रवाहित हुई थी, उसी से सन्तमत का उदय हुआ था। हम आगे देखेंगे कि सन्तों की वाणी में बौद्धधर्म का प्रभाव किस प्रकार व्याप्त है।

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५२।

२. वही, पृष्ठ १०५२।   ३. वही, पृष्ठ १०५२।

४. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, द्वितीय भाग, पृष्ठ १०५४।

तीसरा अध्याय

पूर्वकालीन सन्त
तथा
उन पर बौद्धधर्म का प्रभाव

पूर्वकालीन सन्त

बौद्धधर्म की जो प्रवृत्तियाँ सिद्धों से होती हुई नाथों तक पहुँची थीं, उन्हीं प्रवृत्तियों से प्रभावित होकर सन्तमत का उदय हुआ था। यद्यपि सन्तमत ने कबीर द्वारा पूर्णता को प्राप्त की, किन्तु कबीर से पूर्व भी सन्तों की परम्परा थी। उन अपने पूर्ववर्ती सन्तों का स्मरण स्वयं कबीर तथा अन्य सन्तों ने किया है। उनकी कवितायें तथा वाणियाँ 'आदिग्रन्थ' में संकलित हैं। इन सन्तों की कविताओं को देखने से स्पष्टतः जान पड़ता है कि कबीर की भाँति इनकी भी साधना-पद्धति बौद्धधर्म से प्रभावित थी। इन पूर्वकालीन सन्तों में जयदेव, सधना, लालदेद, वेणी, नामदेव और त्रिलोचन के नाम उल्लेखनीय हैं। डॉ० [illegible]-[illegible]न्दन बड़थ्वाल ने स्वामी रामानन्द की भी गणना इन्हीं सन्तों में की है[1], क्योंकि उनके भी पद आदिग्रन्थ में संहीग्रत हैं और वे कबीरदास के गुरु थे, किन्तु स्वामी रामानन्द को पूर्वकालीन सन्त न कहकर हम उन्हें कबीर के समसामयिक सन्त कह सकते हैं, क्योंकि वे कबीरदास के समय विद्यमान थे, अतः उनके सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। कबीरदास ने कलियुग में अपने पूर्ववर्ती केवल जयदेव और नामदेव को ही जागरूक सन्त माना है—

जागे सुक उधव अकूर, हणवँत जागे लै लंगूर।
संकर जागे चरन सेव, कलि जागे नामां जैदेव[2]॥

इसी प्रकार इन सन्तों की गणना कबीर साहब ने भक्त सुदामा की श्रेणी में की है। उन्होंने इन्हें भक्त मात्र माना है, ज्ञानी सन्त नहीं—

जयदेव नामा विप्प सुदामा तिनको कृपा अपार भई है[3]।
सनक सनंदन जैदेव नामा, भगति करी मन उनहुँ न जाना[4]।

बौद्धधर्म से उनका सम्बन्ध

उन पूर्वकालीन सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। उनकी वाणी तथा साधना में बौद्धधर्म के स्पष्ट लक्षण दीखते हैं। उन सन्तों में कुछ निर्गुण उपासक थे और कुछ सगुण,

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६–४२।
२. कबीरग्रन्थावली, पृष्ठ २१६–३८७। ३. वही, पृष्ठ २९७, ११३।
४. वही, पृष्ठ ९९, ३३।

किन्तु उनमें सन्तमत का बीज विद्यमान था और बौद्धमर्म की अमिट छाप थी। उन्होंने स्वभाव से ही स्नान-शुद्धि, पत्थर की पूजा, तप, यज्ञ-याग आदि का विरोध किया है। हम दे हैं कि भक्ति-साधना के वैष्णव सम्प्रदाय ने भी जयदेव के समय तक भगवान् बुद्ध को अव मान लिया था और वैष्णव सन्तों के भी बुद्ध 'हरि' बन गये थे। इसीलिए सन्त जयदेव अपने 'गीतगोविन्द' में बड़े ही प्रेम से बुद्ध-स्तुति की है—'हे केशव, अपने जिन यज्ञों में पशु है, उनकी निन्दा की, अतः हे बुद्धरूपधारिन्, जगदीश, आपकी जय हो[1]।" इससे ज्ञात है कि जयदेव 'हरि' के रूप में बुद्ध को मानते थे। गीतगोविन्द में इसके अतिरिक्त 'तंत्र' शब्द आया है[2], जो वज्रयान के तंत्र-मंत्र का स्मरण दिलाता है। कुछ विद्वानों का मत है कि ग्रन्थ मे निर्गुण पंथियों के अनुसार जयदेव ने अन्योक्ति के रूप में ज्ञान कहा है और भाव है कि गोपियाँ पाँच इन्द्रियाँ हैं और राधा दिव्य ज्ञान। गोपियों को छोड़कर कृष्ण का से प्रेम करना यही जीव की मुक्ति है[3]। यह व्याख्या यथार्थ है, क्योंकि प्रत्येक सर्ग के अन्त 'हरि' को कल्याण के रूप में स्मरण किया गया है और जयदेव के लिए हरि का जप प्र था। योग, यज्ञ, दान, तप, आदि ऐसे भक्त के लिये व्यर्थ हैं, इसीलिए कबीर ने ज को केवल भक्त कहा है, ज्ञानी नहीं। आदिगन्थ में जयदेव के जो दो पद संकलित हैं उ भी यही बात सिद्ध होती है कि हरि-स्मरण सच्चे मन से करना ही भक्त का कर्त्तव्य उसे कर्म-काण्ड, तप आदि के प्रपंचों से क्या तात्पर्य? यह भक्ति भी मन, वचन और क ही सर्वांश रूप से पूर्ण हो जाती है—

> हरिभगत निज निहकेवला, रिद करमणा वचसा।
> जोगेन किं जगेन किं, दानेन किं तपसा[4]॥

भगवान् बुद्ध ने यज्ञ, हवन, तप आदि को महागुणकारी नहीं कहा है, इनसे नि का साक्षात्कार नहीं हो सकता, निर्वाण के साक्षात्कार के लिये चित्त-शुद्धि परम आवश्यक और उसे मध्यम मार्ग पर चलकर ही किया जा सकता है। यही बात सिद्धों और नाथों ने कही है। सिद्ध दारिकपा कहते हैं—

> किन्तो मन्तो किन्तो तन्तो किन्तो झाण बखाणे[5]।

सिद्ध कण्हपा ने भी यही बात कही है—

> एसो जप होमे मण्डल कम्मे, अणुदिन अच्छसि काहिउ धम्मे[6]।

---

१. निन्दसि यज्ञविधेरहहश्रुतिजातम।
सदयहृदय-दर्शित पशु-घातम्।
केशव धृतबुद्धशरीर जय जगदीश हरे। —गीतगोविन्द, प्रथम सर्गः, श्लोक ९।

२. जितमनसिजतंत्रविचारम्—वही, द्वितीय सर्गः, श्लोक ५।

३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३३।

४. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३५। ५. चर्यापद ३४।

६. दोहाकोष, पृष्ठ २९।

सिद्ध तिलोपा का भी कथन है कि तीर्थ और तप व्यर्थ है, इनसे शरीर पापों से शुद्ध नहीं होता और न तो देव-पूजा से ही शुद्धता प्राप्त होती है, शान्त मन से बुद्ध की आराधना करो[१]। यही बुद्ध जयदेव के 'हरि' बन गये हैं, जो स्वयं बुद्धशरीर ही हैं। यज्ञ, तप आदि को छोड़कर सिद्धि-पद स्वरूप, सर्वत्र व्याप्त हरि की आराधना ही अपेक्ष्य है। हम कह आये हैं कि बुद्ध वज्रयान में निरन्तर विद्यमान, सर्वत्र विराजमान और निरंजन स्वरूप हो गये थे[२]।

जयदेव ने सिद्धों एवं नाथों के हठयोग को नहीं छोड़ा, उन्होंने योग को तो बुरा कहा, किन्तु हठयोग को नहीं। हठयोग की साधना में नाद से ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है और जब नाद की प्राप्ति होती है तभी ब्रह्म-निर्वाण में लवलीन होने की अवस्था होती है—

चंदसत भेदिआ, नादसत पूरिआ,
सूरसत षोडसादतु कीआ,
ब्रह्मु निरबाणु लिवलीणु पाइआ[३]।

सिद्ध गोरखनाथ ने भी यही बात कही है—

नाद ही ते आछे बावू सब कछू निधानां।
नाद ही ते पाइये परम निरवानां[४]।

इस प्रकार सन्त जयदेव पर बौद्ध प्रभाव स्पष्ट है। उनकी वाणी में बुद्ध, तंत्र, निर्वाण आदि बौद्धधर्म के शब्द विद्यमान हैं और उनके 'हरि' राम, केशव, गोविन्द आदि-पुरुष हैं, अनुपम, सत्य, सिद्धिपद तथा ब्रह्म-निर्वाण स्वरूप हैं[५] और वे ही बुद्धशरीर भी हैं। उनके अनुस्मरण से ही जल में जल के प्रवेश करने की भाँति निर्वाण का लाभ हो सकता है[६]।

ऐतिहासिक दृष्टिकोण से भी यह माना जाता है कि जयदेव पर सहजयान का प्रभाव पड़ा था[७], क्योंकि उनके समय में उड़ीसा तथा बंगाल प्रदेशों में सहजयान बौद्धधर्म का प्रभाव बना हुआ था[८] और जगन्नाथ बुद्धस्वरूप माने जाते थे[९]।

---

१. तित्थ तपोवण ण करहु सेवा, देह सुचीहि ण सन्ति पावा।
ब्रम्हा विहुणु महेसुर देवा, बोहिसत्व मा करहू सेवा।
देव ण पूजहु तित्थ न जावा, देवपुजाही मोक्ख ण पावा।
बुद्ध अराहहु अविकल चित्तें, भव निब्बाणे म करहु थित्तें।
—हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।

२. हँउ जग हँउ बुद्ध हँउ णिरंजण—तिलोपा, दोहाकोष १६।

३. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३६। ४. गोरखबानी, पृष्ठ ६६।

५. 'परमादि पुरष मनोपिमं'—सन्तकाव्य, पृष्ठ १३५।

६. सललिकउ सललि समानि आइया—सन्तकाव्य, पृष्ठ १३६।

७. उत्तरभारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ९६। ८. वही, पृष्ठ ९६।

९. सुइ बउद्ध रूप हइ, कलियुगरे थिवु रहि—बौद्धधर्म दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ २०४।

सन्त सधना का केवल एक पद ही मिला है, जिससे ज्ञात होता है कि इनपर भी सिद्धों एवं नाथों का प्रभाव पड़ा था। इन्होंने अपने पद में "मैं नाहीं कछु हउ नहीं, किछु आहि न मोरा"[१] कहकर नैरात्म्य एवं आध्यातम का सुन्दर समन्वय किया है। वास्तव में जीव या सत्व नहीं है, वह अनात्म, निर्जीव, निःसत्व स्वभाव है, वह शाश्वत भी नहीं है, सर्वथा अनित्य हैं, अतः इस भौतिक जगत् में तथा पार्थिव शरीर में 'मेरा' या 'अपना' कहलाने योग्य कुछ भी नहीं है। बौद्धधर्म के अनित्य, दुःख और अनात्मवाद का कैसा सुन्दर चित्रण सन्त सधना की वाणी में विद्यमान है! कहते हैं कि सन्त सधना मांस बेचने का कार्य करते थे किन्तु कभी जीवहिंसा नहीं करते थे। आज भी बौद्धदेशों मे बौद्ध मांस क्रय करते और खाते हैं, किन्तु जीवहिंसा नहीं करते। बौद्धधर्म की त्रिकोटि पारिशुद्धि[२] का सधना पर प्रभाव जान पड़ता है। त्रिकोटि पारिशुद्धिके अनुसार दृष्ट, श्रुत और परिशंकित मांस का उपभोग करना वर्जित हैं, किन्तु प्रवर्त (=पवत्त=तैयार) मांस लेने, देने और खाने में कोई दोष नहीं है[३]।

सन्त लालदेद कश्मीर की एक योगिनी थीं, जो प्रधानतः शैव होते हुए भी शिव, केशव, जिन या नाथ में कोई अन्तर नहीं मानती थीं। इनका कथन था कि इनमें से किसी एक पर अटल विश्वास रखनेवाला व्यक्ति सभी दुःखों से मुक्ति पा जाता है[४]। कहा जाता है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में प्रचलित अलखधारी सम्प्रदाय इन्हीं के सम्प्रदाय का है, जो अपने को ललाबेग का अनुयायी बतलाता है और मूर्तिपूजा में विश्वास न कर इसी जीवन में सदाचार, अहिंसा आदि धर्मों के पालन से मुक्ति को प्राप्त करने की शिक्षा देता है। यदि लालबेग ही लालदेद हैं तो उनपर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव दीखता है। बौद्धधर्म में सदाचार एवं धर्माचरण प्रधान रूप से माना गया है। किन्तु अभी कोई पुष्ट प्रमाण नहीं प्राप्त हो सका है जिसके आधार पर इसे दृढ़तापूर्वक कहा जा सके कि लालदेद ही ललाबेग हैं, फिर भी इनके जो पद प्राप्त हैं उनमें जिन और नाथ दोनों शब्द बौद्धधर्म के ही हैं। लालदेद के समय कश्मीर में बौद्धधर्म अभी भी जीवित था और उसका प्रभाव लालदेद पर निश्चित रूप से पड़ा होगा।

सन्त वेणी पर नाथ-सम्प्रदाय के सिद्धान्तों का गहरा प्रभाव पड़ा था। इनके तीन ही पद मिले हैं। जिन्हें देखने से नाथों की वाणी होने का सन्देह होने लगता है। इनका कथन है—"इड़ा, पिंगला तथा सुषुम्ना नामक तीनों नाड़ियाँ जहाँ पर मिलती हैं वह स्थान प्रयाग की त्रिवेणी है, वहीं पर निरंजन राम का वासस्थान है जिन्हें कोई बिरला ही गुरु के उपदेश पर चलकर पहचान सकता है। वहीं अनाहत शब्द होता है। वहाँ न तो चन्द्र है, न सूरज है, न वायु है, न जल है, उसका साक्षात्कार गुरु के बतलाये निर्दिष्ट मार्ग पर चलने से ही हो सकता है[५]।" इसमें सिद्धों और नाथों की साधना स्पष्ट रूप से दिखाई दे रही है। सिद्धों

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३८। २. मज्झिमनिकाय २, १, ५।
३. भगवान् बुद्ध, पृष्ठ २६१—२७०।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १०२। ५. सन्तकाव्य, पृष्ठ १३९

ने ललना, रसना तथा अवधूती इन तीन नाड़ियों को माना था, नाथों तथा सन्तों ने उन्हें ही इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाम से पुकारा। इन्हीं नाड़ियों में पवन को निरुद्ध कर सुषुम्ना में श्वास संचालन द्वारा दशम द्वार उद्घाटित कर अमृत पीने की साधना नाथों तथा सिद्धों की योग-साधना रही है[1]। सन्त वेणी ने जिस त्रिवेणी का वर्णन अपने शब्दों में किया है, उसी का वर्णन उनसे बहुत पहले गोरखनाथ ने इस प्रकार किया था—

> अहंकारतूटिबा निराकार फूटिबा सोषीला गंग जमन का पानी।
> चंद सूरज दोउ सनमुषि राषीला कहो हो अवधू तहाँ की सहिनाणी[2]॥

चन्द्र और सूर्य प्रज्ञा तथा उपाय के प्रतीक माने जाते हैं, जब अनाहत नाद सुन पड़ता है और अमृत-तत्व का साक्षात्कार हो जाता है तब वहाँ सिद्ध सरह के शब्दों में—"नाद न बिन्दु न रवि शशि मंडल"[3] और गोरखनाथ के शब्दों में—"कहा बुझाइ अवधू राइ गगन न धरनी, चन्द न सूर दिवस नहिं रैनी"[4] की अवस्था होती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्त वेणी की साधना सिद्ध-नाथों की देन है। उन्होंने चन्दन लगाने, नित्यप्रति स्नान करने, मृग के चर्म का आसन, तुलसी-माला, रुद्राक्ष आदि के धारण करने मात्र को धर्म समझने वालों को 'फोकट धर्म' का पालन करने वाला बतलाया है और कहा है कि बिना गुरु की सेवा के कोई भी साधक अपने आपको नहीं पहचान सकता है और न तो परमतत्व को ही पा सकता है[5]। सन्त वेणी सिद्ध सरहपाद की भाँति फटकार बताने वाले सन्त थे। सरह ने परमपद को शून्य, निरंजन कहा है[6] और उसी को वेणी ने 'निरंजन राम' बतलाया है। इससे सिद्धों के विचारों का सन्तों में किस प्रकार समावेश हुआ भली प्रकार जाना जा सकता है।

सन्त नामदेव नाथसम्प्रदाय से पूर्वरूप से प्रभावित थे। उनपर सिद्धों की वाणियों का भी प्रभाव था। वे निर्गुणी सन्त होते हुए भी भक्ति के प्रचारक थे, अर्थात् वे शुद्ध निर्गुण भक्ति को मानते थे। तीर्थ-यात्रा को सरह की भाँति ये भी व्यर्थ मानते थे। इस सम्बन्ध में सरह ने कहा है—

> किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
> मोक्ख कि लब्भइ पाणी नाहीं॥

नामदेव ने भी कहा—

> कोटिज तीरथ करै, अनुज अहिवालै गारै।
> रामनाम सरि तऊ न पूजै॥
> वेद पुरान सासतर आनन्ता, गीत कवित्त न गावहु गो।

---

१. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ३९७–९८।
२. गोरखबानी, पृष्ठ ३९।
३. सिद्धसाहित्य, पृष्ठ ४१६।
४. वही, पृष्ठ ४१७।
५. सन्तकाव्य, पृष्ठ १४०–१४१।
६. सुण्ण णिरंजन परमपउ—दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३६।

कबीरदास ने इन्हीं सन्त नामदेव को कलियुग में जागरूक सन्त मानते हुए भक्त कहा था। वास्तव में ये भक्त और सन्त दोनों ही थे। इस बात से सिद्धों का प्रभाव इनपर परिपुष्ट होता है कि सिद्ध काया को ही तीर्थ मानते थे, वे काशी-प्रयाग में जाकर स्नान करने तथा तीर्थ-यात्रा मे भटकने से काया की साधना को ही उत्तम बतलाते थे। सिद्ध सरह ने कहा है—"देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठ"[1] अर्थात् मैने देह के सदृश तीर्थ को न सुना है, न देखा है। इसी बात के प्रचारक नामदेव भी थे।

प्रो० विनय मोहन शर्मा ने लिखा है कि बारकरी पंथ का मूल नाथपंथ था और उसका ही प्रभाव नामदेव पर पड़ा था[2]। यह बात यथार्थ है, क्योंकि बारकरी सम्प्रदाय के मूलसन्त ज्ञानेश्वर थे, उन्होंने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है[3]—

आदिनाथ (जालन्धरपा)
मत्स्येन्द्रनाथ
गोरखनाथ
गहनीनाथ
निवृत्तिनाथ
ज्ञानेश्वर

इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में किस प्रकार सिद्धों और नाथों का प्रभाव पड़ा था। नामदेव ने जिस विट्ठल (=बिठोबा) को अपना इष्टदेव माना है और जो विट्ठल सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, पुरुषोत्तम, अविगत, अलख, ज्ञानस्वरूप (=विडाणी), ठाकुर, स्वामी, पद-निर्वाण (पदुनिरवाना) और सत् गुरु हैं, वे सिद्धों और नाथों से ही होकर नामदेव तक पहुँचे थे। विद्वानों ने विट्ठल को भी बुद्ध का ही स्वरूप माना है[4]।

सिद्ध मन को शून्य या खसम स्वभाव मानते थे और उसी प्रकार से उसकी भावना करते थे। मन शून्य रूप होकर शून्य या 'ख' में मिल जाता है—

सब्बरूअ तहिं खसम करिज्जइ,
खसम सहावें मणवि धरिज्जइ[5]।

नाथपंथ ने भी शून्य को इसी अर्थ में ग्रहण किया, किन्तु खसम शब्द को नहीं। आगे चलकर सन्त नामदेव के समय में यह खसम अरबी के पति का द्योतक स्वरूप धारण कर लेया और शून्य में लीन होना खसम से मिलना माना जाने लगा। नामदेव ने भी इसी

दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३५।
विश्वभारती पत्रिका, वैशाख-आपाढ़ २००४।
पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६३।
श्री अनन्तरामचन्द्र कुलकर्णी, मराठी 'धम्मपद' परिशिष्ट १।
दोहाकोष, पृष्ठ ५५।

सिद्ध-साधना से प्रभावित होकर गाया—"मैं बउरी, मेरा राम भतार"। कबीर ने भी ऐसे ही कहा—"राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया।"

नामदेव ने सरह आदि सिद्धों की ही भाँति जातिभेद, पत्थर-पूजा आदि का खण्डन किया है। उन्होंने इन बातों के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही फटकार है—

हिन्दू अंना तुरकू काणा, इंहा ते गिआनी सिआणा।
हिन्दू पुजै देहुरा मुसलमाणु मसीत ॥
नामें साई सेविआ जह देहुरा न मसीत।
एकै पत्थर कीजै भाऊ, दूजै पाकर धरिये पाऊँ ॥
जे ओह देउ त ओहु भी देवा।
कहि नामदेवा हम हरि की सेवा ॥

पीछे हम देखेंगे कि कबीर ने भी ऐसी ही वाणी कही है और इनका कबीर पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। नामदेव ने भैरव, भूत, शीतला, शिव, महामाई (दुर्गा) आदि की पूजा का बड़ा मजाक उड़ाया है[१]।

सिद्धों में यह भावना थी कि बिना गुरु किये ज्ञान पाना कठिन है। अतः सभी साधक प्रथम गुरु की शरण जाते थे। सिद्ध सरहपा ने गुरु की महिमा बतलाते हुए कहा है[२]—

गुरु उवएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि ॥ ५६ ॥
चित्ताचित्तवि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु वअणें दिढ भत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु ॥ ५७ ॥
जीवन्तह जो णउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसें विमल मइ, सो पर धण्णा कोइ ॥ ६९ ॥

इसी भावना से प्रभावित हो गोरखनाथ ने अपने को गुरु का दास कहा है[३]। गुरु से ही समाधि सिद्ध हो सकती है और योग का अभ्यास भी। और "तब गुरु परचै साधे[४]।" इसी गुरु-महिमा की नामदेव ने इस प्रकार स्तुति की है—"सदगुरु भेटला देवा", और "ज्ञान अंजन मोको गुरु दीना।" उन्होंने यह भी कहा है कि गुरु के प्रताप से नर सुर तक हो जाता हैं—"नर से सुर होइ जात निमिख में सति गुरु बुधि सिखाई।"

नामदेव ने सिद्धों के हठयोग को ग्रहण किया था और उन्हें भी अनाहत (=अनहद) नाद की अनभूति हुई थी :—

---

१. ग्रन्थसाहब पद २८।
२. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ८–११।
३. "भणंत गोरख मछ्यन्द्र का दासा।"
४. गोरखबानी, पृष्ठ २१८।

कबीरदास ने इन्हीं सन्त नामदेव को कलियुग में जागरूक सन्त मानते हुए भक्त कहा था। वास्तव में ये भक्त और सन्त दोनों ही थे। इस बात से सिद्धों का प्रभाव इनपर परिपुष्ट होता हैं कि सिद्ध काया को ही तीर्थ मानते थे, वे काशी-प्रयाग में जाकर स्नान करने तथा तीर्थ-यात्रा में भटकने से काया की साधना को ही उत्तम बतलाते थे। सिद्ध सरह ने कहा है—"देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठ"[१] अर्थात् मैंने देह के सदृश तीर्थ को न सुना है, न देखा है। इसी बात के प्रचारक नामदेव भी थे।

प्रो० विनय मोहन शर्मा ने लिखा हैं कि बारकरी पंथ का मूल नाथपंथ था और उसका ही प्रभाव नामदेव पर पड़ा था[२]। यह बात यथार्थ है, क्योंकि बारकरी सम्प्रदाय के मूलसन्त ज्ञानेश्वर थे, उन्होंने अपनी परम्परा इस प्रकार दी है[३]—

आदिनाथ (जालन्धरपा)
मत्स्येन्द्रनाथ
गोरखनाथ
गहनीनाथ
निवृत्तिनाथ
ज्ञानेश्वर

इससे स्पष्ट है कि महाराष्ट्र में किस प्रकार सिद्धों और नाथों का प्रभाव पड़ा था। नामदेव ने जिस विट्ठल (=बिठोवा) को अपना इष्टदेव माना है और जो विट्ठल सर्वव्यापी, अन्तर्यामी, पुरुषोत्तम, अविगत, अलख, ज्ञानस्वरूप (=विडाणी), ठाकुर, स्वामी, पद-निर्वाण (पदुनिरवाना) और सत् गुरु हैं, वे सिद्धों और नाथों से ही होकर नामदेव तक पहुँचे थे। विद्वानों ने विट्ठल को भी बुद्ध का ही स्वरूप माना है[४]।

सिद्ध मन को शून्य या खसम स्वभाव मानते थे और उसी प्रकार से उसकी भावना करते थे। मन शून्य रूप होकर शून्य या 'ख' में मिल जाता है—

सव्वरूअ तहिं खसम करिज्जइ,
खसम सहावें मणवि धरिज्जइ[५]।

नाथपंथ ने भी शून्य को इसी अर्थ में ग्रहण किया, किन्तु खसम शब्द को नहीं। आगे चलकर सन्त नामदेव के समय में यह खसम अरबी के पति का द्योतक स्वरूप धारण कर लिया और शून्य में लीन होना खसम से मिलना माना जाने लगा। नामदेव ने भी इसी

---

१. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३५।
२. विश्वभारती पत्रिका, वैशाख-आषाढ़२ ००४।
३. पुरातत्वनिबन्धावली, पृष्ठ १६३।
४. श्री अनन्तरामचन्द्र कुलकर्णी, मराठी 'धम्मपद' परिशिष्ट १।
५. दोहाकोष, पृष्ठ ५५।

सिद्ध-साधना से प्रभावित होकर गाया—"मैं बउरी, मेरा राम भतार"। कबीर ने भी ऐसे ही कहा—"राम मेरा पिउ, मैं राम की बहुरिया।"

नामदेव ने सरह आदि सिद्धों की ही भाँति जातिभेद, पत्थर-पूजा आदि का खण्डन किया है। उन्होंने इन बातों के लिए हिन्दू-मुसलमान दोनों को ही फटकार है—

हिन्दू अंना तुरकू काणा, इंहा ते गिआनी सिआणा।
हिन्दू पुजै देहुरा मुसलमाणु मसीत ॥
नामें साई सेविआ जह देहुरा न मसीत।
एकै पत्थर कीजै भाऊ, दूजै पाकर धरिये पाऊँ ॥
जे ओह देउ त ओहु भी देवा।
कहि नामदेवा हम हरि की सेवा ॥

पीछे हम देखेंगे कि कबीर ने भी ऐसी ही वाणी कही है और इनका कबीर पर पूर्ण प्रभाव पड़ा है। नामदेव ने भैरव, भूत, शीतला, शिव, महामाई (दुर्गा) आदि की पूजा का बड़ा मजाक उड़ाया है[१]।

सिद्धों में यह भावना थी कि बिना गुरु किये ज्ञान पाना कठिन है। अतः सभी साधक प्रथम गुरु की शरण जाते थे। सिद्ध सरहपा ने गुरु की महिमा बतलाते हुए कहा है[२]—

गुरु उवएसे अमिअ-रसु, धाव ण पीअउ जेहि।
बहु सत्थत्थ मरुत्थलहिं, तिसिए मरिअउ तेहि ॥ ५६ ॥
चित्ताचित्तवि परिहरहु, तिम अच्छहु जिम बालु।
गुरु वअणें दिढ भत्ति करु, होइ जइ सहज उलालु ॥ ५७ ॥
जीवन्तह जो णउ जरइ, सो अजरामर होइ।
गुरु उवएसें विमल मइ, सो पर धण्णा कोइ ॥ ६९ ॥

इसी भावना से प्रभावित हो गोरखनाथ ने अपने को गुरु का दास कहा है[३]। गुरु से ही समाधि सिद्ध हो सकती है और योग का अभ्यास भी। और "तब गुरु परचै साधे[४]।" इसी गुरु-महिमा की नामदेव ने इस प्रकार स्तुति की है—"सदगुरु भेटला देवा", और "ज्ञान अंजन मोको गुरु दीना।" उन्होंने यह भी कहा है कि गुरु के प्रताप से नर सुर तक हो जाता हैं—"नर से सुर होइ जात निमिख में सति गुरु बुधि सिखाई।"

नामदेव ने सिद्धों के हठयोग को ग्रहण किया था और उन्हें भी अनाहत (=अनहद) नाद की अनभूति हुई थी :—

---

१. ग्रन्थसाहब पद २८।
२. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ८–११।
३. "भणंत गोरख मछ्यन्द्र का दासा।"
४. गोरखबानी, पृष्ठ २१८।

धनि धनि ओ राधबेनु बाजै ।
मधुर मधुर अनहृत गाजै ।।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सन्तमत की साधना की मूल भावना के दृढ़ अंकुर नामदेव में विद्यमान थे, जिन्हें उन्होंने सिद्धों और नाथों की परम्परा से ग्रहण किया था ।

सन्त त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे । इन दोनों सन्तों में धार्मिक सत्संग की चर्चा 'आदि ग्रन्थ' में संग्रहीत पदों में मिलती है । सन्त त्रिलोचन के केवल चार ही पद प्राप्त हुए हैं, उनसे जान पड़ता है कि नामदेव की भाँति इन पर भी सिद्धों तथा नाथों का प्रभाव पड़ा था । इनके पदों में भी गुरु-महिमा, निर्वाण आदि के सम्बन्ध में वर्णन है :—

"गुर बिनु ततु न पाइआ[1] ।"

बिना गुरु के परमतत्व की प्राप्ति नहीं हो सकती । गुरु के उपदेशानुसार चलकर ही चौरासी लाख योनियों से मुक्त होकर निर्वाण का साक्षात्कार हो सकता है—

"लष चउरासीह जिनि उपाई, सो सिमाहु निरवाणी[2] ।"

सन्त त्रिलोचन ने भी सिद्ध सरह की भाँति मिथ्या संन्यास को बुरा कहा है—

"अन्तर मलि निरमलु नहीं कीना, बाहिर भेष उदासी ।
हिरदै कमलु घटि ब्रह्म न चीन्हा, काहे भइआ संनिआसी ।।"

सिद्ध सरह ने इसी भाव से कहा है कि घर में रहो या वन में, अपने चित्त को निर्मल करो, केवल वेष बदलने से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती—

णउ घरे णउ वणें बोहि ठिउ, एहु परिआणहु भेउ ।
णिम्मल चित्त सहावता, करहु अविकल सेउ[3] ।।

इन पूर्वकालीन सन्तों में किस प्रकार बौद्ध-विचारधारा प्रविष्ट हुई थी और इनका उससे क्या सम्बन्ध है, इस तथ्य को उक्त वर्णन से जाना जा सकता है ।

सामान्य परिचय

इन पूर्वकालीन सन्तों का सामान्य परिचय भी जानना आवश्यक है । इनके परिचय से इनकी धर्म-भावना एवं बौद्धधर्म के प्रभाव को समझने में सहायता मिलेगी ।

सन्त जयदेव

सन्त जयदेव बंगाल के सेनवंशी राजा लक्ष्मणसेन के दरबारी कवि थे और लक्ष्मणसेन का राज्यकाल ईस्वी सन् ११७९ से १२०५ तक माना जाता है । अतः जयदेव का भी समय

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ १४२ । २. वही, पृष्ठ १४२ ।
३. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७ ।

यही है। इनका जन्म वीरभूमि जिले में अजय नदी के उत्तर स्थित किन्दुविल्व नामक ग्राम में हुआ था[१]। इनके पिता का नाम भोजदेव तथा माता का नाम राधादेवी था[२]। ये अपने समय के प्रसिद्ध कवि थे। कबीरदास ने इन्हें कलियुग का जागरूक सन्त माना है और चन्दबरदाई ने—'जयदेव अहं कवी कब्बिरायं, जिनै केल कित्ती गोविन्द गायं' कहकर कविराज माना है।

डॉ० बड़थ्वाल ने इनकी तीन रचनाएँ गिनाई हैं—रसना राघव, गीतगोविन्द और चन्द्रालोक[३]। किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी ने केवल 'गीतगोविन्द' को ही इनकी रचना मानी है और आदिग्रन्थ में मिलने वाले पदों के रचयिता जयदेव को इनसे भिन्न मानने का संशय करते हुए भी गीतगोविन्द और आदिग्रन्थ के पदों के रचयिता सन्त जयदेव को एक ही मानकर अपनी व्याख्या की है, फिर भी अपना निश्चित दृढ़ मत किसी एक के पक्ष में व्यक्त नहीं किया है[४]।

हम श्री केदारनाथ शर्मा के इस कथन से सहमत हैं कि सन्त जयदेव की एक ही रचना है—गीतगोविन्द। प्रसन्नराघव तथा चन्द्रालोक दो भिन्न जयदेव नामक लेखकों की रचनाएँ हैं[५]। प्रसन्नराघव तथा चन्द्रालोक के रचयिता को कबीर कलियुग का जागरूक सन्त तथा भक्त नहीं मान सकते और न तो चन्दबरदाई गोविन्द की क्रीड़ा के गायक रूप में कविराज ही मानते। इसमें भी किसी प्रकार के सन्देह के लिए अवकाश नहीं है कि आदिग्रन्थ के पद-रचयिता गीतगोविन्दकार से भिन्न हैं, कारण, हम पहले कह आये हैं कि गीतगोविन्द और आदिग्रन्थ में आये दोनों पदों पर बौद्ध छाप है और दोनों ही स्थलों में बौद्धधर्म के तत्व तथा 'हरि' अनुस्मृति प्रधान रूपसे अभिलक्षित होते हैं। जिस प्रकार गीतगोविन्द कलियुगी पापों के शमनार्थ भक्ति-भाव से लिखा गया है[६] और जिसका प्रधान उद्देश्य हरिस्मरण से आनन्द की प्राप्ति है[७], उसी प्रकार आदिग्रन्थ वाले पदों में भी कहा है कि हरिभक्ति, गोविन्द का जाप और परमात्मा (जैदेव) में मन लगाने से निर्वाण का साक्षात्कार होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि दोनों की भावना एक है और दोनों ही व्यक्तित्व एक है।

श्री परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन समीचीन है कि जयदेव के समय में बौद्ध सिद्धों का समय अभी-अभी व्यतीत हुआ था और नाथपन्थ एवं भक्तिमार्ग की धारायें प्रायः समान

---

१. वर्णितं जयदेवकेन हरेरिदं प्रणतेन।
किन्दुबिल्वसमुद्रसम्भवरोहिणीरमणेन ॥ ८ ॥ तृतीय सर्ग, गीतगोविन्द।
२. श्रीभोजदेवप्रभवस्य राधादेवीसुत श्रीजयदेवकस्य—गीतगोविन्द, द्वादश सर्ग, ५।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ, ३३।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ९९।
५. गीतगोविन्द की 'इन्दु' टीका की भूमिका, पृष्ठ ५।
६. श्रीजयदेवभणितमतिललितम्।
कलिकलुषं शमयतु हरिरमितम् ॥ ८ ॥ सप्तम सर्ग।
७. श्रीजयदेवभणितमतिसुन्दर मोहनमधुरिपुरूपम्।
हरिचरणस्मरणं प्रति सम्प्रति पुण्यवतामनुरूपम् ॥ ८ ॥ द्वितीय सर्ग।

रूप से एक साथ ही प्रवाहित हो रही थीं। इन दोनों का योग एक विशेष रूप धारण करता जा रहा था। यही कारण है कि जयदेव की कविताओं में सहजयान के 'प्रज्ञा' तथा 'उपाय' ने राधा और कृष्ण का स्वरूप धारण कर लिया और महासुख की अन्तिम अवस्था ही अलौकिक प्रेम में रूपान्तरित हो गयी, जिसका प्रभाव आगे के सन्तमत पर पड़ा[1]।

सन्त सधना

सन्त सधना अपने समय के प्रसिद्ध सन्त थे। सन्त रविदास ने 'नामदेव कबीर त्रिलोचनु, सधना सैणु तरै' कहकर इन्हे स्मरण किया है। इनके जीवन के सम्बन्ध में विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। किंवदन्ती है कि ये कसाई जाति के थे और मांस बेचने का कार्य करते थे, किन्तु किसी जीव की हिंसा स्वयं नहीं करते थे। ये अहिंसक तथा निर्गुण सन्त थे। आदिग्रन्थ में इनका केवल एक पद संग्रहीत है और उसी से इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की कल्पनाएं तथा किंवदन्तियाँ प्रचलित है। हम केवल इतना ही कह सकते हैं कि ये नामदेव के समकालीन थे और परम्परा से इन्हें एक महान सन्त माना जाता है। डॉ० ग्रियर्सन ने सधना पन्थ की भी चर्चा की है और बतलाया है कि यह मत काशी में प्रचलित है, किन्तु यह यथार्थ नहीं जान पड़ता, क्योंकि काशी में इस समय इस नाम का कोई मत नहीं है।

लालदेद

हम कह आये हैं कि सन्त लालदेद एक महिला सन्त थीं। ये कश्मीर की रहनेवाली थीं। इनका जन्म ढेढ़वा नामक मेहतर की जाति में हुआ था। इनकी लल्ला योगिनी नाम से भी प्रसिद्धि थी। ये भ्रमणशील तथा धर्म-प्रचारिका थीं। अपने धर्म के प्रचारार्थ ये नाचती-गाती भी थीं। प्रसिद्ध मुसलिम फकीर सैयद अली हमदानी से इनकी मैत्री थी। इनका प्रभाव जनता पर विशेष पड़ा था। ये निर्गुणी उपदेश देते हुए भी मूर्ति-पूजा की समर्थक थीं। दु:ख से मुक्ति के लिए परमात्मा को शिव, केशव, जिन या नाथ जिस भी रूप में विश्वास करके धर्माचरण करना अपेक्ष्य है—यही इनकी मूल भावना थी। इन पर नाथपन्थी शैवों का अधिक प्रभाव पड़ा था। हमने पहले बतलाया है कि भारत के पश्चिमोत्तर प्रदेशों में अलखधारी नामक एक सम्प्रदाय प्रचलित है, जिसके अनुयायी लालबेग को अपने धर्म का पुरस्कर्त्ता मानते हैं और उन्हे 'शिव'की संज्ञा देते हैं। विद्वानों का अनुमान है कि यह लालदेद का ही रूपान्तरित नाम है[2]।

सन्त वेणी

सन्त वेणी कबीर के पूर्ववर्ती सन्त थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में बहुत कम परिचय प्राप्त होता है। आदिग्रन्थ में इनके तीन पद संग्रहीत हैं और गुरुग्रन्थ साहब में इनके सम्बन्ध में

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ९९।

२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १०३।

केवल इतना ही उल्लेख है—'वेणी कउ गुरि कीउ प्रगासु, रेमन तभी होहि दासु'[1]। इससे ज्ञात होता है कि वेणी को सद्गुरु द्वारा ज्ञान प्राप्त हुआ था। इनके आदिग्रन्थ में संग्रहीत तीनों पदों पर सिद्ध-नाथों का गहरा प्रभाव पड़ा है और सन्तमत की भावना व्यक्त हुई है। गुरु-महिमा, निरंजन राम, अनहदनाद आदि के साधक सन्त वेणी एक उच्च कोटि के योगी भी थे। इन्होंने आध्यात्मकी अनुभूति को प्रधान लक्ष्य माना है और मूर्ति-पूजा, बाह्याडम्बर आदिको फोकट' धर्म कहा है, जो लोग इनमें पड़े रहते हैं वे ठग, वंचक तथा लम्पट हैं।

सन्त नामदेव

सन्त नामदेव का जन्म सन् १२७० में सतारा जिले के नरसी बमनी ग्राम में हुआ। ये महाराष्ट्र के प्रसिद्ध सन्त ज्ञानेश्वर के समकालीन थे। इन्होंने पण्ढरपुर के विट्ठल को अपना इष्टदेव मानकर साधना प्रारम्भ की। इनके विट्ठल निर्गुण ब्रह्म के रूप में इनके हृदय में विराजमान थे और उसे ही ये सर्वव्यापी तथा अन्तर्यामी मानकर साधना करते थे। कबीरदास ने इनका भक्तों के रूप में स्मरण किया है, जिसका वर्णन पहले किया गया है। इनके गुरु विशोवा खेचर थे। आदिग्रन्थ में इनके ६२ पद संग्रहीत है।

सन्त नामदेव के सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक तथा अलौकिक बातें प्रसिद्ध हैं। जो इनकी आध्यात्मिक चिन्तना एवं साधना की सफलता की परिचायिका हैं। इनकी ख्याति पंजाब तक थी। महाराष्ट्र मे तो इनके अनुयायियों की संख्या आज भी बहुत है। इनकी प्रसिद्धि के ही कारण अनेक सन्तोंने अपना नाम इन्हीं के नामपर रख लिया है, जिससे प्रायः भ्रम होनेकी सम्भावना रहती है। सन्त नामदेव कबीर के आदर्श सन्त थे। कबीर पर इनकी वाणी का बहुत प्रभाव पड़ा था। इनका देहान्त ई० सन् १३५० में हुआ था।

सन्त त्रिलोचन

सन्त त्रिलोचन नामदेव के समकालीन थे। इनका जन्म ई० सन् १२६७ में हुआ था। सन्त रविदास ने इन्हें ज्ञान-प्राप्त सन्त माना है[2]। ये भी महाराष्ट्र के ही रहने वाले थे। आदिग्रन्थ में इनके केवल चार पद संग्रहीत हैं। नामदेव और त्रिलोचन में धार्मिक सत्संग की भी चर्चा मिलती है। सन्त त्रिलोचन अवस्था में नामदेव से बड़े थे, अतः त्रिलोचन ने नामदेव से पूछा—'हे नामदेव, तुम क्यों धन्धे मे लगे हो, रामनाम की ओर चित्त क्यों नहीं लगाते ?' सन्त नामदेव ने उत्तर दिया—'हे त्रिलोचन, मुख द्वारा रामनाम का स्मरण करते रहो, किन्तु हाथ-पैर को सदा काम में लगाये हुए चित्त को निरंजन में लीन रखो[3]।' इस वार्ता से सन्त-

---

१. गुरुग्रन्थ साहब, पृष्ठ ११९२।

२. नामदेव कबीर त्रिलोचन सधना सैन तरे—सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ८१।

३. नामा माया मोहिया, कहै तिलोचन मीतु।
काहे छापे छाइलै, राम न लावहि चीतु।
कहे कबीर त्रिलोचना, मुख ते राम सँभालि।
हाथ पाउँ कर काम सभु, चीत निरंजन नालि ॥—आदिग्रन्थ, पृष्ठ ७४०।

मत के अनुसार आदर्श जीवन का सुन्दर चित्र प्रस्तुत हो जाता है। सन्त त्रिलोचन कबतक जीवित रहे, इसका पता नहीं लगता, फिर भी डॉ० बड़थ्वाल ने ओछड़े वाले हरिरामजी व्यास के इस कथन को समीचीन माना है कि त्रिलोचन का देहान्त स्वामी रामानन्द से पूर्व ही हो गया था और उस समय तक नामदेव भी दिवंगत हो गये थे[1]।

साहित्य और समीक्षा

मध्ययुगीन हिन्दी साहित्य के प्रमुख सन्त कबीर के पूर्वकालीन जिन छः सन्तों का हमने परिचय दिया है और उनके बौद्धधर्म के साथ सम्बन्ध को बतलाया है, उनके अतिरिक्ति भी अनेक सन्त रहे होंगे जो अपनी अनुभूतियों का स्वयं अनुभव कर प्रत्येक-बुद्धों की भाँति स्वान्तः सुखाय ही धर्माचरण एवं ज्ञान-परिचर्या कर शान्त हो गये होंगे अथवा अपने संसर्ग में आनेवाली जनता को अपनी आध्यात्मिक अनुभूतियों के किंचित अभिव्यक्ति मात्र से ही सन्तोष कर परम निरंजन मे लवलीन हो गये होंगे। सम्प्रति जिन महाभाग सन्तों की वाणी के कुछ पदों को लोक-उद्धारक सिख-गुरुओं ने ग्रन्थसाहब में सँजोकर रखा है, वे ही हमारे लिए उन सन्तों के स्वरूप है। उनका हृदय, आचरण, भावना, पूजा, साधना और व्यक्तित्व सब कुछ उन्हीं मे सन्निहित है। इन सन्तों में से किसी भी सन्त का अपना अलग से लिखित या संकलित ग्रन्थ अथवा साहित्य प्राप्त नहीं हुआ है। उनके नाम पर कुछ संग्रह बने भी हैं, किन्तु वे उनके नहीं है, उनके तो सम्पूर्ण ज्ञान-गरिमा तथा तत्व-चिन्तन को ग्रन्थसाहब ने वचनामृत तुल्य सुरक्षित कर लिया है। यह हमारे लिए परम सौभाग्य की बात है, अन्यथा इन सन्तों के नाम अवशेष भी रहते, तो इनके स्वरूप का ज्ञान नहीं हो पाता।

ग्रन्थसाहब में सुरक्षित इन सन्तों का जो साहित्य है, वह पूर्णरूप से शुद्ध, अविकल एवं अपने मूल रूप मे है और यही इनकी प्रमुख विशेषता है। यह सुरक्षित साहित्य भारतीय संस्कृति एवं धर्म की अमूल्य थाती है, जिसमे इन सन्तो की एक दीर्घकालीन साधना की अनुभूति सम्पुटित है। यह उल्लेखनीय है कि इन सन्तों के वही पद संग्रहीत किये गये होंगे जो अत्यधिक प्रसिद्ध, प्रभावोत्पादक, दार्शनिक एवं धार्मिक पक्षों के द्योतक तथा लोक-रुचि के अनुकूल होंगे। अतः ये पद बहुत मूल्यवान् होते हुए ऐतिहासिक भी हैं।

समाविष्ट बौद्धधर्म के तत्वों का विवेचन

पूर्वकालीन सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव किस अंश तक पड़ा है और इनकी वाणियों उसका किस प्रकार दर्शन होता है, इसका विवेचन पहले किया जा चुका है। हम देखते हैं इन सन्तों का समय लगभग ई० सन् १२०० से प्रारम्भ होता है और लगभग डेढ़ सौ वर्षों सकी अन्तिम अवधि समाप्त हो जाती है। इनमें जयदेव प्रथम और नामदेव तथा त्रिलोचन म हैं। हम पहले कह आये है कि सिद्धों का समय ई० सन् १२०० तक था और उसके त् नाथों और सन्तों का युग आता है। यद्यपि नाथ सम्प्रदाय जालन्धरपा से ही आरम्भ

हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३६।

माना जाता है, जो गोरखनाथ के समय में पूर्णता को प्राप्त हुआ और उसके पश्चात् सन्तों का प्रादुर्भाव हुआ। हम देखेंगे कि सन्त कबीर ने सिद्धों और नाथों का विरोध किया है[1], किन्तु उन्होंने सिद्धों और नाथमत को ही ग्रहण भी किया है। वास्तव मे उनके पास तक सिद्धों और नाथों की वाणी प्रत्यक्ष रूप से नहीं पहुँची थी, किन्तु इन पूर्ववर्ती सन्तों के लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता। इनके समय मे अभी-अभी सिद्धों-नाथों का समय समाप्त हुआ था। बंगाल से लेकर कश्मीर तक और महाराष्ट्र से लेकर नेपाल तक बौद्धधर्म की छाप अबतक थी। उड़ीसा में जगन्नाथ बुद्धरूप माने जाते थे। जयदेव ने हरि को बुद्धशरीर ही कहा। वैष्णवों ने भगवान् बुद्ध को अपना एक अवतार मान लिया और बुद्धावतार का स्मरण कर सभी धार्मिक कार्य होने लगे। यह ऐसा समय था जब कि बौद्धधर्म एक नवीन रूप में परिवर्तित होने लगा था और उसकी देशना साधारण-जन में जो सदियों से व्याप्त थी, वह सन्तों की भावना बनकर सन्तवाणी मे स्फुटित होने लगी। इसीलिए हम देखते है कि पूर्ववर्ती सन्तों मे दोनों प्रकार की प्रवृत्ति है, वे शिव को भी मानते हैं, हरि, कृष्ण और राम को भी मानते हैं, किन्तु बुद्ध को प्रत्यक्ष रूप से अपना परम उपादेस्य-देव न मानते हुए भी अलख, निरंजन, शून्य, अन्तर्यामी, सिद्धिपद, निर्वाण-स्वरूप, विट्ठल, उद्धारक आदि रूपो मे मानते है और हठयोग से साधना कर उस परमात्मा स्वरूप निरंजन में लवलीन हो जाना उनका परम लक्ष्य है। उस परमज्ञान स्वरूप परमात्मा को सिद्धों की ही भाँति सर्वव्यापी और सर्वगत मानते हैं[2]। ये सगुण के भी उपासक हैं और निर्गुण के भी, किन्तु इनकी प्रवृत्ति निर्गुण की ओर ही अधिक झुकी है। इनमें से कुछ मूर्ति-पूजा का खण्डन भी करते है और कुछ मूर्ति-पूजा मे विश्वास कर निरंजन ब्रह्म की चिन्तना भी करते हैं। तीर्थ करने से शुद्धि में इन्हे विश्वास नहीं है। ये सदाचार की शिक्षा देते हैं और अनित्य, दुःख तथा किसी रूप में अनात्म की भी चर्चा करते है, यद्यपि बौद्धों की मूल अनात्म-भावना से अपरिचित है। अपने को शून्य मे मिला देना ही इनका परम उद्देश्य है और इस शून्य की प्राप्ति पवन-निरोध से उत्पन्न अनहदनाद से होती है। उसकी प्राप्ति परम सुख एवं परमानन्द की अवस्था है, जो साक्षात् निर्वाण है उस निर्वाण की प्राप्ति के लिए ही संन्यासी होना है, चित्त को राग, लोभ आदि कलुष से शुद्ध करना है, वह निर्वाण बाह्याडम्बरों से नहीं प्राप्त हो सकता।

इस प्रकार हम देखते है कि इन सन्तों की प्रवृत्ति का कबीर पर प्रभाव पड़ा था, किन्तु कबीर के सन्तभाव का अभी पूर्ण परिपाक नहीं हुआ था, अतः इन सन्तों को सगुण और निर्गुण सम्प्रदायों के बीच कड़ी समझना चाहिए। किन्तु यह भी द्रष्टव्य है कि इनमें सगुणवादी और निर्गुवाणवादी दोनों से कुछ अन्तर है। डॉ० बड़थ्वाल का यह कथन सर्वथा समीचीन है कि ये सन्त न तो सगुणवादियों की भाँति परमात्मा की निर्गुण सत्ता की अवहेलना

---

१. सिध चौरासी, नाथ नौ बीचै सबै भुलान।
बीचै सबै भुलान भक्ति की मारग छूटी।
हीरा दिहिन है डारि लिहिन इक कौड़ी फूटी॥ —सन्तकाव्य, पृष्ठ ५२२।

२. सअलु णिरन्तर बोहि ठिअ—सरहपा—दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।

कर उसकी प्रतिभासिक सगुण सत्ता को ही सब कुछ समझते हैं और न निर्गुणियों को भाँति मूर्ति-पूजा और अवतारवाद को समूल नष्ट ही कर देना चाहते हैं[1]। वे बाह्य कर्म-काण्ड को न मानते हुए भी प्रारम्भिक अवस्था मे उसकी उपयोगिता को स्वीकार करते हैं। इन सन्तों में उपर्युक्त भावना होते हुए भी वे सभी प्रवृत्तियाँ विद्यमान हैं, जिनसे कि निर्गुण सन्तमत का उदय हुआ। आगे डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि इन सन्तों में जातिपाँति के सब बन्धनों को तोड़ देने की प्रवृत्ति, अद्वैतवाद, भगवदनुराग, विरक्त और शान्त जीवन, बाह्य कर्मकाण्ड से ऊपर उठने की इच्छा सब विद्यमान थी। इस प्रकार इन सन्तों ने कबीर के लिए मार्ग प्रशस्त किया, जिससे इन प्रवृत्तियों को चरमावस्था तक ले जा सकना उनके लिए आसान हो गया[2]।

इन पूर्वकालीन सन्तों मे प्रायः सभी सन्त निम्न जाति के थे। निम्न जाति के व्यक्तियों को भगवान् बुद्ध ने ही भिक्षु बनाना प्रारम्भ किया था और उन्हें अपने संघ मे समान अधिकार प्रदान किया था। यही नहीं, जातिभेद के मूल को ही उन्होंने बौद्धसंघ से उखाड़ फेंका था और नाई जाति के उपालि को विनय मे सर्वश्रेष्ठ (एतदग्र) की उपाधि से विभूषित किया था। किसी भी जाति, धर्म, वर्ण के व्यक्ति बुद्धधर्म में दीक्षा लेकर उसी प्रकार एक हो जाते थे जैसे कि छोटी-बड़ी सभी नदियाँ समुद्र में मिलकर एक हो जाती है और उनके जल के स्वाद में कोई अन्तर नहीं रह जाता। इसी भावना का यह फल था कि सारी बौद्ध-परम्परा जातिभेद-विहीन रही और उसका ही प्रभाव इन सन्तों पर भी पड़ा। इस भावना से प्रेरित होकर निम्न जाति के लोग भी संन्यास ग्रहण करने लगे थे। इसीलिए बनिया, खटिक, कसाई, डोम, चमार, धुनियां, मेहतर सभी को साधना करने का अवसर प्राप्त हुआ।

इन पूर्वकलीन सन्तों में लालदेद महिला-सन्त थीं और वे घूम-घूमकर अपने धर्म का प्रचार करती थीं। इनके नाम मात्र से बुद्धकालीन भिक्षुणियों का स्मरण हो आता है। सर्वप्रथम तथागत ने ही स्त्रियों को भिक्षुणी बनाया था और तभी से महिलाओं के लिए संन्यास का मार्ग प्रशस्त हुआ था। सिद्धकाल में ये भिक्षुणियाँ योगिनी नाम से जानी जाती थीं और घूम-घूमकर सहज भावना का प्रचार करती थीं। उड़ीसा के राजा इन्द्रभूति की बहिन लक्ष्मीकरा तक योगिनी बन गयी थी। ऐसे ही मणिभद्रा, मेखला और कनखला भी प्रसिद्ध सिद्ध-योगिनियाँ थीं, इन्हीं का यह प्रभाव था कि लालदेद जैसी महिलाओं ने इस समय भी संन्यास ग्रहणकर धर्म-प्रचार को ही अपना लक्ष्य बनाया।

इस प्रकार हमने देखा कि पूर्ववर्ती सन्तों की मूलभावना, साधना, आचार-व्यवहार आदि पर बौद्धधर्म की पूरी छाप पड़ी थी। हम कह सकते हैं कि वे हिन्दू और बौद्ध दोनों प्रवृत्तियों के मिश्रण थे। वे वैष्णव, शैव, शाक्त आदि के अनुयायी होते हुए भी अप्रत्यक्ष रूप से बौद्ध भी थे। उनकी वाणी में, उनके चिन्तन में और उनके आचरण में अपने रूपान्तरित स्वरूप में बौद्धधर्म विद्यमान था।

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४२।
२. वही, पृष्ठ ४२–४३।

चौथा अध्याय

[अ] प्रमुख सन्त कबीर तथा बौद्धधर्म का समन्वय

कबीर का जीवन वृत्तान्त

कबीरदास सन्तमत के प्रमुख प्रवक्ता थे। वे एक युग-निर्माता एवं धर्म-प्रवर्त्तक थे। उनका जन्म उसी प्रकार इस देश में हुआ था, जिस प्रकार कि अन्य महापुरुषों का हुआ करता है। उनके जीवन का प्रमुख लक्ष्य तथा कार्य लोकोद्धार था, किन्तु ऐसे महापुरुष के जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में अनेक प्रकार के विवाद हैं। कबीरपन्थ के अनुयायी मानते हैं कि कबीर एक अजर-अमर अलौकिक पुरुष हैं। वे संसार में प्राणियों (हंसों) के उद्धारार्थ समय-समय पर अवतरित हुआ करते हैं[१]। वास्तव में कबीर एक महान् व्यक्तित्व थे। उन्होंने अपने उपदेशामृत से महान् लोक-कल्याण किया। आध्यात्म-ज्योति से प्रकाशमान् महापुरुषों का व्यक्तित्व साधारणजन से भिन्न तथा अचिन्त्य होता है, यही कारण है कि सन्त कबीर का जीवन वृत्तान्त अभी तक विवादग्रस्त बना हुआ है। प्रामाणिक साक्ष्यों के अभाव में विद्वानों ने उनके जीवन वृत्तान्त के सम्बन्ध में अपने अनेक प्रकार के विचार व्यक्त किये हैं। कुछ विद्वान्[२] उनकी जन्मतिथि सम्वत् १४५५ मानते हैं, जैसा कि परम्परा से प्रचलित है और सम्प्रति कबीरपन्थी जन-समुदाय में व्यवहृत है[३]। कुछ विद्वान् सम्वत् १४५६ कबीरदास का आविर्भाव-काल मानते हैं[४]। डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल ने सम्वत् १४२७ के आस-पास मानने का सुझाव दिया है[५] और परशुराम चतुर्वेदी ने १४२५ को ही कबीर की वास्तविक जन्मतिथि सिद्ध की है[६]। जैसा कि हम पहले कह आये हैं,[७] कबीर ने जयदेव और नामदेव को जागरूक सन्तों के रूप में स्मरण किया है,[८] अतः ये दोनों सन्त कबीरदास के पूर्ववर्ती थे।

---

१. कबीर चरितबोध।
२. डॉ० रामकुमार वर्मा, सेन, भण्डारकर, मेकालिफ, हरिऔध, मिश्रबन्धु, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव आदि।
३. चौदह सौ पचपन साल गये, चन्द्रवार एक ठाठ ठए।
   जेठ सुदी बरसायत को पूरनमासी तिथि प्रगट भए॥
४. श्यामसुन्दर दास, रामचन्द्र शुक्ल, राहुल सांकृत्यायन आदि।
५. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ५५।
६. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ७३३।
७. तीसरा अध्याय, पृष्ठ १२१।
८. "कलि जागे नामां जैदेव"। (कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २१६) तथा "सनक सनंदन जैदेव नामा" (कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९९)।

इनमें जयदेव का समय बारहवीं शताब्दी है और नामदेव का देहान्त सन् १३५० (विक्रमी सम्वत् १४०७) में हुआ था[१]। स्वामी रामानन्द और सिकन्दर लोदी कबीर के समकालीन थे। इनमें रामानन्द का समय ई० सन् १२९९ (वि० सं० १३५६) से १४१० (वि० सं० १४६७) माना जाता है[२]। यह भी माना जाता है कि रामानन्द दीर्घजीवी थे[३]। सिकन्दर लोदी का समय ई० सन् १४८८ से १५१७ है,[४] वह सन् १४९४ में वाराणसी आया था और कबीर से उसकी भेंट हुई थी[५]। तात्पर्य यह कि कबीरदास का जन्म ई० सन् १३५० तथा देहान्त ई० सन् १४९४ के पश्चात् होना चाहिए। अतः पूर्व-परम्परा से माना गया समय ही उचित जान पड़ता है, इसमें किसी भी प्रकार की इतिहास-विरोधी बात नहीं आती। यदि हम पूर्व-परम्परा को ही मान लें, तो कबीरदास का जन्म ई० सन् १३९८ (वि० सं० १४५५) और देहावसान ई० सन् १५१८ (वि० सं० १५७५) होता है तथा वे १२० वर्ष की आयुवाले होते हैं, जो कबीर जैसे महात्मा के लिए अधिक नहीं है। परशुराम चतुर्वेदी और डॉ० बड़थ्वाल की निश्चित तिथियाँ समीचीन नहीं। बिना किसी पुष्ट प्रमाण के एक महापुरुष के जन्म एवं देहावसान की तिथि की कल्पना कदापि उचित नहीं मानी जा सकती। अतः हमारा दृढ़ विश्वास है कि कबीर की जन्मतिथि विक्रमी सं० १४५५ और देहावसान काल १५७५ ही मानना युक्तिसंगत है।

कबीरदास के जन्मस्थान के सम्बन्ध में भी विवाद है। धार्मिक परम्पराओं से कबीर का जन्म काशी में हुआ था, किन्तु कुछ लोगों ने इस पर सन्देह किया है। उनमें से कुछ का मत है कि कबीर मगहर में उत्पन्न हुए थे और वहाँ से काशी आकर बस गये थे, फिर अन्तिम समय में मगहर चले गये थे, जहाँ उनका देहावसान हुआ[६]। कुछ लोगों का कथन है कि कबीर साहब का जन्म काशी या काशी के पास न होकर आजमगढ़ जिले के बेलहरा ग्राम में हुआ था[७]। किन्तु परशुराम चतुर्वेदी,[८] डॉ० रामकुमार वर्मा[९] आदि विद्वानों ने कबीर का जन्म काशी में ही माना है, हम भी इसी पक्ष का प्रतिपादन करते हैं। कबीर चरितबोध में कहा गया है कि सत्यपुरुष का तेज काशी के लहर तालाब में उतरा था और

---

१. तीसरा अध्याय।

२. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ७१-७५, तथा हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१।

३. बहुत काल वपु धार के प्रनत जनम को पार दियो।
श्री रामानन्द रघुनाथ ज्यों, दुतिय सेतु जगतारन कियो ॥

४. इतिहास प्रवेश, पृष्ठ २९८।

५. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ १००।

६. डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, श्यामसुन्दर दास आदि।

७. बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर तथा विचार-विमर्श (पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय द्वारा लिखित, पृष्ठ १३, १५)।

८. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १३९-१४५।

९. कबीर, पृष्ठ १८।

अनुरागसागर के अनुसार बालक कबीर काशी के निकट पुरइन के एक पत्ते पर लेटे हुए नीरू जुलाहे की स्त्री को मिले थे[१]। कबीरदास ने भी अपने को काशी का ही बतलाया है[२]। किन्तु केवल एक पद के कारण कबीर के जन्मस्थान-निर्धारण मे सन्देह किया जाता है, वह पद है—

पहिले दरसन मगहर पाइओ,
पुनि कासी बसे आई[३]।

हम परशुराम चतुर्वेदी[४] के इस कथन से सहमत है कि इसका तात्पर्य केवल यही है कि कबीर पर्यटन करते हुए पहले मगहर गये थे और वहाँ उन्हे 'सत्य' का दर्शन मिला था, फिर वे काशी आ गए थे और सम्पूर्ण जीवन काशी मे ही व्यतीत कर अन्तिम काल में मगहर चले गए थे। मगहर में ही उनका देहावसान हुआ था[५]। पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव का मत है[६] कि इस पद मे पाठ-दोष आ गया है, इसे "पहिले दरसन कासी पायो पुनि मगहर बसे आई" होना चाहिए अथवा यहाँ 'काशी' का अर्थ लौकिक काशी नहीं, प्रत्युत उनकी काया में ही विद्यमान सर्वत्र सुलभ वास्तविक मुक्तिदायिनी काशी है, क्योंकि काशी तो कहीं भी सुलभ है,[७] इसीलिए उन्होंने "जस कासी तस मगहर ऊसर" माना था, किन्तु उक्त पद की पहली पंक्ति में कबीर ने कहा है—"तोरे भरोसे मगहर बसिओ मेरे मन की तपनि बुझाई", तात्पर्य कबीर का कथन है कि हे परमात्मा! आपके आश्रय से मैं मगहर में आकर बस गया हूँ, क्योंकि आपने मेरे मन के ताप को शान्त कर दिया, इस मगहर में ही मैंने पहले आपका दर्शन पाया था, फिर काशी में जा बसा था (इसीलिए तो फिर आपके भरोसे यहाँ मगहर में आकर बस गया हूँ), अतः यहाँ न तो पाठ-दोष है और न 'काया कासी' को ही लक्ष्य कर उक्त पद कहा गया है।

कबीरदास ने अपनी रचनाओं में अपने को 'जुलाहा' और 'कोरी' जाति का कहा है :—

---

१. अनुराग सागर, पृष्ठ ८४।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७३, "तूँ बांभन मैं कासी का जुलाहा चीन्हि न मोर गियाना" और भी "सकल जनम सिवपुरी गंवाया" (पृष्ठ १७६)। "बहुत बरस तपु किआ कासी, मरनु भइआ मगहर को वासी", "अब कहु राम कवन गति मोरी, तजीले बनारस मति भई थोरी" (गुरुग्रंथ साहब, पद १५)।
३. गुरुग्रंथ साहब, पद ३।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ १४२।
५. मरनु भइआ मगहर को वासी (गुरुग्रंथ साहब, पद ३), मरती बार मगहर उठि आइआ (वही, पद ३), जौ कासी तन तजै कबीरा तौ रामै कौन निहोरा तथा किआ कासी, किआ मगहर ऊखरु राम रिदै जउ होई। —कबीर, हिज बायोग्राफी, पृष्ठ ४१।
६. कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ ३४६।
७. मन मथुरा दिल द्वारका, काया कासी जानि।

(१) हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी[१] ।
(२) षाड़ बुनै कोली मैं बैठी मैं षूँटा मैं गाड़ी[२] ।
(३) कहहिं कबीर करम से जोरी, सूत कुसूत बिने भल कोरी[३] ।
(४) सूतै सूत मिलाये कोरी[४] ।
(५) जाति जुलाहा मति कौ धीर[५] ।
(६) कहै कबीर जुलाहा[६] ।
(७) तू बांभन मैं कासी का जुलाहा[७] ।
(८) दास जुलाहा नाम कबीरा[८] ।
(९) जाति जुलाहा नाम कबीरा[९] ।
(१०) कहै जुलाह कबीरा[१०] ।
(११) जुल्है तनि बुनि पान न पावल[११] ।
(१२) जाति भया जुलाहा[१२] ।
(१३) यूं ढुरि मिल्या जुलाहा[१३] ।
(१४) जग जीतैं जाइ जुलाहा[१४] ।
(१५) कबीर जुलाहा भया पारखू[१५] ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ऐसी जाति में उत्पन्न हुए थे, जो जुलाहा और कोरी दोनों ही मानी जाती थी, जिसका परम्परागत उद्यम सूत कातना तथा वस्त्र बुनना था। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों[१६] का कहना है कि वे जुलाहा तो थे, किन्तु मुसलमानी जुलाहा थे, इस बात की पुष्टि गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जबजी, तुकाराम आदि ने की है और यही बात खजीनतुल असफिया, दबिस्ताने मजहिब, अनुरागसागर, कबीर कसौटी, डॉ० भण्डारकर, वेस्टकॉट आदि ने भी कही है[१७]। सन्त रैदास और धन्ना ने भी कबीर को ऐसा जुलाहा बतलाया है कि जिनके कुल में ईद और बकरीद मनाई जाती थी

१. बानी, पद ३४६। तथा कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०५।
२. बानी, पद १०।
३. बीजक, रमैनी २८।
४. कबीर चरित्रबोध, पृष्ठ ६।
५. बानी, पद १२४। कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७३।
८. वही, पृष्ठ १८१।
९. कबीर, पृष्ठ ३१०।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९५।
११. वही, पृष्ठ १०४।
१२. वही, पृष्ठ १८१।
१३. वही, पृष्ठ २२१।
१४. वही, पृष्ठ २२१।
१५. कबीर, पृष्ठ २९०।
१६. परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० त्रिगुणायत, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।
१७. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १४६।

(१) हरि को नाम अभै पद दाता कहै कबीरा कोरी[1] ।
(२) षाड़ बुनै कोली मै बैठी मैं षूँटा मैं गाड़ी[2] ।
(३) कहहिं कबीर करम से जोरी, सूत कुसूत बिने भल कोरी[3] ।
(४) सूतै सूत मिलाये कोरी[4] ।
(५) जाति जुलाहा मति कौ धीर[5] ।
(६) कहै कबीर जुलाहा[6] ।
(७) तू बांभन मैं कासी का जुलाहा[7] ।
(८) दास जुलाहा नाम कबीरा[8] ।
(९) जाति जुलाहा नाम कबीरा[9] ।
(१०) कहै जुलाह कबीरा[10] ।
(११) जुलहै तनि बुनि पान न पावल[11] ।
(१२) जाति भया जुलाहा[12] ।
(१३) यूं ढुरि मिल्या जुलाहा[13] ।
(१४) जग जीतैं जाइ जुलाहा[14] ।
(१५) कबीर जुलाहा भया पारषू[15] ।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि कबीर ऐसी जाति में उत्पन्न हुए थे, जो जुलाहा और कोरी दोनों ही मानी जाती थी, जिसका परम्परागत उद्यम सूत कातना तथा वस्त्र बुनना था। इस सम्बन्ध में दो मत नहीं हैं। कुछ विद्वानों[16] का कहना है कि वे जुलाहा तो थे, किन्तु मुसलमानी जुलाहा थे, इस बात की पुष्टि गुरु अमरदास, अनन्तदास, रज्जबजी, तुकाराम आदि ने की है और यही बात खजीनतुल असफिया, दबिस्ताने मजहिब, अनुरागसागर, कबीर कसौटी, डॉ० भण्डारकर, वेस्टकॉट आदि ने भी कही है[17]। सन्त रैदास और धन्ना ने भी कबीर को ऐसा जुलाहा वतलाया है कि जिनके कुल में ईद और बकरीद मनाई जाती थी

१. बानी, पद ३४६। तथा कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०५।
२. बानी, पद १०।
३. बीजक, रमैनी २८।
४. कबीर चरित्रबोध, पृष्ठ ६।
५. बानी, पद १२४। कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३१।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १७३।
८. वही, पृष्ठ १८१।
९. कबीर, पृष्ठ ३१०।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १९५।
११. वही, पृष्ठ १०४।
१२. वही, पृष्ठ १८१।
१३. वही, पृष्ठ २२१।
१४. वही, पृष्ठ २२१।
१५. कबीर, पृष्ठ २९०।
१६. परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० त्रिगुणायत, डॉ० रामकुमार वर्मा आदि।
१७. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १४६।

और गाय का बध होता था तथा शेख एवं पीर का सम्मान होता था[1]। कुछ विद्वानों[2] ने यह माना है कि कबीर जुलाहा होते हुए भी हिन्दू थे, क्योंकि उनके संस्कार हिन्दू सदृश ही थे, राम राम की रट, नित्य नई कोरी गगरी में भोजन बनाना, चौका पोतवाना, उनकी इन सब बातों से उनकी अम्मा तंग आ गई थीं।[3] कुछ विद्वानों ने उन्हें आश्रम-भ्रष्ट जुगी जाति का रत्न बतलाया है और यह कहा है कि जुलाहा शब्द संस्कृत के 'जोला' से बना है[4]। इस प्रकार हम देखते हैं कि कुछ लोगों ने कबीर को हिन्दू कुल मे उत्पन्न होकर मुसलमान दम्पति द्वारा पोष्य पुत्र माना है, तो कुछ ने मुसलमान दम्पति का ही औरस पुत्र माना है, इसीलिए कबीर के जन्म के सम्बन्ध में विभिन्न कथाएँ प्रचलित हैं। कबीरपन्थी परम्परा मानती है कि वे साधारण योनिशरीरी मानव न होकर शुद्ध ज्योति शरीरी थे। ज्योति के रूप में ही वे काशी के लहर तालाब मे प्रगट हुए थे। अली नामक जुलाहा जिसका उपनाम नीरू था, उधर से ही अपनी नव-विवाहिता पत्नी के साथ जा रहा था, बालक कबीर को देख उठा लिया और किसी कुमारी या विधवा की फेंकी सन्तान मानकर घर ले जा प्रेमपूर्वक पालन-पोषण किया। दूसरा मत यह है कि स्वामी रामानन्द ने एक विधवा ब्राह्मणी को 'पुत्रवती' होने का आशीर्वाद दे दिया था, उसी के गर्भ से कबीर का जन्म हुआ था, जिन्हे वह लोकलज्जा के भय से लहर तालाब में फेंक आयी थी, जहाँ से नीरू और नीमा ने उन्हे पाया था[5]। हमारा अपना मत है कि कबीर साहब एक अद्भुत व्यक्तित्व थे। उनका आविर्भाव लोक के लिए ज्योतिस्वरूप ही था। ऐसी ज्योति कभी-कभी ही प्रकट होती है, किन्तु वे अपने माँ-बाप की ही सन्तान थे। विधवा ब्राह्मणी की सन्तान अथवा मुसलमान दम्पति का पोष्यपुत्र मात्र होना केवल श्रद्धावश माना गया है और ऐसे महापुरुष के प्रति व्यक्त यह श्रद्धा कोई अस्वाभाविक नहीं है। हम देखते हैं कि कबीर के कुल में एक ओर मुसलमानी रीति-रिवाज माने जाते थे, तो दूसरी ओर हिन्दू प्रथाएँ भी प्रचलित थीं। उनके राम-राम रटने तथा कुलधर्म त्यागने से उनकी माँ प्रायः उनसे रुष्ट रहा करती थीं और व्याकुल होकर रोया भी करती थीं[6]। डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी ने इस सम्बन्ध मे अपना विचार प्रकट करते हुए

---

१. जाकै ईदि बकरीदि कुल गऊ रे बधु करहि, मानीअहि सेख सहीद पीरा।
जाकै बाप वैसी करी पूत ऐसी करी, तिहूरे लोग परसिध कबीरा॥
—गुरुग्रंथ साहिब, राग आ० ३६।

२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४५।

३. नित उठि कोरी गगरी आनै लीपत जीउ गयो।
ताना बाना कछू न सूझै हरि रसि लपटचो॥
हमरे कुल कउने रामु कह्यो॥

४. डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी : 'कबीर', पृष्ठ १।

५. कबीर कसौटी तथा कबीर चरित्रबोध।

६. मुसि मुसि रोवै कबीर की माई, ए बारिक कैसे जीवहि रघुराई।
तनना बुनना सभु तजिओ कबीर, हरि का नामु लिखि लिओ सरीर॥
—गुरुग्रंथ साहिब, राग गूजरी २।

लिखा है—'कबीरदास जिस जुलाहा वंश में पालित हुए थे, वह उस वयनजीवी नाथमतावलम्बी गृहस्थ-योगियों की जाति का मुसलमानी रूप था, जो सचमुच ही "ना हिन्दू ना मुसलमान" थी',[१] तथा "कबीरदास जिस जुलाहा जाति में पालित हुए थे वह एकाध पुश्त पहले से योगी-जैसी किसी आश्रम-भ्रष्ट जाति से मुसलमान हुई थी या अभी होने की राह में थी।" परशुराम चतुर्वेदी ने कबीर को "केवल जुलाहा और सम्भवतः इस्लामी धर्म के अनुयायी जुलाहे कुल का बालक" मानते हुए भी कहा है कि "हम तो यहाँ तक कहेंगे कि काशी एवं मगहर के साथ विशेष सम्बन्ध रखनेवाले कबीर साहब का कुल यदि क्रमशः सारनाथ एवं कुशीनगर जैसे बौद्धतीर्थों के आस-पास निवास करनेवाले बौद्धों या उनके द्वारा प्रभावित हिन्दुओं में से ही किसी का मुसलमानी रूप रहा हो तो इसमे कोई आश्चर्य की बात नहीं। हो सकता है कि उनके सूत कातने व बुनने की जीविका भी पूर्व समय से वैसे ही चली आ रही हो और उसका नाम भी इसी कारण कोरी अथवा किसी अन्य ऐसी वयनजीवी जाति का ही रहा हो[२]।" कबीर के वचनों तथा विद्वानों द्वारा व्यक्त विभिन्न मतों के अनुशीलन के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कबीर के पूर्वज कोलिय जाति-परम्परा के थे, इसीलिए कबीर ने अपने को 'कोरी' अथवा 'कोली' कहा है। ये दोनों शब्द 'कोलिय' के ही विकृत रूप है। जानपदयुग में कोलियों का अपना एक जनपद था, जिसकी राजधानी देवदह थी और वहाँ गणतन्त्र शासनप्रणाली से सम्पूर्ण शासकीय कार्य सम्पादित होते थे। इसी कोलिय राजवंश की पुत्री महामाया थीं, जिनसे सिद्धार्थ गौतम का जन्म हुआ था। पालिग्रंथों में इस कोलिय जाति का विस्तृत परिचय आया हुआ है[३]। कोलियों का मुख्य उद्यम खेती करना और वस्त्र बुनना था। हम देखते हैं कि महारानियाँ तक सूत कातती तथा वस्त्र बुनती थीं। दक्खिणाविभंगसुत्त में आया है कि भगवान् बुद्ध की मौसी महाप्रजापती गौतमी ने अपने काते-बुने वस्त्र को भगवान् को अर्पित करते हुए इस प्रकार कहा था—"भन्ते, यह अपना ही काता, अपना ही बुना, मेरा यह नया धुस्सा जोड़ा भगवान् को अर्पण है। भन्ते, भगवान् अनुकम्पा कर इसे स्वीकार करें[४]।" कालान्तर में यह कोलिय जाति सम्पूर्ण देश मे फैल गयी थी और आज भी सम्पूर्ण भारत मे इस जाति के लोग विद्यमान हैं जो अपने को बुद्ध का वंशज बतलाते हैं और 'कोरी' नाम से प्रसिद्ध हैं। यद्यपि वे अछूत न होते हुए अछूत माने जाते हैं। बौद्धधर्म के प्रकाण्ड विद्वान् पूज्य भिक्षु धर्मरक्षितजी ने भी वर्तमान कोरी जाति को प्राचीन कोलियों की ही परम्परा माना है[५]। हम पहले कह आए हैं कि मध्ययुग मे यवन-आक्रमण से बौद्धों को बहुत कष्ट भोगना पड़ा और वे या तो इस देश से पलायन कर गये या यहीं हिन्दू धर्म में घुल-मिल गये

१. कबीर, पृष्ठ ९।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १५०।
३. बुद्धचर्या, पृष्ठ २३४-२३५। ४. बुद्धचर्या, पृष्ठ ७१।
५. कोलीराजपूत, वर्ष ६, अंक ११ मे प्रकाशित भिक्षुजी का अभिभाषण।

—सन् १९४७, अजमेर।

अथवा मुसलमान हो गये। बौद्ध विद्वानों ने भी इसे माना है[१]। इन तथ्यों पर विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि कबीर के पूर्वज कोलिय थे, जो मुसलमानी शासकों के प्रभाव में आकर मुसलमान हो गये थे। यही कारण है कि कबीर की वाणियों में बौद्ध, हिन्दू और इस्लाम धर्मों के प्रभाव दीखते हैं। उनके माता-पिता की परम्परा से आया हुआ वही भावना-स्रोत अब अपना मार्ग मोड़ लिया था अथवा मोड़ रहा था, जो कि सिद्धों-नाथों से होता हुआ पहुँचा था और अब मुसलमानी प्रभाव से भयभीत होकर अपना रूप-परिवर्तन करने के लिए वाध्य था। सिकन्दर लोदी[२] द्वारा कबीर को दण्ड दिया जाना इसका ज्वलन्त दृष्टान्त है। कारण, कबीर तथा उनके परिवारवाले मुसलमान नामधारी होते हुए भी 'राम-राम की रट' लगानेवाले तथा हिन्दू-मुसलमान दोनों की अनेक धार्मिक भावनाओं पर प्रहार करनेवाले थे, जिससे उन्हे ठेस पहुँचती थी और इसीलिए कबीर की शिकायत सिकन्दर लोदी तक पहुँची थी। कबीर कोरी तो थे, किन्तु उनकी जाति 'जुलाहा' नाम से भी प्रसिद्ध थी और बुनकर जाति को ही जुलाहा कहा जाता था तथा इस समय भी इसका यही भाव है। अतः कबीर की जाति कोरी ही थी, जिसे 'जुलाहा' नाम से भी पुकारा जाता था, इसीलिए कबीर ने अपने को 'जुलाहा' और 'कोरी' कहा है तथा इनमे भेद नहीं माना है।

हम पहले ही कह आए हैं कि कबीर के गुरु रामानन्द थे[३]। कबीरपन्थी परम्परा यही मानती है और विद्वानों ने भी इसे ही स्वीकार किया है[४]। केवल परशुराम चतुर्वेदी इस पक्ष में नहीं हैं[५]। उनका कथन है कि सतगुरु ही कबीर के वास्तविक गुरु थे। शेख तकी का भी नाम लिया जाता है और पीताम्बर पीर का भी, किन्तु पीताम्बर पीर कबीरदास के लिए केवल आदरणीय पुरुष थे, जिनके पास जाने में वे हज्ज या तीर्थयात्रा करना मानते थे;[६] और यदि शेख तकी गुरु होते तो उन्हे कबीर ऐसा न कहते—"घट-घट है अविनासी सुनहु तकी तुम शेख",[७] अतः कबीर के गुरु न तो पीताम्बर पीर थे और न शेख तकी ही। रामानन्द के सम्बन्ध में कबीर ने स्वयं कहा—

(१) कासी में हम प्रगट भये हैं रामानन्द चिताए[८]।

---

१. सारनाथ का इतिहास, पृष्ठ ९८।

२. अति अथाह जल गहिर गम्भीर, बाँधि जंजीर ठाढ़े हैं कबीर।
जल की तरंग उठ करिहै कबीर, हरि सुमरत तट बैठे हैं कबीर॥
—कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २०३।

३. तीसरा अध्याय।

४. डॉ० रामकुमार वर्मा, श्यामसुन्दर दास, डॉ० त्रिगुणायत, पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, डॉ० बड़थ्वाल आदि।

५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १६१-६३।

६. हज्ज हमारी गोमती तीर, जहाँ बसहिं पीताम्बर पीर। —ग्रन्थ साहिब ४६२, ६४।

७. कबीर पदावली, पृष्ठ २२।

८. कबीर पदावली, पृष्ठ २२।

(२) कबीर रामानन्द का सतगुरु मिले सहाय[१]।
(३) भक्ती द्राविड़ ऊपजी लाये रामानन्द।
कबीर ने परगट करी सात दीप नवखंड ॥[२]
(४) जब गुरु मिलिया रामानन्द[३]।

इन उद्धरणों से रामानन्द ही कबीर के गुरु प्रमाणित होते हैं। कबीरदास पढ़े-लिखे नहीं थे। उनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि "मसि कागद छूओ नहीं, कलम गह्यो नहिं हाथ"। साथ ही उन्होंने कोई विद्या नहीं पढ़ी और न तो विशेष किसी वाद (मत) के ही जानकार थे, वे केवल हरिगुण के कथन-श्रवण में ही मस्त रहते थे[४]। इसीलिए जनता निगुरा (बिना गुरु के) कबीर का सम्मान नहीं करती थी। उन्होंने पर्यटन करके भी गुरु की खोज की, किन्तु अन्त में उन्हें काशी-निवासी स्वामी रामानन्द ही गुरु बनाने के योग्य मिले। उन दिनों रामानन्द की बड़ी प्रसिद्धि थी। कबीर उनके पास गये और शिष्यत्व की याचना की, किन्तु रामानन्द ने उनकी प्रार्थना स्वीकार न की। तब कबीर ने एक उपाय सोचा। वे प्रातः ही पंचगंगा घाट पर चले गये और जब रामानन्द गंगा-स्नान कर लौटने लगे तब उनके मार्ग में लेट रहे। रामानन्द ने कबीर को नहीं देखा। उनका पैर कबीर से टकरा गया। उनके मुख से 'राम, राम' शब्द निकल पड़ा। बस, कबीर की यही दीक्षा हुई। पीछे रामानन्द ने कबीर की भक्ति को देखकर उन्हें अपना शिष्य स्वीकार कर लिया[५]।

कबीर ने सतगुरु की जो महिमा गायी है और कहा है कि मैं अपने गुरु के लिए प्रतिदिन अनेक बार बलिहारी जाता हूँ, जिसने मुझे एक क्षण में ही मनुष्य से देवतुल्य बना दिया,[६] उस सतगुरु की महिमा अनन्त है,[७] इससे रामानन्द को कबीर का गुरु स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं।

कबीर विवाहित सन्त थे। उनकी पत्नी का नाम 'लोई' था। इनके दो सन्तान थीं—कमाल नामक पुत्र और कमाली नामक पुत्री। कुछ लोग[८] कबीर की दो पत्नियों और और चार सन्तानों का भी वर्णन करते हैं, किन्तु यह यथार्थ नहीं है, जिस पद को[९] लेकर

---

१. कबीर साखी ग्रंथ, पृष्ठ १०७, दोहा ६।
२. वही, पृष्ठ १०७, दोहा १। ३. वही, दोहा ९।
४. बिदिआ न परउ वादु नहि जानउ, हरिगुन कथन सुन बउरानउ।
—गुरुग्रंथ साहिब, राग विलावल, पद २।
५. कवीर पदावली, पृष्ठ २०-२१। ६. कबीर ग्रन्थावली, साखी २।
७. वही, साखी ३। ८. डॉ० त्रिगुणायत आदि।
९. भली सरी मुई मेरी पहिली बरी।
जुगु जुगु जीवउ मेरी अबकी धरी ॥
कहु कवीर जब लहुरी आई, बड़ी का सुहाग टरिओ।
लहुरी संगि भई अब मेरे, जेठी अउर धरिओ ॥
—गुरुग्रन्थ साहिब, राग आसा, पद ३२।

ऐसा भ्रम उत्पन्न होता है कि पहली पत्नी की मृत्यु के उपरान्त कबीर ने दूसरी पत्नी को ग्रहण किया, उसका केवल आध्यात्मिक अर्थ 'माया' और 'भक्ति' है। 'लोई' कबीर से रुष्ट रहा करती थी,[१] क्योंकि कबीर भक्ति में लगे रहते थे और साधु-सन्तों को खिला-पिला देते थे, बच्चों के लिए भोजन जुट नहीं पाता था[२]। इसी कारण कबीर की माँ भी कबीर से असन्तुष्ट हो गयी थीं[3]। कबीर को अपने पुत्र कमाल से प्रसन्नता न थी, क्योंकि वह हरि-स्मरण न कर व्यवसाय में ही लीन रहा करता था[४]; इस प्रकार कबीर अपने परिवार के साथ सूत कातने और वस्त्र बुनने का कार्य करते थोड़े में जीवन निर्वाह चलाते थे। हरि-भक्ति तथा सतगुरु की सेवा ही उनका प्रधान आध्यात्मिक कार्य था।

कबीर ने काशी से मथुरा, जगन्नाथपुरी, राजस्थान, गुजरात आदि की यात्रा की। वे झूँसी तथा मानिकपुर भी गये और सब स्थानों मे सन्तों के साथ उन्होंने सत्संग किया। वे शिष्य मण्डली से दूर रहना चाहते थे, फिर भी राजा वीरसिंह बघेला, नवाब बिजली खाँ, सुरतगोपाल, धर्मदास, तत्वा, जीवा, जागूदास और भागूदास उनके प्रसिद्ध शिष्य थे। कबीर-दास के जीवनवृत्तान्त के साथ अनेक चमत्कारिक घटनाएं जुड़ी हुई हैं, जिनका होना अस्वा-भाविक नहीं है।

कबीर यह नहीं मानते थे कि काशी-वास से मुक्ति प्राप्त होती है। अतः उन्होंने निश्चय कर लिया था कि "जो कासी तन तजै कबीरा, तौ रामहि कौन निहोरा" और अन्त में ऊसर भूमि मे स्थित मगहर चल ही पड़े—"सकल जनम सिवपुरी गँवाया, मरति बार मगहर उठि धाया", वहीं महान् सन्त कबीर की परमज्योति पवन में मिल गयी। परम-काशी में वे लीन हो गये। उस समय वहाँ हिन्दू और मुसलमान दोनों थे। दोनों अपनी-अपनी विधि से अपने श्रद्धेय की अन्त्येष्टि करना चाहते थे। जब कबीर की ओढ़ी हुई चादर हटाई गयी तो शव के स्थान पर केवल पुष्प-राशि दिखाई दी। उसे दोनों ने विभाजित कर लिया और यह कबीर की अमरज्योति की अलौकिक देन थी।

कबीर के लगभग सवा दो सौ पद और ढाई सौ 'सलोक' गुरुग्रन्थ साहब में संकलित हैं,[५] इनके अतिरिक्त बीजक, ग्रन्थावली, रमैणी, बानी आदि कबीर के अनेक ग्रन्थ हैं। यद्यपि कबीर ने अपने कुछ लिखा नहीं, उन्होंने "मसि कागद छूओ नहीं" कहा ही है, उनकी वाणियों का संग्रह उनके शिष्यों ने किया। मिश्रबन्धु उनके ७५ ग्रन्थ मानते हैं। नागरी प्रचारिणी सभा ने १३० ग्रन्थों के नामों का विवरण प्रकाशित किया है और डॉ० रामकुमार वर्मा ने ६१ ग्रन्थ गिनाये हैं[६]। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का साहित्य विशाल है। आगे हम कबीर के मुख्य एवं प्रामाणिक ग्रन्थों के आधार पर ही अपने विषय का अनुशीलन करेंगे।

---

१. गुरुग्रन्थ साहिब, राग गौड़, पद ६। २. गुरुग्रन्थ साहिब, राग गूजरी, पद २।
३. वही, राग आसा, पद ३३।
४. बूड़ा वंसु कबीर का उपजिओ पूतु कमालु। —वही, सलोक ११५।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १७८।
६. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ २८।

मत

कबीरदास की वाणियों का सैद्धान्तिक रूप से मनन करने पर जान पड़ता है कि उनका मत हिन्दू, बौद्ध, इस्लाम और सूफी धर्मों का समन्वय था। उन्होंने इन सभी धर्मों की उत्तम बातों को ग्रहण किया है, किन्तु किसी विशेष धर्म या मत का दुराग्रह नहीं किया है। उन्हें जो स्वयं अनुभूति हुई है उसे ही उन्होंने व्यक्त किया है। उन्होंने हिन्दूधर्म के राम, हरि, नारायण और मुकुन्द की उपासना की है और उसे अलख, निरञ्जन मानते हुए भी कर्ता माना है, इस्लाम की भाँति उस कर्ता को एक ज्योति मात्र माना है और उसी से जगत् की उत्पत्ति होती है। सूफी सन्तों की प्रेम-भावना का भी अनुसरण किया है और बौद्धधर्म के शून्यवाद, अहिंसा, मध्यममार्ग, सहजसमाधि आदि को ग्रहण किया है। इस प्रकार कबीर सारसंग्रही होते हुए भी इन धर्मों के अध्ययन से वंचित थे। उन्हें इन धर्मों के सम्बन्ध में केवल दो ही सूत्रों से ज्ञान प्राप्त हो सका था—एक तो जनसमाज में परम्परागत व्याप्त भावना तथा दूसरा सत्संग। उन्होंने बहुत पर्यटन किया और उस समय प्रसिद्धि प्राप्त प्रायः सभी विद्यमान साधु-सन्तों तथा विद्वानों से धर्म-चर्चा की, इसीलिए विद्वान् मानते हैं कि कबीर सारसंग्रही मात्र थे, वे "ना हिन्दू ना मुसलमान" थे[१]। उन्होंने बाह्याडम्बरों, छः दर्शनों तथा छानबे पाखण्डों,[२] मूर्ति-पूजा, तीर्थ-यात्रा, गंगा-स्नान, वेद-कुरान आदि ग्रन्थों की प्रामाणिकता[३] आदि का निषेध कर कहा—"मेरे स्वयं विचार करते-करते मन-ही-मन सत्य का प्रकाश हो उठा और मुझे उसकी उपलब्धि हो गयी"[४]। मेरे धीरे-धीरे चिन्तन करते-करते ही उस निर्मल जल की प्राप्ति हो गई, जिसका वर्णन मैं अपने शब्दों में करने की चेष्टा कर रहा हूँ"[५]। कबीर के इन दार्शनिक मतों तथा मान्यताओं का हम यहाँ दिग्दर्शन करेंगे, जिससे भली प्रकार ज्ञात हो जायेगा कि कबीर का वास्तविक मत क्या था। इससे हमें अपने पक्ष के प्रतिपादन में सहायता मिलेगी और हम समझ सकेंगे कि कबीर ने बौद्धधर्म का किस प्रकार समन्वय अपने मत में किया था।

प्रत्येक साधक परमानन्द निर्वाण अथवा परमतत्त्व का साक्षात्कार करना चाहता है और यही उसका परमलक्ष्य होता है। कबीर का परमतत्त्व अपनी अनुभूति में अन्तर्निहित है, वह अनुभवगम्य है, उसे वेद, कुरान आदि ग्रन्थों तथा अन्धविश्वासों से नहीं जाना जा सकता[६]। यही कारण है कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश तक उसे नहीं जान सके,[७] वह वस्तुतः जैसा हो सकता है, वैसा किसी भी को ज्ञात नहीं, सब अपनी-अपनी पहुँच के आधार पर ही कुछ कहा करते हैं[८]। जो जैसा उसे जानता है, उसी प्रकार उसका वर्णन करता है[९] और

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ १८४-१८५।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९९।
३. वही, पृष्ठ १०७।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९६।
५. आदिग्रन्थ, राग गउड़ी, पद २४।
६. कबीर, पृष्ठ २४७।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २९६।
८. वही, पृष्ठ १०३।
९. रमैणी, पृष्ठ २३०।

वैसे ही उसे पाता भी है[1]। वह जैसा है वैसा उसे ही विदित है, वही केवल है ही, अन्य कुछ है ही नहीं[2]। उसे ही राम, रहीम, केशव, नारायण, गोविन्द, मुकुन्द, निर्वाण आदि नामों से जानते हैं, वह अनभूत, अविगत, अगम, अकल्प, अनुपम, निराला, अकथ, अगोचर है, वह वर्णनातीत है, उसकी शोभा देखकर ही उसे समझा जा सकता है,[3] उसका वर्णन वैसा ही है जैसा गूँगे का मिठाई के स्वाद का, किन्तु आत्मानुभूति मिठाई के स्वाद की भाँति आनन्दमय होती है[4]। उसका स्वरूप निर्गुण है। वह अलख निरञ्जन है, उसे कोई देख नहीं सकता, वह निर्भय, निराकार है, वह न शून्य है न स्थूल है, उसकी कोई रूपरेखा नहीं, वह न दृश्य है, न अदृश्य है, उसे न तो गुप्त कह सकते हैं और न प्रकट[5]। वही परमतत्व, शब्द, अनहद, सहज, अमृत, शिव, ब्रह्म भी कहा जाता है। ऐसा होते हुए भी वही सृष्टिकर्ता है, उसी ने कुम्हार की भाँति इसकी रचना कर स्वयं उसमे व्याप्त हो गया है[6]। वही गढ़नेवाला, सुधारनेवाला तथा नष्ट करनेवाला है[7]। उसने यह सारा संसार कहने-सुनने मात्र के लिए ही रचा है और वह इसी में छिपा हुआ भी है, उसे कोई पहचान नहीं पाता। वह स्वयं आनन्द-स्वरूप है[8]। इनसे स्पष्ट है कि कबीर का परमतत्व सर्वत्र व्याप्त है, उसे ज्ञानी ही अपने ज्ञान द्वारा अनुभव कर सकते हैं, उसे केवल इतना ही कहा जा सकता है कि वह है, किन्तु अलख, निरंजन स्वभाव का है अतः अनिर्वचनीय है। आत्मा उसका एक अंशमात्र है, जो हरिस्वरूप पिण्ड से इस शरीर में विद्यमान है, वह सर्वमय तथा निरन्तर है[9]। वह हरिमय होता हुआ भी न मनुष्य है और न देव, योगी, यति, अवधूत, माता, पुत्र, गृहस्थ, संन्यासी, राजा, रंक, ब्राह्मण, बढ़ई, तपस्वी और शेख ही है। वह परमेश्वर का अंश-स्वरूप आत्मा उसी प्रकार नष्ट नहीं हो सकता, जिस प्रकार कि कागज पर पड़ा स्याही का चिह्न नहीं मिटता[10]। वह भ्रम तथा कर्म के बन्धन में पड़कर बार-बार लोक में चक्कर काटता है और माया उसे भुलाये रखती है। माया ही उसे बन्धन में डालती है[11]। वह उसे विषैला बना देती है[12]। वह व्यक्ति के लिए डाइन की भाँति है[13]। काम, क्रोध, मोह, मद और मत्सर उस माया की सन्तान हैं। उसे नष्ट करने पर ही भ्रम और कर्म नष्ट होते है। इसके लिए आवश्यक है कि मन को एकाग्र किया जाय और सहजसमाधि द्वारा ही मन को एकाग्र किया जा सकता है। उस समाधि को प्राप्त करने के लिए 'सुरति' की भावना अपेक्षित है, जो 'सति' से जागृत होती है। उसके पश्चात् अनहद नाद सुनाई पड़ता है, जो 'रामनाम' का ही एक स्वरूप है। तात्पर्य

---

१. साखी, पृष्ठ ६।
२. रमैणी, पृष्ठ २४१।
३. साखी, पृष्ठ १३।
४. साखी, पृष्ठ १३।
५. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ३, पृष्ठ २३०।
६. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी ५, पृष्ठ २४०।
७. वही, पद २७३, पृष्ठ १८१।
८. कबीर ग्रन्थावली, रमैणी, पृष्ठ २२५।
९. आदिग्रन्थ, राग गौड़, पद ३।
१०. वही, पद ५।
११. गुरुग्रन्थ साहिब, रागु भैरव, पद १३, पृष्ठ ११६१।
१२. वही, रागु आसा, पद १९, पृष्ठ ४८०।
१३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १६८।

यह कि 'सति' जो पवन-साधन (=प्राणायाम) की एक साधना है, उसके द्वारा वह परमसुख प्राप्त होता है, जो योग का परिणाम है[१]। इस साधना के लिए कुण्डलिनी योग का करना आवश्यक है। जब कुण्डलिनी योग की सिद्धि हो जाती है, तब सम्पूर्ण इच्छाएँ, वासनाएँ, अहंकार आदि जलकर भस्म हो जाते हैं[२]। उस अवस्था मे परमतत्व का बोध होता है, जो न जाता है, न आता है, न जीता है और न मरता है[३]। मन को एकाग्र करने के अभ्यास को ही मनोमारण कहा जाता है। मन के शान्त हो जाने पर गोविन्द का ज्ञान प्राप्त होता है और वही मन 'राम' का रूप धारण कर लेता है[४]। तब उस मन को स्वतन्त्र किया जा सकता है,[५] क्योंकि वह सदा राम में ही लवलीन रहता है। इस परमपद को प्राप्त करने के लिए साधक को सती, सन्तोषी, सावधान, शब्दभेदी और सुविचारवान् होना अपेक्षित है, साथ ही सद्गुरु की कृपा भी होनी आवश्यक है[६]। इसे सहजशील की अवस्था कहते हैं। इस सहजावस्था में पहुँचा हुआ व्यक्ति ही भक्त, हरिजन, साधु, सन्त और प्रत्यक्ष देवतुल्य कहा जाता है। वह सन्त निर्वैर, निर्भय, एकरस तथा एकभाव होता है[७]। उसकी दृष्टि सबके प्रति समान होती है[८]। इस प्रकार कबीर ने बाह्याडम्बरों, मिथ्याविश्वासों तथा परम्परागत आचारों में न पड़कर शुद्ध आचरण एवं चित्त की पवित्रता से परमतत्व के साक्षात्कार को सम्भव बतलाया[९]। उन्होंने स्वर्ग, नरक और साकेतवास आदि को नहीं माना। उनका कहना था कि अनजाने को ही स्वर्ग-नरक है, हरि को जाननेवाले को नहीं[१०]। ज्ञानियो ! यह समझ लो कि वह देश न जाने कैसा है, जो वहाँ गया, लौटकर नहीं आया[११]।

कबीर के समय में भारत में बौद्धधर्म की अवस्था

कबीर के समय मे भारत मे बौद्धधर्म की अवस्था का विस्तृत वर्णन उपलब्ध नहीं है, फिर भी हम प्रामाणिक ऐतिहासिक तथ्यों के आधार पर जानते है कि उत्तर भारत में बौद्धधर्म अपने नाम से अब जीवित न था, किन्तु उसका प्रभाव जनमानस पर पूर्णरूप से था। सिद्धों और नाथों का समय वीते बहुत दिन नहीं हुए थे, उनकी धार्मिक भावनाएँ किसी-न-किसी रूप में विद्यमान थीं। संवत् १२७६ मे[१२] गाधिपुर के एक कायस्थ द्वारा श्रावस्ती में बौद्धविहार का निर्माण कराया गया था, सन् १३३१ में बर्मा के राजा ने बुद्धगया के मन्दिर का जीर्णोद्धार

---

१. गुरुग्रंथ साहिब, रागु सोरठि, पद १०, पृष्ठ ६५५।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९०। ३. गुरुग्रंथ साहिब, रागु गउड़ी, पृष्ठ ३३३।
४. कबीर ग्रंथावली, साखी ८, पृष्ठ ५। ५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३६।
६. वही, साखी ३, पृष्ठ १०। ७. कबीर ग्रंथावली, साखी २, पृष्ठ ५१।
८. वही, पद ३६३, पृष्ठ २०९।
९. गुरुग्रन्थ साहिब, रागु विभास प्रभाती, पद ३, पृष्ठ १३४९।
१०. बीजक, प्रेमचन्द्र, पृष्ठ ७६। ११. वही, पृष्ठ १६५।
१२. 'धर्मदूत', वर्ष २१, अंक ५, पृष्ठ १५६।

कराया था और १५वीं शताब्दी के प्रारम्भिक काल (सन् १४३६) में बंगाल में बौद्धभिक्षु तथा बौद्धगृहस्थ थे[1]। ऐसे ही महाराष्ट्र में भी उस समय बौद्धों के होने के प्रमाण मिलते हैं। कन्हेरी की बौद्धगुहाओं में सन् १५३४ तक बौद्ध थे, जिन पर पुर्तगाली लोगों द्वारा अनेक अत्याचार किए गए थे[2]। मधेस, नेपाल, चटगाँव, आसाम, उड़ीसा आदि में बौद्ध पर्याप्त संख्या मे थे और जिनकी परम्परा अभी भी चली आ रही है। विद्वानों ने सिद्ध किया है कि मधेस के थारू,[3] उड़ीसा और बंगाल के 'धर्ममंगल', धर्मठाकुर', 'धर्मसम्प्रदाय' आदि बौद्ध ही हैं[4]। जहाँ तक उत्तर भारत के मध्यदेश की बात है, वहाँ प्रत्यक्षतः कबीर के समय में बौद्धधर्म नहीं रह गया था, यही कारण है कि कबीर की विचारधारा बौद्धधर्म से प्रभावित होते हुए भी उन्हें बौद्धधर्म का वास्तविक स्वरूप विदित न था, इसकी चर्चा हम आगे करेंगे। यवन-शासकों ने अनेक प्रकार से हिन्दू और बौद्धों को सताया था, फलतः जैसा कि हमने देखा है बौद्धों का सर्वथा लोप-सा हो गया। बौद्धधर्म की यह दयनीय दशा न केवल भारत में ही हुई, प्रत्युत इससे पूर्व अरब, ईरान, अफगानिस्तान आदि मे हो चुकी थी, वहाँ केवल बौद्ध नष्टावशेष मात्र बौद्धों के परिचायक बच रहे थे। भारत मे बौद्धधर्म का स्वरूप बदलता गया और वह कई रूपों मे होकर नामदेव, रामानन्द, कबीर आदि भक्तों के समय मे निर्गुण भक्ति का स्वरूप ग्रहण कर लिया। उसका प्रभाव सगुण भक्ति पर भी पड़ा था और प्रायः भारत की सभी धार्मिक विचारधारायें उससे किसी-न-किसी रूप में प्रभावित हुई थीं। बौद्धधर्म भारतीय धर्म था। यहीं की धरती पर और यहीं के अनुकूल वातावरण में उसका जन्म हुआ था, वह विकसित तथा दृढ़मूल बनकर एक दीर्घकाल तक अहिंसा, शान्ति, सदाचार आदि की धारा प्रवाहित करते हुए पुनः यहीं अपने प्रतिरूपों में समा गया था, किन्तु उसकी विस्तृत शाखायें भारत के ही प्रत्यान्त प्रदेशों में, समुद्री तथा पर्वतीय क्षेत्रों एवं निकटवर्ती देशों से आगे बढ़कर सम्पूर्ण पूर्वी एशिया मे छा गयी थीं। जिस समय कबीर अपनी निर्गुण भक्ति का सन्देश दे रहे थे, उस समय लंका, बर्मा, चीन, जापान, तिब्बत, नेपाल, श्याम, कम्बोडिया आदि देशों में बौद्धधर्म अपने जीवन्त रूप मे विद्यमान था, किन्तु कबीर के देश मे वह केवल पाखण्डी माना जा रहा था[5]। बुद्ध असुर संहारक बन गये थे[6]। उसके विचार-पोषक तथा प्रचारक सिद्ध और नाथ भी माया में रत माने जाने लगे थे[7]।

कबीर की वाणियों में बौद्धविचार

कबीर ने बौद्धधर्म का अध्ययन नहीं किया था और न तो किसी बौद्धविद्वान् से उनका सत्संग ही हुआ था, किन्तु बौद्धविचारों से प्रभावित सन्तों की परम्परा तथा जनसमाज में

---

१. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, भूमिका, पृष्ठ ५। २. 'धर्मदूत', वर्ष २४, अंक ८-९, पृष्ठ २२५।
३. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ ११५।
४. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, नयी भूमिका, पृष्ठ ६-९।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४०। ६. बीजक, पृष्ठ ६३।
७. गुरुग्रंथ साहिब, राग भैरउ १३, पृष्ठ ११६१।

व्याप्त बुद्धशिक्षा का प्रभाव उन पर पड़ा था। सन्त सत्संग की प्रशंसा करते थे और विशेषकर साधु-सत्संग की। इस भावना के परिणामस्वरूप कबीर ने एक जिज्ञासु रूप में तत्कालीन प्रसिद्ध विद्वानों का सत्संग किया था और उनसे धर्म को सीखा था। स्वामी रामानन्द का उन पर विशेष प्रभाव पड़ा था और सिद्ध-नाथ परम्परा से आई हुई विचारधारा का प्रत्यक्ष एवं गहरा प्रभाव रामानन्द तथा उनके पूर्ववर्ती सन्तों पर पड़ा था। साधु-समागम अथवा सत्पुरुष सत्संग बुद्धकाल से ही प्रशंसित था। सत्संग अड़तीस मंगलों में से एक माना जाता था[१]। संयुत्तनिकाय में कहा गया है कि व्यक्ति को चाहिए कि वह सन्तों के साथ रहे और सन्तों की ही संगति करे, क्योंकि सन्तों का सद्धर्म जानने से कल्याण होता है, हानि नहीं होती[२]। सन्तों की संगति करने से ज्ञान प्राप्त होता है, शोक नहीं होता, अपने लोगों में शोभता है, स्वर्ग की प्राप्ति होती है, वह चिरकाल तक सुखी रहता है और सब दुःखों से मुक्त हो जाता है[३]। इसी प्रकार कबीर ने भी साधु-संगति की प्रशंसा की है—

कबीर संगति साध की बेगि करीजै जाइ।
दुरमति दूरि गँवाइसी, देसी सुमति बताइ।।
कबीर संगति साध की, कदे न निरफल होइ।
चन्दन होसी बांवना, नींब न कहसी कोइ।।
मथुरा जावै द्वारिका भावै जावै जगनाथ।
साध संगति हरि भगति बिन कछू न आवै हाथ।।[४]

कबीर ने साधु-संगति को ही वैकुण्ठ माना है—"साध संगति बैकुण्ठहिं आहि"[५]। धर्मानन्द कौशाम्बी का मत है कि कबीर तथा उनके पूर्ववर्ती सन्तों ने बौद्धसाहित्य से ही सत्संगति की कल्पना की होगी[६]। किन्तु कबीर के लिए तो केवल इतना ही माना जा सकता है कि उन्होंने परम्परागत बौद्धविचारों को ही ग्रहण किया था, क्योंकि उन्हें बौद्धसाहित्य का प्रत्यक्ष रूप में ज्ञान नहीं था और उन्होंने बुद्ध के केवल विष्णुपुराण के असुर-संहारक रूप को ही सुन रखा था—

वे कर्ता नहिं बौद्ध कहावैं नहीं असुर को मारा।
ज्ञानहीन कर्ता भरमे माया जग संहारा।।[७]

---

१. कालेन धम्मसाकच्छा एतं मंगलमुत्तमं। —महामंगल सुत्त ९।
२. सब्भिसुत्त १, ४, १।
३. वही :—
सब्भिरेव समासेथ, सब्भि कुब्बेथ संथवं।
सतं सद्धम्ममञ्ञाय सब्बदुक्खा पमुच्चति।।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४९। ५. कबीर, पृष्ठ ३२२।
६. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
७. बीजक, पृष्ठ ६३।

यही नहीं, कबीर ने बौद्धों को भी शाक्तों, जैनों, चार्वाकों के साथ ही पाखण्डी कहा है, जिससे जान पड़ता है कि उन्हें बौद्धों के सम्बन्ध में केवल नाममात्र की जानकारी थी और वह भी श्लाघ्य रूप में नहीं—

केते बौध भये निकलंकी तिन भी अन्त न पाया।[1]
जैन बोध अरु साकत सैना, चारबाक चतुरंग बिहूना।[2]

इसी प्रकार तुकाराम ने तो बुद्ध को केवल गूँगा होने की भी कल्पना कर ली थी—"बौध्य अवतार मझिया अदृष्टा, मौन मुखें निष्ठा धरियेली"[3]। आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी का यह कथन सर्वथा ही समीचीन है कि साधु-सन्तों के वचनों में बौद्धसाहित्य में मिलनेवाले भूतदया, सब लोगों के साथ समता का व्यवहार तथा सन्त-संगति के गुण-वर्णन के जो उद्गार मिलते हैं, वे आये कहाँ से ? इसका उत्तर यही है कि जनसाधारण में बुद्धोपदेश के बीज समूल नष्ट नहीं हुए थे, किसी-न-किसी रूप में वे बने हुए थे और इन साधु-सन्तों ने उन्हीं को अनेक प्रकार से बढाया[4]। यद्यपि कबीर भगवान् बुद्ध के स्थविरवादी स्वरूप से परिचित न थे, किन्तु चौरासी सिद्धों को वे जानते थे, अर्थात् उनके समय तक चौरासी सिद्धों का इतिहास भूला नहीं था। राहुल सांकृत्यायन का मत है कि कबीर ने चौरासी सिद्धों का विरोध किया है, किन्तु वास्तव में वे उन्हीं के निर्गुण, योग और विचित्र ढंग को अपनाकर नाथ सम्प्रदाय से भिड़े थे[5]। किन्तु इसमें वास्तविकता इतनी ही है कि कबीर ने अप्रत्यक्ष रूप मे ही सिद्धों से ग्रहण किया था, जो कि जन-साधारण द्वारा ही उन्हें प्राप्त हुआ था, इसीलिए उन्होंने सिद्धों को भी भ्रम में पड़ा ही कहा है—

धरती अरु असमान बिचि, दोइ तूंबड़ा अबध।
षट दरसन संसै पड़्या, अरु चौरासी सिद्ध॥[6]

अब हम देखेंगे कि सिद्धों और नाथों की वाणी का प्रभाव किस प्रकार कबीर पर पड़ा था और उसे कबीर ने किस प्रकार ग्रहण किया है, अर्थात् कबीर के वचनों में सिद्ध-नाथों के वचन किस सीमा तक और किस रूप में उनका विरोध किए जाने पर भी विद्यमान हैं। हम देखेंगे कि यह अंगीकृत स्वरूप अद्भुत तथा विस्मयकारी है, क्योंकि अज्ञात रूप से विरोधी साधकों की ही साधना एवं उपदेश ग्रहण किए गये है ! कबीर जैसे महान् सन्त की यह विलक्षण विशेषता है, जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं।

भगवान् बुद्ध ने कहा था कि जो मैंने स्वयं देखा है, उसे ही मैं कह रहा हूँ—"यं मया सामं दिट्ठं तमहं वदामि",[7] कबीर ने भी ठीक वही बात कही—"मैं कहता आँखिन की

---

१. कबीर, पृष्ठ ३२६। २. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४०।
३. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
४. भारतीय संस्कृति और अहिंसा, पृष्ठ २०६।
५. पुरातत्व निबन्धावली, पृष्ठ १६४। ६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ५४।
७. मज्झिमनिकाय।

देखी"[१]। दोनों में कितनी समता है! ऐसे ही जाति-विरोधी बुद्ध ने कहा था—"जातिं मा पुच्छ चरणं पुच्छ",[२] अर्थात् जाति मत पूछो, आचरण पूछो, कबीर ने भी उन्हीं शब्दों में कहा था—"जाति न पूछो साध की पूछि लीजिए ज्ञान",[३] "सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ"[४] इतना ही नहीं, भगवान् बुद्ध ने जातिभेद का विरोध करते हुए कहा था कि सोपाक चाण्डाल भी मातंग नाम से प्रसिद्ध ऋषि हो गया, इसमें जातिभेद या उसकी नीची जाति ने कुछ नहीं बिगाड़ा—

न जच्चा वसलो होति न जच्चा होति ब्राह्मणो।
कम्मुना वसलो होति कम्मुना होति ब्राह्मणो॥
तदइमिनापि जानाथ यथा मेदं निदस्सनं।
चण्डालपुत्तो सोपाको मातंगो इति विस्सुतो॥
सो यसं परमं पत्तो मातंगो यं सुदुल्लभं।
आगञ्छुं तस्सुपट्ठानं खत्तिया ब्राह्मणा बहू॥[५]

इसी सोपाक को कबीर ने श्वपच ऋषि नाम से स्मरण किया और कहा कि भंगी की जाति होकर भी ऋषि हो गये थे—

"साधनमाँ रैदास सन्त हैं, सुपच ऋषि सो भँगियाँ"[६]।

श्वपच और सोपाक में कोई अन्तर नहीं है। दोनों का शाब्दिक अर्थ भी एक है और दृष्टान्त आदि में भी समानता है। अतः श्वपच की कथा पीछे के ग्रंथों में भले ही कुछ भिन्न दिखाई पड़े, किन्तु इसका मूलस्रोत पालि-साहित्य में ही उपलब्ध है और पूरी कथा जातक,[७] चरियापिटक[८] आदि ग्रन्थों में आयी हुई है।

भगवान् बुद्ध ने जाति-भेद का विरोध करते हुए ही कहा था—"माता की योनि से उत्पन्न होने के कारण मैं ब्राह्मण नहीं कहता",[९] "आश्वलायन! ब्राह्मणों की ब्राह्मणियाँ ऋतुमती एवं गर्भिणी होती, प्रसव करती, दूध पिलाती देखी जाती हैं, योनि से उत्पन्न होते हुए भी वे ऐसा कहते हैं—ब्राह्मण ही श्रेष्ठ वर्ण है[१०]"। इसी को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार कहा—"ब्राह्मण ब्रह्मा के मुख से हुआ था, जब हुआ था, तब हुआ था, अब तो जैसे दूसरे होते हैं, ब्राह्मण भी उसी प्रकार होते हैं, तो ब्राह्मणत्व कहाँ रह गया[११]?" और फिर देखिए,

---

१. कबीर ग्रंथावली।
२. संयुत्तनिकाय, १, ७, १, ९।
३. कबोर, पृष्ठ ३२४।
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३१।
५. सुत्तनिपात, वसलसुत्त, गाथा संख्या २१-२३।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३१।
७. मातंगजातक, ४९७।
८. चरियापिटक, मातंगचरिया २, ७।
९. मज्झिमनिकाय, २, ५, ८ तथा धम्मपद "न चाहं ब्राह्मणं ब्रूमि, योनिजं मत्तिसम्भवं।" —गाथा ३९६।
१०. मज्झिमनिकाय, २, ५, ३।
११. बौद्धगान वो दोहा, 'धर्मदूत', वर्ष २६, अंक ११, पृष्ठ २२३।

कबीर ने इसे ही किस प्रकार कहा है—"तुम कैसे ब्राह्मण हो, मैं कैसे शूद्र हूँ, रक्त में तो कोई भिन्नता नहीं"—

तुम कत बांभन हम कत सूद ?
हम कत लोहू तुम कत दूध ?

एक ज्योति से ही सब उत्पन्न हैं, इनमे कोई ब्राह्मण और कोई शूद्र नहीं है, उत्पन्न होते हुए भी सभी माँ के पेट से ही बाहर आते हैं, चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र—

"जो तूँ बांभन बभनीं जाया,
तौ आंन बाट ह्वै काहे न आया ?"[१]
"अष्ट कमल दोउ पदुमी आया,
छूत कहाँ तै उपजी ?"

बौद्धधर्म में जातिभेद के लिए स्थान नहीं है। जो भी व्यक्ति प्रव्रजित होकर भिक्षुसंघ में सम्मिलित हो जाता है, वह अपनी जाति, गोत्र आदि को छोड़कर शाक्यपुत्रीय श्रमण कहा जाता है। उदान में कहा गया है—"भिक्षुओ ! जैसे जितनी बड़ी-बड़ी नदियाँ हैं, जैसे कि गंगा, यमुना, अचिरवती, मही—सभी महासमुद्र में गिरकर अपने पहले नाम और गोत्र को छोड़ देती हैं, सभी महासमुद्र के ही नाम से जानी जाती हैं, वैसे ही क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य, शूद्र—चारों वर्ण के जो लोग इस धर्म-विनय (बौद्धधर्म) में घर से बेघर होकर प्रव्रजित होते हैं, अपने पहले नाम और गोत्र को छोड़ सभी शाक्यपुत्रीय श्रमण (बौद्धभिक्षु) इस एक नाम से जाने जाते हैं[२]।" ऐसे ही कबीर ने कहा है कि जिस प्रकार नदी-नाले गंगा से मिलकर गंगा कहलाने लगते हैं, वैसे ही सब एक हैं, जाति और कुल का विचार व्यर्थ है—

जाति कुल ना लखै कोई सब भये भृंगी।
नदी नाले मिले गंगै कहलावैं गंगी।
दरियाव दरिया जा समाने संग में संगी।[३]

भगवान् बुद्ध का कथन है कि मनुष्य का जन्म पाना कठिन है और मनुष्य का जीवित रहना भी कठिन है,[४] इसी को कबीर ने कहा है कि मनुष्य जन्म का आनन्द बार-बार नहीं मिलता—"बार बार नहीं पाइये, मनिषा जन्म की मौज[५]।" भगवान् बुद्ध ने इस शरीर को मिट्टी के घड़े के समान अनित्य कहा है,[६] तो कबीर ने भी वही बात कही है—

यहु तन काचा कुंभ है, लियां फिरै था साथि।
ढबका लगा फूटि गया, कछू न आया हाथि[७]।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२।
२. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ७५।
३. कबीर, पृष्ठ ३३९।
४. धम्मपद, गाथा १८२।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४।
६. कुम्भूपमं कायमिमं विदित्वा। —धम्मपद, गाथा ४०। सुत्तनिपात ३, ८।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५।

इस शरीर को भगवान् बुद्ध ने पानी के बुलबुला के समान क्षणभंगुर कहा है[१]। कबीर ने ही उसी को इस प्रकार कहा है—"यह तन जल का बुदबुदा, बिनसत नाहीं बार[२]।"

भगवान् बुद्ध ने सोण भिक्षु को उपदेश देते हुए कहा था कि जब वीणा की ताँत न बहुत कसी, न ढीली होती और न टूटी होती है, तभी वीणा ठीक से बजती है[३]। इसी प्रकार कबीर ने कहा है—

> कबीर जंत्र न बाजई, टूटि गये सब तार।
> जंत्र बेचारा क्या करै, चले बजावणहार ॥[४]

तीर्थ-यात्रा, स्नान-शुद्धि आदि का विरोध करते हुए भगवान् बुद्ध ने कहा है—'बाहुका, अधिकक्क, गया, सुन्दरिका, सरस्वती, प्रयाग और बाहुमती नदियों में काले कर्मवाला मूढ़ चाहे नित्य स्नान करे, किन्तु शुद्ध नहीं होता। सुन्दरिका, प्रयाग और बाहुलिका नदी क्या करेगी? वे पापकर्मी, बुरे कर्म करनेवाले दुष्ट नर को नहीं शुद्ध कर सकते, शुद्ध नर के लिए सदा ही फल्गु है, शुद्ध के लिए सदा ही उपोसथ (व्रत) है। गया जाकर क्या करेगा? क्षुद्र जलाशय भी तेरे लिए गया है[५]।" इसी बात को सिद्ध सरहपा ने इन शब्दों में दुहराया है—

> एथु से सरसइ सोबणाह, एथु से गंगासाअरू।
> वाराणसि पआग एथु, सो चान्द-दिवाअरू ॥
> खेत्त पिट्ठ उअपिट्ठ एथु, मइ भमिअ समिट्ठउ।
> देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठउ ॥[६]

यहीं सरस्वती, सोमनाथ, गंगासागर, वाराणसी, प्रयाग, क्षेत्रपीठ और उपपीठ हैं। शरीर के समान कोई तीर्थ न तो देखा जाता है और न सुना ही जाता है। कबीर ने इसी बात को सिद्ध सरहपा के स्वर में मिलाकर कहा है—

> जिम कारनि तटि तीरथि जांहीं, रतन पदारथ घट हीं मांहीं[७]।
> तीरथ करि करि जग मुवा, डूंबै पांणी न्हाइ[८]।
> कहै कबीर हूं खरा उदास, तीरथ बड़े कि हरि के दास[९]।
> जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ ब्रत बेसास[१०]।
> मन मथुरा दिल द्वारिका, काया कासी जांनि[११]।
> तीरथ में तो सब पानी है, होवे नहीं कछु अन्हाय देखा[१२]।

---

१. "यथा बुब्बुलकं पस्से"। —धम्मपद, गाथा १७०।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७२।
३. अंगुत्तरनिकाय, ६, ६, १।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ७४।
५. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २७।
६. दोहाकोश, ९६, ९७।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
८. वही, पृष्ठ ३७।
९. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ९७।
१०. वही, पृष्ठ ४४।
११. वही, पृष्ठ ४४।
१२. कबीर, पृष्ठ २६२।

धम्मपद मे कहा गया है कि जब मन गन्दा है तो शरीर को बाहर-बाहर धोने से क्या लाभ ? जटा और मृगछाला भी क्या करेंगे[१] ?

कवीर ने भी इसी को दुहराया है—"क्या जप क्या तप संजमां क्या तीरथ व्रत अस्नान"[२] ?

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जिस पुरुष के सन्देह समाप्त नही हुए है, उसकी शुद्धि न नंगे रहने से, न जटा से, न कीचड़ लपेटने से, न उपवास करने से, न कड़ी भूमि पर सोने से, न धूल लपेटने से और न उकड़ूँ बैठने से होती है[३]। इसी भाव को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार व्यक्त किया है—"यदि नग्न रहने से मुक्ति हो, तो कुत्ते और सियार भी मुक्त हो जायेंगे। मोरपंख ग्रहण करने से यदि मोक्ष हो, तो मोर और चमर भी मुक्त हो जायेंगे। शिला चुगकर खाने से यदि ज्ञान हो जाये, तो करि और तुरंग भी ज्ञानी हो जायेंगे[४]।" कबीर ने भी यही बात इन शब्दों में दुहराई है—

> का नांगे का बांधे चांम, जौ नहिं चीन्हसि आतम रांम।
> नागें फिरें जोग जे होई, वन का मृग मुकति गया कोई।
> मुंड मुंडायें जौ सिधि होई, स्वर्गहि भेड़ न पहुँची कोई।[५]

जब मृत्यु आती है तब न तो कोई साथ जाता है और न तो कोई रक्षा ही करता है, पुत्र, माता-पिता, भाई कोई भी सहायक नहीं होते[६]। भगवान् बुद्ध ने यह कहते हुए व्यक्ति को सदाचारी बनने की शिक्षा दी है। कबीर ने भी यही बात कहते हुए विरक्ति की ओर प्रेरित किया है—

> माता पिता बन्धु सुत तिरिया, संग नहीं कोई जाय सका रे।
> जब लग जीवै गुरु गुत लेगा, धन जोबन है दिन दस का रे।
> चौरासी जो उबरा चाहे, छोड़ कामिनी का चसका रे।[७]

सुत्तनिपात के ब्राह्मणधम्मियसुत्त[८] में कहा गया है कि प्राचीन काल के ब्राह्मण हिंसा नहीं करते थे, वे गाय आदि को मारकर यज्ञ का विधान नहीं करते थे, जब तक हिंसा नहीं हुई तब तक लोग सुखी थे, किन्तु पशुओं की हिसा से ही नाना प्रकार के रोग उत्पन्न हो गये और उनमे वर्ण-संकरता आ गई। धम्मपद के अनुसार आर्य वही है, जो जीव-हिंसा नहीं करता[९]। कबीर ने भी कहा है कि ब्राह्मण बकरी, भेड़ आदि जीवो को मारते हैं, उनके हृदय में दया भो नहीं आती। वे पुण्य की भावना से स्नान कर तिलक लगाते हैं, किन्तु लोहू की धारा बहाते हैं। समाजों के बीच अपने को श्रेष्ठ-कुल का कहते हैं और सब लोग

---

१. धम्मपद, गाथा ३९४।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२६।
३. धम्मपद, गाथा संख्या १४१।
४. दोहाकोश, चर्यागीति।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १३०।
६. धम्मपद, गाथा २८८-२८९।
७. कबीर, पृष्ठ ३४८।
८. ब्राह्मणधम्मियसुत्त २, ७।
९. धम्मपद, गाथा संख्या २७०।

इनसे ही दीक्षा माँगते हैं, मुझे तो इस बात पर हँसी आती है, ये पाप काटने के लिए कथा सुनाते हैं, किन्तु नीच कर्म करवाते है। ये दोनों ही पाप में डूबते दीखते हैं, जिन्हें कि यमराज बाँह पकड़ कर खींचता है....कलियुग मे तो ब्राह्मण निम्नकोटि के हो गए हैं, जो जीवों का बध करने में निपुण हैं—

साधो, पाँड़े निपुन कसाई।
बकरी मारि भेंड़ि को धाये, दिल में दरद न आई।।
करि अस्नान तिलक दै बैठे, बिधि सों देवि पुजाई।
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर नदी बहाई।।
अति पुनीत ऊँचे कुल कहिये, सभा माहिं अधिकाई।
इनसे दिच्छा सब कोई माँगे, हँसि आवे मोहि भाई।।
पाप कटन को कथा सुनावैं, करम करावैं नीचा।
बूड़त दोउ परस्पर दीखे, गहे बाँहि जम खींचा।।
कहैं कबीर सुनो भाई साधो, कलि मे बाम्हन खोटे।[१]

भगवान् बुद्ध ने निर्वाण की स्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि निर्वाण की ऐसी अवस्था है, जहाँ जल, पृथ्वी, अग्नि और वायु नही ठहरते, वहाँ न तो शुक्र और सूर्य ही प्रकाश करते हैं, वहाँ चन्द्रमा भी नहीं चमकता और वहाँ अन्धकार भी नहीं होता। जब भिक्षु अपने आप जान लेता है, तब रूप, अरूप, सुख और दुःख से मुक्त हो जाता है[२]—

यत्थ आपो च पठवी तेजो वायो न गाधति।
न तत्थ सुक्का जोतन्ति आदिच्चो नप्पकासति।
न तत्थ चन्दिमा भाति तमो तत्थ न विज्जति।
यदा च अत्तना वेदि मुनि सो तेन ब्राह्मणो।
अथ रूपा अरूपा च सुखदुक्खा पमुच्चति।[३]

इसी भाव को व्यक्त करते हुए सिद्ध सरहपा ने कहा है कि—हे मन ! जहाँ वायु का सञ्चार नहीं है, सूर्य और चन्द्रमा जहाँ प्रवेश नहीं कर सकते, तू वहाँ बढ़कर विश्राम करो—

जहि मण पवन ण संचरइ, रवि ससि णाह पवेस।
तहि बढ़ चित्त विसाम करु, सरहे कहिअ उएस।[४]

कबीर ने भी इसी स्थिति का वर्णन इस प्रकार किया है—

जिहि बन सीह न संचरै, पंषि उड़े नहीं जाइ।
रैनि दिवस का गमि नहीं, तहाँ कबीर रह्या ल्यौ लाइ।।[५]

---

१. कबीर, पृष्ठ ३१८।
२. उदान, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १४।
३. उदान, पालि, पृष्ठ ८-९।
४. दोहाकोश, पृष्ठ २०।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १८।

इन्हें मिलान करने पर स्पष्ट जान पड़ता है कि कबीर ने जिस परमपद का वर्णन करते हुए कहा है कि "जिस वन में सिंह का संचार नहीं है, वहाँ पक्षी नहीं उड़कर जा सकता, रात्रि और दिन को भी वहाँ पहुँच नहीं, उसी मे कबीर लवलीन है।" यह बुद्धोक्त निर्वाण का ही वर्णन है और न केवल भावों में ही समानता है, प्रत्युत शब्द-योजना में भी समता है और सिद्ध सरहपा के वचनों का तो परिवर्तन मात्र जान पड़ता है।

धम्मपद में कहा गया है कि बहुत-से ग्रन्थों को पढ़कर भी यदि उसके अनुसार आचरण न करे तो वह व्यक्ति दूसरों की गौवें गिननेवाले ग्वाले की भाँति श्रामण्य का अधिकारी नहीं होता[1]। इसी से मिलते-जुलते भाव को सिद्ध सरहपा ने इस प्रकार कहा है—

पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ ॥[2]

अर्थात् पण्डित केवल शास्त्रों की ही चर्चा करते हैं, किन्तु वे अपने शरीर में विद्यमान 'बुद्ध' को नहीं जानते। कबीर ने तो मानो इसी को अपने शब्दों मे कह डाला है कि पण्डित पढ़-पढ़कर वेद की चर्चा करते हैं, किन्तु अपने ही भीतर रहनेवाले उस परमेश्वर को नही जानते हैं—

पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बषांणै, भीतरि हूती बसत न जांणै।[3]

सिद्ध शबरपा ने निर्वाण को प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए कहा है कि गुरु के उपदेश के अनुसार मन रूपी बाण से निर्वाण को बेध दो अर्थात् अपने मन को निर्वाण की स्थिति में पहुँचा दो—

गुरुवाक् पुञ्छिआ, विन्ध्य निअमण बाणे।
एके सर सन्धाने बिन्धह् विन्धह् पर णिवाणे ॥[4]

कबीर ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा है कि वास्तव में सतगुरु शूरवीर हैं। उन्होंने जो एक शब्द निकाला, उससे मेरे कलेजे मे छेद हो गया और उस शब्द रूपी बाण के लगते ही मुझे सारे भेदों का ज्ञान प्राप्त हो गया—

सतगुरु साँचा सूरिवाँ, सबद जु बाह्या एक।
लागत ही मैं मिलि गया, पड़्या कलेजै छेक ॥[5]

इन दोनों के वचनों में कितनी समता है। दोनों का तात्पर्य गुरु का माहात्म्य बतलाना है। परमगुरु भगवान् बुद्ध ने यही बात कही थी कि मैंने जो मार्ग बतला दिया है, उस पर आरूढ़ होकर तुम दुःखों का अन्त कर दोगे। शल्य के सदृश दुःख के निवारण-स्वरूप निर्वाण को जानकर मैंने उसका उपदेश किया है[6]। सिद्ध शबरपा और कबीर की वाणी के मूलस्रोत का इस बुद्धवचन से पूर्ण आभास मिलता है।

---

१. धम्मपद, गाथा १९। २. दोहाकोश, पृष्ठ ३०।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२। ४. चर्यापद, पृष्ठ १३४।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १।
६. एतं हि तुम्हे पटिपन्ना, दुक्खस्सन्तं करिस्सथ।
अक्खातो वे मया मग्गो, अञ्ञाय सल्लसन्थनं ॥—धम्मपद, गाथा २७५।

समरस की स्थिति का वर्णन करते हुए सिद्ध भुसुकपा ने कहा है कि जिस प्रकार जल के जल मे मिल जाने पर भेद नहीं किया जा सकता, वैसे ही जब मन समरस में लवलीन हो जाता है, तब वह आकाश-तुल्य हो जाता है—

> जिमि जले पाणिआ टलिआ भेउ न जाय।
> तिम मण रअणा समरसे गऊण समाऊ[1]॥

कबीर ने भी इसी का निर्देश करते हुए कहा है कि मै पहले चाहे किसी भी प्रकार का रहा होऊँ, किन्तु अब जीवन का फल प्राप्त कर मेरी दशा पहले से भिन्न हो गयी है, जैसे कि जल जल मे मिल जाने पर फिर वह नहीं निकल सकता, अर्थात् उसका भेद नहीं दिखलाया जा सकता। वैसे ही मैं जल की भाँति ढरककर परमात्मा मे मिल गया हूँ—

> तब हम वैसे अब हम ऐसे, इहै जनम का लाहा।
> ज्यूं जल मैं जल पैसि न निकसै, यूं ढुरि मिल्या जुलाहा॥[2]

इस समरस की अवस्था का वर्णन करते हुए सिद्ध कण्हपा ने कहा है कि जिस प्रकार नमक जल में मिलकर विलीन हो जाता है, वैसे ही चित्त गृहिणी (मुद्रा) के साथ जब लीन हो जाता है और उसकी वही स्थिति नित्य बनी रहती है, तो वह शीघ्र ही समरस अवस्था को प्राप्त हो जाता है—

> जिमि लोण विलिज्जइ पाणिएहि तिम घरिणी लइ चित्त।
> समरस जाइ तक्खणे, जइ पुणु ते सम णित्त[3]॥

कबीर ने भी इसी अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि जब मेरा मन परमतत्व के साथ मिल गया, तो परमतत्व भी मेरे मन मे मिल गया, जैसे कि नमक जल मे और जल नमक में विलीन हो गया—

> मन लागा उनमन सौं, उनमन मनहिं बिलग।
> लूंण बिलग पांणिया, पांणीं लूंण बिलग[4]॥

यहाँ जिसे सिद्ध कण्हपा ने चित्त और गृहिणी कहा है, उसे ही कबीर ने मन और उन्मन नाम से पुकारा है। दोनो का भाव एक ही है।

भगवान् बुद्ध ने वेदादि ग्रन्थों की प्रामाणिकता को नहीं माना है[5]। उन्होंने कहा है कि किसी बात को इसलिए न मान लो कि वह ग्रन्थो में लिखी है[6]। दीघनिकाय के तेविज्ज सुत्त मे त्रिवेद तथा ब्राह्मण-ग्रन्थों के कर्त्ता-प्रवक्ता ऋषियों को भी ब्रह्मा की सलोकता के मार्ग

---

१. चर्यापद, पृष्ठ २०७।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२१।
३. दोहाकोश, पृष्ठ ४६।
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३।
५. दीघनिकाय, १, १३।
६. "मा पिटकसम्पदानेन"। —अंगुत्तरनिकाय, ३, २, ५।

का अनभिज्ञ कहा गया है[१]। भदन्त धर्मकीर्ति ने भी तथागत की ही बात दुहराते हुए कहा है—"वेद को प्रमाण मानना, संसार के कर्त्ता को मानना, स्नान में पुण्य मानना, जाति का अभिमान करना और पाप को दूर करने के लिए शरीर को तपाना—ये मूर्खों के पाँच लक्षण हैं[२]। कबीर ने भी इसी का प्रतिपादन अपनी वाणियों में किया है। उनका कहना है कि "वेद और कत्तेब (कुरान) परमतत्व को नहीं जानते है—"वेद कत्तेब की गम्म नाहीं[३]।" इसलिए "कबीर पढिवा दूरि करि, पुस्तक देइ वहाइ[४]", क्योंकि "पोथी पढ़ि पढ़ि जग मुवा, पण्डित भया न कोइ[५]"। कबीर ने धर्मकीर्ति के ही स्वर में स्वर मिलाकर गाया है—"जप तप दीसैं थोथरा, तीरथ व्रत बेसास[६]"। अर्थात् जप, तप और तीर्थ-व्रत तुच्छ और व्यर्थ दिखाई देते हैं, शुद्धि की भावना मे स्नान करना भी निरर्थक है[७]।

धम्मपद मे कहा गया है कि जो बिना चित्त को परिशुद्ध किए ही संन्यास-वस्त्र (काषाय) धारण करता है, वह संयम और सत्य से हीन व्यक्ति उस वस्त्र का अधिकारी नही है[८]। वह केवल वेष धारण कर भीख माँगने मात्र से भिक्षु नहीं कहा जा सकता, किन्तु जो पाप ओर पुण्य को छोड़ ब्रह्मचारी बन, ज्ञान के साथ लोक मे विचरण करता है, वही भिक्षु है[९]। कबीर ने भी इसी भाव को इस प्रकार प्रगट किया है—

> कबीर सतगुर नाँ मिल्या, रही अधूरी सीष।
> स्वाँग जती का पहरि करि, घरि घरि माँगै भीष॥[१०]

अर्थात् उसे परमपद की प्राप्ति नहीं हुई, उसकी शिक्षा पूर्ण नहीं हो पाई और वह संन्यासी का वेष बनाकर घर-घर भीख माँगता फिरता है, तो इससे उसका क्या भला होगा? उसका यह संन्यास सार्थक नहीं।

सुत्तनिपात में कहा गया है कि सभी प्राणी मरण-धर्मा है, सभी मृत्यु के वश में हैं, मृत्यु से न तो पिता पुत्र की रक्षा कर सकता है और न बन्धु बन्धुओं की रक्षा कर सकते हैं। सब लोगों के विलाप करते हुए ही मृत्यु पकड़ ले जाती है[११]। जीवन, रोग, काल, शरीर का त्याग और गति—ये पाँच जीव-लोक में अनिमित्त हैं, ये जान नहीं पड़ते हैं[१२]। मृत्यु को

---

१. दीघनिकाय, १, १३।
२. वेदप्रामाण्यं कस्यचित् कर्तृवादः, स्नाने धर्मेच्छा जातिवादावलेपः।
संतापारम्भः पापहानाय चेति, ध्वस्तप्रज्ञानां पञ्चलिंगानि जाड्ये॥
—प्रमाणवार्तिक १, ३४२।
३. कबीर, पृष्ठ २४७।
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८।
५. वही, पृष्ठ ३९।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४४।
७. "क्या तीरथ व्रत अस्नान ?" —वही, पृष्ठ १२६।
८. धम्मपद, गाथा ९।
९. वही, २६६-६७।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३।
११. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १२७-१२९।
१२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ २१५।

हाथी, रथ, पैदल सेना, मन्त्र अथवा धन से नहीं जीता जा सकता[१]। मनुष्यों का जीवन ही नश्वर तथा क्षणभंगुर है[२]। कबीर ने भी इसे ही व्यक्त करते हुए कहा है कि गर्व क्या करते हो, जब मृत्यु ने केश पकड़ रखा है और यह ज्ञात नहीं कि वह घर या बाहर कहाँ मार डालेगी—

कबीर कहा गरबियौ, काल गहै कर केस।
नां जाणौं कहां मारिसी, कै घरि कै परदेस ॥[३]

कबीर का भी कहना है कि जब मृत्यु पकड़कर ले चलती है, तब न कोई बन्धु साथ देता है और न कोई भाई ही। हाथी-घोड़े भी ज्यों-के-त्यों बँधे रह जाते हैं। सभी को अपनी सारी धन-सम्पत्ति छोड़कर ही जाना पड़ता है—

नां को बंध न भाई साथी, बाँधे रहे तुरंगम हाथी।
मैड़ी महल बाबड़ी छाजा, छाड़ि गये सब भूपति राजा ॥[४]

भगवान् बुद्ध ने आत्म-निर्भर होकर[५] सदा कार्य में तत्पर रहने की शिक्षा दी है[६] और कहा है कि केवल कथनी में न लगकर कार्य करो, बहुत बोलने से कोई धर्मधर नहीं होता,[७] जो अनेक ग्रंथों का पाठ मात्र करता है, किन्तु उसके अनुसार आचरण नहीं करता,[८] वह परमपद को नहीं पा सकता। कबीर ने भी कहा है कि कथनी मात्र से क्या होगा, यदि कार्य रूप में उसे परिणत नहीं किया जाता—"कथणीं कथी तौ क्या भया, जे करणीं ना ठहराइ"[९]।

पूर्वशैलीय और अपरशैलीय भिक्षुओं का मत था कि व्यक्ति का भाग्य उसके लिए पहले से ही नियत होता है और उसी के अनुसार उसे फल भोगना पड़ता है,[१०] इसी का प्रभाव कबीर पर भी पड़ा दीखता है। कबीर का कथन है कि भाग्य में जो नियत है, उसे भोगना ही पड़ेगा, उसमें किसी भी प्रकार से न्यूनाधिक नहीं हो सकता—

करम करीमां लिखि रह्या, अब कछू लिख्या न जाइ।
मासा घटै न तिल बढ़ै, जौ कोटिक करै उपाइ[११] ॥

करम गति टारे नाहिं टरी।
कहत कबीर सुनत भइ साधो, होनी हो के रही[१२] ॥

---

१. अंगुत्तनिकाय, १, ३, ३, ५।
२. सुत्तनिपात, ३, ८, ३-४; और दीघनिकाय, २, ३।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २१। ४. वही, पृष्ठ १२०।
५. "अत्तदीपा विहरथ अत्तसरणा अनञ्ञसरणा"। —महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ ६३।
६. धम्मपद, गाथा २३।
७. "न तावता धम्मधरो यावता बहुभासति"। —धम्मपद, गाथा २५९।
८. "बहुम्पि चे संहितं भासमानो, न तक्करो होति नरो पमत्तो"। —धम्मपद, गाथा १९।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८। १०. कथावत्थु, ३, १३, ४।
११. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५८। १२. संतबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ ५-६।

भगवान् बुद्ध ने पूजा-पाठ का निषेध किया था। उन्होंने अपनी पूजा तक को सार्थक नहीं कहकर धर्म-आचरण की ओर सबको प्रेरित किया था[१]। उन्होंने यह भी कहा था कि मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य (चौरा) आदि को देवता मानकर उनकी शरण जाते हैं, किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता[२]। किन्तु जो बुद्ध, धर्म और संघ की शरण जाता है और चार आर्यसत्यों की भावना करता है, वही सब दुःखों से मुक्त होता है[३]। कबीर ने भी इसी भाव को लक्ष्य करके कहा है कि परमतत्व न तो मन्दिर मे है, न मसजिद में, न कावाशरीफ या कैलास मे ही है, वह कर्म-काण्ड और योग-वैराग्य मे भी नहीं है, वह तो अपने भीतर ही है, जो क्षणमात्र मे खोजनेवाले को मिल जाता है—

ना मैं देवल ना मैं मसजिद, ना कावे कैलास में।
ना तो कौन क्रिया कर्म मे, नहीं योग वैराग में।
खोजी होय तो तुरतै मिलिहैं, पलभर की तालास मे।[४]

जिन आर्यसत्यों की भावना करने के लिए तथागत ने बतलाया है, वे चार हैं—दुःख, दुःख-समुदय, दुःख निरोध और दुःख निरोध की ओर ले जानेवाला मार्ग। इनका परिचय पहले अध्याय में दिया जा चुका है। कबीर ने भी इनका उपदेश अपने ढंग से दिया है। कबीर का भी कथन है कि यह संसार दुःखों का घर है—"दुनिया भांडा दुख का, भरी मुहांमुंह भूख"[५]। यह दुःख तृष्णा से उत्पन्न होता है, तृष्णा ही कर्म का कारण है, क्योंकि तृष्णा में ही पड़कर व्यक्ति कर्म करता है और फिर कर्म के फन्दे में पड़ा रहता है—

माता जगत भूत सुधि नाहीं, भ्रमि भूले नर आवैं जाहीं।
जानि बूझि चेतै नहिं अंधा, करम जठर करम के फंधा[६]।

दुख संताप कलेस बहु पावै, सो न मिलै जे जरत बुझावै।
मोर तोर करि जरे अपारा, मृगतृष्णा झूठी संसारा[७]॥

माया मोह धन जोबना, इनि बंधे सब लोइ।
झूठै झूठ बियापिया, कबीर अलख न लखई कोय॥[८]

जिस तृष्णा के कारण दुःख उत्पन्न होते हैं, उसी तृष्णा के विनष्ट हो जाने पर सारे दुःखों का निरोध हो जाता है और तृष्णा के निरोध का मार्ग हरि-भक्ति है। हरि-भक्ति से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है—

---

१. "अव्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीरपूजाय"।
—महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ १४४।

२. धम्मपद, गाथा १८८, १८९।
३. धम्मपद, गाथा संख्या १९०-१९२।
४. कबीर, पृष्ठ २३०।
५. बानी, साखी १२, ४७।
६. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २२७-२८।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३३।
८. वही, पृष्ठ २२९।

हरि हिरदै एक ज्ञान उपाया, तायैं छूटि गई सब माया।[१]
कहै कबीर हरि भगति बिन, मुकति नहीं रे मूल[२]।

ज्यू राम कहे ते रामै होई, दुःख कलेस घालै सब कोई।
जन्म के किलविष जाहिं बिलाई, भरम करम का कछु न बसाई।[३]

यद्यपि कबीर ने प्रत्यक्षतः आर्यसत्यों का नाम नहीं लिया है, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप में उन्हें बतलाया है। दुःख-निरोध के मार्ग का ही नाम 'आर्य अष्टांगिक मार्ग' है। उसे ही मध्यममार्ग कहते हैं। तथागत ने काम-वासना में लिप्त रहने तथा शरीर को नानाप्रकार से तपाने के इन दोनों अन्तों को छोड़कर मध्यममार्ग का उपदेश दिया है[४]। कबीर ने भी "मधि निरन्तर बास"[५] अर्थात् मध्यममार्ग में ही निरन्तर रहने को कहा है—

भजूं तो को है भजन को, तजूं तो को है आन।
भजन तजन के मध्य मे, सो कबीर मन मान॥

अति का भला न बोलना, अति की भली न चूप।
अति का भला न बरसना, अति की भली न धूप॥[६]

भगवान् बुद्ध ने आदित्तसुत्त मे कहा है—"भिक्षुओ, सब जल रहा है। क्या जल रहा है? चक्षु जल रहा है, रूप जल रहा है, चक्षु-विज्ञान जल रहा है, चक्षु का संस्पर्श जल रहा है, सुख, दुःख, उपेक्षा, वेदनायें जल रही हैं। किससे जल रहा है? राग की आग से, द्वेष की आग से और मोह की आग से; जन्म से, जरा से, मृत्यु से, शोक से, परिदेव से, दुःख से. दौर्मनस्य से और उपायासों से—ऐसा मैं कहता हूँ[७]।" इसीलिए उन्होंने यह भी कहा है कि "जब नित्य जल रहा है तो हँसी कैसी? आनन्द कैसा[८]?" कबीर ने भी ठीक इसी बात को दुहराया है—

देखहु यह तन जरता है, घड़ी पहर विलंबै रे भाई जरता है।
काहे कौ एता किया पसारा, यहु तन जरि बरि ह्वैहै छारा।
नव तन द्वादस लागी आगी, मुगध न चेतै नख सिख जागी।
काम क्रोध घट भरे विकारा, आपहि आप जरै संसारा।[९]

पूर्वशैलीय भिक्षुओं की यह मान्यता थी कि साधक जब ध्यान को प्राप्त होता है तब उसे शब्द सुनाई देता है, क्योंकि भगवान् बुद्ध ने शब्द को ध्यान के लिए विघ्न बतलाया है, यदि वह सुने नहीं तो शब्द विघ्नकारी नहीं हो सकता[१०]। हमारा अपना मत है कि ध्यान

१. बानी, पद १८७। २. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४५।
३. वही, पृष्ठ २३६। ४. धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५४। ६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३२।
७. संयुत्तनिकाय, ३४, १, ३, ६, हिन्दी अनुवाद, दूसरा भाग, पृष्ठ ४५८।
८. को नु हासो किमानन्दो, निच्चं पज्जलिते सति। —धम्मपद, गाथा १४६।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११८। १०. कथावत्थु, ४, १८, ८।

समापत्ति के समय में साधक के शब्द सुनने की भावना का ही विकास 'अनहद' के रूप में हुआ है। कबीर ने इस अनहद शब्द का वर्णन करते हुए कहा है कि अनहद का वाजा वजता रहता है और उसे बिरले ही सुन पाते हैं—

सुनता नहीं धुन की खवर, अनहद का वाजा वजता।[१]
गुड़िया कौ सबद अनाहद बोलै, खसम लियैं कर डोरी डोलै।[२]

धम्मपद में कहा गया है कि मन सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, मन उसका प्रधान है, वे मन से ही उत्पन्न होती हैं,[३] दूरगामी, एकाकी विचरण करनेवाले, निराकार, गुहाशायी स्वभाववाले मन का जो संयम करता है, वही सांसारिक बन्धनों से मुक्त होता है,[४] व्यक्ति अपना स्वामी आप है, भला दूसरा कोई उसका स्वामी क्या होगा[५]? ऐसे मन का दमन करना उत्तम है, क्योंकि दमन किया हुआ मन सुखदायक होता है[६]। कबीर ने भी मन को गोरख और गोविन्द कहा है, जो मन की रक्षा करता है, वह स्वयं अपना स्वामी है। मन जल से सूक्ष्म, धुँआ से क्षीण, पवन के समान तीव्रगामी और चंचल है—

मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ॥
पांणी हीं तैं पातला, धूंवाँ ही तैं झीण।
पवनां बेगि उतावला, सो दोसत कबीरै कीन्ह॥[७]

यहाँ हमने ऐसे स्थलों को उद्धृत किया है, जो बौद्ध-साहित्य तथा कबीर-वाणी में समान रूप से मिलते हैं। इनसे स्पष्ट ज्ञात होता है कि बौद्ध-विचारों का कबीर की वाणियों में किस प्रकार समन्वय हुआ है और कबीर पर बौद्धधर्म का कितना प्रभाव पड़ा है। यहाँ हमने कुछ ही उद्धरण दिए है। बौद्ध-मन्तव्य कबीर-वाणियों मे भरे पड़े हैं और जब तक जिन धार्मिक, दार्शनिक, चारित्रिक, पारिभाषिक, गूढ़ार्थ, रहस्यात्मक, पारमार्थिक आदि बौद्ध-विचारों की छाप कबीर पर पड़ी हुई है, उन पर प्रकाश नहीं डाला जाता, तब तक कबीर पर पड़े बौद्ध-प्रभाव को भली प्रकार नहीं जाना जा सकता। हम कह आये है कि कबीर पर सभी समसामयिक विचारधाराओं का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा था। उन्होंने सन्त-समागम तथा परम्परागत धार्मिक विचारों से ही उन्हे ग्रहण किया था, उनका स्वयं कथन है—

विद्या न पढ़ूँ वाद नहिं जानूं।
हरि गुन कथत सुनत बौरानूं॥[८]

स्पष्ट है कि कबीर ने धर्म-शास्त्रों का अध्ययन नहीं किया था और न 'मसि कागद' ही हाथ से छुआ था, वे तो 'हरि-गुण' कहने-सुनने मात्र से ही हरि-भक्ति मे उन्मत्त हो गए थे,

---

१. कबीर, पृष्ठ २६७।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११७।
३. धम्मपद, गाथा १।
४. धम्मपद, गाथा ३७।
५. वही, गाथा १६०।
६. वही, गाथा ३५।
७. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९।
८. वही, पृष्ठ १३५।

फिर भी बौद्ध-विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे, जिसे कि वे प्रत्यक्षतः बौद्ध-विचार नहीं जानते थे, क्योंकि उनके श्रुति-पथ में 'निष्कलंकी बौद्ध' भी परमतत्व के ज्ञाता न होने के रूप में ही प्रवेश पाये थे,[1] और ये निष्कलंकी बौद्ध तपस्वी रामचन्द्र, मुरलीधर कृष्ण, मत्स्य, कच्छप, वाराह और वामन की ही भाँति अवतार माने जानेवाले थे[2]। सिद्धों और गोरख-पन्थियों (नाथों) ने भी उस परमतत्व का अन्त नहीं पाया था[3]। इन सब विरोधी बातों को कबीर-वाणी में पाते हुए भी हम कबीर पर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पाते हैं। आगे के तथ्यों से इसकी और भी पुष्टि होगी। हम इन पर अलग-अलग विचार करेंगे।

बौद्धधर्म का शून्यवाद ही कबीर के निर्गुणवाद का आधार

भगवान् बुद्ध ने अनित्य, दुःख और अनात्म का उपदेश देते हुए बतलाया है कि विमुक्ति के तीन द्वार हैं, जिन्हे विमोक्षमुख कहते हैं—शून्यता, अनिमित्त और अप्रणिहित। इनकी समाधि भी शून्यता समाधि, अनिमित्त समाधि तथा अप्रणिहित समाधि ही कही जाती है और इनकी भावना भी शून्यतानुपश्यना, अनिमित्तानुपश्यना तथा अप्रणिहितानुपश्यना कहलाती है[4]। पटिसम्भिदामग्ग मे कहा गया है—"अनित्य के तौर पर मनस्कार करते हुए अधिमोक्ष बहुल अनिमित्त-विमोक्ष को प्राप्त होता है। अनात्म के तौर पर मनस्कार करते हुए ज्ञान-बहुल शून्यता-विमोक्ष को प्राप्त होता है"[5]। शून्यता की व्याख्या मे कहा गया है—"अनित्य की अनुपश्यना का ज्ञान नित्य के तौर पर अभिनिवेश (दृढ़ग्राह) को छोड़ता है, इसलिए शून्यता विमोक्ष है, दुःख की अनुपश्यना का ज्ञान सुख के तौर पर अभिनिवेश को छोड़ता है, अनात्म की अनुपश्यना का ज्ञान आत्मा के तौर पर अभिनिवेश को छोड़ता है, इसलिए शून्यता विमोक्ष है[6]।" यह भी कहा गया है कि परमार्थ से सभी सत्यों का अनुभव करनेवाले, कर्त्ता, शान्त होनेवाले और शान्ति को जानेवाले के अभाव से ही शून्य कहा जाता है—

दुक्खमेव हि न कोचि दुक्खितो,
कारको न किरिया व विज्जति।
अत्थि निब्बुति न निब्बुतो पुमा,
मग्गमत्थि गमको न विज्जति ॥[7]

अर्थात् दुःख ही है, कोई दुःख भोगनेवाला व्यक्ति नही है। कर्त्ता नहीं है, क्रिया ही है। निर्वाण है, निर्वाण को प्राप्त व्यक्ति नही है। मार्ग है, जानेवाला पथिक नहीं है। यह नैरात्म्य की भावना ही शून्यता को भावना है। आगे चलकर नागार्जुन के समय में इस भावना का विकास हुआ और नागार्जुन ने इसकी व्याख्या अपने ढंग से की। नागार्जुन के शून्यवाद

---

१. केते बौध भये निकलंकी, तिन भी अन्त न पाया। —कबीर, पृष्ठ ३२६।
२. कबीर, पृष्ठ ३२६। ३. वही, पृष्ठ ३२६।
४. दीघनिकाय, ३, १० और ३, ११।
५. पटिसम्भिदामग्ग २, अनुवाद के लिए विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २४९।
६. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २५०। ७. वही, पृष्ठ १२५।

का परिचय पहले दिया जा चुका है। शून्यता की इसी भावना ने सिद्धों के समय मे शून्य एवं निरंजन का रूप धारण कर लिया। सिद्ध सरहपा ने शून्यवाद का पर्याप्त प्रचार किया, जिसका प्रभाव नाथों और सन्तों पर परम्परानुसार पड़ा। सिद्ध सरहपा ने कहा कि परमपद शून्य और निरञ्जन है—

सुण्ण णिरंजण परमपउ, सुइणो अ माअ सहाव।
भावहु चित्त-सहावता, णउ णासिज्जइ जाव[1]॥

कबीर ने भी शून्य को ग्रहण किया और उसे अलख, निरंजन तथा शून्यतत्व माना। उन्होंने शून्य में समाधि लगाई और कहा कि शून्य में जल, पृथ्वी, आकाश आदि नहीं हैं और न तन, मन अथवा आत्मीयता ही है, वह तो शुद्ध शून्य ही है—

नहिं तहँ नीर नाव नहिं खेवट, ना गुन खैंचनहारा।
धरनी गगन कल्प कछु नाहीं, ना कछु वार न पारा॥
नहिं तन नहिं मन नही अपन पौ सुन्न मे सुद्ध न पैहौ।[2]

नागार्जुन ने परमार्थ को शून्य, अशून्य से रहित बतलाया था[3] और सिद्ध गोरखनाथ ने भी वही बात कही[4]। इसका ही प्रभाव कबीर पर भी पड़ा और उन्होंने कहा कि परमतत्व शून्य है,[5] किन्तु वह रूप-स्वरूप से रहित है,[6] वह निर्गुण और सगुण से परे है,[7] वह गगन-मण्डल में रूप-रेख रहित है,[8] वह ऊपर, नीचे, बाहर, भीतर नहीं बतलाया जा सकता,[9] अर्थात् नागार्जुन के शब्दों में वह शून्य-अशून्य न होता हुआ भी उसे प्रज्ञप्ति के लिए शून्य कहा जाता है।

स्थविरवाद शून्य-समाधि अथवा शून्य-भावना को मानता हुआ भी परमपद निर्वाण को एक 'आयतन' (अवस्था) मानता है, जहाँ उत्पत्ति, लय, स्थिति, गति, अगति नही है,[10]

---

१. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३६। २. कबीर, पृष्ठ २५१।
३. शून्यमिति न वक्तव्यम्, अशून्यमिति वा भवेत्।
उभयं नोभयं चेति, प्रज्ञप्त्यर्थं तु कथ्यते॥
४. बसती न सुन्यं न बसती अगम अगोचर ऐसा।
गगन सिषर महिं बालक बोलै ताका नाँव धरहुगे कैसा॥ —गोरखबानी, पृष्ठ . ।
५. सत से सत्त सुन्न कहलाई, सत्त भंडार याही के माँही।
निःतत रचना ताहि रचाई, जो सबहिन तें न्यारा है। —कबीर, पृष्ठ २७७।
६. रूप सरूप कछू वहँ नाहीं, ठौर ठाँव कछु दीसै नाहीं।
अजर तूल कछु दृष्टि न आई, कैसे कहूँ सुमारा है॥ —कबीर, पृष्ठ २७७।
७. निर्गुण सर्गुण के परे, तहँ हमारा ध्यान है। —कबीर, पृष्ठ ३१७।
८. रेख रूप जेहि है नहीं, अधर धरो नहिं देह।
गगन मँडल के मध्यें, रहता पुरुष विदेह॥ —कबीर, पृष्ठ ३१७।
९. धर नहिं अधर न बाहर भीतर, पिंड ब्रह्मंड कछु नाहीं। —कबीर, पृष्ठ ३५५।
१०. उदान : हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १०९।

और महायान का शून्यवाद प्रतीत्यसमुत्पाद की भावना है, जो शून्यता को देखता है वही चारों आर्यसत्यों को देखता है[1] तथा आर्यसत्यो का अनुभव या साक्षात्कार ही निर्वाण की अवस्था है, तात्पर्य यह कि इस अवस्था को शून्यता की भावना से ही प्राप्त किया जा सकता है। इसे कबीर ने निरंजन, राम आदि नामों से पुकारा है। वह निरञ्जन घट-घट में व्याप्त है[2]। महायान सूत्रालंकार मे भी तथागत को सर्वव्यापी कहा गया है[3]। सिद्ध सरहपा ने "सअलु णिरन्तर वोहि ठिअ"[4] कहकर इसी को प्रगट किया है। गोरखनाथ ने इसी अवस्था को स्पष्ट करते हुए कहा है—

> उदै न अस्त राति न दिन, सरबे सचराचर भाव न भिन।
> सोई निरंजन डाल न मूल, सब व्यापीक सुषम न अस्थूल[5]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि विमोक्षमुख शून्य ने क्रमशः विकसित होकर अलख, निरंजन, शून्य आदि नामों से व्यवहृत होकर ब्रह्म का रूप धारण कर लिया और कबीर ने "कह कबीर जँह वसहु निरंजन तँह किछु आह कि सुन्न" कहकर दोनो को मिला दिया, फिर भी शून्य अनिर्वचनीय बना रहा। कबीर ने इसे सहजशून्य भी कहा और तरुवर का रूपक देकर समझाया, जैसा कि सिद्धों ने समझाया है[6]। कबीर ने कहा है कि सहजशून्य एक वृक्ष की भाँति है, जो उसे देख पाते हैं, उन्हीं का मैं सेवक हूँ—

> सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिआ।
> कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि यहु बिरवा देखिआ॥[7]

कबीर ने समुद्र के रूपक से भी इसे समझाया—

> उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे।
> सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होई जावहिगे॥[8]

बौद्धधर्म अनीश्वरवादी था। पीछे बुद्ध को निरन्तर विद्यमान माना गया और जैसा कि ऊपर कहा गया है, वे घट-घट मे व्याप्त मान लिए गये[9]। इस भावना ने ही नाथों को प्रभावित किया और सन्तों ने इसे अपने ढंग से ग्रहण किया। राहुलजी का यह कथन समीचीन है कि पीछे के सन्त शून्यवाद से परिचित न थे, तो भी वे उसके प्रवाह में बहे बिना न रहे[10]। उन पर सिद्धों का प्रभाव पड़ा, क्योकि सिद्धों ने शून्य का पर्याप्त प्रचार किया था। अब

---

१. माध्यमिक कारिका, २४, ३९-४०।
२. सब घटि अन्तरि तूं ही व्यापकु धरै सरूपैं सोई। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५।
नाति सरूप बरण नहीं जाकै, घटि घटि रह्यौ समाई। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४९।
३. तद्गर्भासर्वदेहिनः। —महायान सूत्रालंकार, ९, ३७।
४. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ३९।
६. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३५-३६।
७. सन्त कबीर, पृष्ठ १८१।
८. सन्त कबीर, पृष्ठ १९२।
९. महायान, पृष्ठ १३१।
१०. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ट ३६।

अनीश्वरवादी शून्यवाद ब्रह्मतत्व से समन्वित होकर कबीर का निर्गुणवाद बन गया, जिसका मूल आधार बौद्धधर्म का शून्यवाद ही था।

विचार-स्वातन्त्र्य तथा समता में कबीर पर बौद्धधर्म की छाप

कबीर स्वतन्त्र विचारक तथा समता के समर्थक थे। वे किसी भी ग्रंथ को प्रमाण नहीं मानते थे और न किसी प्रकार की जातिगत विषमता को ही स्वीकार करते थे। पहले हम कह आये हैं कि कबीर ने ग्रंथ-पाठ, जप, तप, स्नान-शुद्धि आदि को व्यर्थ बतलाकर कहा कि ग्रंथों को बहा दो,[1] इससे ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता। पुस्तकीय ज्ञान परमपद तक नहीं पहुँचा सकता। ग्रंथों की तो वहाँ गति ही नहीं है।[2] यह विचार कबीर का अपना होते हुए भी पूर्व के सन्तों द्वारा सुप्रभावित था। कबीर से कई शताब्दियों पूर्व बुद्ध और उनके शिष्यों ने इस विचार-स्वातन्त्र्य का उपदेश दिया था और ग्रंथों को अपौरुषेय मानने का निषेध किया था। हम कह आये हैं कि भगवान् बुद्ध ने कालामों को उपदेश देते हुए कहा था कि किसी भी बात को इसलिए न मान लो कि वह ग्रन्थों मे लिखी है अथवा परम्परा से चली आ रही है, प्रत्युत तुम स्वयं अपनी बुद्धि से विचार करो, जब वह उचित लगे तो ग्रहण करो अन्यथा त्याग दो[3]। उन्होंने अपने उपदेश के सम्बन्ध मे भी यही बात कही—

तापाच् छेदाच् च निकषात् सुवर्णमिव पण्डितैः।
परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं भिक्षवो न तु गौरवात्[4]॥

अर्थात् जैसे पण्डितजन स्वर्ण को तपाकर, काटकर, कसौटी पर कसकर परखते हैं और फिर उसे ग्रहण करते हैं, वैसे ही भिक्षुओ ! मेरे वचनो को परख कर ग्रहण करो, केवल मेरे गौरव का ध्यान रखकर ही उन्हें न ग्रहण कर लो।

मज्झिमनिकाय के अलगद्दूपमसुत्त[5] में तथागत ने कहा है कि कोई-कोई अनाड़ी भिक्षु ग्रंथों को धारण करते हैं, किन्तु उनके अर्थ को प्रज्ञा से परखते नहीं हैं और न परखने के कारण उनका वास्तविक आशय नहीं समझते है, वे या तो बड़ा बनने के लिए ग्रंथों का पाठ करते है या लाभ कमाने के लिए, जो उनके लिए अहितकर होता है, अतः "भिक्षुओ ! मैं बेड़े की भाँति निस्तार पाने के लिए तुम्हे धर्म का उपदेश करता हूँ, पकड़कर रखने के लिए नहीं।" तात्पर्य यह कि भगवान् बुद्ध ने जो कुछ उपदेश दिया है, उसे स्वतन्त्र बुद्धि से परखकर ही ग्रहण करने का आदेश भी दिया है और यदि केवल उन वचनों को ग्रंथों के रूप में ग्रहण करना है, तो कबीर का कहना बुद्ध-वचन का ही दुहराना है—"कबीर पढ़िवा दूरि करि, पुस्तक देइ बहाइ[6]।" गोरखनाथ ने भी इसी बुद्ध-वाणी को व्यक्त करते हुए कहा था कि वेद और

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८।
२. कबीर, पृष्ठ २४७।
३. अंगुत्तरनिकाय, ३, २, ५।
४. तत्वसंग्रह टीका, पृष्ठ १२ पर उद्धृत।
५. मज्झिमनिकाय, १, ३, २, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ८४–९१।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८।

पुस्तकीय धर्मों मे परमतत्व का ज्ञान नहीं हो सकता तथा न उन ग्रंथों में परमपद को पढ़ा ही जा सकता है, उसे तो विरले योगी ही जानते हैं—

"वेद कतेब न खांणीं बांणीं[१]।"
वेदे न सास्त्रे कतेवे न कुरांणे पुस्तके न बंच्या जाई।
ते पद जांनां बिरला जोगी और दुनी सब धंधै लाई ।।[२]

कवीर ने अपने पूर्ववर्ती सिद्धों, नाथों तथा सन्तों से प्रभावित होकर ही कटु-सत्य कह दिया और उन ग्रंथों मे से कुछ भी ग्रहण नहीं किया, जिन्हें कि विद्वानों ने लिखा था—

पंडित मुल्ला जो लिखि दीया।
छाँड़ि चले हम कछू न लीया ।।[३]

उन्होंने अन्य साधकों को भी समझाया कि वेदादि ग्रंथों को त्याग दो, क्योंकि ये मनुष्य-कृत तथा भ्रम मे डालनेवाले हैं—

वेद कितेब छाँड़ि देउ पांड़े, ई सब मन के भरमा।
कहँहिं कबीर सुनहु हो पांडे, ई तुम्हरे हैं करमा ।।[४]

कबीर ने अनुभव एवं ज्ञान की बात भी समझाते हुए कहा कि मैंने अनेक विद्वानों को ग्रंथ-पाठ करते हुए देखा है, किन्तु किसी ने भी परमात्मा को नहीं जाना—

बहुतक देखे पीर औलिया पढ़ै किताब कुराना।
करैं मुरीद कबर बतलावैं उनहूँ खुदा न जाना ।।[५]

सबसे पहले जब निराकार, निर्गुण ब्रह्म रहा तब न तो पाप-पुण्य ही थे और न वेद, पुराण, कुरान आदि ग्रंथ ही—

नहिं तब पाप पुन्न नहिं वेद पुराना।
नहिं तब भये कतेब कुराना ।।[६]

इसलिए कबीर का कथन है कि मैं जिस मत को कह रहा हूँ वह "वेद कुराना ना लिखी"[७] और मेरी बात "लिखा लिखी की है नहीं, देखा देखि की बात[८]।" पुस्तकों का ज्ञान तो तीतर के ज्ञान जैसा होता है अथवा अंधे के हाथी के ज्ञान जैसा—

पंडित केरी पोथियाँ, ज्यों तीतर को ज्ञान।
औरन सगुन बतावहीं, अपना फंदा न जान[९] ।।
ज्यों अँधरे को हाथिया, सब काहू को ज्ञान।
अपनी अपनी कहत हैं, का को धरिये ध्यान[१०] ।।

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ २।
२. वही, पृष्ठ ३।
३. कबीर, पृष्ठ ३००।
४. वही, पृष्ठ ३१८।
५. कबीर, पृष्ठ ३२७।
६. वही, पृष्ठ २८०।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३७।
८. वही, पृष्ठ ४४।
९. वही, पृष्ठ ६३।
१०. वही, पृष्ठ ४४।

क्योंकि चारों वेदों को पढ़कर भी परमात्मा को पा सकना कठिन है, वेदपाठी तो उन्हीं वेदों में फँसकर उलझे रहते हैं—

चारिउँ वेद पढ़ाइ करि, हरि सूँ न लाया हेत ।
बालि कबीरा ले गया, पंडित ढूँढ़ै खेत[1] ।।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउँ वेदां माहिं[2] ।

अतः कबीर ने भगवान् बुद्ध की भाँति ग्रंथों के विश्वास को त्याग कर उन्हे पढ़ना छोड़ दिया[3] । यही नहीं, उन्होंने वेद-पुराणों को पढ़ना, सुनना और मनन करना भी त्याग दिया[4] तथा स्वतन्त्र चिन्तन का आश्रय ग्रहण किया ।

कबीर जन्मगत विषमता के विरोधी तथा समता के समर्थक थे । उनका कथन था कि सभी एक ही ज्योति से उत्पन्न हैं तो इनमें कौन ब्राह्मण और कौन शूद्र है[5] ? सबके भीतर एक ही रूप विद्यमान है, दूसरा रूप नहीं है, ब्राह्मण और शूद्र दोनों के शरीर में एक ही चर्म और रुधिर है[6] । ऐसे ही न तो कोई हिन्दू है और न मुसलमान, सभी हंस हैं, इनमें किसी भी प्रकार का भेद नहीं है—

बाम्हन छत्री न सूद वैसवा, मुगल पठान न सैय्यद सेखवा ।
आदि ज्योति नहिं गौर गनेसवा, ब्रह्मा बिस्नु महेस न सेसवा ।।
जोगी न जंगम मुनि दुरवेसवा, आदि न अन्त न काल कलेसवा ।
दास कबीर ले आये सँदेसवा, सार शब्द गहि चलौ वहि देसवा[7] ।।

कबीर ने हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही समान दृष्टि से देखा है और कहा है कि जिसमें सत्यनिष्ठा है, वही हिन्दू है और वही मुसलमान है[8] । यहाँ कोई हिन्दू और कोई तुर्क नहीं है[9] । साथ ही कबीर ने कहा कि हमने हिन्दू और तुर्कों को भली प्रकार देखा भी है, उन्होंने अपना मार्ग छोड़ दिया है[10] । हिन्दू छूआछूत मानते है, घड़े तक को छूने नहीं देते, किन्तु वेश्या के पैरों-तले सोते हैं । ऐसे ही मुसलमान के देवता मुर्गा-मुर्गी खाते हैं और वे घर में ही चाचा की कन्या से विवाह करते हैं, इनमें हिन्दुत्व और तुर्कत्व कहाँ रह गया है[11] ? हिन्दू राम को अपना मानते हैं और मुसलमान रहीम को । वे दोनों परस्पर लड़ते-

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६ । २. वही, पृष्ठ ३६ ।
३. "कबीर पढ़िबा दूरि करि" । —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३८ ।
४. का पढ़िये का गुनियें, का वेद पुराना सुनियें । —कबीर पदावली, पृष्ठ १४ ।
५. एक ज्योति थैं सब उत्पन्ना, को बांभन को सूदा ? —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०६ ।
६. साधो ! एक रूप सब मांहीं ।
एकै त्वचा रुधिर पुनि एकै बिप्र सूद्र के मांहीं ।। —कबीर, पृष्ठ ३१४ ।
७. कबीर, पृष्ठ ३५२ ।
८. सो हिन्दू सो मुसलमान, जिसका दुरस रहे इमान । —कबीर, पृष्ठ २९३ ।
९. "हिन्दू तुरक न कोई" । —कबीर, पृष्ठ ३१३ ।
१०. कबीर, पृष्ठ ३५९ । ११. वही, पृष्ठ ३५८ ।

झगड़ते हैं। किन्तु इसके मर्म को दोनों ने ही नहीं जाना है[1]। एक पृथ्वी पर रहते हुए न तो कोई हिन्दू है और न कोई मुसलमान। महादेव, मुहम्मद, ब्रह्मा और आदम में कोई भेद नहीं है। इनका अन्तर उसी प्रकार है जिस प्रकार कि एक ही मिट्टी के अनेक प्रकार के बर्तन बनते हैं। वे दोनों भूले हुए हैं, किसी ने भी 'राम' को नहीं प्राप्त किया है, व्यर्थ ही वाद-विवाद में जन्म गँवा रहे हैं[2]।

पहले हम कह आए हैं कि कबीर जातिगत विषमता को नहीं मानते थे[3] और जाति-पाँति के विरोधी थे। उन्होंने भगवान् बुद्ध की ही भाँति जातिभेद की निन्दा की तथा जन्मगत अभिमान को दूर करने का प्रयत्न किया। सिद्धों और नाथों ने भी यही कार्य किया था, किन्तु कबीर और उनके समय में बहुत अन्तर था। पहले ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र की ही विषमता थी, किन्तु अब इनके अतिरिक्त हिन्दू और मुसलमान की भी हो गई थी और दोनों धर्म के लिए 'ईश्वर' के नाम पर लड़ा करते थे। कबीर ने दोनों के ईश्वर को एक बतला, उसे घट-घट में व्याप्त दिखलाकर समता स्थापित करने का प्रयत्न किया। भगवान् बुद्ध ने कर्म को ही प्रधान बतलाकर कहा था कि कोई भी व्यक्ति जन्म से नीच या ऊँच नहीं होता, प्रत्युत कर्म से ही उनमें व्यावसायिक विभिन्नता आती है, जैसे कि कृषक, शिल्पी, वणिक्, सेवक—ये सब अपने द्वारा किए जानेवाले कर्म से ही भिन्न-भिन्न नामों से पुकारे जाते हैं। संसार कर्म से चलता है, प्रजा कर्म से चलती है। चालू रथ का पहिया जैसे धुरे के सहारे चलता है, वैसे ही प्राणी कर्म से बँधे हैं[4]। तथागत ने जातिभेद की तुच्छता इस उपमा से स्पष्ट की है—जैसे कोई राजा अनेक जाति के सौ व्यक्तियों को एकत्र कर किसी भी वृक्ष की लकड़ी को घिसकर आग उत्पन्न करने के लिए कहे और सभी आग उत्पन्न करें। उनमें से किसी भी आग में विभिन्नता न होगी, चाहे आग किसी भी जाति या किसी भी लकड़ी द्वारा उत्पन्न की जाय, वैसे ही किसी भी कुल से उत्पन्न हुए व्यक्ति में किसी भी प्रकार की जन्मगत विभिन्नता नहीं है। सब मनुष्य समान हैं[5]। इसीलिए किसी से उसकी जाति मत पूछो, कर्म पूछो,[6] जातिभेद तो बनावटी है[7]। नीच कुलवाले भी धीर मुनि होते हैं[8]। कबीर ने भी यह कहकर भगवान् बुद्ध की ही वाणी को दुहराया—"सन्तन जात न पूछो निरगुनियाँ",[9] क्योंकि सन्त हो जाने पर इनकी कोई जाति नहीं रह जाती, ये सभी नदियों के समुद्र में

---

१. वही, पृष्ठ ३२[illegible]।   २. कबीर, पृष्ठ ३५९।
३. देखिए : कबीर की वाणियों में बौद्धविचार।
४. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त ३५, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३९।
५. मज्झिमनिकाय, अस्सलायण सुत्त २, ५, ३, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३८८।
६. संयुत्तनिकाय, ७. १. ९, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ १३४।
७. जातिभेद और बुद्ध, पृष्ठ ७।
८. संयुत्तनिकाय, प्रथम भाग, ७, १, ९, पृष्ठ १३५।
९. कबीर, पृष्ठ २३[illegible]।

मिलकर एक हो जाने की भाँति एक हो जाते है, ज्ञानी के लिए कोई जातिभेद नहो है[1]। हमने पहले बतलाया है कि इसी दृष्टान्त से भगवान् बुद्ध ने जातिभेद की निस्सारता बतलाई है और सिद्धों आदि ने भी। इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर के विचार-स्वातन्त्र्य तथा समता की भावना पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने जात्याभिमानी ब्राह्मणों को फटकारा था, उसी प्रकार कबीर ने भी उन्हें फटकारा और कहा—"यदि तुम अपने को जन्म से ही ऊँच मानते हो तो तुम जन्म लेते समय दूसरे मार्ग से क्यों नहीं उत्पन्न हुए[2]। ब्राह्मणों की धमनियों में दूध बहता नहीं देखा गया, प्रत्युत शूद्र और ब्राह्मण के शरीर में समान ही रक्त प्रवाहित है। हम तो सभी को एक समान समझते है, लकड़ी मे विद्यमान आग की भाँति सभी मे एक परमात्मा व्याप्त है[3]। और सभी एक समान है[4]। कबीर का यह भी कहना है कि यदि सृष्टिकर्त्ता को जन्मगत भेद अपेक्षित होता तो उत्पन्न होने के समय ही ब्राह्मणों के ललाटों पर तीन रेखाएँ बना देता तथा माता के पेट से ही ब्राह्मण जनेऊ पहनकर बाहर आते एवं मुसलमानों का सुन्नत भी पहले ही हुआ रहता[5]।

कबीर की उलटवासियाँ सिद्धों की देन

कबीर की वाणियों मे जो उलटवासियाँ मिलती है, उनका मूलस्रोत बौद्धसाहित्य है। यद्यपि कुछ विद्वानों ने वैदिक साहित्य से भी उनकी परम्परा बतलाई है,[6] किन्तु कबीर की उलटवासियाँ सिद्धों की देन हैं, जो भगवान् बुद्ध की वाणियों में भी मिलती है। इन उलट-वासियों का प्रभाव सिद्धों के समय में बढ़ा और उसके पश्चात् नाथों तथा सन्तों ने उसे अपने उपदेश का एक अंग बना लिया। हम देखते हैं कि भगवान् बुद्ध ने कबीर की उलटवासियों के समान ही अपने उपदेशों में अनेक स्थलों पर गाथाएँ कहीं है तथा कहीं-कहीं गद्य मे भी उलटवासियों की भाषा का प्रयोग किया है। धम्मपद मे कहा गया है—

> अस्सद्धो अकतञ्ञू च सन्धिच्छेदो च यो नरो।
> हतावकासो वन्तासो स वे उत्तम पोरिसो[7]॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"जो श्रद्धाहीन, अकृतज्ञ, सेंध ·· ` ·`·, अवकाशहीन, निराश है, वही उत्तम पुरुष है।" किन्तु इसका वास्तविक अर्थ है—"जो अन्धश्रद्धा से रहित है, अकृत (निर्वाण) को जाननेवाला है, संसार की सन्धि का छेदन करनेवाला है और उत्पत्ति रहित है तथा जिसने सारी तृष्णा को वमन (त्याग) कर दिया है, वही उत्तम पुरुष है।"

---

१. वही, पृष्ठ ३३९।
२. आदिग्रन्थ, रागु गौड़ी, पद ७।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५। ४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २३९।
५. वही, पृष्ठ १०५।
६. कबीर साहित्य का अध्ययन, पृष्ठ २५१ तथा कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ १५३।
७. धम्मपद, गाथा ९७।

वनं छिन्दथ मा रुक्खं, वनतो जायती भयं।
छेत्वा वनञ्च वनथञ्च, निब्बना होथ भिक्खवो ॥[१]

इसका भी शाब्दिक अर्थ है—भिक्षुओ, वन को काटो, किन्तु वृक्ष को मत काटो। वन से भय उत्पन्न होता है। झाड़ को काटकर वन रहित हो जाओ। इसका वास्तविक अर्थ है—"भिक्षुओ, तृष्णा को काटो, किन्तु शरीर को मत नष्ट करो। तृष्णा और अकुशल चैतसिकों को काटकर (नष्टकर) तृष्णा-रहित हो जाओ।"

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च खत्तिये।
रट्ठं सानुचरं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो ॥[२]

इसका शाब्दिक अर्थ है—"माता, पिता, दो क्षत्रिय राजाओं तथा अनुचरों के साथ सम्पूर्ण राष्ट्र की हत्या करके ब्राह्मण निष्पाप हो जाता है।" इसका वास्तविक अर्थ इस प्रकार है—"तृष्णा (माता), अहंकार (पिता), शाश्वत और उच्छेद दृष्टि (दो क्षत्रिय राजा) तथा संसार की आसक्तियों (अनुचरों के साथ सारा राष्ट्र) को नष्ट कर क्षीणाश्रव (ब्राह्मण) दुःख-रहित हो जाते हैं।" ऐसे ही इस गाथा का अर्थ जानना चाहिए—

मातरं पितरं हन्त्वा, राजानो द्वे च सोत्थिये।
वेय्यग्घपञ्चमं हन्त्वा, अनीघो याति ब्राह्मणो[३] ॥

यहाँ शाश्वत और उच्छेद दृष्टियों को ही दो श्रोत्रिय राजा कहा गया है और पाँच नीवरणों को व्याघ्र।

छेत्वा नन्दि वरत्तञ्च, सन्दामं सहनुक्कमं।
उक्खित्तपलिघं बुद्धं, तमहं ब्रूमि ब्राह्मणं[४] ॥

इसका शाब्दिक अर्थ है—"नद्धा, रस्सी, पगहे और जाबे को काटकर तथा जूये को फेंक जो बुद्ध हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।" किन्तु वास्तविक अर्थ है—"क्रोध (नद्धा), तृष्णा (रस्सी), छः प्रकार की दृष्टियों (पगहे) और अनुशय (जाबे) को नष्टकर तथा अविद्या (जूये) हटाकर जो बुद्ध हुआ है, उसे मैं ब्राह्मण कहता हूँ।"

उक्त ये सभी गाथाएँ उलटवासियाँ ही हैं। इसी प्रकार मज्झिमनिकाय के वम्मिकसुत्त में पन्द्रह उलटवासियों का उत्तर दिया गया है[५]। त्रिपिटक में ऐसे उपदेशों की संख्या यद्यपि बहुत नहीं है, किन्तु हम उन्हीं का विकसित रूप सिद्धों एवं नाथों में पाते हैं, जिन्हें सन्तों ने अपनाया। बुद्धकाल में इन उलटवासियों का प्रचार बहुत कम था, इनका प्रचार सिद्धों के समय में ही बढ़ा। राहुलजी ने इसका आरम्भ सरहपा से ही माना है[६], किन्तु वास्तविकता

---

१. वही, गाथा २८३।
२. वही, गाथा २९४।
३. धम्मपद, गाथा २९५।
४. वही, गाथा ३९८।
५. मज्झिमनिकाय, १, ३, ३; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ९३-९४।
६. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २४।

इतनी ही है कि बुद्धोपदिष्ट उलटवासियों का बाहुल्य सिद्धों के समय में हुआ और इन्हीं का प्रभाव नाथों तथा सन्तों पर पड़ा। यही कारण है सिद्धों की अनेक उलटवासियाँ उन्हीं शब्दों एवं रूपों में कबीर की वाणी में भी मिलती है। दोहाकोशगीति में सरहपा ने कहा है कि बँधा हुआ दसों दिशाओं में दौड़ता है और छूट जाने पर निश्चल खड़ा रहता है—

बद्धो धावइ दस दिसाहि,
मुक्को णिच्चलट्ठाअ[1]।

कबीर ने इसे ही इस प्रकार कहा है—

आछै रहै ठौर नहिं छाड़ै,
दस दिसिहीं फिर आवे[2]।

सिद्ध ढेण्ढणपा की भी उलटवासियाँ कबीर-वाणी में अक्षरशः मिलती है। ढेण्ढणपा ने कहा है—

बदल बिआअल गविआ बाँझे।
पिटा दुहिये ए तिन साँझे[3]॥

कबीर ने इसी को ऐसे कहा है—

बैल बियाइ गाइ भई बांझ,
बछरा दूहै तीन्यूं सांझ[4]।

ऐसे ही ढेण्ढणपा ने कहा है—

निति निति षिआला षिहे षम जूझअ।
ढेण्ढणपाएर गीत विरले बूझअ[5]॥

इसी उलटवासी को कबीर ने ऐसे कहा है—

नित उठि स्याल स्यंघ सूँ जूझै।
कहें कबीर कोई बिरला बूझै[6]॥

गोरखनाथ की उलटवासियाँ भी कबीर-वाणी में मिलती हैं। एक पद में गोरखनाथ ने कहा है—

डूंगरि मंछा जलि सुसा पांणीं मैं दौं लागा[7]।

कबीर ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए इस प्रकार कहा है—

समंदर लागी आगि, नदियां जलि कोइला भई।
देखि कबीरा जागि, मंछी रूषां चढ़ि गई[8]॥

गोरखनाथ और कबीर की उलटवासियों में अनेक ऐसी है, जो एक-दूसरे से पूर्ण प्रभावित हैं। तात्पर्य यह कि गोरखनाथ द्वारा व्यक्त भाव ही उन्हीं शब्दों में कुछ विपर्यय के साथ कबीर-वाणी में मिलते हैं। हम यहाँ कुछ उदाहरण प्रस्तुत करते है :—

---

१. दोहाकोशगीति, २६।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४०।
३. चर्यापद, पृष्ठ १६०।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ११३।
५. चर्यापद, पृष्ठ १६०।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ११३।
७. गोरखबानी, पृष्ठ ११२।
८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२।

गोरखनाथ—

सहज पलांण पवन करि घोड़ा, लै लगांम चित चबका।[1]

कबीर—

कबीर तुरी पलांणियां, चावक लीया हाथि।[2]

गोरखनाथ—

मन मकड़ी का ताग ज्यूं, उलटि अपूठौ आंणि।[3]

कबीर—

ताकू केरे सूत ज्यूं, उलटि अपूठा आंणि।[4]

गोरखनाथ—

चंद विहूंणां चांदिणां तहां देष्या श्री गोरष राइ।[5]

कबीर—

देख्या चंद विहूंणां चांदिणां, तहाँ अलख निरंजन राइ।[6]

गोरखनाथ—

उनमनी तांती बाजन लागी, यहि विधि तृष्णां षांडी।[7]

कबीर—

सुषमन तंती बाजन लागी, इहि बिधि त्रिष्णां षांडी।[8]

गोरखनाथ—

तत बेली लो तत बेली लो, अवधू गोरषनाथ जांणीं।
बेलड़ियां दौं लागी अवधू, गगन पहूँती झाला।
काटत बेली कूंपल मेल्ही, सींचतड़ां कुमलाये।[9]

कबीर—

रांमगुन बेलड़ी रे अवधू गोरषनाथि जांणीं।
बेलड़िया द्वै अणीं पहूंती, गगन पहूंती सैली।
काटत बेलि कूपले मेल्ही, सींचताड़ीं कुमिलाणीं।[10]

इस प्रकार सिद्धों और नाथों की वाणियों में आई हुई उलटवासियों का कबीर की उलटवासियों के साथ तुलनात्मक ढंग से विचार करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि कबीर की उलटवासियाँ सिद्धों की देन है। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का कथन है कि वस्तुतः सहजयानी

---

१. गोरखवानी, पृष्ठ १०३।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९।
३. गोरखवानी, पृष्ठ ७४।
४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८।
५. गोरखवानी, पृष्ठ ५८।
६. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३।
७. गोरखवानी, पृष्ठ १०६।
८. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५४।
९. गोरखवानी, पृष्ठ १०६।
१०. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२।

बौद्ध इस प्रकार की उलटवासियों का प्रयोग अधिकता से किया करते थे और कबीर ने इन्हें उन्हीं की परम्परा से सुनकर रुचिपूर्वक प्रयोग किया था[1]। यह यथार्थ है कि बुद्धकाल में उलटवासियों का जो प्रवचन हुआ था, उसका बाहुल्य सिद्धकाल में हुआ और नाथों तथा सन्तों पर उसी का प्रभाव पड़ा, किन्तु कबीर की भाषा सिद्धों की भाषा से कुछ दूर होती हुई भी उलटवासियों से समता दीखती है और जैसा कि ऊपर दिए गए उदाहरणों से प्रगट है कि अनेक सिद्धों की उलटवासियाँ अपने मूल स्वरूप में ही कबीर-वाणी में विद्यमान हैं, अतः कबीर की उलटवासियाँ सिद्धों की ही देन मानी जायेंगी।

सत्तनाम [illegible]

कबीर ने सत्तनाम को परमपद प्राप्ति का साधन माना है और इसे औषधि कहा है। जो व्यक्ति इस औषधि का सेवन करता है तथा कुपथ्य से परहेज करता है, उसकी सारी वेदनाएँ नष्ट हो जाती हैं। कबीर का यह भी कथन है कि इस सत्तनाम को सतगुरु ने बतलाया है—

> सत्त नाम निज औषधी, सतगुरु दई बताय।
> औषधि खाय रुपथ रहै, ता की वेदन जाय[2] ॥

यह सत्तनाम सबसे 'न्यारा' है,[3] जो इस पर विश्वास करता है, वही परमतत्व को प्राप्त कर सकता है,[4] यह सत्तनाम हृदय में रहता है,[5] वह उसी मृग के समान उसमें लवलीन हो जाता है, जैसे कि मृग व्याधा के गीत सुनने में लवलीन होकर अपना तन-मन भी उसे सौंप देता है[6]। इसलिए सत्तनाम का स्मरण करो[7]। सत्तनाम की लूट मची है, उसे लूटना चाहिए अन्यथा मृत्यु के पश्चात् पश्चात्ताप करना पड़ेगा—

> लूटि सकै तो लूटि ले, सत्तनाम की लूटि।
> पाछे फिरि पछताहुगे, प्रान जाहिं जब छूटि[8] ॥

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, दूसरा भाग, पृष्ठ १०६१।

२. सन्तबानी संग्रह, भाग १. पृष्ठ ५।

३. सत्तनाम है सब तैं न्यारा। —कबीर, पृष्ठ २७९।

४. सत्त गहे सतगुरु को चीन्हे, सत्तनाम विस्वासा।
कहै कबीर साधन हितकारी, हम साधन के दासा ॥ —कबीर, पृष्ठ २३२।

५. सत्तनाम के पटतरे, देवे को कछु नाहिं। —सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ [illegible]।

६. ऐसा कोई ना मिला, सत्तनाम का मीत।
तन मन सौंपै मिरग ज्यों, सुनै बधिक का गीत ॥—सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३।

७. 'तहाँ सुमिर सतनाम'। —वही, पृष्ठ ५।

८. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६।

अतः सब कुछ त्याग कर केवल सत्तनाम का गुणगान करो, उसी से मुक्ति प्राप्त होगी[१]। कबीर का मन तो सत्तनाम में ही रम रहा है[२]।

कबीर ने जिसे सत्‌नाम कहा है और सतगुरु से प्राप्त महौषधि माना है, जिसका स्मरण करना परमावश्यक है; क्योंकि उसी के स्मरण से परमपद की प्राप्ति होगी, वह सत्तनाम पालिभाषा के 'सच्चनाम' का रूपान्तर है। पालिभाषा में सच्चनाम का प्रयोग भगवान् बुद्ध के लिए हुआ है। अंगुत्तरनिकाय के चार सूत्रों की गाथाओं में बार-बार सच्चनाम को दुहराया गया है और कहा गया है—"अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखावहा"[३]। अर्थात् सच्चनाम (सत्यनाम) ने इन्हें दोनों लोक के लिए सुखदायक कहा है। ऐसे ही बुद्ध के लिए पालिग्रंथों में सच्चनिक्कमो[४] (सत्यवादी), सच्चसह्वयो[५] (सत्यनाम वाले), सच्चवादी[६] (सत्यवादी) आदि अनेक शब्दों का व्यवहार हुआ है। मज्झिमनिकाय के इसिगिलि सुत्त में 'सत्यनाम' से एक प्रत्येक-बुद्ध का भी उल्लेख मिलता है[७]। इससे स्पष्ट है कि 'सच्चनाम' वाले भगवान् बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हो गये हैं। शान्तिभिक्षु का यह कथन समीचीन है कि "निर्गुण मत के राम को यदि तथागत के कार्यो के रूप से मिलाएँ तो बात कुछ अधिक समझ में आती है। हृदय के भीतर छिपे राम वस्तुतः धनुषधारी और रावणसंहारी राम नहीं हैं, बल्कि वे तथागत हैं, जिनके बारे में कहा गया है कि उनके तीन काय हैं, वे घट-घट में हैं[८]।" डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का भी यही मत है कि "सन्त साधना का 'सत्तनाम' पालि सच्चनाम ही है, जो तथागत का एकनाम है[९]।" कबीर का सत्तनाम सतगुरु से प्राप्त परमपद का साधक है, जो इसमें लवलीन होता है, वह सारी पीड़ाओं से छूट जाता है। यही

---

१. एकै वचन वचन नहिं दूजा, तुम मो से बंद छुड़ाये रे।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, सत्तनाम गुन गाये रे॥
—सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २।

२. सुरत लगी सत नाम की आसा, कहै कबीर दासन के दासा। —कबीर, पृष्ठ २८३।

३. इच्चेते अट्ठधम्मा सद्धस्स घरमेसिनो।
अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखाहवा॥
—अंगुत्तरनिकाय ८, ६, ४; ८, ६, ५; ८, ८, ४ तथा ८, ८, ५।

४. सीतिभूतो दमप्पत्तो धितिमा सच्चनिक्कमो। —सुत्तनिपात, सभियसुत्त, गाथा ३३।

५. तमोनुदो बुद्धो समन्तचक्खु, लोकन्तगू सब्बभवातिवत्तो।
अनासवो सब्बदुक्खप्पहीनो, सच्चह्वयो ब्रह्मे उपासितो मे॥
—सुत्तनिपात, परायणसुत्तं, गाथा १०।

६. सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा। —थेरीगाथा, अम्बपाली, गाथा २५२-२७०। यहाँ १९ गाथाओं में "सच्चवादी" कहा गया है।

७. उपोसथो सुन्दरो सच्चनामो। —मज्झिमनिकाय, ३, २, ६।

८. महायान, पृष्ठ १३१।

९. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ १०६१।

बात सुत्तनिपात में पिंगिय ने कही है—"बुद्ध सर्वदर्शी हैं, सारे संसार के ज्ञाता हैं, मैंने उन्हीं सत्यनाम (सच्चनाम) की उपासना की है[१]।" सिद्ध सरहपा ने बुद्ध के संयोग से ही परमपद की प्राप्ति बतलाई है[२] और यह भी कहा है कि वे बुद्ध सदा इस शरीर में ही निवास करते हैं[3]। सिद्ध तिलोपा ने उसी बुद्ध को निरंजन बतलाया है[४]। आगे चलकर कबीर ने उसी बुद्ध को अनेक नामों से पुकारा है, उन्हें राम भी कहा है,[५] सत्तनाम भी कहा है, निरंजन भी कहा है, सर्वव्यापी भी माना है और उसे ही त्राता भी कहा है[६]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चनाम वाले बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हैं और यह सच्चनाम पालि-साहित्य से ही कबीर तक पहुँचा है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'सन्त' शब्द का परिचय देते हुए 'सत्य' शब्द को वैदिक परम्परागत बतलाया है;[७] किन्तु प्राचीन ग्रंथ में 'सत्य' का व्यवहार ईश्वर के लिए नहीं हुआ है, वस्तुतः इसका प्रयोग सर्वप्रथम बुद्ध के लिए हुआ और उनके अनेक नामों में 'सत्यनाम' भी एक नाम हो गया तथा उसी का प्रभाव कबीर पर पड़ा।

कबीर की गुरुभक्ति सिद्धों और नाथों की परम्परा

गुरु का माहात्म्य प्राचीनकाल से माना जाता है, किन्तु बुद्धकाल में इसका महत्व बढ़ा जब कि भगवान् बुद्ध को मार्गोपदेष्टा, शास्ता, आचार्य, कल्याणमित्र आदि माना जाने लगा। उन शास्ता के बतलाए गए मार्ग पर चलकर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। वे केवल मार्गोपदेष्टा हैं[८]। बिना उनकी शरण में आए निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं[९]। वे सर्वोत्तम कल्याणमित्र भी हैं, उन्हीं के सम्पर्क में आकर उत्पत्ति-स्वभाव वाले प्राणी उत्पत्ति से छुटकारा पाते हैं[१०]। इसीलिए असंख्य सुर, असुर, नर, नारी, तिर्यक् उनकी शरण जाते हैं और उन्हें अपना शास्ता मानते हैं। वे गद्गद् होकर बोल उठते हैं—"सब्बे तं सरणं यन्ति, त्वं नो सत्था अनुत्तरो" हम सब आपकी शरण जाते हैं, आप हमारे सर्वोत्तम गुरु हैं[११]।

---

१. "सच्चह्वयो ब्रह्मे उपासितो मे।" —सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २३९।
२. बुद्ध संयोग परमपउ, एहु से मोक्ख सहाव। —दोहाकोशगीति १५३।
३. पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
　देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणइ॥ —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०।
४. हँउ जग हँउ बुद्ध हँउ णिरंजन। —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।
५. लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७।
६. रामनाम संसार मैं सारा, राम नाम भौ तारनहारा।
　　　　—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २२८।
७. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३-८।
८. धम्मपद, गाथा २७६।　　　९. वही, गाथा १८८-१९२।
१०. संयुत्तनिकाय, ३, २, ८ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।
११. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३५।

अतः सब कुछ त्याग कर केवल सत्तनाम का गुणगान करो, उसी से मुक्ति प्राप्त होगी[१]। कबीर का मन तो सत्तनाम में ही रम रहा है[२]।

कबीर ने जिसे सत्तनाम कहा है और सतगुरु से प्राप्त महौषधि माना है, जिसका स्मरण करना परमावश्यक है; क्योंकि उसी के स्मरण से परमपद की प्राप्ति होगी, वह सत्त-नाम पालिभाषा के 'सच्चनाम' का रूपान्तर है। पालिभाषा में सच्चनाम का प्रयोग भगवान् बुद्ध के लिए हुआ है। अंगुत्तरनिकाय के चार सूत्रों की गाथाओं में बार-बार सच्चनाम को दुहराया गया है और कहा गया है—"अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखावहा"[३]। अर्थात् सच्चनाम (सत्यनाम) ने इन्हें दोनों लोक के लिए सुखदायक कहा है। ऐसे ही बुद्ध के लिए पालिग्रंथों में सच्चनिक्कमो[४] (सत्यवादी), सच्चसह्वयो[५] (सत्यनाम वाले), सच्चवादी[६] (सत्यवादी) आदि अनेक शब्दों का व्यवहार हुआ है। मज्झिमनिकाय के इसिगिल सुत्त में 'सत्यनाम' से एक प्रत्येक-बुद्ध का भी उल्लेख मिलता है[७]। इससे स्पष्ट है कि 'सच्चनाम' वाले भगवान् बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हो गये हैं। शान्तिभिक्षु का यह कथन समीचीन है कि "निर्गुण मत के राम को यदि तथागत के कार्यों के रूप से मिलाएँ तो बात कुछ अधिक समझ मे आती है। हृदय के भीतर छिपे राम वस्तुतः धनुषधारी और रावणसंहारी राम नहीं हैं, बल्कि वे तथागत हैं, जिनके बारे में कहा गया है कि उनके तीन काय हैं, वे घट-घट में हैं[८]।" डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का भी यही मत है कि "सन्त साधना का 'सत्तनाम' पालि सच्चनाम ही है, जो तथागत का एकनाम है[९]।" कबीर का सत्तनाम सतगुरु से प्राप्त परम-पद का साधक है, जो इसमें लवलीन होता है, वह सारी पीड़ाओं से छूट जाता है। यही

१. एकै वचन वचन नहिं दूजा, तुम मो से बंद छुड़ाये रे।
कहै कबीर सुनो भइ साधो, सत्तनाम गुन गाये रे ।।

—सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २।

२. सुरत लगी सत नाम की आसा, कहैं कबीर दासन के दासा। —कबीर, पृष्ठ २८३।

३. इच्चेते अट्ठधम्मा सद्धस्स घरमेसिनो।
अक्खाता सच्चनामेन उभयत्थ सुखाहवा ।।

—अंगुत्तरनिकाय ८, ६, ४ ; ८, ६, ५ ; ८, ८, ४ तथा ८, ८, ५।

४. सीतिभूतो दमप्पत्तो धितिमा सच्चनिक्कमो। —सुत्तनिपात, सभियसुत्त, गाथा ३३।

५. तमोनुदो बुद्धो समन्तचक्खु, लोकन्तगू सब्बभवातिवत्तो।
अनासवो सब्बदुक्खप्पहीनो, सच्चह्वयो ब्रह्मे उपासितो मे ।।

—सुत्तनिपात, परायणसुत्तं, गाथा १०।

६. सच्चवादिवचनं अनञ्ञथा। —थेरीगाथा, अम्बपाली, गाथा २५२-२७०। यहाँ १९ गाथाओं में "सच्चवादी" कहा गया है।

७. उपोसथो सुन्दरो सच्चनामो। —मज्झिमनिकाय, ३, २, ६।

८. महायान, पृष्ठ १३१।

९. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, भाग २, पृष्ठ १०६१।

बात सुत्तनिपात में पिंगिय ने कही है—"बुद्ध सर्वदर्शी हैं, सारे संसार के ज्ञाता हैं, मैंने उन्हीं सत्यनाम (सच्चनाम) की उपासना की है[1]।" सिद्ध सरहपा ने बुद्ध के संयोग से ही परमपद की प्राप्ति बतलाई है[2] और यह भी कहा है कि वे बुद्ध सदा इस शरीर में ही निवास करते हैं[3]। सिद्ध तिलोपा ने उसी बुद्ध को निरंजन बतलाया है[4]। आगे चलकर कबीर ने उसी बुद्ध को अनेक नामों से पुकारा है, उन्हें राम भी कहा है,[5] सत्तनाम भी कहा है, निरंजन भी कहा है, सर्वव्यापी भी माना है और उसे ही त्राता भी कहा है[6]। इस प्रकार हम देखते हैं कि सच्चनाम वाले बुद्ध ही कबीर के सत्तनाम हैं और यह सच्चनाम पालि-साहित्य से ही कबीर तक पहुँचा है। परशुराम चतुर्वेदी ने 'सन्त' शब्द का परिचय देते हुए 'सत्य' शब्द को वैदिक परम्परागत बतलाया है;[7] किन्तु प्राचीन ग्रंथ में 'सत्य' का व्यवहार ईश्वर के लिए नहीं हुआ है, वस्तुतः इसका प्रयोग सर्वप्रथम बुद्ध के लिए हुआ और उनके अनेक नामों में 'सत्यनाम' भी एक नाम हो गया तथा उसी का प्रभाव कबीर पर पड़ा।

कबीर की गुरुभक्ति सिद्धों और नाथों की परम्परा

गुरु का माहात्म्य प्राचीनकाल से माना जाता है, किन्तु बुद्धकाल में इसका महत्व बढ़ा जब कि भगवान् बुद्ध को मार्गोपदेष्टा, शास्ता, आचार्य, कल्याणमित्र आदि माना जाने लगा। उन शास्ता के बतलाए गए मार्ग पर चलकर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है। वे केवल मार्गोपदेष्टा हैं[8]। बिना उनकी शरण में आए निर्वाण की प्राप्ति सम्भव नहीं[9]। वे सर्वोत्तम कल्याणमित्र भी हैं, उन्हीं के सम्पर्क में आकर उत्पत्ति-स्वभाव वाले प्राणी उत्पत्ति से छुटकारा पाते हैं[10]। इसीलिए असंख्य सुर, असुर, नर, नारी, तिर्यक् उनकी शरण जाते हैं और उन्हें अपना शास्ता मानते हैं। वे गद्गद् होकर बोल उठते है—"सब्बे तं सरणं यन्ति, त्वं नो सत्था अनुत्तरो" हम सब आपकी शरण जाते हैं, आप हमारे सर्वोत्तम गुरु हैं[11]।

---

१. "सच्चव्हयो ब्रह्मे उपासितो मे।" —सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २३९।
२. बुद्ध संयोग परमपउ, एहु से मोक्ख सहाव। —दोहाकोशगीति १५३।
३. पण्डिअ सअल सत्थ बक्खाणइ।
देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणइ॥ —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०।
४. हँउ जग हँउ बुद्ध हँउ णिरंजन। —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।
५. लूटि सकै तौ लूटियौ, राम नाम है लूटि। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ७।
६. रामनाम संसार मैं सारा, राम नाम भौ तारनहारा।
—कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २२८।
७. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३-८।
८. धम्मपद, गाथा २७६। ९. वही, गाथा १८८-१९२।
१०. संयुत्तनिकाय, ३, २, ८ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।
११. सुत्तनिपात, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३५।

भगवान् बुद्ध ने गुरु के भी कर्तव्य बतलाए हैं और शिष्य के भी,[१] कल्याणमित्र के लक्षण भी बतलाए हैं[२] और यह भी कहा है कि इनकी सम्मानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। गुरु-माहात्म्य की अनेक कथाएँ बौद्धग्रंथों में मिलती हैं। सारिपुत्र द्वारा अपने गुरु के लिए किए सम्मान एवं भक्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। बतलाया गया कि सारिपुत्र को सर्वप्रथम आयुष्मान् अश्वजित् के दर्शन एवं वार्ता के समय ही धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया था,[३] अतः वे उन्हें अपना प्रथम गुरु मानते थे और जिस दिशा में अश्वजित् रहते थे, उस दिशा में कभी भी पैर करके नहीं सोते थे[४]। गुरु-माहात्म्य पीछे और भी बढ़ा। सिद्धों ने कहा कि बिना गुरु-दीक्षा के ज्ञान नहीं हो सकता और न शरीर के भीतर स्थित बुद्ध ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं[५]। भव-सागर को पार करने के लिए सतगुरु के वचन रूपी पतवार को ग्रहण करना होगा[६]। गोरखनाथ ने गुरु-माहात्म्य बतलाते हुए कहा है कि गुरुहीन पृथ्वी प्रलय में चली जाती है[७]। जो गुरु ग्रहण नहीं करता वह भ्रम में पड़कर अवगुण धारण कर लेता है[८]। जो गुरु की खोजकर उसे ग्रहण कर लेता है, वह अमर हो जाता है[९]। आवागमन का निरोध तथा निर्वाण की प्राप्ति गुरुमुख से ही सम्भव है[१०]। गुरु निर्वाण-समाधि की रक्षा करता है,[११] इसलिए गोरखनाथ ने घोषणा करके कहा—"गुरु धारण करो, बिना गुरु के न रहो। हे भाई, बिना गुरु के ज्ञान नहीं प्राप्त होता[१२]।" जो गुरुमुख हो जाता है वही अविगत (निर्वाण) का सुख प्राप्त करता है[१३]। कबीर पर इन्हीं सिद्धों और नाथों की गुरुभक्ति का प्रभाव पड़ा था। कबीर ने भी गुरु-माहात्म्य को उसी प्रकार और उन्हीं शब्दों में व्यक्त किया, जिस प्रकार सिद्धों और नाथों ने किया था। कबीर ने भी कहा—"गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै[१४]", गुरु की अनन्त महिमा है, उसके अनन्त उपकार हैं, जिसने कि भीतरी नेत्र को खोल दिया

---

१. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १००।
२. अंगुत्तरनिकाय, ७, ४, ६ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।
३. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ९८-९९।
४. धम्मपदट्ठकथा।
५. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०-११।
६. सद्गुरु वअणे धर पतवाल। —सरहपा, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १८।
७. निगुरी पिरथी परलै जाती। —गोरखबानी, पृष्ठ ५०।
८. निगुरा भ्रमै औगुण गहै। —गोरखबानी, पृष्ठ ५१।
९. गोरखबानी, पृष्ठ ५२।
१०. प्यंडे परचांनै गुरुमुषि जोइ।
    बाहुडि आवा गवन न होइ॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ५७।
११. गुरु रापै निरवाण समाधि। —गोरखबानी, पृष्ठ ७४।
१२. गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
    गुर बिन ग्यांन न पायला रे भाईला॥ —गोरखबानी, पृष्ठ १२८।
१३. गुरुमुप अबिगत का सुष लहै। —गोरखबानी, पृष्ठ १९७।
१४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।

और निर्वाण को दिखला दिया[१] गुरु और गोविन्द (ईश्वर) दोनों ही एक हैं,[२] फिर भी गुरु गोविन्द से बड़ा है, क्योंकि उसने ही गोविन्द को बतलाया है, अतः पहले गुरु को ही प्रणाम करूँगा, उसे ही धन्यवाद है[३]। ऐसे गुरु का गुण लिखने के लिए यदि मैं पृथ्वी को कागज बनाऊँ, सम्पूर्ण वनों को लेखनी और सातों समुद्रों को स्याही बनाऊँ, तो भी लिख सकना सम्भव नहीं है[४]। गुरु कुम्हार के समान है और शिष्य घड़े के समान, वह उसे कुम्हार की भाँति गढ़कर ठोक-ठाँक करके ठीक कर देता है,[५] गुरु सेवा से ही परमपद को पाया जा सकता है,[६] वे लोग अन्धे हैं, जो गुरु को कुछ और ही समझते हैं, क्योंकि ईश्वर के रुष्ट हो जाने पर गुरु के पास स्थान मिल सकता है, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर संसार में कहीं भी स्थान नहीं मिल सकता[७]। यह जीव अधम है, कुटिल है, वह कभी भी विश्वास नहीं करता, किन्तु गुरु उसके दोषों पर ध्यान न देकर उसकी सहायता करता है[८]। वह जब प्रसन्न होकर प्रेम-वर्षा करता है तब सारा अंग प्रेम-विह्वल हो जाता है, भींग जाता है और आत्मा में भक्ति लहरा उठती है[९]। गुरु के मिलने पर ज्ञान-कपाल खुल जाता है और फिर व्यक्ति बार-बार जन्म लेने से छूट जाता है,[१०] बिना सतगुरु के उपदेश से अन्त नहीं प्राप्त हो सकता,[११] इसलिए जिस प्रकार हो सके गुरु की वन्दना करे, सेवा करे, गुरु के गुणों की सीमा नहीं, अतः हे गुरुदेव ! आपको मेरा बार-बार प्रणाम है—

जन कबीर बन्दन करै, केहि बिधि कीजै सेव ।
वारपार की गम नहीं, नमो नमो गुरुदेव[१२] ।।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध को परमगुरु अथवा शास्ता मानकर उनकी शरण जाने की परम्परा प्रचलित हुई और यह भावना जागृत हुई कि जो गुरु बुद्ध की शरण जाते हैं, वे कदापि दुःख में नहीं पड़ते हैं,[१३] धर्म और संघ की शरण जाने से पूर्व बुद्ध की शरण जाना आनुपूर्विक है; जो बुद्ध को देखता है वह धर्म को भी देखता है, महायान ने गुरु के माहात्म्य को और भी बढ़ा दिया, क्योंकि तब भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो गया था, अतः बुद्ध,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १ ।
२. गुरु गोविन्द तौ एक है । —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३ ।
३. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय ।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय ।। —संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २ ।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २ ।
५. वही, पृष्ठ २ ।
६. वही, पृष्ठ २ ।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २ ।
८. वही, पृष्ठ ३ ।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४ ।
१०. वही, पृष्ठ २०५ ।
११. वही, पृष्ठ ३१२ ।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३ ।
१३. ये केचि बुद्धं सरणं गतासे, न ते गमिस्सन्ति अपायभूमिं ।
पहाय मानुसं देहं देवकायं परिपूरेस्सन्ति ।। —दीघनिकाय, महासमयसुत्तं ।

भगवान् बुद्ध ने गुरु के भी कर्तव्य बतलाए हैं और शिष्य के भी,[१] कल्याणमित्र के लक्षण भी बतलाए हैं[२] और यह भी कहा है कि इनकी सम्मानपूर्वक सेवा करनी चाहिए। गुरु-माहात्म्य की अनेक कथाएँ बौद्धग्रंथों में मिलती हैं। सारिपुत्र द्वारा अपने गुरु के लिए किए सम्मान एवं भक्ति की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की गयी है। बतलाया गया कि सारिपुत्र को सर्वप्रथम आयुष्मान् अश्वजित् के दर्शन एवं वार्ता के समय ही धर्म-चक्षु उत्पन्न हो गया था,[3] अतः वे उन्हें अपना प्रथम गुरु मानते थे और जिस दिशा में अश्वजित् रहते थे, उस दिशा में कभी भी पैर करके नहीं सोते थे[४]। गुरु-माहात्म्य पीछे और भी बढ़ा। सिद्धों ने कहा कि बिना गुरु-दीक्षा के ज्ञान नहीं हो सकता और न शरीर के भीतर स्थित बुद्ध ही दृष्टिगोचर हो सकते हैं[५]। भव-सागर को पार करने के लिए सतगुरु के वचन रूपी पतवार को ग्रहण करना होगा[६]। गोरखनाथ ने गुरु-माहात्म्य बतलाते हुए कहा है कि गुरुहीन पृथ्वी प्रलय में चली जाती है[७]। जो गुरु ग्रहण नहीं करता वह भ्रम में पड़कर अवगुण धारण कर लेता है[८]। जो गुरु की खोजकर उसे ग्रहण कर लेता है, वह अमर हो जाता है[९]। आवागमन का निरोध तथा निर्वाण की प्राप्ति गुरुमुख से ही सम्भव है[१०]। गुरु निर्वाण-समाधि की रक्षा करता है,[११] इसलिए गोरखनाथ ने घोषणा करके कहा—"गुरु धारण करो, बिना गुरु के न रहो। हे भाई, बिना गुरु के ज्ञान नहीं प्राप्त होता[१२]।" जो गुरुमुख हो जाता है वही अविगत (निर्वाण) का सुख प्राप्त करता है[१३]। कबीर पर इन्हीं सिद्धों और नाथों की गुरुभक्ति का प्रभाव पड़ा था। कबीर ने भी गुरु-माहात्म्य को उसी प्रकार और उन्हीं शब्दों में व्यक्त किया, जिस प्रकार सिद्धों और नाथों ने किया था। कबीर ने भी कहा—"गुरु बिन चेला ज्ञान न लहै[१४]", गुरु की अनन्त महिमा है, उसके अनन्त उपकार हैं, जिसने कि भीतरी नेत्र को खोल दिया

---

१. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १००।
२. अंगुत्तरनिकाय, ७, ४, ६ तथा विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ९३।
३. विनयपिटक, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ९८-९९।
४. धम्मपदट्ठकथा।
५. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १०-११।
६. सद्गुरु वअणे धर पतवाल। —सरहपा, हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १८।
७. निगुरी पिरथी परलै जाती। —गोरखबानी, पृष्ठ ५०।
८. निगुरा भ्रमै औगुण गहै। —गोरखबानी, पृष्ठ ५१।
९. गोरखबानी, पृष्ठ ५२।
१०. प्यंडे परचानै गुरुमुषि जोइ।
 बाहुडि आवा गवन न होइ॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ५७।
११. गुरु राषै निरवाण समाधि। —गोरखबानी, पृष्ठ ७४।
१२. गुरु कीजै गहिला निगुरा न रहिला।
 गुर विन ग्यांन न पायला रे भाईला॥ —गोरखबानी, पृष्ठ १२८।
१३. गुरमुप अबिगत का सुष लहै। —गोरखबानी, पृष्ठ १९७।
१४. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।

और निर्वाण को दिखला दिया[1] गुरु और गोविन्द (ईश्वर) दोनों ही एक हैं,[2] फिर भी गुरु गोविन्द से बड़ा है, क्योंकि उसने ही गोविन्द को बतलाया है, अतः पहले गुरु को ही प्रणाम करूँगा, उसे ही धन्यवाद है[3]। ऐसे गुरु का गुण लिखने के लिए यदि मैं पृथ्वी को कागज बनाऊँ, सम्पूर्ण वनों को लेखनी और सातों समुद्रों को स्याही बनाऊँ, तो भी लिख सकना सम्भव नहीं है[4]। गुरु कुम्हार के समान है और शिष्य घड़े के समान, वह उसे कुम्हार की भाँति गढ़कर ठोक-ठाँक करके ठीक कर देता है,[5] गुरु सेवा से ही परमपद को पाया जा सकता है,[6] वे लोग अन्धे हैं, जो गुरु को कुछ और ही समझते हैं, क्योंकि ईश्वर के रुष्ट हो जाने पर गुरु के पास स्थान मिल सकता है, किन्तु गुरु के रुष्ट होने पर संसार में कहीं भी स्थान नहीं मिल सकता[7]। यह जीव अधम है, कुटिल है, वह कभी भी विश्वास नहीं करता, किन्तु गुरु उसके दोषों पर ध्यान न देकर उसकी सहायता करता है[8]। वह जब प्रसन्न होकर प्रेम-वर्षा करता है तब सारा अंग प्रेम-विह्वल हो जाता है, भींग जाता है और आत्मा में भक्ति लहरा उठती है[9]। गुरु के मिलने पर ज्ञान-कपाल खुल जाता है और फिर व्यक्ति बार-बार जन्म लेने से छूट जाता है,[10] बिना सतगुरु के उपदेश से अन्त नहीं प्राप्त हो सकता,[11] इसलिए जिस प्रकार हो सके गुरु की वन्दना करे, सेवा करे, गुरु के गुणों की सीमा नहीं, अतः हे गुरुदेव ! आपको मेरा बार-बार प्रणाम है—

जन कबीर बन्दन करै, केहि बिधि कीजै सेव।
वारपार की गम नहीं, नमो नमो गुरुदेव[12] ॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि भगवान् बुद्ध को परमगुरु अथवा शास्ता मानकर उनकी शरण जाने की परम्परा प्रचलित हुई और यह भावना जागृत हुई कि जो गुरु बुद्ध की शरण जाते हैं, वे कदापि दुःख में नहीं पड़ते हैं,[13] धर्म और संघ की शरण जाने से पूर्व बुद्ध की शरण जाना आनुपूर्विक है; जो बुद्ध को देखता है वह धर्म को भी देखता है, महायान ने गुरु के माहात्म्य को और भी बढ़ा दिया, क्योंकि तब भगवान् बुद्ध का महापरिनिर्वाण हो गया था, अतः बुद्ध,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १।
२. गुरु गोविन्द तौ एक है। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३।
३. गुरु गोविन्द दोऊ खड़े, काके लागूँ पाँय।
बलिहारी गुरु आपने, जिन गोविन्द दियो बताय ॥ —संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
५. वही, पृष्ठ २।
६. वही, पृष्ठ २।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ ३।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४।
१०. वही, पृष्ठ २०५।
११. वही, पृष्ठ ३१२।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ३।
१३. ये केचि बुद्धं सरणं गतासे, न ते गमिस्सन्ति अपायभूमिं।
पहाय मानुसं देहं देवकायं परिपूरेस्सन्ति ॥ —दीघनिकाय, महासमयसुत्तं।

धर्म, संघ की शरण जाने से पूर्व गुरु की शरण जाना आवश्यक हो गया। तिब्बत में आज भी उसी की परम्परा 'लामा' की शरण जाना है, 'लामा' शब्द का अर्थ भी गुरु ही है। महायानी भिक्षुओं, सिद्धों और फिर नाथों ने इस गुरु-माहात्म्य पर अधिक जोर दिया और उन्हीं की परम्परा से प्रभावित होकर कबीर ने परमपद की प्राप्ति में सहायक गुरु को ईश्वर से भी बड़ा माना तथा गुरु-गुण-गान करते हुए कहा—

गुरू बड़े गोविन्द तें, मन में देखु विचार।
हरि सुमिरै सो बार है, गुरु सुमिरै सो पार॥
गुरू मिला तब जानिये, मिटै मोह तन ताप।
हर्ष सोक व्यापै नहीं, तब गुरु आपै आप[1]॥

कबीर की सहजसमाधि सिद्धों के सहजयान से उद्भूत

कबीर ने सहजसमाधि की बहुत प्रशंसा की है और इसे सबसे उत्तम बतलाया है, क्योंकि सुख-दुःख से रहित परम सुखदायक यह समाधि है[2]। जो इस समाधि को प्राप्त कर लेता है, वह अपनी आँखों से अलख को देख लेता है और जो गुरु इसे सिखलाता है वह सर्वोत्तम पूज्य एवं महान् है[3]। इस समाधि की प्राप्ति के लिए न शरीर को तप आदि से तपाने की आवश्यकता है और न तो कामवासना में लिप्त होकर ही समय व्यतीत करने की। यह समाधि स्वाभाविक और मधुर है, जो इसे पा लेता है, वही इसके मीठास को जानता है[4]। इस समाधि के लिए गृह-त्याग करना आवश्यक नहीं है, इसे स्त्री-बच्चों के साथ रहते हुए भी पाया जा सकता है, केवल उनमें आसक्ति नहीं होनी चाहिए। वास्तव में सब लोग सहजसमाधि का नाम तो जानते हैं, किन्तु यथार्थ रूप से इसे पहचानते नहीं हैं, सहजसमाधि तो वही है, जो सहज में ही हरि की प्राप्ति हो जाय, अर्थात् सहज जीवनयापन करते हुए राम में लीन हो जाना ही सहजसमाधि है—

सहज सहज सब ही कहै, सहज न चीन्है कोइ।
जिन सहजै हरि जी मिलैं, सहज कहीजै सोइ[5]॥

सहजसमाधि के लिए न किसी बाह्याडम्बर की आवश्यकता है और न ग्रंथों के पठन-पाठन की, वह सहजसाधना से स्वतः ही प्राप्त हो जाती है[6]। सहजसमाधि के लिए विषय-

---

१. सन्तवानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २।
२. सन्तो सहज समाधि भली।
सुख दुख के इक परे परम सुख तेहि में रहा समाई। —कबीर, पृष्ठ २६२।
३. भाई कोई सतगुरु सन्त कहावै।
प्राण पूज्य किरियाते न्यारा, सहज समाधि सिखावै॥ —कबीर, पृष्ठ २६७।
४. मीठा सो जो सहजैं पावा।
अति कलेस थैं करू कहावा॥ —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २३२।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४२।   ६. वही, पृष्ठ १७७।

वासना का त्याग, पाँचों इन्द्रियों का संयम तथा सन्तान, धन, पत्नी और आसक्ति से मन को हटाकर केवल 'राम' में लगाना अनिवार्य है और जो ऐसा करता है, वही सहज को जानता और समझता है[१]। बाहरी वेशभूषा, मुद्रा, भस्म, झोली-मंत्रा, बटुआ, कंथा, अधारी, खपरा, सिंगी आदि को न धारण कर दृढ़ होकर राम में लवलीन होना चाहिए[२]। रामनाम की साधना ही सहजसमाधि है। इसके लिए किसी भी अनुष्ठान की आवश्यकता नहीं है—

आँख न मूंदौं कान न रूंधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं।
खुले नैनि पहिचानौं हंसि हंसि, सुन्दर रूप निहारौं॥

इस सहजसमाधि की अवस्था को प्राप्त कर साधक सहजसुख को पा लेता है और वह न तो स्वयं किसी से डरता है और न किसी को डराता है[३]। यह ब्रह्मज्ञान रूप है, इसे पाकर कोटि कल्पों तक सुख में विश्राम किया जा सकता है—

अब मैं पाइबौ रे पाइबौ ब्रह्म गियान,
सहज समाधें सुख मैं रहिबौ, कोटि कलप विश्राम[४]।

जब राम में मन लीन हो जाता है, आसक्ति हट जाती है, तब चित्त एकाग्र हो जाता है, उस समय मन भोग की ओर से योग मे लग जाता है और फिर दोनों लोक सार्थक हो जाते हैं। यही साधक की साधना की चरमावस्था है—

एक जुगति एकै मिलै, किंवा जोग कि भोग।
इन दून्यूं फल पाइये, राम नाम सिद्ध जोग[५]॥

कबीर की यह सहजसमाधि सहजयानी सिद्धों और सन्तों की देन है। सिद्धों के समय में 'सहज' शब्द का इतना प्रचार हो गया था कि प्रायः सहज-भावना उत्तम और सरल मानी जाती थी। सिद्ध भी यह मानते थे कि घर-बार छोड़कर साधु होना व्यर्थ है, वाह्याडम्बर, ग्रंथ-पाठ, स्नान-शुद्धि, तीर्थ-यात्रा आदि से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, प्रत्युत खाते-पीते, सुख-पूर्वक विहार करते चित्त के समरस होने पर सहजसमाधि प्राप्त होती है[६]। गोरखनाथ ने भी सहज-जीवन में यही बात कही है—"हँसना, खेलना और मस्त रहना चाहिए, किन्तु काम और क्रोध का साथ नहीं करना चाहिए। ऐसे ही हँसना, खेलना और गीत गाना चाहिए, किन्तु अपने चित्त की दृढ़तापूर्वक रक्षा करनी चाहिए। साथ ही अहर्निश ध्यान लगाना तथा ब्रह्मज्ञान की चर्चा करनी चाहिए। जो हँसता, खेलता है, अपने को कुत्सित नहीं करता, तो वह निश्चय ही सदानाथ के साथ रहता है[७]।" उनका यह भी कथन है कि एकाकी रहकर

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ४१-४२।
२. वही, पृष्ठ १५८-१५९।
३. वही, पृष्ठ ९३।
४. वही, पृष्ठ ८९।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९।
६. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ६ और ८।
७. हसिबा खेलिबा रहिबा रंग, काम क्रोध न करिबा संग।
हसिबा खेलिबा गाइबा गीत, दिढ करि राखि आपना चीत।
हसिबा खेलिबा धरिबा ध्यान, अहनिस कथिबा ब्रह्म गियान।
हसै खेलै न करै मन भंग, ते निहचल सदा नाथ कै संग। —गोरखबानी, पृष्ठ ३-४।

सहजसमाधि में लगना चाहिए, क्योंकि एकाकी रहनेवाला ही सिद्ध है, जो दो एक साथ विहरते हैं, वे साधु हैं, चार-पाँच होने पर कुटुम्ब और दस-बीस होने पर सेना की संज्ञा हो जाती[१]। अतः गोरखनाथ ने अपने शिष्यों को समझाया है कि तुम्हें एकाकी रहकर सहज-समाधि में सदा लीन रहना चाहिए[२]।

सिद्धों और नाथों की परम्परा से सहजसमाधि की जो प्रवृत्ति कबीर के समय तक पहुँची थी, उससे ही कबीर सहजसमाधि की भावना प्रभावित हुई थी। कबीर ने सहज शब्द को वहीं से ग्रहण किया। राहुलजी का यह कथन समीचीन है कि यद्यपि कबीर के समय तक एक भी सहजयानी नहीं रह गया, फिर भी इन्हीं से कबीर तक सहज शब्द पहुँचा था,[३] जिस प्रकार सिद्ध सरह ध्यान और प्रव्रज्या से रहित गृहस्थ जीवन व्यतीत करते हुए सहज जीवन की प्रशंसा करते हैं,[४] वैसे ही कबीर साधु वेष से रहित भार्या सहित घर में रहकर जीवन-साधना में लीन थे[५]। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिद्ध और कबीर आसक्ति को त्याग कर सहज जीवनयापन करने का उपदेश देते थे। गोरखनाथ की भाँति सरहपा भी यही कहते थे—"जगत् सहज आनन्द से भरा हुआ है, अतः नाचो, गाओ, भली प्रकार विलास करो,[६] किन्तु विषयों में रमण करते हुए उनमें लिप्त न हो, जैसे कि पानी निकालते हुए पानी को न छूये[७]।" कबीर का ब्रह्मज्ञान यही है कि सहजसमाधि में सुखपूर्वक कोटि कल्पों तक विश्राम प्राप्त होता है,[८] सिद्ध सहज शून्य की प्राप्ति को निर्वाण का लाभ मानते हैं अर्थात् सहज-जीवन से ही मुक्ति-लाभ इसी जीवन में हो सकता है और गोरखनाथ इस सहजसमाधि से निश्चल होकर नाथ (ब्रह्म) के साथ रमण करने की बात कहते हैं,[९] इस प्रकार सहज-समाधि में प्राप्त राम में लवलीन होने का सुख, ब्रह्म और नाथ के साथ रमण करने की अनु-भूति तथा निर्वाण-सुख का अनुभव एक ही है और यह भावना एक ही मूलस्रोत से उद्भूत

---

१. एकाकी सिघ नाउं दोइ रमति ते साधवा।
चारि-पांच कुटुम्ब नांउ दस-बीस ते लसकरा॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ६१।
२. बैठा खटपट ऊभां उपाधि।
गोरख कहै पूता सहज समाधि॥ —गोरखबानी, पृष्ठ ७०।
३. दोहाकोश की भूमिका, पृष्ठ २७।
४. झाणहीन पब्बज्जें अहिअउ।
गही वसन्ते भाज्जें सहिअउ॥ —सरह, दोहाकोश १८।
५. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २८।
६. जइ जग पूरिअ सहजाणन्दे।
णाच्चहु गाअहु बिलसहु चंगे॥ —सरह, दोहाकोश १३६।
७. विसअ रमन्त ण विसअहिं लिप्पइ।
उअअ हरन्त ण पाणी च्छुप्पइ॥ —वही, ७१।
८. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ८९।
९. ते निहचल सदा नाथ कै संग। —गोरखबानी, पृष्ठ ४।

है और वह मूलस्रोत है बौद्धधर्म, जिसका प्रवाह सहजसमाधि के रूप में सिद्धों और नाथों से होता हुआ कबीर तक पहुँचा था, जिसे अपनाकर कबीर ने बढ़ाया और उसी में लवलीन होकर भक्तिपूर्वक गाया—

साधो ! सहज समाधि भली ।
गुरु प्रताप जा दिन से जागी, दिन दिन अधिक चली ।।

जँह जँह डोलौं सो परिकरमा, जो कछु करौं सो सेवा ।
जब सोवौं तब करौं दण्डवत, पूजौं और न देवा ।।

कहौं सो नाम सुनौं सो सुमिरन, खावँ पियौं सो पूजा ।
गिरह उजाड़ एक सम लेखौं, भाव मिटावौं दूजा ।।

आँख न मूँदौं कान न रूँधौं, तनिक कष्ट नहिं धारौं ।
खुले नैन पहिचानौं हँसि हँसि, सुन्दर रूप निहारौं ।।

सबद निरन्तर से मन लागा, मलिन वासना त्यागी ।
ऊठत बैठत कबहुँ न छूटै, ऐसी तारी लागी ।।

कह कबीर यह उनमुनि रहनी, सो परगट करि गाई ।
दुख सुख से कोइ परे परमपद, तेहि पद रहा समाई[1] ।।

कबीर का हठयोग बौद्धयोग से प्राप्त

हठयोग का मूलबीज यद्यपि बुद्ध-वचन में मिलता है, किन्तु इसका विकास सिद्धों के काल में हुआ और नाथ-परम्परा में यह एक पन्थ का रूप धारण कर हठयोग-पद्धति नाम से प्रचलित हो गया। कबीर ने भी इसी हठयोग को ईश्वर की प्राप्ति का एक साधन माना[2]। राहुलजी का कथन है कि सन्तों की साधना में चन्द्र-सूर्य या इड़ा-पिंगला की जो साधना आती है, उसका वर्णन सरहपा से पहले नहीं मिलता, यह सम्भवतः सरहपा की ही सूझ और अभ्यास का परिणाम है,[3] किन्तु हम देखते हैं कि हठयोग नाम प्राचीन होते हुए भी इसकी मूलभूत क्रियाएँ एवं साधनाएँ बुद्धकाल में भी थीं और भगवान् बुद्ध ने इस साधना की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। यह साधना 'आनापानसति' (प्राणायाम) की भावना में आती है, जिसके सम्बन्ध में तथागत ने कहा है—"भिक्षुओ ! आनापान-स्मृति-समाधि-भावना करने पर, बढ़ाने पर शान्त, उत्तम, असेचनक सुख विहार है, वह उत्पन्न हुए, उत्पन्न हुए बुरे अकुशल धर्मों को बिलकुल अन्तर्ध्यान कर देती है[4]।" इस भावना को करनेवाला साधक एकान्त स्थान, अरण्य या वृक्ष के नीचे जा पालथी मारकर काया को सीधा करके स्मृति को सामने कर बैठता है। वह स्मृति के साथ ही श्वास लेता तथा छोड़ता है, छोटे, बड़े, लम्बे आदि श्वासों की

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३-१४।

२. कबीर पदावली, भूमिका, पृष्ठ ५१। ३. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ ३२।

४. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ २४० तथा संयुत्तनिकाय, ५२, १, १।

स्मृति बनाए रखता है। वह सम्पूर्ण काया का प्रतिसंवेदन करते हुए श्वास लेता और छोड़ता है। ऐसे ही काय-संस्कार, प्रीति, सुख, चित्त, अनित्य, विराग, निरोध, प्रतिनिःसर्ग की भावना करते हुए श्वास लेता और छोड़ता है[1]। इस प्रकार करते हुए वह अपने चित्त को नासिका के अग्रभाग में लगाता है और स्मृति को वहीं बनाए रहता है, वह काया में काया को ही देखता हुआ विहार करता है। भगवान् ने आश्वास-प्रश्वास को ही काया में दूसरी काया कहा है[2]। फिर क्रमशः वेदना, चित्त और धर्म का मनन करता हुआ विहार करता है। ऐसे भावना करते हुए उसके बोध्यंग पूर्ण होते हैं और विद्या तथा मुक्तिसुख का अनुभव इसी काया और इसी जीवन में कर लेता है[3]। जो इसकी भावना करते हैं, वे अमृत का उपभोग करते हैं और जो इसकी भावना नहीं करते, वे अमृत का उपभोग नहीं करते[4]। इसी आनापानसति की भावना का सिद्धों ने अपने ढंग से वर्णन किया और इसकी साधना को भी रूपकों में बतलाया। आश्वास (साँस लेना) और प्रश्वास (साँस छोड़ना) को दक्षिण-बाम अथवा इडा और पिंगला कहा। इन्हें ही गंगा-यमुना नाम से भी पुकारा और सुषुम्ना की भी कल्पना कर गंगा-यमुना-सरस्वती की स्थापना इस शरीर में ही करके त्रिवेणी संगम का भी निर्माण किया। नाद, बिन्दु, अनाहतनाद आदि की कल्पना की और इस शरीर में ही अमृत-लाभ का उपदेश दिया। सिद्ध-साहित्य में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन उपलब्ध है। नाथपन्थ ने तो इस हठयोग को दृढ़ता से ग्रहण किया और इसका प्रबल प्रचार किया। हठयोग कहते ही हैं अंगों और श्वास पर अधिकार प्राप्त कर मन में एकाग्रता ला उसे परमपद में लीन कर देने को, जिसे कबीर ने राम में लवलीन कर देना माना है। स्थविरवादी बौद्धधर्म में आश्वास-प्रश्वास का मनन करना और उसे चित्त की एकाग्रता का निमित्त बनाकर विमुक्ति प्राप्त करना ही ध्येय है, आश्वास-प्रश्वास को रोककर अथवा उलटा पवन चलाकर षटचक्र द्वारा ऊपर चढ़ाना नहीं। कबीर ने घट-घट में व्याप्त राम को घट में ही खोजना उत्तम समझा है और इस शरीर के भीतर ही हठयोग-साधना से आत्म-प्रकाश का वर्णन किया है—

> उलटि पवन षटचक्र निवासी, तीरथराज गंगतट बासी।
> गगन मंडल रवि ससि दोइ तारा, उलटी कूँची लागि किवारा।
> कहै कबीर भई उजियारी, पंच मारि एक रसो निनारी[5]।

सिद्ध सरहपा ने भी हठयोग के चन्द्र-सूर्य के सम्बन्ध में यही बात कही है—

> चन्द सुज्ज घसि घालइ घोट्टइ।
> सो अणुत्तर एत्थु पअट्टइ[6]॥

---

१. वही, भाग १, पृष्ठ २४०।
२. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४९२ —(आनापानसतिसुत्त ३, २, ८)।
३. वही, पृष्ठ ४९३।
४. अंगुत्तरनिकाय १, ५।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १४५।
६. दोहाकोश, पृष्ठ १०।

अध-उद्ध माग्गवरें पइसरेइ, चन्द सुज्ज वेइ पडिहरेइ।
वंचिज्जइ कालहुतणअ गइ, वे विआर समरस करेइ[१]॥

जब सूर्य चन्द्र से मिल जाता है तब अमृत की वर्षा होने लगती है—

अवधू गगन मण्डल घर कीजै।
अमृत झरै सदा सुख उपजै, बंकनालि रस पीजै[२]॥

जिस प्रकार बौद्धयोग चित्त को राग, द्वेष, मोह आदि कलुष से निर्मल एवं स्वच्छ कर परममुख निर्वाण को प्राप्त करने का साधन है, ऐसे ही कबीर का हठयोग मन को विकार-रहित कर राम से मिलाने का उपाय है, इसीलिए कबीर ने कहा है—

जे मन नहिं तजै विकारा, तो क्यूं तिरिये भौ पारा।
जब मन छांड़ै कुटिलाई, तब आइ मिले राम राई।
ससिहर सूर मिलावा, तब अनहद बेन बजावा।
जब अनहद बाजा बाजै, तव साईं संगि बिराजै।
चित्त चंचल निहचल कीजै, तब राम रसाइन पीजै।
जब राम रसाइन पीया, तब काल मिटचा जन जीया[३]।

जिस प्रकार बौद्धयोगी इसी काया में काया को देखता हुआ अमृत-लाभ करता है, विद्या और विमुक्ति का साक्षात्कार करता है, उसी प्रकार कबीर भी इसी शरीर में सभी तीर्थों का दर्शन करते हैं, उनकी काशी, कमलापति और बैकुण्ठवासी इसी काया में हैं—

काया मधे कोटि तीरथ, काया मधे कासी।
काया मधे कवलापति, काया मधे बैकुण्ठवासी[४]॥

गोरखनाथ ने भी वही बात कही है—

पंथि चले चलि पवनां तूटै नाद बिंद अस बाई।
घट हीं भींतरि अठसठि तीरथ कहां भ्रमै रे भाई॥[५]

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्धयोग से आयी आनापानस्मृति-भावना की आश्वास-प्रश्वास की साधना पीछे हठयोग का रूप ले ली और उसे सिद्धों तथा नाथों ने अपनी शैली एवं साधना-पद्धति का रूप प्रदान किया। उन्होंने कल्पित नामों से तत्व का निरूपण कर हठयोग की साधना प्रचारित की। कबीर ने भी उसी परम्परा से प्रभावित होकर उसी हठयोग को परमपद की प्राप्ति का एक उत्तम साधन माना। अतः कबीर का हठयोग बौद्ध-योग की ही देन है।

अवधूत बौद्धधर्म के धुतांगधारी योगियों की प्रवृत्ति

कबीर ने अपने निर्गुण उपदेशों में 'अवधू' या 'अवधूत' को सम्बोधन कर अपने भाव व्यक्त किए हैं। यद्यपि उन्होंने सन्त, साधु, योगी, भाई आदि शब्दों का भी प्रयोग किया है,

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ १४। २. कबीर पदावली, पृष्ठ ४३।
३. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४६। ४. वही, पृष्ठ १४५।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।

किन्तु अवधू या अवधूत शब्द का भी प्रयोग विशेष ज्ञानी के लिए किया है। कबीर ने अवधूतों को फटकारा भी है और कहा है "ग्यांन बिना फोकट अवधूत",[१] जो अपने को अवधूत कहता है किन्तु ज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो उसका अवधूत होना व्यर्थ है। अवधूत तो गोरखनाथ जैसा ज्ञानी है, जिसने राम के माहात्म्य को भली प्रकार जान लिया है[२]। तात्पर्य यह कि अवधूत वही है, जो ज्ञान-प्राप्त है और जिसे परमपद की अनुभूति हो गयी है। यह अवधू या अवधूत कौन है? विश्वनाथ सिंह का कथन है कि "वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै[३]"। अर्थात् वधू (पत्नी) के साथ न रहनेवाला ही अवधू है, किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—"साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक लोगों में 'अवधूतीवृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिकवृत्ति का उल्लेख मिलता है[४]।" आगे उन्होंने यह भी कहा है कि सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है[५]। अन्त में उनका मत है कि कबीरदास का अवधूत नाथपन्थी सिद्धयोगी है[६]। डॉ० त्रिगुणायत ने नाथपन्थी योगियों को शैव अवधूत तथा वैष्णव-साधुओं को सुधारवादी सन्त अवधूत माना है[७]। इन विद्वानों के विचारों का भली प्रकार मनन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवधूत के मूलस्रोत को जानने के लिए हमें और भी अतीत की ओर जाना होगा। ज्ञानी गोरख को जिस मूलस्रोत से ज्ञानधारा प्राप्त हुई थी, वास्तव में वही अवधूत का भी उद्गम-स्थल है और यह अवधूत बुद्धकालीन धुतांगधारी योगियों की प्रवृत्ति की ही देन है। यथार्थतः धुतधारी योगी ही अवधू या अवधूत बन गये हैं।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को धुतांगों के पालन करने का उपदेश दिया था। ये धुतांग तेरह हैं—पांसुकूलिक, त्रैचीवरिक, पिण्डपातिक, सापदानचारिक, एकासनिक, पात्रपिण्डिक, खलुपच्छाभत्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक, अभ्यवकाशिक, श्मशानिक, यथासंस्थरिक और नैसाद्यक[८]। अंगुत्तरनिकाय में दस धुतांगों का वर्णन आया है[९] और अट्ठकथा में कहा गया है कि इन्हीं में तेरह धुतांग सम्मिलित हैं[१०]। धुतांग शब्द को व्याख्या करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है—"ये सभी (धुतांग) ग्रहण करने से क्लेशों को नष्ट कर देने के कारण धुत (परिशुद्ध) भिक्षु के अंग हैं या क्लेशों को धुन डालने से धुत नाम से कहा जानेवाला ज्ञानांग है, इसलिए ये धुतांग हैं[११]।" मिलिन्दप्रश्न में धुतांग पालन के अट्ठाइस गुण बतलाए गये हैं,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।
२. राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जाणी। —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२।
३. पाखण्डखण्डिनी टीका, पृष्ठ २५५।
४. कबीर, पृष्ठ २४।
५. वही, पृष्ठ २५।
६. वही, पृष्ठ ३०।
७. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३४२।
८. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६०।
९. अंगुत्तरनिकाय, ५, ४, १-१०।
१०. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६० (टिप्पणी)।
११. वही, पृष्ठ ६१।

जिनमें कहा गया है कि धुतांगधारी के राग, द्वेष, मोह, अभिमान, अकुशल चित्त, सन्देह, अकर्मण्यता, असन्तोष आदि अकुशल धर्म दूर हो जाते हैं, वह आत्म-संयमी, सहनशील और निर्भय हो जाता है। धुतांगधारी के पुण्य अतुल्य और अनन्त होते हैं। वह सभी दुःखों का अन्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है[१]। जो व्यक्ति इन धुतांगों का पालन करते हैं, उनके भी तीस गुण होते हैं, जिनसे युक्त हो धुतधारी सभी आश्रवों को नष्टकर परमसुख निर्वाण का लाभ कर लेता है[२]। इसीलिए कहा गया है कि भगवान् के धर्म-नगर के धुतांगधारी अक्षदर्शी (हाकिम) हैं[३]। वे सदा धर्म-नगर में ही निवास करते हैं[४]। भगवान् बुद्ध के शिष्यों में महाकाश्यप धुतवादियों में श्रेष्ठ थे[५]। वक्कुल केवल धुत थे, धुतवादी नहीं थे, उपनन्द न धुत थे और न धुतवादी ही, किन्तु महाकाश्यप दोनों ही थे[६]। तात्पर्य यह कि जिसने अपने पापों को धो डाला है, जो ज्ञान प्राप्त कर परमज्ञानी हो गया है, वह धुत है और जो उसका प्रवचन भी करता है, वह धुतवादी भी है, जो इन गुणों से रहित है, वह न धुत है और न धुतवादी ही। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को धुतों के पालन की स्वतन्त्रता दे रखी थी, जो चाहते थे इनका पालन करते थे और जो नहीं चाहते थे, वे अन्य गुणधर्मों का पालन कर ज्ञान प्राप्त करते थे[७]। इसीलिए देवदत्त के यह कहने पर कि भिक्षु जीवन भर आरण्यक रहें, पिण्डपातिक रहें, पांशुकूलिक रहें और वृक्षमूलिक रहे, अर्थात् वे तेरह धुतांगों में से इन चार धुतांगों का अनिवार्य रूप से पालन करें; भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि चाहे कोई भिक्षु इनका पालन करे या अन्य नियमों के अनुसार आचरण करे, हमने उनके अनुकूल नियमों को बतला दिया है, यह उनकी इच्छा पर है कि वे किसका पालन करें और किसका नहीं[८]। इसका फल यह हुआ कि भिक्षु बौद्धसाधना-पद्धति के विभिन्न मार्गों को अपनाकर अर्हत्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करने लगे, फिर भी धुतों की प्रशंसा होती ही थी

---

१. मिलन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३०-४३१।

२. वही, पृष्ठ ४४४। ३. वही, पृष्ठ ४२२।

४. वीतरागा वीतदोसा वीतमोहा अनासवा।
वीततण्हा अनादाना धम्मनगरे वसन्ति ते॥
आरञ्ञका धुतधरा झायिनो लूखचीवरा।
विवेकाभिरता धीरा धम्मनगरे वसन्ति ते॥
—मिलिन्द पञ्हो (बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन), पृष्ठ ३३४।

५. एतदग्गं भिक्खवे मम सावकानं भिक्खूनं धुतवादानं यदिदं महाकस्सपो।
—एतदग्गपालि, अंगुत्तरनिकाय।

और भी कहा है—
यावता बुद्धखेत्तम्हि ठपयित्वा महामुनि।
धुतगणे विसिट्ठोहं सदिसो मे न विज्जति॥ —थेरगाथा, गाथा संख्या १०७८।

६. मनोरथपूरणी, एतदग्गवग्ग। ७. बुद्धचर्या, पृष्ठ ४०४।

८. वही, पृष्ठ ४०३।

किन्तु अवधू या अवधूत शब्द का भी प्रयोग विशेष ज्ञानी के लिए किया है। कबीर ने अवधूतों को फटकारा भी है और कहा है "ग्यांन बिना फोकट अवधूत",[१] जो अपने को अवधूत कहता है किन्तु ज्ञान प्राप्त नहीं किया है तो उसका अवधूत होना व्यर्थ है। अवधूत तो गोरखनाथ जैसा ज्ञानी है, जिसने राम के माहात्म्य को भली प्रकार जान लिया है[२]। तात्पर्य यह कि अवधूत वही है, जो ज्ञान-प्राप्त है और जिसे परमपद की अनुभूति हो गयी है। यह अवधू या अवधूत कौन है? विश्वनाथ सिंह का कथन है कि "वधू जाके न होइ सो अवधू कहावै[३]"। अर्थात् वधू (पत्नी) के साथ न रहनेवाला ही अवधू है, किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने इस मत का खण्डन करते हुए कहा है—"साधारणतः जागतिक द्वन्द्वों से अतीत, मानापमान-विवर्जित, पहुँचे हुए योगी को अवधूत कहा जाता है। यह शब्द मुख्यतया तांत्रिकों, सहजयानियों और योगियों का है। सहजयान और वज्रयान नामक बौद्ध तांत्रिक लोगों में 'अवधूतीवृत्ति' नामक एक विशेष प्रकार की यौगिकवृत्ति का उल्लेख मिलता है[४]।" आगे उन्होंने यह भी कहा है कि सहजावस्था को प्राप्त करने पर ही साधक अवधूत होता है[५]। अन्त में उनका मत है कि कबीरदास का अवधूत नाथपन्थी सिद्धयोगी है[६]। डॉ० त्रिगुणायत ने नाथपन्थी योगियों को शैव अवधूत तथा वैष्णव-साधुओं को सुधारवादी सन्त अवधूत माना है[७]। इन विद्वानों के विचारों का भली प्रकार मनन करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि अवधूत के मूलस्रोत को जानने के लिए हमें और भी अतीत की ओर जाना होगा। ज्ञानी गोरख को जिस मूलस्रोत से ज्ञानधारा प्राप्त हुई थी, वास्तव में वही अवधूत का भी उद्गम-स्थल है और यह अवधूत बुद्धकालीन धुतांगधारी योगियों की प्रवृत्ति की ही देन है। यथार्थतः धुतधारी योगी ही अवधू या अवधूत बन गये हैं।

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को धुतांगों के पालन करने का उपदेश दिया था। ये धुतांग तेरह हैं—पांशुकूलिक, त्रैचीवरिक, पिण्डपातिक, सापदानचारिक, एकासनिक, पात्रपिण्डिक, खलुपच्छाभत्तिक, आरण्यक, वृक्षमूलिक, अभ्यवकाशिक, श्मशानिक, यथासंस्थरिक और नैसाद्यक[८]। अंगुत्तरनिकाय में दस धुतांगों का वर्णन आया है[९] और अट्ठकथा में कहा गया है कि इन्हीं में तेरह धुतांग सम्मिलित हैं[१०]। धुतांग शब्द की व्याख्या करते हुए आचार्य बुद्धघोष ने कहा है—"ये सभी (धुतांग) ग्रहण करने से क्लेशों को नष्ट कर देने के कारण धुत (परिशुद्ध) भिक्षु के अंग हैं या क्लेशों को धुन डालने से धुत नाम से कहा जानेवाला ज्ञानांग है, इसलिए ये धुतांग हैं[११]।" मिलिन्दप्रश्न में धुतांग पालन के अट्ठाइस गुण बतलाए गये हैं,

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १२८।
२. राम गुन बेलड़ी रे, अवधू गोरखनाथि जाणी। —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४२।
३. पाखण्डखण्डिनी टीका, पृष्ठ २५५।
४. कबीर, पृष्ठ २४।
५. वही, पृष्ठ २५।
६. वही, पृष्ठ ३०।
७. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३४२।
८. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६०।
९. अंगुत्तरनिकाय, ५, ४, १-१०।
१०. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६० (टिप्पणी)।
११. वही, पृष्ठ ६१।

जिनमें कहा गया है कि धुतांगधारी के राग, द्वेष, मोह, अभिमान, अकुशल चित्त, सन्देह, अकर्मण्यता, असन्तोष आदि अकुशल धर्म दूर हो जाते हैं, वह आत्म-संयमी, सहनशील और निर्भय हो जाता है। धुतांगधारी के पुण्य अतुल्य और अनन्त होते हैं। वह सभी दुःखों का अन्त कर निर्वाण को प्राप्त कर लेता है[१]। जो व्यक्ति इन धुतांगों का पालन करते हैं, उनके भी तीस गुण होते हैं, जिनसे युक्त हो धुतधारी सभी आश्रवों को नष्टकर परमसुख निर्वाण का लाभ कर लेता है[२]। इसीलिए कहा गया है कि भगवान् के धर्म-नगर के धुतांगधारी अक्षदर्शी (हाकिम) हैं[३]। वे सदा धर्म-नगर में ही निवास करते हैं[४]। भगवान् बुद्ध के शिष्यों में महाकाश्यप धुतवादियों में श्रेष्ठ थे[५]। वक्कुल केवल धुत थे, धुतवादी नहीं थे, उपनन्द न धुत थे और न धुतवादी ही, किन्तु महाकाश्यप दोनों ही थे[६]। तात्पर्य यह कि जिसने अपने पापों को धो डाला है, जो ज्ञान प्राप्त कर परमज्ञानी हो गया है, वह धुत है और जो उसका प्रवचन भी करता है, वह धुतवादी भी है, जो इन गुणों से रहित है, वह न धुत है और न धुतवादी ही। भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को धुतों के पालन की स्वतन्त्रता दे रखी थी, जो चाहते थे इनका पालन करते थे और जो नहीं चाहते थे, वे अन्य गुणधर्मों का पालन कर ज्ञान प्राप्त करते थे[७]। इसीलिए देवदत्त के यह कहने पर कि भिक्षु जीवन भर आरण्यक रहें, पिण्डपातिक रहें, पांशुकूलिक रहें और वृक्षमूलिक रहें, अर्थात् वे तेरह धुतांगों में से इन चार धुतांगों का अनिवार्य रूप से पालन करें; भगवान् ने स्पष्ट शब्दों में कह दिया था कि चाहे कोई भिक्षु इनका पालन करे या अन्य नियमों के अनुसार आचरण करे, हमने उनके अनुकूल नियमों को बतला दिया है, यह उनकी इच्छा पर है कि वे किसका पालन करें और किसका नहीं[८]। इसका फल यह हुआ कि भिक्षु बौद्धसाधना-पद्धति के विभिन्न मार्गों को अपनाकर अर्हत्व के साक्षात्कार का प्रयत्न करने लगे, फिर भी धुतों की प्रशंसा होती ही थी

---

१. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी अनुवाद, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४३०-४३१।

२. वही, पृष्ठ ४४४। ३. वही, पृष्ठ ४२२।

४. वीतरागा वीतदोसा वीतमोहा अनासवा।
वीततण्हा अनादाना धम्मनगरे वसन्ति ते॥
आरञ्ञका धुतधरा झायिनो लूखचीवरा।
विवेकाभिरता धीरा धम्मनगरे वसन्ति ते॥
—मिलिन्द पञ्हो (बम्बई विश्वविद्यालय प्रकाशन), पृष्ठ ३३४।

५. एतदग्गं भिक्खवे मम सावकानं भिक्खूनं धुतवादानं यदिदं महाकस्सपो।
—एतदग्गपालि, अंगुत्तरनिकाय।

और भी कहा है—
यावता बुद्धखेत्तम्हि ठपयित्वा महामुनिं।
धुतगणे विसिट्ठोहं सदिसो मे न विज्जति॥ —थेरगाथा, गाथा संख्या १०७८।

६. मनोरथपूरणी, एतदग्गवग्ग। ७. बुद्धचर्या, पृष्ठ ४०४।

८. वही, पृष्ठ ४०३।

और धुत तथा धुतवादी ज्ञानी समझे ही जाते थे, इसीलिए भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण के लगभग ४०० वर्षों के पश्चात् भी भदन्त नागसेन के समय (ई० पूर्व १५०) में धुतों तथा धुतवादियों का बहुत प्रचार था और वे जनसमाज द्वारा सम्मानित थे। जनता में उनके प्रति यहाँ तक श्रद्धा थी कि वह उन्हें देवताओं और मनुष्यों का पूज्य मानती थी और यह भी विश्वास रखती थी कि उन्होंने श्रमण-जीवन की सार्थकता को प्राप्त कर लिया है[१]। धुतधारियों के प्रति जनता का यह आदरभाव पीछे भी बना रहा, किन्तु बौद्धधर्म में होनेवाले अनेक परिवर्तनों एवं विकासों के साथ धुतों का भी परिवर्तन हुआ और धीरे-धीरे धुतधारी तेरह धुतांगों में से कुछ ही का आचरण करने लगे, वह भी केवल नाममात्र के लिए, फिर भी हम इतना जानते हैं कि सिद्ध गोरखनाथ के समय में भी धुतों का महत्व माना जात था। गोरखनाथ ने कहा है कि जो व्यक्ति धुतों से अपने को धो डाला है अर्थात् धुतों के पालन से जिसने अपने कलुष को बहा दिया है, जो भिक्षावृत्ति से भोजन करता है, जिसे किसी प्रकार का मानसिक कष्ट नहीं है, जो इसी शरीर का मनन करता हुआ समय व्यतीत करता है, वह अवधूत निर्वाण-लोक में विहार करता है—

> धूतारा ते जे धूतै आप। भिख्या भोजन नहीं संताप ॥
> अहूठ पटण मै भिख्या करै। ते अवधू सिवपुरी संचरै[२] ॥

यहाँ गोरखनाथ ने पिण्डपातिकांग धुतधारी का वर्णन किया है और उसे ही अवधूत कहा है। विशुद्धिमार्ग में पिण्डपातिकांग की व्याख्या करते हुए बतलाया गया है—"भिक्षा कहे जानेवाले अन्न के पिण्डों का पतन (पात) ही पिण्डपात है। दूसरों से दिए पिण्डों का पात्र में गिरना कहा गया है। उस पिण्डपात को खोजता है, घर-घर जाकर तलाशता है, इसलिए पिण्डपात है। अथवा पिण्ड (भिक्षा) के लिए पतना इसका व्रत है, इसलिए यह पिण्डपाती है। पतना का अर्थ है घूमना। पिण्डपाती ही पिण्डपातिक है। पिण्डपातिक का अंग पिण्डपातिकांग है[३]।" इससे स्पष्ट है कि गोरखनाथ ने जिसे अवधूत कहा है, वह वास्तव में पिण्डपातिकांग धुतांग को धारण करनेवाला योगी ही है। डॉ० बड़थ्वाल ने 'धुत' शब्द का अर्थ धूर्त किया है और इसका एकमात्र कारण है धुतांग की ओर ध्यान न देना।

सिद्धों ने ललना, रसना और अवधूति नाम से क्रमशः इड़ा, पिंगला और सुषुम्ना नाड़ियों को पुकारा है और हठयोग की साधना में अवधूति-क्रिया का एक महत्वपूर्ण स्थान है। इन्हें ही कबीर ने गंगा-यमुना और सरस्वती भी कहा है। सिद्ध सरहपा ने इन्हीं के भीतर से विन्दु को झरना बतलाया है—

> लला लेहु पवन की करिनी सो घर भीतर अंध,
> नाद विन्दु अन्ध धर्म अनास्रव है।
> ललना सहित रसना अवधूति के भीतर से,
> विन्दु झरै सोई अतिअचरज के लिए पी[४] ॥

---

१. मिलिन्दप्रश्न, पृष्ठ ४४४।
२. गोरखबानी, पृष्ठ १६।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ ६१।
४. दोहाकोश, पृष्ठ १३७।

तात्पर्य यह कि अवधूति-क्रिया का प्रचलन कबीर के समय में भी था। कबीर केवल अवधूति-क्रिया मात्र से अवधूत को ज्ञानी नहीं मान सकते और न अवधूत को इतना सम्मान प्रदान कर सकते, जितना कि उन्होंने गोरखनाथ के प्रति अपने उद्‌गार में व्यक्त किया है। जैसा कि हमने पहले कहा है, धुत शब्द से ही अवधूत और अवधू बने हैं। बुद्धकाल में धुतांगधारियों के लिए धुत शब्द प्रचलित था और धुतवादी योगी गोरखनाथ के समय तक सम्मानित थे। गोरखनाथ ने उन्हीं धुतवादियों को अवधूत के रूप में ग्रहण किया और नाथ-पन्थ के लिए यह शब्द अपना-सा जान पड़ने लगा, फिर भी कबीर ने नाथपन्थियों को अवधूत न कहकर योगी ही कहा है—

जोगी गोरख गोरख करै।
हिन्दू राम नाम उच्चरै॥
मुसलमान कहै एक खुदाइ।
कबीरा कौ स्वामी घटि घटि रह्यौ समाइ[1]॥

इस प्रकार स्पष्ट है कि कबीर का अवधूत नाथपंथी न था और न उसे वे नाथपंथ से सम्बन्धित मानते ही थे, वह ज्ञानी स्वरूप था तथा वह उन्हें बौद्ध-परम्परा से प्राप्त हुआ था, जो वस्तुतः बौद्धधर्म के धुतांगधारियों की ही प्रवृत्ति की देन थी, इसलिए कबीर ने भी गाया था—"अवधू ह्वै करि यह तन धूतौं[2]।" अर्थात् अवधूत होकर इस शरीर के कलुष को धो डालूँगा।

सुरति शब्द सति और निरति शब्द विरति के ही रूप

कबीर ने सुरति और निरति शब्दों का अधिक प्रयोग किया है और कहा है कि सुरति तथा निरति दोनों की समानता से ही ज्ञानी सुख प्राप्त करते हैं,[3] जब सुरति निरति में प्रवेश करती है और निरति शब्द से मिल जाती है, इस प्रकार तब सुरति निरति के संयोग से स्वयम्भू का द्वार खुल जाता है अर्थात् परमपद की प्राति होती है[4]। सुरति कुएँ से पानी निकालनेवाली ढेकुली के समान है[5]। सुरति प्राप्त होने पर त्रिवेणी में स्नान कर सकते हैं[6]। सुरति और निरति अमृत-घूँट हैं, इन्हें जो पी लेता है, वह अमर हो जाता है और इन्हें गुरु द्वारा ही पीया जा सकता है, इस घूँट को ब्रह्मा, विष्णु और स्वयंभू ने नहीं पिया, जिससे व्यर्थ ही उनका जीवन व्यतीत हो गया—

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २००। २. वही, पृष्ठ २१७।

३. सुरत निरत का बेल नहायन, करै खेत निर्वानी।
दोनों थार बराबर परसैं, जेवैं मुनि और ज्ञानी॥ —कबीर, पृष्ठ २८३।

४. सुरति समाँणी निरति मैं, निरति रही निरधार।
सुरति निरति परचा भया, तब खूले स्यंभू दुवार॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १४।

५. सुरति ढीकुली ले जल्यौ, मन नित ढोलन हार। —वही, पृष्ठ १८।

६. त्रिवेणी मनाह न्हवाइये, सुरति मिलै जौ हाथ रे। —वही, पृष्ठ ८८।

गुरु मोहिं घुँटिया अजर पियाई।
जब से गुरु मोहिं घुँटिया पियाई, भई सुचित मेटी दुचिताई।
नाम-औषधी अधर-कटोरी, पियत अघाय कुमित गई मोरी।।
ब्रह्मा विस्नु पिये नहिं पाये, खोजत संभू जन्म गँवाये।
सुरत निरत करि पियै जो कोई, कहैं कबीर अमर होय सोई[1]।।

सुरति राग है तो निरति वीणा का तार है, दोनों के मिलने से ही शून्य में शब्द उत्पन्न होता है[2]। इस प्रकार सुरति, निरति और शब्द—ये तीन हैं, किन्तु जब सुरति-निरति मिल जाती है, तब वे सम्मिलित रूप से अर्थात् एक होकर शब्द में लीन हो जाती हैं[3]।

इन उद्धरणों से प्रगट है कि सुरति और निरति सन्त-साधना के पारिभाषिक शब्द हैं, जिनके सिद्ध होने पर सन्त परमपद को प्राप्त कर लेता है। यह ऐसी साधना है, जिसकी सिद्धि ब्रह्मा, विष्णु और स्वयम्भू को भी नहीं हो पायी और वे अमृत-घूँट पीकर अमर नहीं हो सके। इन्हीं के माध्यम से अमृत-रस प्राप्त किया जा सकता है। ये कूप से जल निकालने के लिए ढेकुली के समान साधन हैं। ये दोनों परस्पर मिलकर ही लक्ष्य की पूर्ति करा सकते हैं। ऐसे महत्वपूर्ण एवं सन्त-साहित्य के अति-परिचित शब्दों के सम्बन्ध में विद्वानों के अनेक मत है। डॉ० बड़थ्वाल का कथन है कि सुरति शब्द स्मृति[4] और निरति शब्द नृत्य[5] से बने हैं। आचार्य क्षितिमोहन सेन ने सुरति का अर्थ प्रेम बतलाया है और निरति का वैराग्य[6]। डॉ० रामकुमार वर्मा ने सुरति-निरति को सूरते इलहामियाँ का रूपान्तर माना है[7]। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी ने सुरति को अन्तर्मुखी वृत्ति तथा निरति को बाहरी प्रवृत्ति कहा है[8]। डॉ० सम्पूर्णानन्द ने सुरति को स्रोत शब्द से निकला हुआ बतलाया है[9]। परशुराम चतुर्वेदी ने इसे शब्दोमुख चित्त कहा है[10]। सन्त गुलाल साहब ने सुरति को मन का पर्यायवाची शब्द माना है[11]। राधास्वामी सम्प्रदाय के साधु इसे जीव का वाचक मानते हैं[12]। डॉ० धर्मवीर भारती ने सुरति को साधना में चित्त को प्रवर्तित करनेवाला तथा निरति को निरालम्ब अवस्था कहा है यह भी माना है कि सुरति का प्रयोग नाथ-योगियों के शब्द-सुरति-

---

१. कबीर, पृष्ठ ३३५।
२. ग्रह चंद्र तपन जोत बरत है, सुरत राग निरत तार बाजे।
नौबतिया घुरत है रैन दिन सुन्न में, कहैं कबीर पिउ गगन गाजै।। —कबीर, पृष्ठ २४३।
३. शब्द सुरति और निरति ये कहिबे को हैं तीन।
निरति लौटि सुरतहिं मिली, सुरति शब्द में लीन।। —वही, पृष्ठ २४३।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१८।
५. वही, पृष्ठ २७०। ६. कबीर, पृष्ठ २४४।
७. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २५१। ८. कबीर, पृष्ठ २४३-२४४।
९. 'विद्यापीठ', त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३५।
१०. कबीर साहित्य की परख, पृष्ठ २५३। ११. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४१८।
१२. कल्याण के योगांक में 'सुरतियोग' शीर्षक लेख से उद्धृत।

योग के अर्थ में हुआ है[१]। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने सुरति को पिण्डस्थ व्यष्टचात्मा और निरति को समष्टचात्मा के रूप में प्रयुक्त माना है[२]। ऐसे ही साम्प्रदायिक रूप से अनेक प्रकार से सुरति-निरति की व्याख्या की गयी है, किन्तु डॉ० भरतसिंह उपाध्याय का यह मत सर्वथा ही समीचीन है कि बौद्ध-साधना के 'स्मृति' और 'विरति' शब्द ही सुरति तथा निरति में निरूपित हैं[३]। स्मृति को पालि भाषा में 'सति' कहते हैं और विरति को 'विरति' ही। हम यहाँ इन पर क्रमशः विचार करेंगे।

बौद्ध-साधना में स्मृति (सति) का एक प्रधान स्थान है। बिना स्मृति के कोई भी कार्य नहीं किया जा सकता, इसलिए स्मृति सर्वत्र बलवान् होनी चाहिए। स्मृति ही साधक की रक्षा करती है। वह व्यञ्जनों में नमक-तेल के समान, सम्पूर्ण कामों की देखभाल करनेवाले अमात्य के समान सर्वत्र होनी चाहिए, क्योंकि चित्त स्मृति का प्रतिशरण है और स्मृति उसकी रक्षा करने में लगी रहनेवाली है। बिना स्मृति के चित्त को पकड़ा और दबाया नहीं जा सकता[४]। मिलिन्दप्रश्न में स्मृति की पहचान बतलाते हुए कहा गया है कि बराबर स्मरण रखना और स्वीकार करना स्मृति की पहचान है। स्मृति ही बराबर स्मरण दिलाती रहती है कि यह कुशल है, यह अकुशल है, यह दोषयुक्त है, यह निर्दोष है, यह अच्छा है, यह बुरा है, यह कृष्ण है, यह शुक्ल है। इसी प्रकार स्मृति चार स्मृतिप्रस्थान, चार सम्यक् प्रधान, चार ऋद्धिपाद, पाँच इन्द्रिय, पाँच बल, सात बोध्यंग, आर्य अष्टांगिक मार्ग, शमथ, निदर्शना, विद्या, विमुक्ति आदि सेवनीय तथा असेवनीय धर्मों को बतलाती और स्मरण दिलाती है। इसीलिए भगवान् ने कहा है—"भिक्षुओ ! मैं स्मृति को सब धर्मों को सिद्ध करनेवाली बतलाता हूँ[५]।" स्मृति के जागृत रहने पर ही साधक ज्ञान प्राप्त कर सकता है[६]। वह भोजन के पश्चात् अरण्य, शून्यागार या वृक्ष के नीचे जाकर पालथी मार शरीर को सीधाकर, स्मृति को सामने उपस्थित कर ध्यान करता है[७]। वह स्मृति के प्रस्थानों में भिड़ता है, जो सत्वों की विशुद्धि के लिए, शोक, कष्ट के विनाश के लिए, दुःख-दौर्मनस्य के त्याग के लिए, न्याय (सत्य) और निर्वाण की प्राप्ति तथा साक्षात्कार के लिए अद्वितीय (एकायन) मार्ग है। वह काया में कायानुपश्यी, वेदनाओं में वेदनानुपश्यी, चित्त में चित्तानुपश्यी तथा धर्मों में धर्मानुपश्यी हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त लोभ एवं दौर्मनस्य को हटाकर विहरता है। उसे सदा स्मृति बनी रहती है कि वह छोटा साँस ले रहा है या बड़ा। छोटा साँस छोड़ रहा

---

१. सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ४१०-४११।
२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ५३३।
३. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, दूसरा भाग, पृष्ठ १०६१।
४. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १२२।
५. मिलिन्दप्रश्न, हिन्दी, प्रथम संस्करण, पृष्ठ ४५-४६।
६. मज्झिमनिकाय, २, ४, ५ ; १, ३, ८ ; १, ४, ६ आदि।
७. दीघनिकाय, २, ९।

है या बड़ा। उठते-बैठते, सोते-जागते, टहलते, खड़े रहते उसकी स्मृति बनी रहती है। पेशाब-पाखाना करने भी स्मृति उपस्थित रहती है, संघाटी, पात्र, चीवर धारण करने में भी, बोलते, चुप रहते भी उसकी स्मृति बनी रहती है, वह अपने पूरे शरीर की स्थिति का पैर के तलवे से लेकर ऊपर केश-मस्तक से नीचे तक मनन करता है। शरीर की रचना का भी मनन करता है और पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि से निर्मित शरीर की स्थिति को देखते हुए इसके अन्तिम परिणाम को देखता है। उसकी स्मृति बनी रहती है कि किस प्रकार यह शरीर मृत्यु के पश्चात् विकृत होकर श्मशान में सड़-गल या भस्म हो जाता है। इसी प्रकार सुख, दुःख और उपेक्षा वेदनाओं के प्रति उसकी स्मृति उपस्थित रहती है, चित्त की विभिन्न दशाओं का वह मनन करता है और कामच्छन्द, व्यापाद, स्त्यानमृद्ध, औद्धत्यकौकृत्य तथा विचिकित्सा—इन भीतरी धर्मों का मनन करता है। उसकी स्मृति बराबर विद्यमान रहती है, वह तृष्णा आदि से विरक्त (विरति प्राप्त) हो विहरता है। लोक में कुछ भी 'मैं' और 'मेरा' नहीं समझता और ऐसे ही भावना करते थोड़े ही समय में विशुद्धि को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाता है[१]।

बौद्ध-साधना में स्मृति का क्या स्थान है, इससे भली प्रकार स्पष्ट हो जाता है। स्मृति को रक्षक भी कहा गया है। भगवान् ने कहा है—"लोक में जितनी धाराएँ हैं, स्मृति उनका निवारण है। इसे धाराओं का आवरण बताता हूँ[२]।" स्मृतिमान् ही ध्यान-भावना करके आसक्ति त्याग देते हैं[३]। स्मृतिमान् के यश बढ़ते हैं,[४] अतः सदा स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होकर विहरना चाहिए[५]। स्मृतिमान् संसार रूपी बाढ़ को पार कर जाता है[६]। भगवान् बुद्ध ने स्मृति के साथ विहरने को ही आत्मद्वीप (अत्तदीपो) होकर विहरना बतलाया है[७]। महापरिनिर्वाण की रात्रि में भी तथागत ने आनन्द को स्मृति में ही नियुक्त करते हुए कहा—"सति आनन्द, उपट्ठपितब्बा"[८] अर्थात् आनन्द ! स्मृति सदा उपस्थित रखनी चाहिए। इस प्रकार स्मृति की व्यापकता एवं साधकों के लिए इसकी प्रधानता प्रगट है। बौद्ध-साधना में यदि स्मृति नहीं तो साधना नहीं, यदि स्मृति नहीं तो भिक्षु नहीं, यदि स्मृति नहीं तो कुशल गुणधर्म नहीं और यदि स्मृति उपस्थित है और साधक साधना-मार्ग में भिड़ा है, तो निश्चय ही अमृत-लाभ कर लेगा। 'अमुट्ठस्सति' (अमुषितस्मृति = न खोई हुई स्मृति) ही बुद्धत्व, अर्हत्व या श्रामण्य-फल प्राप्त कर सकता है। भगवान् ने कहा है कि स्मृति से युक्त हो,

---

१. दीघनिकाय, २, ९, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १९०-१९८।

२. यानि सोतानि लोकस्मिं, सति तेसं निवारणं।
सोतानं संवरं ब्रूमि, पञ्ञायेते पिथिय्यरे॥

—सुत्तनिपात, ५६, हिन्दी, पृष्ठ २१६-१७।

३. धम्मपद, गाथा ९१। ४. वही, गाथा २४।

५. इतिवुत्तक, २, २, १०।

६. अज्झत्तचिन्ती सतिमा, ओघं तरति दुत्तरं। —सुत्तनिपात, ९, हिन्दी, पृष्ठ ३५।

७. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ ६२-६५। ८. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ १४४।

साँस लेने-छोड़ने पर, जो अन्तिम साँस का लेना-छोड़ना होता है, वह भी विदित होकर निरुद्ध (लय) होता है, अविदित होकर नहीं[१]।

विरति का अर्थ है विरत रहना, अर्थात् जितने भी प्रकार के अकुशल धर्म हैं, उन सबसे रहित रहने को ही विरति कहते हैं। कर्म और द्वार के अनुसार शरीर और वाणी से विरमना ही विरति है। यह तीन प्रकार की होती है—सम्प्राप्त विरति, समादान विरति और समुच्छेद विरति। अपने पद, जाति, सम्मान आदि का ध्यान करके तत्काल पापकर्मों से विरत हो जाना ही सम्प्राप्त विरति है। अकुशल कर्मों को न करने के लिए संकल्प करना समादान विरति है और आर्यमार्ग से युक्त विरति समुच्छेद विरति है, क्योंकि ज्ञानप्राप्त व्यक्ति को जीवहिंसा आदि के लिए चित्त मात्र भी उत्पन्न नहीं होता[२]। विशुद्धिमार्ग में काय-दुश्चरित से विरति, वाक्-दुश्चरित से विरति और मिथ्या आजीव से विरति—ये तीन प्रकार की विरति बतलाई गयी है[३]। सुत्तनिपात के महामंगल सुत्त में अड़तीस मंगलों में से पापों से विरति (आरति विरति पापा) एक मंगल बतलाया गया है[४]। यह विरति सदा स्मृति से ही पूर्ण होती है। यदि स्मृति उपस्थित नहीं तो विरति सम्भव नहीं। स्मृति से ही कुशल, अकुशल आदि धर्मों को जानकर अकुशल को छोड़ते और कुशल को ग्रहण करते हैं और दोनों के मेल से ही भावना पूर्ण होती है, इसीलिए साधक के लिए स्मृति और विरति दोनों ही अत्यन्त अपेक्षित हैं। यद्यपि बुद्ध-वाणी में सर्वत्र एक साथ 'सति-सम्पजञ्ञ' (स्मृति और सम्प्रजन्य) आये हैं, किन्तु विरति इन दोनों में ही निहित है ; क्योंकि "जागरो चस्स भिक्खवे ! भिक्खु विहरेय्य सतो सम्पजानो समाहितो[५]।" भिक्षु को एकाग्रचित्त हो स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त हो विहरना चाहिए और ऐसे विरहने पर विरति से युक्त होना आवश्यक है ही, बिना विरति से युक्त हुए वह एकाग्रचित्त, स्मृतिमान् और सम्प्रजन्य-युक्त नहीं हो सकता। कबीर की सुरति और निरति ऐसी ही है, बिना सुरति के निरति और बिना निरति के सुरति सम्भव नहीं है और इन दोनों के वियुक्त होने पर ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। जब सुरति और निरति परस्पर मिल जाती हैं, जैसे कि तार और राग मिलकर लय उत्पन्न करते हैं, वैसे ही इनके संयोग से परमपद की प्राप्ति होती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि सम्यक् स्मृति (सम्मासति) ही 'सुरति' है और सम्यक् विरति (सम्माविरति) 'निरति'। सिद्धों और नाथों ने भी सुरति तथा निरति शब्दों का प्रयोग किया है। मत्स्येन्द्रनाथ ने तो यहाँ तक कहा है कि योगी को सुरति और निरति में निर्भय होकर रहना चाहिए—

अवधू सुरति मुषि बैठे सुरति मुषि चलै।
सुरति मुषि बोलै सुरति मुषि मिलै॥
सुरति निरति मैं नृभै रहै।
ऐसा विचार मछिंद्र कहै[६]॥

---

१. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २५०।
२. मंगलत्थदीपनी, पृष्ठ २९८-३००।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ ७७।
४. सुत्तनिपात, पृष्ठ ५२–५३।
५. इतिवुत्तक, २, २, १०।
६. गोरखबानी, पृष्ठ १९६।

उन्होंने यह भी कहा है कि सुरति अनाहत शब्द में ही लगी रहती है और निरति निरालम्ब होने के कारण उससे मिल जाती है और जब सहज की प्राप्ति होती है, तब इन दोनों की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती[१]। भला परमपद की प्राप्ति के पश्चात् सुरति-निरति की क्या आवश्यकता और उनकी तब पहुँच ही कैसी ?

आर्य अष्टांगिक मार्ग में सम्यक्-स्मृति के पश्चात् सम्यक्-समाधि होती है और इन दोनों की गणना समाधि में ही होती है, क्योंकि शील, समाधि और प्रज्ञा के विभाग के अनुसार दोनों ही समाधि स्कन्ध से सम्बन्धित है। इनकी भावना के पश्चात् ही निर्वाण का साक्षात्कार होता है। जो परमशान्त है, श्रेष्ठ है, सभी संस्कारों का शमन स्वरूप है, सभी चित्तमलों का त्याग स्वरूप है, तृष्णाक्षय स्वरूप है, विराग और निरोध स्वरूप है, उसके साक्षात्कार से साधक के सभी आश्रवों का क्षय हो जाता है[२]। इस प्रकार सुरति और निरति के संयोग से स्वयम्भू का द्वार खुल जाता है। बौद्धधर्म में स्वयम्भू[३] भगवान् बुद्ध का ही नाम है और निर्वाण को 'शिव'[४] भी कहते हैं। तात्पर्य यह कि सुरति-निरति के संयोग से साधक निर्वाण-नगर के द्वार को खोलकर शिवपुरी में संचरण करनेवाला हो जाता है और सुरति-निरति, सति-विरति अथवा सति-सम्पजञ्ञ का यही प्रयोजन है, इसीलिए यह साधना है, यह त्याग है, यह ब्रह्मचर्य-पालन है, इसी में सन्त-जीवन का साफल्य है। इसे प्राप्तकर साधक जन्म-मृत्यु के पाश से छूट जाता है[५]।

कबीर की शैली सिद्धों की शैली का अनुकरण

कबीरदास की वाणियों की शैली सिद्धों की शैली का अनुकरण है। यद्यपि कबीर के समय में सिद्ध नहीं थे, किन्तु सिद्धों द्वारा व्यक्त वाणी का जनसाधारण में प्रचार था और साधु-सन्तों पर तो सिद्धों और नाथों की वाणियों का अत्यधिक प्रभाव था। यही कारण है कि सिद्धों एवं नाथों द्वारा व्यक्त भाव कबीर के पदों मे प्रायः ज्यों-के-त्यों मिलते हैं। जिस प्रकार सिद्धों ने वेदादि ग्रंथों को प्रमाण नहीं माना था, अन्धविश्वास एवं अन्धानुकरण को त्याज्य कहा था, नानाप्रकार के मतवादों, धार्मिक अनुष्ठानों, पूजा-पाठ, तीर्थयात्रा आदि को स्वीकार नहीं किया था, रहस्यात्मक भाषा एवं शैली में उलटवासियों द्वारा अपनी अनुभूतियों एवं मन्तव्यों को व्यक्त किया था और निर्भय होकर लोक-व्यवहार का बहुत विचार न करते हुए बुद्धिवादी शिक्षा दी जाती थी, जात्याभिमान को तुच्छ बतला कर जन्मगत ऊँच-नीच की भावना का विरोध किया था, चित्त की पवित्रता में ही निर्वाण की प्राप्ति बतलाया था,

---

१. वही, पृष्ठ १९६। २. बुद्धवचन, पृष्ठ ५०-५१।

३. सयम्भू सम्मासम्बुद्धो, वरपञ्ञो च नायको। —अभिधानप्पदीपिका, गाथा ४।

४. असंखतं सिव-ममतं सुदुद्दसं,
परायणं सरण-मनीतिकं तथा। —अभिधानप्पदीपिका, गाथा ७।

५. जाप मरे अजपा मरे, अनहद हू मरि जाइ।
सुरत समानी शब्द में, ताहि काल नहिं खाइ॥ —सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८७।

भार्या-सहित रहते हुए भी सहजावस्था की प्राप्ति का साधन निर्दिष्ट किया था, राग, द्वेष, मोह, माया, तृष्णा आदि कलुषों से रहित होकर परमपद की प्राप्ति सम्भव कहा था और इन्हीं कलुषों के कारण कर्म-बन्धन में पड़कर जन्मजन्मान्तर में दुःख भोगने तथा भ्रमण करने का उपदेश देते हुए मुक्ति का पवित्र सन्देश दिया था, जनता को बहकानेवाले प्रव्रजितों से सावधान रहने के लिए सतर्क करते हुए समय का सदुपयोग ही परम कर्तव्य बतलाया था, जिससे कि पीछे पश्चात्ताप न करना पड़े, साथ ही बाह्य देवी-देवताओं आदि के फेर में न पड़कर अपने भीतर सदा निवास करनेवाले तथा घट-घट व्यापी बोधि (ज्ञान) की ही आराधना करने की ओर प्रवृत्त किया था, उसी प्रकार कबीर ने भी अपने प्राप्त ज्ञान को जनसाधारण के लिए सुलभ किया। उक्त बातों में कबीर की शैली वही थी, जो सिद्धों की थी। हम पहले देख चुके हैं कि सिद्धों की वाणियों का कबीर की वाणी से कितनी समता है और किस प्रकार कबीर पर सिद्धों का प्रभाव पड़ा था। सिद्धों ने अपने प्रवचन की जिस शैली को अपनाया था, प्रायः कबीर ने भी उसी शैली में प्रवचन किया था अथवा अपने उद्गार व्यक्त किए थे। सिद्धों ने ब्राह्मण, शैव, जैन, बौद्ध आदि पाखण्डों (मतवादों) का खण्डन किया था और उनके मतों का निरसन कर अपने पक्ष का प्रतिपादन किया था, वैसे ही कबीर ने भी उन्हीं की शैली में कहा—

आलम दुनीं सबै फिरि खोजी, हरि बिन सकल अयानां।
छह दरसन छ्यानबै पाषंड, आकुल किनहूं न जानां॥
जप तप संजम पूजा अरचा, जोतिग जग बौरानां।
कागद लिखि लिखि जगत भुलानां, मनहीं मन न समानां॥
कहै कबीर जोगी अस जंगम, ए सब झूठी आसा।
गुर प्रसादि रटौ चात्रिग ज्यूँ, निहचै भगति निवासा[1]॥

कबीर ने विभिन्न मतवादों का उसी प्रकार खण्डन किया, जैसा कि सिद्धों ने किया था—

अस भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैनां, चारवाक चतुरंग बिहूना।
जैन जीव की सुधि न जानैं, पाती तोरि देहुरै आंनैं[2]।

सिद्धों ने कहा था कि भस्म लपेटने से कोई साधु नहीं होता और न तो वेश बनाकर घूमने से,[3] भगवान् बुद्ध ने भी यही कहा था कि जटा धारण करने और मृगछाला ओढ़ने से क्या लाभ है, जब कि भीतर ही कलुष भरे हुए हैं,[4] इसे ही कबीर ने स्पष्ट शब्दों में कहा—

क्या ह्वै तेरे न्हाई धोई, आतम राम न चीन्हा।
क्या घट ऊपरि मंजन कीयै, भीतरि मैल अपारा।

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ९९। २. वही, पृष्ठ २४०।
३. अइरिएहिं उद्दूलिअ च्छारें, सीससु वाहिअ ए जड भारें। —सरहपा, दोहाकोश, पृष्ठ २।
४. धम्मपद, गाथा ३९४।

'म नाम बिन नरक न छूटै, जे धोवै सौ बारा।
का नट भेष भगवा बस्तर, भसम लगवै लोई।
ज्यूं दादुर सुरसुरी जल भीतरि, हरि बिन मुकति न होई।[१]

सिद्ध सरहपा ने कहा था कि ब्राह्मण कुछ जानते नहीं हैं, यों ही चारों वेदों का पठन-पाठन करते हैं, जल, मिट्टी, कुश लेकर मन्त्र पढ़ते और अग्नि-हवन करते हैं, व्यर्थ में हवन कर धूँए से आँखों को पीड़ित करते है[२]। कबीर ने भी इसी शैली में ब्राह्मणों का रहस्यभेदन किया और स्पष्ट रूप से कह दिया कि ब्राह्मण संसार भर का गुरु बनता फिरे, किन्तु वह साधु का तो गुरु तो नहीं हो सकता, क्योंकि वह तो चारों वेदों में ही उलझकर मर रहा है—

ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि पुरझि करि मरि रह्या, चारिउं वेदां माहिं[३]॥

सिद्धों की भाँति कबीर ने भी पत्थर-पूजा, सिर मुँड़ाकर संन्यास ग्रहण करना आदि को निरर्थक कहा—

पाहन कूं का पूजिए, जे जनम ... देई जाव।
आंधा नर आसामुषी, यौं ही खोवै आब[४]॥

मूँड़ मुँड़ाए हरि मिलैं, सब कोई लेइ मुँड़ाय।
बार-बार के मूँड़ते, भेंड़ न बैकुंठ जाय[५]॥

पाहन पूजे हरि मिलै, तो मैं पुजौं पहार।
ता तें ये चाकी भली, पीसि खाय संसार[६]॥

सिद्धों ने गंगा-स्नान आदि करने की निन्दा करते हुए इसी शरीर में वाराणसी, प्रयाग आदि की स्थापना भगवान् बुद्ध की भाँति ही की थी[७] और गोरखनाथ ने भी घट में ही सब तीर्थों को माना था[८] और यह भी कहा था—"अवधू मन चंगा तौ कठौती ही गंगा",[९] कबीर ने भी इन्हीं सिद्धों की शैली में कहा—

तीरथ में तो सब पानी है, होवे नहीं कछु अन्हाय देखा।
प्रतिमा सकल तो जड़ हैं भाई, बोलें नहीं बोलाय देखा॥
पुरान कोरान सबै बात है, या घट का परदा खोल देखा।
अनुभव की बात कबीर करै, यह सब है झूठी पोल देखा॥[१०]

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०४।
२. दोहाकोश, पृष्ठ २।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३६।
४. वही, पृष्ठ ४४।
५. कबीरबानी, पृष्ठ ३६।
६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६२।
७. दोहाकोश, पृष्ठ २२।
८. घट ही भीतरि अठसठि तीरथ, कहां भ्रमै रे भाई। —गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
९. गोरखबानी, पृष्ठ ५३।
१०. कबीर, पृष्ठ २६२।

कबीर ने ऊँचे स्वर में समझाते हुए कहा—

जा कारनि तटि तीरथ जाहीं।
रतन पदारथ घट ही माहीं[1]॥
आतम ज्ञान बिना जग झूठा,
क्या मथुरा क्या कासी[2]॥

इस प्रकार कबीर ने सिद्धों की ही भाँति कड़े और खुले शब्दों में रूढ़ियों, मिथ्या-विश्वासों, मान्यताओं के अन्धानुकरण, मतवादों के पाखण्डों आदि का रहस्य-भेदन किया है और "का नंगे का बांधे चाम, जौ नहिं चीन्हसि आतमराम"[3] कहकर राममय होकर गाया है—

हम सब मांहि सकल हम मांहीं।
हम थैं और दूसरा नाहीं[4]॥

सिद्ध सरहपा ने भी यही कहा है कि बुद्ध सर्वत्र निरन्तर हैं[5] और जो इस भेद को जानता है "सो परमेसर परमगुरु"[6] है। सिद्ध तिलोपा[7] ने भी इसी का स्मरण दिलाया है तथा गोरखनाथ को तो आत्मा में ही परमात्मा, जल में चन्द्रमा के दिखलाई देने की भाँति जान पड़ा है—

आतमां मधे प्रमातमां दीसै।
ज्यौं जल मधे चंदा[8]॥

यही नहीं, योगी तो सबमें एक ही परमात्मा का दर्शन करते हैं, उनके लिए किसी भी प्रकार का भेद नहीं दीखता—

"सब घटि नाथ एकै करि जांणी[9]।"

कबीर ने इन्हीं सिद्धों की शैली में सर्वव्यापी ईश्वर को बतलाते हुए कहा—

"व्यापक ब्रह्म सबनि मैं एकै, को पंडित को जोगी[10]।"
"साहेब हममें साहेब तुममें, जैसे प्राना बीज में।
मत कर बन्दा गुमान दिल में, खोज देख ले तन में[11]।"

सिद्ध सरहपा ने गाया कि पण्डित शास्त्रों की चर्चा करते हैं, 'बुद्ध, बुद्ध' कहते हैं, किन्तु वे यथार्थतः निज घट-व्यापी 'बुद्ध' को नहीं पहचानते,[12] बुद्ध के रहस्य को जानना सरल नहीं,[13] बोधि तुम्हारे पास ही है, उसे खोजने के लिए दूर जाना उचित

---

१. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
२. कबीर, पृष्ठ २६३।
३. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३०।
४. वही, पृष्ठ २००।
५. दोहाकोश, पृष्ठ ७६।
६. वही, पृष्ठ ३४।
७. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १७४।
८. गोरखबानी, पृष्ठ ४४।
९. वही, पृष्ठ २३८।
१०. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १५०।
११. कबीर, पृष्ठ २८६।
१२. दोहाकोश, पृष्ठ ६५।
१३. वही, पृष्ठ ११९।

नहीं,[१] इसी को कबीर ने दुहराते हुए इसी शैली में कहा—"वह तो तेरे ही पास है और सब साँसों में है, उसे खोजने पर तुरन्त पा जाओगे,[२] किन्तु "सब घट-अन्तर व्यापक"[३] राम को कोई पहचान नहीं पाता है, उसे पहचानना कठिन है—

राम नाम सब कोइ कहै, नाम न चीन्है कोय।[४]
दशरथ सुत तिहुं लोक बखाना।
राम नाम का मरम है आना[५]॥

इस प्रकार हमने देखा कि कबीर ने सिद्धों के स्वर में मिलाकर धार्मिक, सामाजिक, नैतिक व्यावहारिक आदि बातें कही हैं। राहुलजी ने कबीर को सिद्ध सरहपा की भाँति क्रान्तिकारी और सामाजिक विद्रोही कहा है,[६] किन्तु इसे विद्रोह कहना कबीर जैसे ज्ञानी सन्त के लिए न्यायसंगत नहीं है। कबीर ने अपने समय के सभी धर्म-शास्त्रों का ज्ञान सत्संग एवं धर्म-चर्चा से अर्जित किया था और परम्परागत अनुश्रुतियों से भी बहुत-कुछ सीखा था, जन-मानस पर बौद्धधर्म की छाप अभी भी विचारों के रूप में विद्यमान थी। कबीर ने उन्हें ही ग्रहण कर बुद्धि-स्वातन्त्र्य से सन्तपरम्परा के अनुसार उनका प्रवचन किया, उनके गीत गाये एवं उनसे ही जन-मानस को अपनी ओर आकर्षित किया। वस्तुतः कबीर अप्रत्यक्ष रूप से सिद्धों की शैली के ऋणी हैं। सिद्धों की शैली के अनुकरण की छाप स्पष्टतः कबीर की वाणी में दिखाई देती है, जैसा कि हमने ऊपर देखा है।

बौद्धधर्म के विभिन्न तत्वों का कबीर-साहित्य में अनुशीलन

कबीर-साहित्य में बौद्धधर्म के मध्यममार्ग, चार आर्यसत्य, निर्वाण, स्वयम्भू, शिव, परमपद, शून्य, अनित्य, सत्यनाम, अशुभ, क्षणिक, सहज, हठयोग, शील, सत्य, अहिंसा, मैत्री, करुणा, सन्तोष, दान, गुरु (शास्ता), स्मृति, विरति, विश्वास, समता (समदृष्टि), कर्तव्य-परायणता, अनासक्ति, क्षमा, तितिक्षा, धैर्य, विनय, विवेक, सादा जीवन, कर्म-फल में विश्वास, बुद्धि-स्वातन्त्र्य आदि स्वीकारात्मक तथा जातिभेद-विरोध, कर्म-काण्ड का निषेध, कनक-कामिनी का त्याग, तृष्णा-विनाश, मादक-द्रव्यों के सेवन से विरति, अन्धविश्वास का परित्याग, वेष-धारण मात्र से ज्ञानप्राप्ति की भावना का विरोध, मतवादों एवं पाखण्डों के दूर रहना, तीर्थ-यात्रा, पूजा-पाठ, मूर्तिपूजा आदि का बहिष्कार आदि निषेधात्मक अनेक तत्व आये हुए हैं, जो बौद्धधर्म के सार हैं और वे ही कबीर के प्रमुख उपदेश भी हैं। इन तत्वों में से अधिकांश का यथास्थान वर्णन किया जा चुका है, जिन तत्वों पर अब तक प्रकाश नहीं डाला गया है, उन पर हम विचार करेंगे।

---

१. निअहि बोहि मा जाहु रे लंक। —दोहाकोश, पृष्ठ ३५८।
२. कबीर, पृष्ठ २३०।
३. सब घटि अंतरि तूहीं व्यापक, धरै सरूपै सोई। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०५।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४। ५. बीजक, सबद १०९।
६. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २६।

हंस

कबीर ने जीवों को हंस कहा है और वे हंसों के उद्धारार्थ ही संसार में आए थे—ऐसा उनके अनुयायी मानते हैं। डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन है कि कबीर ने शुद्ध और मुक्त जीवात्मा को ही हंस कहा है, जिसे धर्मदास के शिष्य और टीकाकारों ने साधु या सिद्ध माना है,[1] किन्तु डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी का कथन समीचीन नहीं है। वास्तव में कबीर ने जीव के लिए ही हंसा या हंस शब्द का प्रयोग किया है—

(१) कुल करनी के कारने, हंसा गया वियोग।
तब क्या कुल की लाज है, चार पाँव का होय[2] ॥

(२) हंसा करो नाम नौकरी।
नाम विदेही निसि दिन सुमिरै, नहिं भूलै छिन घरी[3] ॥

(३) जाहु हंस पच्छिम दिसा, खिरकी खुलवावो[4]।

(४) कहै कबीर स्वामी सुख सागर, हंसहि हंस मिलांवहिंगे[5]।

(५) चल हंसा वा देश, जहाँ पिया बसै चितचोर[6]।

(६) हंसा करो पुरातन बात।
कौन देश से आया हंसा, उतरना कौन घाट।
कहाँ हंसा विश्राम किया है, कहाँ लगाए आस ॥
अबहीं हंसा चेत सबेरा, चलो हमारे साथ।
संसय सोक वहाँ नहिं व्यापै, नहीं काल कै त्रास[7] ॥

यह हंस शब्द सिद्ध-काल में जीव के लिए व्यवहृत था। सबसे पहले सिद्ध सरहपा के साहित्य में यह मिलता है। दोहाकोश के दूसरे ही पद में प्राणियों के लिए हंस शब्द का प्रयोग किया गया है—

कज्जे विरहिअ हुअवह होमें, अक्खि उहाविअ कडुयें धूमें।
एकदण्डि त्रिदण्डी भअवाँ वेसें, विणुआ होइअह हंसा उएसें[8] ॥

ऐसे ही २४वें चर्यापद में भी मन के लिए हंस शब्द का प्रयोग हुआ है[9]। गोरखनाथ ने भी हंस शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में किया है—

सोहं बाई हंसा रूपी प्यंडै बहै[10]।

---

१. कबीर, पृष्ठ २७।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११।
३. वही, भाग २, पृष्ठ २।
४. वही, पृष्ठ २।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३७।
६. कबीर, पृष्ठ २७७।
७. कबीर, पृष्ठ २४०।
८. दोहाकोश, पृष्ठ २।
९. सिद्ध-साहित्य, पृष्ठ ४५२।
१०. गोरखबानी, पृष्ठ ९९।

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि हंस शब्द कबीर का अपना नहीं है, प्रत्युत इसे उन्होंने बौद्धसिद्धों एवं नाथों से ग्रहण किया है।

शील

बौद्धधर्म में शील का बहुत माहात्म्य बतलाया गया है। शील ही बौद्धधर्म का आधार है, शील कल्याणकर है, लोक में शील से बढ़कर कुछ नहीं है[1]। शील पर ही प्रतिष्ठित होकर सभी साधनाएँ सफल हो सकती हैं। विशुद्धिमार्ग के शील-निर्देश में इसकी विस्तृत व्याख्या की गई है[2] और कहा गया है कि "शील सब सम्पत्ति का मूल है[3]।" कबीर ने भी शील का उपदेश दिया है। उन्होंने कहा है कि शीलवान् सबसे बड़ा है, शील सब रत्नों की खान है। तीनों लोकों की सम्पत्ति शील में सन्निहित है—

सीलवन्त सब तें बड़ा, सर्व रतन की खानि।
तीन लोक की सम्पदा, रही सील में आनि[4]॥

शील-पालन सदा कल्याणकारी होता है—"सीलं किरेव कल्याणं, सीलं लोके अनुत्तरं",[5] वह लोक में सर्वोत्तम है, उसका जरा-पर्यन्त पालन करना चाहिए—"सीलं यावजरा साधु[6]"—ऐसा भगवान् बुद्ध ने कहा है और कबीर ने भी इसे ही दुहराया है—"भर जोबन में सीलवँत, बिरला होय तो होय",[7] जो प्रिय से मिलना चाहे तो उसे शील रूपी सिन्दूर को ग्रहण करना ही होगा—

सील सिन्दूर भराइ कै, यों पिय का सुख लेइ[8]।

जो शीलवान् होता है वह प्रिय को पाता ही है, साथ ही वह दृढ़, ज्ञानी, उदार, लज्जावान्, छल-रहित और कोमल हृदयवाला भी होता है[9]। जो शील, सन्तोष और समदृष्टि से पूर्ण होता है, उसके सर्भ क्लेश दूर हो जाते हैं—

सील सन्तोष सदा समदृष्टि, रहनि गहनि में पूरा।
ताके दरस परस भय भाजै, होइ कलेस सब दूरा[10]॥

---

१. सीलं किरेव कल्याणं, सीलं लोके अनुत्तरं। —जातक, भाग १, पृष्ठ ४८४।
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १-५९। ३. वही, पृष्ठ ५९।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५०। ५. जातक, १, ९, पृष्ठ ४८४।
६. संयुत्तनिकाय, १, ६, १। ७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५०।
८. वही, पृष्ठ २०।
९. सीलवंत दृढ़ ज्ञान मत, अति उदार चित होय।
लज्यावान् अति निहछला, कोमल हिरदा सोय॥ —वही, पृष्ठ २७।
१०. कबीर, पृष्ठ २७३।

पंचशील

कबीर ने शील के माहात्म्य को बतलाते हुए बौद्धधर्म के पञ्चशील का भी उपदेश दिया है। बौद्धधर्म में पञ्चशील का बहुत बड़ा महत्व है। बौद्ध उसे ही कहते हैं, जो पञ्चशील का पालन करे। प्रारम्भ में किसी भी व्यक्ति को बौद्धधर्म ग्रहण करते समय त्रिशरण सहित पंचशील ग्रहण करना पड़ता है। 'पंचशील' सदा परिपालनीय पाँच नियमों का नाम है, जिन्हें सभी गृहस्थ पालन करने का सदा प्रयत्न करते हैं। भिक्षुओं के लिए २२७ नियम हैं और श्रामणेरों के लिए १० तथा उपोसथ के दिन गृहस्थ भी ८ शीलों का पालन करते हैं। जिन्हें क्रमशः उपसम्पदाशील, प्रब्रज्याशील और अष्टशील कहते हैं। पंचशील ये हैं—(१) जीवहिंसा न करना, (२) चोरी न करना, (३) काम-भोगों में मिथ्याचार (व्यभिचार) न करना, (४) असत्यभाषण न करना और (५) मादक-द्रव्यों का सेवन न करना। कबीर ने भी इन आदर्श नियमों के पालन करने का उपदेश दिया है—

[१]

साधो ! पांडे निपुन कसाई।
बकरी मारि भेड़ि को धाये, दिल में दरद न आई ॥
आतम मारि पलक में बिनसे, रुधिर की नदी बहाई।
गाय बधै सो तुरक कहावै, यह क्या इनसे छोटे[1]।
जीवहि मारि जीव प्रतिपारैं, देखत जनम आपनौं हारैं[2]।
मुरगी मुल्ला से कहै, जिबह करत है मोहिं।
साहिब लेखा मांगसी, संकट परिहै तोहिं[3] ॥
कहता हौं कहि जात हौं, कहा जो मान हमार।
जाका गर तुम काटिहौ, सो फिर काटि तुम्हार[4] ॥
हिन्दू के दाया नहीं, मिहर तुरुक के नाहिं।
कहैं कबीर दोनों गये, लख चौरासी माहिं[5] ॥
हिन्दु की दया मेहर तुरकन की दोनों घर से भागी।
वह करै जिबह वाँ झटका मारे आग दोऊ घर लागी[6] ॥

[२]

जूआ चोरी मुखबिरी, ब्याज घूस पर नार।
जो चाहै दीदार को, एती वस्तु निवार[7] ॥

---

१. कबीर, पृष्ठ ३१८।
२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २४०।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६१।
४. वही, पृष्ठ ६१।
५. वही, पृष्ठ ६१।
६. कबीर, पृष्ठ ३२७।
७. संतबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६४।

[३]

पर नारी राता फिरैं, चोरी बिढ़ता खांहि।
दिवस चारि सरसा रहै, अन्ति समूला जांहि॥
पर नारी कै राचणैं, औगुण है गुण नांहि।
खार समंद मैं मंछला, केता बहि बहि जांहि॥
पर नारी को राचणौं, जिसी ल्हसण की खानि।
खूणैं बैसि रखाइए, परगट होइ दिवानि[1]॥
पर नारी पैनी छुरी, मति कोइ लावो अंग।
रावन के दस सिर गए, पर नारी के संग[2]॥

[४]

साच बराबर तप नहीं, झूठ बराबर पाप।
जाके हिरदे साच है, ता हिरदे गुरु आप[3]॥

[५]

औगुन कहौं सराब का, ज्ञानवंत सुनि लेय।
मानुष से पसुआ करै, द्रव्य गाँठि को देय॥
अमल अहारी आतमा, कबहुँ न पावै पारि।
कहै कबीर पुकारि कै, त्यागौ ताहि विचारि[4]॥

त्रिलक्षण

बौद्धधर्म में अनित्य, दुःख और अनात्म त्रिलक्षण कहलाते हैं और ये बौद्धधर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं। सभी संस्कार अनित्य हैं, दुःख हैं और आत्मा रहित हैं[5]—ऐसी बौद्धधर्म की मान्यता है। कबीर ने भी अनित्य और दुःख को ग्रहण किया है, किन्तु उन्होंने आत्मा और ईश्वर को माना है, जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है। अतः कबीर ने अनात्मा को न मानकर केवल अनित्य और दुःख को ही स्वीकार किया है और यह भावना उन्हें सिद्धों एवं नाथों से प्राप्त हुई थी। अनित्य के प्रति व्यक्त उनकी भावना बड़ी ही मार्मिक है—

मात पिता बन्धू सुत तिरिया, संग नहीं कोइ जाय सका रे।
जब लग जीवै गुरु गुत लेगा, धन जोबन है दिन दस का रे[6]॥

पानी केरा बुदबुदा, अस मानुष की जाति।
देखत ही छिपि जायगी, ज्यों तारा परभाति॥
काल्ह करै सो आज करु, आज करै सो अब्ब।
पल में परलै होयगी, बहुरि करैगा कब्ब॥

---

१. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ३९।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५८।
३. वही, पृष्ठ ४९।
४. वही, पृष्ठ ६१।
५. धम्मपद, गाथा २७७-२७९।
६. कबीर, पृष्ठ ३४८।

कबीर थोड़ा जीवना, माँडै बहुत मँडान।
सबहि उभा में लगि रहा, राव रंक सुल्तान[१] ।।

यह तन काँचा कुम्भ है, लिये फिरै का साथ।
टपका लागा फूटिया, कछु नहिं आया हाथ[२] ।।

इक दिन ऐसा होयगा, कोउ काहू का नाहिं।
घर की नारी को कहै, तन की नारी जाहिं[३] ।।

जो ऊगै सो अत्थवै, फूलै सो कुम्हिलाय।
जो चुनिये सो ढहि परै, जामै सो मरि जाय[४] ।।

इसी प्रकार दुःख की भावना को प्रगट करते हुए कबीर ने सम्पूर्ण संसार को दुःख का घर कहा है—

दुनिया भांडा दुख का, भरी मुहांमुंह भूख[५]।
देह धरे का दंड है, सब काहू को होय।
ज्ञानी भुगतै ज्ञान करि, मूरख भुगतै रोय[६] ।।

चित्त

बौद्धधर्म मे मन, चित्त, विज्ञान—ये सब एक ही के पर्याय हैं। चित्त क्षणिक है, चंचल है, इसे रोकना कठिन है, इसका निवारण करना भी दुष्कर है, फिर भी बुद्धिमान् उसे सीधा कर डालते हैं[७]। चित्त जहाँ चाहे झट चला जानेवाला है, इसका दमन करना चाहिए, दमन किया हुआ चित्त सुखदायक होता है,[८] इसे समझना आसान नहीं, यह अत्यन्त चालाक है,[९] दूरगामी और अकेले विचरण करनेवाला है। यह निराकार और गुहाशायी है[१०]। यह सभी प्रवृत्तियों का अगुआ है, चित्त ही उनका प्रधान है, सभी प्रवृत्तियाँ चित्त से ही उत्पन्न होती हैं[११]। कबीर ने भी मन को ऐसा ही माना है। उनका कहना है कि मन की इच्छा के अनुसार न चलो, मन पर संयम करो,[१२] मन समुद्र की तरंग की भाँति दौड़ लगानेवाला है, यदि मन संयमित हो जाय तो सहज में ही समुद्र के हीरा की भाँति सुख की प्राप्ति हो जाय—

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।
२. वही, पृष्ठ १०।
३. वही, पृष्ठ ११।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १३।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २५।
६. कबीर, पृष्ठ ३४६।
७. धम्मपद, गाथा ३३।
८. धम्मपद, गाथा ३५।
९. वही, गाथा ३६।
१०. वही, गाथा ३७।
११. वही, गाथा १।
१२. मन के मते न चालिये, मन के मते अनेक।
    जो मन पर असवार है, सो साधू कोइ एक।।
    —सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५।

जेती लहर समुद्र की, तेती मन की दौर।
सहजै हीरा नीपजै, जो मन आवै ठौर[1] ॥

मन सभी बातों को जानता है और जानते हुए भी दोष करता है[2]। मन ही गोविन्द है, यदि मन की रक्षा की जाय तो व्यक्ति स्वयं परमात्मा हो जाय,[3] यह मन पक्षी की भाँति है, जो आकाश में ऊँची उड़ान भरा करता है, वह वहीं से माया के फन्दे में गिरकर फँसा करता है,[4] इसलिए मन को अपने वश में करके भक्ति में लगाओ[5]।

कनक-कामिनी

बौद्धधर्म में भिक्षुओं के लिए कनक और कामिनी दोनों का ही त्याग उत्तम बतलाया गया है। भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं की साधना में इन्हें बाधक कहा है। इन्हें मल माना है—

"कोई-कोई श्रमण ब्राह्मण राग-द्वेष से लिप्त हो,
अविद्या से ढँके पुरुष प्रिय वस्तुओं को पसन्द करनेवाले,
सुरा और कच्ची शराब पीते हैं, मैथुन का सेवन करते हैं,
वे अज्ञानी चाँदी और सोने का सेवन करते हैं,
भगवान् बुद्ध ने इन्हें उपक्लेश कहा है।
वे घोर करसी को बढ़ाते हैं और आवागमन में पड़ते हैं[6]।"

इसीलिए कामिनी का साथ करनेवाला भिक्षु पाराजिका माना जाता है, वह भिक्षु-संघ में रहने योग्य नहीं रहता[7] और सोना-चाँदी ग्रहण करनेवाले भिक्षु को नैसर्गिक प्रायश्चित्त का दोष लगाता है[8]। कबीर ने भी कनक और कामिनी को इसी दृष्टि से देखा है। वे सोना और स्त्री को आग की लपट मानते हैं, जो इन्हें देखता है वह देखते ही जल उठता है और छूने पर तो परेशान (पैमाल) ही हो जाता है—

एक कनक अरु कामिनी, दोऊ अगनि की झाल।
देखे हीं तन प्रजलै, परस्यां ह्वै पैमाल[9] ॥

कनक और कामिनी दुर्गम घाटी हैं,[10] नारी की छाया पड़ने से सर्प अन्धा हो जाता है, फिर उनकी कौन गति होगी, जो सदा ही नारी के साथ रहते हैं[11]। कनक और कामिनी

---

१. वही, पृष्ठ ५५।
२. मन जाणै सब बात, जाणत ही औगुण करे। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २८।
३. मन गोरख मन गोविन्दौ, मन ही औघड़ होइ।
जे मन राखै जतन करि, तौ आपैं करता सोइ॥ —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २९।
४. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ३०।
५. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५५।
६. विनयपिटक, पृष्ठ ५४९।
७. वही, पृष्ठ ८।
८. वही, पृष्ठ १९।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४०।
१०. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५८।
११. वही, पृष्ठ ५८।

विष-फल सदृश हैं,[१] इन्हें देखते ही विष चढ़ने लगता है और चखने पर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है[२]। नारी पुरुष की स्त्री है और वही पुरुष स्त्री से उत्पन्न उसका पुत्र है, इसी ज्ञान की बात का विचार कर अवधूत लोग स्त्री का त्याग कर देते हैं[३]। यही बात गोरखनाथ ने भी कही है—

> जिन जननी संसार दिखाया, ताकौ ले सूते खोले[४]।
> कनक कामनी त्यागे दोइ, जो जोगेस्वर निरभै होइ[५]।

तात्पर्य सन्त कबीर कनक और कामिनी में आसक्ति से दूर रहने का उपदेश देते थे। वे स्वयं विवाहित थे और जीविका के लिए अर्थोपार्जन भी करते थे; किन्तु घर-गृहस्थी में रहते हुए भी अनासक्त जीवन व्यतीत करने के प्रशंसक थे। उनकी यह भावना बुद्धवचन तथा सिद्धों एवं नाथों के सम्मिलित प्रभाव की देन है, जो उन तक परम्परा से पहुँची थी।

अवतारवाद

बौद्धधर्म अनीश्वरवादी धर्म है, जब ईश्वर ही नहीं तो फिर अवतार किसका होगा ? तात्पर्य बौद्धधर्म में अवतारवाद के लिए अवकाश नहीं है। कबीर ने भी निराकार ईश्वर को मानते हुए भी अवतारवाद को नहीं माना है और स्पष्ट शब्दों मे कहा है कि अपने ही निर्मित देवों की लोग पूजा करते हैं, किन्तु पूर्ण अखण्डित ब्रह्म को नहीं जानते, दस अवतार अपने नहीं हैं, क्योंकि दस अवतारों को भी अपने कर्म का फल भोगना पड़ा है[६]। उस ब्रह्म ने न तो दशरथ के घर अवतार लिया, न लंका के रावण को सताया। ईश्वर कभी कुक्षि में अवतरित नहीं होता, न तो यशोदा ने उसे गोद में लेकर खेलाया, न वह ग्वालों के साथ घूमा, न गोवर्धन को हाथ से धारण किया, न वामन होकर बलि को छला, न पृथ्वी और वेदों का उद्धार किया, वह न गण्डक शालिग्राम और मत्स्य, कच्छप, कूर्म होकर जल में ही रहा, वह इनसे अगम्य है। अवतारवाद तो काल्पनिक व्यवहार मात्र है, जिसमें कि संसार फँसा है, किन्तु वास्तविक ब्रह्म को नहीं जानता[७]। कबीर ने अवतारवाद को न मानते हुए ईश्वर को अपना पिता माना है और अपने को पुत्र कहा है[८]। ज्ञानी भिक्षु भी बुद्ध-पुत्र कहलाते हैं और न केवल भिक्षु ही भिक्षुणियाँ भी, ज्ञानी पुरुष और महिलाएँ भी। भगवान् बुद्ध ने स्वयं सारिपुत्र को अपना औरस-पुत्र कहा था, उन्हें अपने मुख से उत्पन्न बतलाया था—"भिक्षुओ! जिसको ठीक से कहते हुए कहना होता है कि यह मुख से उत्पन्न, धर्म से उत्पन्न, धर्म-निर्मित, धर्म-दायाद, न आमिष दायाद, भगवान् का औरस-पुत्र है, तो ठीक से कहते हुए सारिपुत्र के

---

१. वही, पृष्ठ ५९।
२. वही, पृष्ठ ५९।
३. वही, पृष्ठ ५९।
४. गोरखबानी, पृष्ठ १४४।
५. वही, पृष्ठ ३५।
६. दस औतार निरंजन कहिये, सो अपना ना होई।
   यह तो अपनी करनी भोगैं, कर्ता औरहि कोई॥ —कबीर, पृष्ठ २४०।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३।
८. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २४।

लिए ही कहना होगा[१]। सुन्दरी नामक भिक्षुणी ने भी सिंहनाद करते हुए कहा था—"मैं भगवान् के मुख से उत्पन्न, औरस-पुत्री हूँ, मैं कृतकृत्य और चित्त-मल रहित (अर्हत्) हूँ[२]।" इस प्रकार ज्ञानी बौद्ध प्रव्रजित तथा गृहस्थ श्रावक-श्राविकाओं के पिता भगवान् बुद्ध हैं। हमने पहले देखा है कि सत्यनाम वाले बुद्ध ही कबीर के सत्तनामधारी सद्गुरु हो गये हैं और बौद्ध-परम्परा में पिता संज्ञक बुद्ध ही कबीर के अवतारवाद से मुक्त पूर्ण ब्रह्म स्वरूप पिता भी बन गये हैं, किन्तु सीता-पति राम या दसों अवतारों में से कोई भी जगत् का कर्त्ता अथवा ईश्वर नहीं है—

समुँद पाटि लंका गयो, सीता को भरतार।
ताहि अगस्त अचै गयो, इनमें को करतार[३]॥

जो लोग 'सोहं सोहं' कहकर जप करते हैं और वास्तविक सत्य को नहीं जानते हैं, वे मिथ्या-दृष्टि में ही पड़कर अपना जीवन व्यर्थ में ही व्यतीत कर देते हैं[४]।

निर्वाण

बौद्धधर्म के निर्वाण का वर्णन पहले किया जा चुका है। वह परमसुख, अनन्त और अपार है, वह न इस लोक में है, न परलोक में, वह अनिर्वचनीय अवस्था है। कबीर ने भी निर्वाण की व्याख्या करते हुए कहा है कि पद-निर्वाण एक ऐसी अवस्था है, जहाँ न शब्द है, न स्वाद है, न शोभा है, वहाँ माता, पिता और मोह भी नहीं हैं, वहाँ सासु, श्वसुर और साला भी नहीं हैं, न वहाँ दिन है, न कोई शोक करनेवाला है, न वहाँ पक्षी, जीव-जन्तु, न देवी-देवता ही हैं, न वहाँ वृद्ध है और न शब्द, गीत आदि ही हैं। वहाँ जाति-पाँति और कुलभेद भी नहीं है तथा न वहाँ छूत-अछूत या पवित्र होने की ही भावना है, वहाँ तो पद-निर्वाण ही है, अन्य कुछ नहीं है[५]। वह अनन्त और अपार है[६]। वह मुक्तिपुर का देश है, जो तीनों लोकों के बाहर है[७]। भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जब निर्वाण की प्राप्ति होती है, तब प्रदीप के बुझने की भाँति वे धीर व्यक्ति शान्त हो जाते हैं,[८] वे तृष्णा से सर्वथा मुक्त और पुनर्जन्म-रहित हो जाते हैं, उनके पुराने कर्म क्षीण हो जाते हैं तथा वे नये कर्म सञ्चित नहीं करते[९]। कबीर ने भी इन्हीं शब्दों में निर्वाण-प्राप्त व्यक्ति की अवस्था का वर्णन करते

---

१. मज्झिमनिकाय, ३, २, १; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ४६७-४६८।
२. ओरसा मुखतो जाता कतकिच्चा अनासवा। —थेरीगाथा, गाथा ३३६।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ २३।
४. सोहं सोहं जपि मुआ, मिथ्या जनम गँवाय। —सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४३।
६. पद निरबान अनन्त अपारा। —कबीर, पृष्ठ २७६।
७. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ८।
८. निब्बन्ति धीरा यथायं पदीपो। —सुत्तनिपात, पृष्ठ ४६-४७।
९. वही, पृष्ठ ४६-४७।

हुए कहा है कि जब आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है, तब वह व्यक्ति शोक-हर्ष और सांसारिक प्रपंचों से मुक्त होकर दीपक की भाँति शान्त चित्तवाला हो जाता है—

आतम अनुभव जब भयो, तब नहिं हर्ष विषाद ।
चित्त दीप सम ह्वै रह्यो, तजि करि वाद-विवाद ।।[१]

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि जैसे तेल और बत्ती के सहारे तेल का प्रदीप जलता है, किन्तु तेल-बत्ती के समाप्त होने पर प्रदीप निराहार हो बुझ जाता है, इसी प्रकार भिक्षु राग, द्वेष, मोह के समाप्त हो जाने पर निर्वाण को प्राप्त हो जाता है[२] । कबीर ने भी यही बात कही है कि जब तक दीपक में बत्ती है और तेल विद्यमान है, तब तक निर्भय होकर जप करो और जब तेल घट जायेगा तो बत्ती बुझ जायेगी, तब तुम दिन-रात सुखपूर्वक सोना अर्थात् जब तुम्हारे सम्पूर्ण कलुष समाप्त हो जायेंगे, तब तुम परमपद निर्वाण में लीन हो जाओगे । वही निर्वाण की अवस्था होगी—

कबीर निर्भय नाम जपु, जब लगि दीवा बाति ।
तेल घटै बाती बुझै, तब सोवो दिन राति[३] ।।

गुणधर्म

मनुष्य में दया, सत्य, अहिंसा, शील, दान, धैर्य, समदृष्टि, सन्तोष, क्षमा आदि गुणधर्म होने चाहिए और उसे काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह, मान, तृष्णा, आशा आदि का परित्याग कर परमपद प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इनका बौद्धधर्म में महत्वपूर्ण स्थान है । वास्तव में यही सद्धर्म है, जो सदाचार है वही धर्म का मूल है। कबीर ने भी इन गुणधर्मों का आचरण परमकर्तव्य के रूप में माना है । उन्होंने कहा है कि जो शीलवान्, सन्तोषी और समदृष्टि रखनेवाला है, उसके सभी क्लेश दूर हो जाते हैं,[४] दान देने पर कभी घटता नहीं है, जैसे नदी का जल नहीं घटता[५] । शील-पालन से तीनों लोक की सम्पत्ति प्राप्त होती है[६] । व्यक्ति को क्षमाशील होना चाहिए[७] । पृथ्वी की भाँति सहनशील भी होना चाहिए[८] । सन्तोष सबसे बड़ा धन है[९] । काम, क्रोध और लोभ में लगे रहनेवाले से कभी भक्ति नहीं हो सकती[१०] । काम, क्रोध, मद और लोभ जब तक बने रहते हैं, तब तक मूर्ख और बुद्धिमान् में कोई अन्तर नहीं होता[११] । मोह के कारण सब कुछ अन्धेरा-सा हो जाता है और यथार्थ वस्तु नहीं सूझ पड़ती[१२] । माया, आशा और तृष्णा व्यक्ति को फँसाये रहती हैं, इनसे छूट कर ही निर्वाण को प्राप्त किया जा सकता है[१३] । इसलिए शील, सत्य और सन्तोष

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४४ ।
२. मज्झिमनिकाय, ३, ४, १० ।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ७ ।
४. कबीर, पृष्ठ २७३ ।
५. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५० ।
६. वही, पृष्ठ ५० ।
७. वही, पृष्ठ ५० ।
८. वही, पृष्ठ ५० ।
९. वही, पृष्ठ ५१ ।
१०. वही, पृष्ठ ५३ ।
११. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ५३ ।
१२. वही, पृष्ठ ५४ ।
१३. वही, पृष्ठ ५७ ।

रूपी ढाल से युक्त होकर नाम रूपी तलवार से सन्नद्ध हो काम, क्रोध, मद और लोभ से लड़ने के लिए संग्राम-भूमि में डट जाओ। शूर-वीर ही ऐसी लड़ाई लड़ते हैं, कायर नहीं[१]।

बौद्धधर्म में भी यही बात कही गयी है कि सन्तोष परमधन है;[२] पृथ्वी के समान क्षमाशील एवं सहनशील बने,[३] क्षमा और सहनशीलता परमतप हैं,[४] राग, द्वेष, मोह, मान, क्रोध, आमर्ष में पड़ा हुआ व्यक्ति अन्धे के समान होता है, उसे अर्थ, धर्म कुछ भी नहीं सूझता है[५]। तृष्णा के पीछे पड़े प्राणी बँधे खरगोश की भाँति चक्कर काटते हैं, इसलिए मुक्ति चाहनेवाला व्यक्ति तृष्णा को दूर करे[६]। जिसने तृष्णा का त्याग कर दिया है, वही अन्तिम शरीरधारी कहलाता है[७]। तृष्णा का क्षय सारे दुःखों को जीत लेता है[८]। जिसमें सत्य, धर्म, अहिंसा, संयम और दम (इन्द्रिय-दमन) है, वह आर्य (श्रेष्ठ) है, वह अमर है[९]। शीलवान् विद्वान् से भी श्रेष्ठ होता है,[१०] शील कल्याणकारी और सर्वोत्तम गुण है[११]। प्रज्ञा रूपी हथियार से मार से युद्ध करो[१२] और विजय प्राप्त करो,[१३] सत्य बोलो, क्रोध न करो,[१४] शरीर से संयमशील हो अहिंसा धर्म का पालन करते हुए शोक-रहित अच्युत-पद (निर्वाण) प्राप्त होता है[१५]। इसलिए सुचरित धर्म का आचरण करे, दुराचरण न करे। धर्मचारी इस लोक और परलोक दोनों में सुखपूर्वक रहता है[१६]।

उक्त उद्धरणों से स्पष्ट है कि बुद्ध द्वारा निर्दिष्ट गुणधर्म अथवा सद्धर्म के परिपालनीय कर्तव्य कबीर-वाणी में भी समान रूप से पाये जाते हैं। समदृष्टि भी दोनों की समान ही है। कबीर सबको समान जानकर सदाचार-पालन की शिक्षा देते हैं और भगवान् बुद्ध भी कहते हैं "सब्बत्थ समानो हुत्वा" अर्थात् सर्वत्र समदृष्टि रखकर ही ज्ञान की प्राप्ति सम्भव है[१७]। इसीलिए उन्होंने महालोमहंसचर्या में कहा है—"सब्बेसं समको होमि दयकोपो न विज्जति" अर्थात् मैं सबके लिए समान था, किसी पर दया अथवा किसी पर क्रोध—इस प्रकार के विभिन्न भाव मेरे हृदय में नहीं थे[१८]।

वेश

हम पहले कह आये हैं कि बौद्धधर्म वेश-धारण मात्र से ज्ञान की प्राप्ति नहीं मानता। वेश धारण की सार्थकता इसी में है कि चित्तमलों का परित्याग हो जाय,[१९] जटा, गोत्र और

---

१. वही, भाग २, पृष्ठ २६।
२. 'सन्तुट्ठी परमं धनं'।–धम्मपद, गाथा २०४।
३. धम्मपद, गाथा ९५।
४. वही, गाथा १८४।
५. इतिवुत्तक, १–६।
६. धम्मपद, गाथा ३४३।
७. वही, गाथा ३५२।
८. वही, गाथा ३५४।
९. जातक, १९६।
१०. वही, गाथा ९१।
११. वही, ८६।
१२. धम्मपद, गाथा ४०।
१३. वही, गाथा १०४।
१४. धम्मपद, गाथा २२४।
१५. वही, गाथा २२५।
१६. वही, गाथा १९६।
१७. चरियापिटक, पृष्ठ ३६।
१८. चरियापिटक, उपेक्खापारमिता, गाथा ३।
१९. धम्मपद, गाथा ९-१०।

जन्म से कोई ब्राह्मण नहीं होता, ब्राह्मण तो वही है, जिसमें सत्य और धर्म है और जिसमें ये गुण हैं, वही पवित्र है,[१] यदि चित्त राग, द्वेष, मोह के मल से अपवित्र है तो ये जटाएँ और ये मृगछाला क्या करेंगे[२] ? ऊपरी रूप-रंग मनुष्यों की पहचान नहीं है, दुष्ट लोग तो बड़े संयम का भड़क दिखाकर विचरण किया करते हैं, वे नकली मिट्टी के बने भड़कदार कुण्डल के समान अथवा लोहे के बने सोने का पानी चढ़ाये हुए के समान वेश बनाकर विचरण करते हैं, जो भीतर से मैले और बाहर से चमकदार होते हैं[३] । सिद्ध सरहपा ने इन वेशधारियों की बड़ी निन्दा की है और कहा है कि ब्राह्मण, पाशुपत, जैन, बौद्ध जितने भी केवल वेश बनाकर घूमनेवाले हैं, वे संसार में बहते-भटकते हैं, ज्ञानप्राप्ति के लिए तो आत्मस्वभाव का जानना परमावश्यक है[४] । कबीरदास ने इसी बात को दुहराया है । उन्होंने कहा है कि नंगा रहने, सिर मुड़ाने, सिर के बाल नोंचने, मौन धारण करने, जटाधारी होने, कान छेदाकर मञ्जूषा पहनने, भस्म अथवा धूल लपेटने आदि से कभी परमपद की प्राप्ति सम्भव नहीं है[५] । तिलक धारण करने, माला जपने,[६] लाल रंग से रँगा वस्त्र धारण करने,[७] ग्रंथ-पाठ करने,[८] छापा लगाने[९] आदि से भी हरि का दर्शन नहीं होता, हरि-दर्शन के लिए मन को ही संयमित करने की आवश्यकता है, उसे ही रँगने से हरि मिलेंगे—

मन ना रँगाये रँगाये जोगी कपड़ा ।
आसन मारि मन्दिर में बैठे, ब्रह्म छाड़ि पूजन लागे पथरा ।।
कनवा फड़ाय जटवा बढ़ौले, दाढ़ी बढ़ाय जोगी होइ गैले बकरा ।
जंगल जाय जोगी धुनिया रमौले, काम जराय जोगी होय गैले हिजरा ।।
मथवा मुँड़ाय जोगी कपड़ा रँगौले, गीता बाँच के होय गैले लबरा ।
कहहिं कबीर सुनो भाई साधो, जम दरवजवा बाँधल जैबे पकड़ा[१०] ।।

इसलिए कबीर ने घोषणा की है कि वेश-धारण के फेर में न पड़कर मन को ही अपने वश में करना व्यक्ति का परमकर्तव्य है—

कबीर माला मनहिं की, और संसारी भेख ।
माला फेरे हरि मिलैं, तो गले रहट के देख[११] ।।
माला पहरैं मनमुषी, ताथैं कछू न होइ ।
मन माला कौं फेरतां, जुग उजियारा सोइ[१२] ।।

---

१. वही, गाथा ३९३ ।
२. वही, ३९४ ।
३. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ७५ ।
४. दोहाकोश, पृष्ठ ८-५ ।
५. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १३०-१३१ ।
६. वही, पृष्ठ १३१ ।
७. कबीर, पृष्ठ २६७ ।
८. वही, पृष्ठ २७१ ।
९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४६ ।
१०. कबीर, पृष्ठ २७१-२७२ ।
११. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६ ।
१२. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ४५ ।

श्राद्ध

बौद्धधर्म में मृत व्यक्ति के निमित्त पुण्य-कर्म करके उसे पुण्यांश प्रदान करने का नियम है। जब कोई व्यक्ति मर जाता है, तब भिक्षु-संघ को भोजन-दान आदि देकर उससे अर्जित पुण्य को "इदं नो ञातीनं होतु, सुखिता होन्तु ञातयो"[१] (यह पुण्य हमारे भाई-बन्धु के लिए हो, इससे हमारे भाई-बन्धु सुखी हों) कहकर अर्पित करते हैं, किन्तु उसे अन्न, जल, वस्त्र, पिण्ड आदि नहीं प्रदान करते, क्योंकि प्रेत्य व्यक्ति पुण्य तो प्राप्त कर सकता है, किन्तु पिण्ड-दान आदि नहीं, इसीलिए बौद्धधर्म में "श्राद्ध" नाम की क्रिया नहीं है, केवल पुण्यानु-मोदन का ही विधान है। कबीर ने भी पिण्डदान, श्राद्ध आदि की निन्दा की है और कहा है कि यह विचित्र लोक-व्यवहार है कि मृत व्यक्ति को जला देने के पश्चात् उसके प्रति स्नेह प्रगट करते हैं, जीवित पितृ को मारते-पीटते हैं, किन्तु मर जाने पर गंगा में प्रवाहित करते हैं, जीते समय उसे अन्न नहीं देते, किन्तु मर जाने के पश्चात् पिण्डदान करते हैं, जीवित पितृ को दोषी ठहराते हैं, किन्तु मरने पर उसके लिए श्राद्ध करते हैं। यह भी कितनी आश्चर्यजनक बात है कि पिण्डदान को तो यहीं कौवे खा जाते हैं, फिर पितृ उसे कहाँ से पाते हैं[२]? संयुत्त-निकाय में कहा गया है कि इसी प्रकार ब्रह्मा के निमित्त दी गई आहुति भी ब्रह्मा को नहीं प्राप्त होती, पितृ-जन की बात तो दूर की है—

"हे ब्राह्मणि ! यहाँ से ब्रह्मलोक दूर है,
जिसके लिए प्रति दिन आहुति दे रही हो।
हे ब्राह्मणि ! ब्रह्मा का यह भोजन भी नहीं है,
ब्रह्म-मार्ग को बिना जाने क्यों भटक रही है[३]।"

इसी प्रकार कबीर बौद्ध-मान्यता की ही भाँति श्राद्ध में विश्वास नहीं रखते।

कृषि

भगवान् बुद्ध भी अपने को कृषक मानते थे, किन्तु उनकी कृषि अमृत-फल उत्पन्न करनेवाली थी। कृषि भारद्वाज ने भगवान् बुद्ध से कहा—"श्रमण ! मैं जोतता और बोता हूँ। मैं जोत-बोकर खाता हूँ। श्रमण ! आप भी जोतें और बोएँ। आप भी जोत-बोकर खायें।"

तब भगवान् बुद्ध ने कहा—"ब्राह्मण ! मैं भी जोत-बोकर खाता हूँ।"

"आपकी कृषि क्या है ?" कृषि भारद्वाज ने पूछा।

भगवान् ने उत्तर देते हुए कहा—"श्रद्धा मेरा बीज है, तप वृष्टि है, प्रज्ञा मेरा जुआठ और हल है, लज्जा हरिस है, मन की जोत है, स्मृति फाल और छेकुनी है, सत्य की निराई करता हूँ, निर्वाण-प्राप्ति मेरा विश्राम है, उत्साह मेरा बैल है........मेरी कृषि अमृत-फल देनेवाली है, इस खेती से सब दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो जाती है[४]।"

---

१. खुद्दकपाठ, पृष्ठ १२। २. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ २०७।
३. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ११७।
४. सुत्तनिपात, पृष्ठ १५-१७ और संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ १३८।

इसी प्रकार कबीर ने भी अपने को कृषक कहा है और उन्होंने भी हल चला कर परमपद-फल वाली कृषि की है—

सत्त नाम हल जोतिया, सुमिरन बीज जमाय।
खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा पड़ै, भक्ति बीज नहिं जाय[1]॥
सुमिरन का हल जोतिए, बीजा नाम जमाय।
खण्ड ब्रह्माण्ड सूखा पड़ै, तहू न निस्फल जाय[2]॥

भगवान् बुद्ध ने श्रद्धा को बीज कहा है, किन्तु कबीर ने 'स्मरण' और 'नाम' को, हल भी 'सत्तनाम' तथा 'स्मरण' हैं, किन्तु तथागत का हल 'प्रज्ञा' (ज्ञान) है। इतना अन्तर होते हुए भी दोनों कृषक हैं, दोनों हल जोतते हैं। दोनों की ही कृषि निष्फल नहीं होती, उससे अमृत-फल निर्वाण की प्राप्ति होती है, चाहे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में सूखा ही क्यों न पड़े—यह कृषि कभी सूखती नहीं।

भाषा

भगवान् बुद्ध ने लोकभाषा पालि में उपदेश दिया था और छान्दस् (वैदिक) भाषा में बुद्ध-वचनों को करने का निषेध किया था—"भिक्षुओ ! बुद्ध-वचन को छान्दस् में नहीं करना चाहिए, जो करे उसे दुष्कृत का दोष लगेगा, भिक्षुओ ! अपनी भाषा (सकायनिरुत्ति) में बुद्ध-वचन सीखने की अनुमति देता हूँ[3]।" कबीर ने भी संस्कृत भाषा का विरोध किया। वे भी लोक-भाषा के ही पक्ष में थे। उनका कहना था कि संस्कृत भाषा पढ़ लेने मात्र से कोई ज्ञानी नहीं होता—

संसकिरत भाषा पढ़ि लीन्हा, ज्ञानी लोक कहो री।
आसा तृस्ना में बहि गयो सजनी, काम के ताप सहो री॥
मान मनीकी मटुकी सिर पर, नाहक बोझ मरो री।
मटुकी पटक मिलो पीतम से, साहेब कबीर कहो री[4]॥

संस्कृत तो कूँए के जल की भाँति स्थिर एवं गतिहीन है, किन्तु लोक-भाषा बहता हुआ जल है। लोक-भाषा से ही सद्गुरु का परिचय मिल सकता है, क्योंकि लोक-भाषा सद्गुरु के साथ है और इसी में गम्भीर एवं अथाह सत्य-मत भी है, अतः संस्कृत को छोड़कर लोक-भाषा को अपनाने से ही सत्य-ज्ञान की प्राप्ति हो सकती है—

संस्किरत है कूप जल, भाषा बहता नीर।
भाषा सतगुरु सहित है, सत मत गहिर गँभीर[5]॥

भगवान् बुद्ध ने भिक्षुओं को भाषा के दुराग्रह से रोका था और ऐसी लोक-भाषा का व्यवहार करने का उपदेश दिया था, जिसे सब लोग समझ सकें[6] और कबीर ने भी लोक-

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ ७।
३. विनयपिटक, पृष्ठ ४४५।
४. कबीर, पृष्ठ २८४।
५. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६३।
६. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५७०।

भाषा को ही अपनाने की प्रशंसा की, जिस कूप-जल सदृश मृत-भाषा को अपनाकर पण्डित अभिमान करते हैं, उस संस्कृत भाषा से भला कैसे सद्गुरु का परिचय प्राप्त हो सकता है और जब सद्गुरु से ही भेंट नहीं हुई तो फिर सत्य का दर्शन कैसे सम्भव हो सकता है ?

उपसंहार

कबीर समन्वयवादी एवं सारग्रही थे। उन्होंने बौद्धधर्म से प्रभावित होकर उसके मूलतत्त्वों एवं आदर्शों को ग्रहण किया और सन्तमत में बौद्धधर्म का एक सुन्दर समन्वय कर लोक-कल्याण के लिए एक प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत कर दिया। उन्होंने बौद्धधर्म के शील, निर्वाण, समाधि, ज्ञान, स्मृति, अशुभ, अनित्य, दुःख, कर्म-फल के विश्वास, पाप-पुण्य, प्राणायाम, अनासक्ति-योग, क्षणभंगुरता आदि का अपने शब्दों में वर्णन किया और 'सत्यनाम' वाले बुद्ध को ही निराकार सत्तनाम माना। कबीर के समय में उत्तर भारत में बौद्ध न थे, किन्तु बौद्ध-धर्म का आदर्श जन-मानस में व्याप्त था, उसे ही कबीर ने अपनाया। यदि बौद्ध पण्डितों या भिक्षुओं से उनकी भेंट हुई होती तो सम्भव था कि वे ज्ञानी गोरखनाथ की भाँति—जो कि चौरासी सिद्धों में से एक थे—बुद्ध और बौद्धधर्म के प्रशंसक हो गये होते, किन्तु उन्होंने प्रत्यक्ष रूप से बौद्धधर्म से परिचित न होते हुए भी, अप्रत्यक्ष रूप से उसी के आदर्श को सम-न्वयात्मक-प्रवृत्ति से ग्रहण किया था। डॉ० भरतसिंह उपाध्याय ने कबीर की इस प्रवृत्ति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि भारत में बौद्ध-साधना के अन्तिम उत्तराधिकारी सन्त अज्ञात रूप से विस्मृत बौद्ध-साधना को ही वाणी दे रहे थे, जब उन्होंने गाया है—"या काया की कौन बड़ाई", "हम को उढ़ावौ चदरिया", "रहना नहिं देस बिराना है", "मन रहना रे हुसियार एक दिन चुरवा आवेगा" आदि[1]। उन्होंने भी स्वीकार किया है कि कबीर साहब का "साँसों साँसा नाम जाप" बौद्ध-साधना आनापानसति का ही रूपान्तर था और "मन रे जागत रहिये भाई" बौद्धधर्म के जागरूक रहकर स्मृति और सम्प्रजन्य से युक्त होकर विहरने का ही आदर्श था[2]। भगवान् बुद्ध ने उट्ठानसुत्त में कहा है—"जागो, बैठो, सोने से तुम्हें क्या लाभ ? दुःख रूपी तीर लगे रोगियों को नींद कैसी[3] ? कबीर ने कहा है कि कुशल-कार्यों के करने में बिलम्ब न करो, जो कल करना है, उसे आज ही कर डालें[4] और यही बात तथागत ने भी कही है—"अज्जेव किच्चं आतप्पं, को जञ्ञा मरणं सुवे"[5] जिस कार्य को करना है उसे आज ही कर डालो, कौन जाने कि कल मृत्यु हो जाय। अतः भूत, भविष्य की चिन्ता छोड़कर वर्तमान में ही जुट जाओ[6]। इस प्रकार बुद्ध-वाणी का आदर्श ही कबीर-वाणी में परिलक्षित है। तथागत को यथावादी तथाकारी अर्थात् कथनी और करनी में समान होने के कारण ही 'तथागत' कहा जाता है,[7] कबीर ने भी कथनी और करनी में समता का उपदेश दिया

---

१. बौद्धदर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन, प्रथम भाग, पृष्ठ ३५२।

२. वही, पृष्ठ ३५२।

३. सुत्तनिपात, उट्ठानसुत्तं, पृष्ठ ६७।

४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।

५. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५४३।

६. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ ५४४-४८।

७. इतिवुत्तक और अंगुत्तरनिकाय ४,३,३-४।

है[1]। ऐसे ही भगवान् बुद्ध की भाँति कबीर ने निद्रा,[2] परनिन्दा,[3] रसतृष्णा,[4] सादा जीवन,[5] उदारता,[6] गार्हस्थ्य धर्म,[7] समदृष्टि,[8] विश्वास[9] आदि के सम्बन्ध में समान भाव व्यक्त किए हैं। भगवान् बुद्ध ने आलस्य, प्रमाद, उत्साह-हीनता, असंयम, निद्रा और तन्द्रा को सर्वथा ही त्यागने को कहा है[10]। पर-निन्दा[11] और रस-तृष्णा[12] को अनुचित बतलाया है, सादा जीवन,[13] उदारता,[14] समता[15] और उत्तम गार्हस्थ्य-जीवन[16] की प्रशंसा की है। विश्वास को उन्होंने सबसे बड़ा सम्बन्धी कहा है;[17] भगवान् बुद्ध ने तीर्थ-व्रत, नदी-स्नान आदि से पुण्य होने की भावना का विरोध किया है[18]। गोरखनाथ ने ६८ तीर्थों की इस शरीर में ही स्थापना की है[19]। कबीर ने साधु के चरणों में ही ६८ तीर्थों तथा करोड़ों गया तथा काशी की कल्पना की है[20]। इस प्रकार कबीर-वाणी में बौद्धधर्म के प्रायः सभी आदर्शों का समन्वय स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ४७।
२. वही, पृष्ठ ५९।
३. वही, पृष्ठ ६०।
४. वही, पृष्ठ ६०।
५. वही, पृष्ठ ६२।
६. वही, पृष्ठ ४९।
७. वही, पृष्ठ ४६।
८. वही, पृष्ठ ३३।
९. वही, पृष्ठ २१।
१०. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ ४५।
११. धम्मपद, गाथा ५० तथा २५२-२५३।
१२. धम्मपद, गाथा ७-८।
१३. सुत्तनिपात, पृष्ठ २९।
१४. संयुत्तनिकाय, भाग १, पृष्ठ २०।
१५. सुत्तनिपात, पृष्ठ १३०-१४१।
१६. सुत्तनिपात, पृष्ठ ३७, ७९।
१७. आरोग्य-परमा लाभा, सन्तुट्ठी परमं धनं।
विस्सासपरमा ञाती, निब्बानं परमं सुखं॥ —धम्मपद, गाथा २०४।
१८. मज्झिमनिकाय, पृष्ठ २६।
१९. घट ही भीतरि अठसठि तीरथ, कहाँ भ्रमै रे भाई। —गोरखवानी, पृष्ठ ५५।
२०. अठसठ तीरथ साध के चरनन, कोटि गया औ कासी।
—सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १६।

[आ] कबीर के समसामयिक सन्त और उन पर बौद्धधर्म का प्रभाव

तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति

मध्ययुग में उत्तरी भारत की धार्मिक परिस्थिति बहुत ही विषम थी। शताब्दियों से भारत पर होनेवाले यवन-आक्रमण एवं लूट-पाठ से जन-जीवन में निराशावाद का प्राबल्य हो चला था। सामूहिक रूप से धर्म-परिवर्तन करने के लिए जनता को विवश किया जाता था। हिन्दू राजाओं की पारस्परिक फूट एवं असहयोग के कारण सभी शक्तियाँ छिन्न-भिन्न हो गयी थीं। धार्मिक या राजनैतिक संगठन नहीं रह गया था। हिन्दू मुसलमान शासकों द्वारा अनेक प्रकार से पीड़ित किए जा रहे थे। उनसे विशेष शुल्क लिया जाता था। उनकी मान-मर्यादा एवं कुल-मर्यादा अरक्षित थी। हिन्दू ललनाओं को बलात्कारपूर्वक विधर्मी बना लिया जाता था। धार्मिक वातावरण अशान्त हो गया था। अपने धर्म को सत्य-धर्म समझनेवाले बुद्धन ब्राह्मण की भाँति मार डाले जाते थे। कहते हैं कि लखनऊ के बुद्धन नामक ब्राह्मण को सिकन्दर लोदी ने इसलिए जीवित जला दिया था कि उसने कहा था कि उसका धर्म भी इस्लाम के समान सच्चा धर्म है[१]। कबीर जैसे सन्त को भी इन अन्धविश्वासी एवं क्रूर शासकों के कोप का भाजन होना पड़ा था[२]। हिन्दुओं के सहस्रों मन्दिर तोड़ डाले गये थे और उनकी धन-सम्पत्ति एवं सोने-चाँदी की मूर्तियाँ लूट ली गई थीं। डॉ० ईश्वरीप्रसाद ने इस काल की धार्मिक परिस्थिति पर प्रकाश डालते हुए लिखा है—"तुर्कों का शासन धर्म से अधिक अनुशासित होता था। बादशाह सीज़र और पोप के मिश्रित रूप में हुआ करते थे। मूर्ति-पूजा खण्डन, बलात् धर्म-परिवर्तन आदि मुसलमानी राज्य के आदर्श थे। अपनी सम्पत्ति की रक्षा के लिए हिन्दुओं को जजिया भी देना पड़ता था। हिन्दुओं के धार्मिक उत्सव बन्द थे। कुछ बादशाहों ने नये मन्दिरों का निर्माण तथा पुरानों की मरम्मत भी रोक दी थी। जिन बादशाहों ने उलमाओं की नीति का समर्थन किया उनकी प्रशंसा की गयी, अलाउद्दीन और मुहम्मद तुगलक़ ने उनका विरोध किया था, किन्तु उलमाओं ने उन्हें चैन से नहीं रहने

---

१. भारत में मुस्लिम शासन : डॉ० ईश्वरी प्रसाद।

२. सल्तनत ऑफ़ देहली, पृष्ठ ४५८।

दिया। सिकन्दर लोदी के समय में तो हिन्दुओं पर अत्याचार करने का आन्दोलन-सा चल गया था। लोदी ने समस्त मन्दिरों को तुड़वा देने की आज्ञा दे रखी थी। मुसलमानी शासन में योग्यता की पूछ न थी, बादशाह की इच्छा प्रधान थी। उच्चपदों पर मुसलमान ही रखे जाते थे, अधिकांश जमीन भी उन्हीं के हाथ में थी। हिन्दू श्रमिकों की भाँति रहते थे, फलतः हिन्दू निर्धनता एवं संघर्षों का जीवन बिताते थे, उनका जीवनस्तर बहुत नीचा हो गया था। उन्हें ऊँचे पद कभी नहीं मिलते थे और उधर शासकवर्ग में विलासिता का पूरा पोषण हुआ। इस प्रकार १४वीं शताब्दी के अन्त तक शक्ति और पौरुष का ह्रास हो गया था। हिन्दुओं को दबाकर और कभी ५० प्रतिशत तक कर लेकर आनन्दोपभोग करना उनका काम हो गया। इसका परिणाम यह हुआ कि हिन्दुओं की प्रतिभा कुण्ठित हो गयी। फिर भी रामानन्द, कबीर जैसे वैष्णव भक्त इसी काल में हुए[1]।" जयचन्द्र विद्यालंकार ने तत्कालीन धार्मिक परिस्थिति का वर्णन करते हुए कहा है कि उस समय जनसाधारण में मूर्तिपूजा जड़पूजा के रूप में प्रचलित थी, हिन्दुओं के प्रायः सभी पन्थों में कोई-न-कोई विषयी या घोर रूप चल चुके थे। अलौकिक और असाधारण सिद्धियाँ ऊँचे जीवन का चिह्न मानी जाने लगी थीं। पौराणिक धर्म में अर्थहीन क्रियाकलाप बहुत बढ़ गया था। हिन्दू धर्म-कर्म में व्रतों तथा अनुष्ठानों की संख्या कल्पनातीत हो गयी थी[2]। डॉ० त्रिगुणायत का कथन है कि मध्ययुगीन भारत में धर्मों की त्रिवेणी प्रवाहमान थी। उस त्रिवेणी की तीन धाराएँ थीं—(१) हिन्दूधर्म, (२) बौद्ध, जैन आदि अन्य भारतीय धर्म-पद्धतियाँ और (३) इस्लाम धर्म[3]। किन्तु हम इस बात से पूर्णतः सहमत नहीं हैं, क्योंकि इस्लाम धर्म का तो मुसलमान शासकों द्वारा प्रचार-कार्य चल ही रहा था और हिन्दूधर्म उनके अत्याचारों का केन्द्र-विन्दु बना हुआ था, जैन भी हिन्दुओं से भिन्न नहीं थे, किन्तु उस समय उत्तर भारत में बौद्धधर्म तो केवल अपने आदर्श मात्र को छोड़ गया था, जैसा कि पहले हमने देखा है। बौद्धधर्म की भस्म पर ही सन्तमत का प्रादुर्भाव हुआ था। इस समय उसके विचार-मात्र जनसमाज में थे, किन्तु वे बौद्ध नाम से नहीं जाने जाते थे। तथागत सम्यक् सम्बुद्ध को भूलकर जनता पौराणिक बुद्ध से ही परिचित थी, जिनका उसके लिए अवतारां से अधिक महत्व नहीं था। डॉ० त्रिगुणायत का यह कथन सर्वथा ही भ्रामक है कि बुद्ध ने कहा था कि "गृहस्थाश्रम में मोक्ष-प्राप्ति कभी भी नहीं होती",[4] बौद्धग्रंथों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि सद्धर्म के आचरण से स्त्री-पुरुष सभी निर्वाण प्राप्त कर सकते हैं। निर्वाण-प्राप्ति के लिए गृहस्थ, प्रव्रजित या स्त्री-पुरुष का कोई भेद नहीं है[5]। साधु-सन्तों और वैरागियों की बाढ़ भी केवल बौद्धधर्म की देन न थी, सिद्धों ने

१. मध्ययुगीन भारत, पृष्ठ ५०२-५१४, "रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव" के पृष्ठ २८-२९ से उद्धृत।

२. इतिहास प्रवेश, पृष्ठ ६६-६७।

३. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक भूमि, पृष्ठ ६७।

४. वही, पृष्ठ ८३।

५. संयुत्तनिकाय, भाग १, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ३२, २०; धम्मपद, गाथा २२५, ३८३ और १४२; "यस्स एतादिसं यानं इत्थिया पुरिसस्स वा, सवे एतेन यानेन निब्बानस्सेव सन्तिके।"

तो साधु होना व्यर्थ घोषित किया था और जहाँ कहीं भी रहकर ज्ञान की प्राप्ति की जा सकती थी, क्योंकि बोधि (ज्ञान) सर्वत्र निरन्तर स्थित है[१]। भारतीय साधु-सन्तों की बाढ़ तो भारतीय ही श्रमण-संस्कृति की देन थी, जिसका प्रभाव मध्ययुगीन भारत में शैव, शाक्त, वैष्णव, सन्त आदि निर्गुण-सगुण रूपों में विद्यमान था। अब बौद्ध-भिक्षुओं का समय बीत चुका था, बौद्ध-भिक्षु नाममात्र के लिए भी न थे, फिर उनके कारण साधु-सन्तों की बाढ़ कहाँ से आती ? हाँ, उनके विचार जनमानस में परम्परागत विद्यमान थे। सगुण, निर्गुण, शैव, वैष्णव, नाथपन्थी आदि प्रायः सभी इन विचारों से प्रभावित थे, यहाँ तक कि सूफी मत भी उनसे अछूता न रह पाया था। एक समय बौद्धधर्म राजाश्रय पाकर फला-फूला था और पड़ोसी राष्ट्रों में उसके सन्देश-वाहक गये थे और उन्होंने वहाँ उसका प्रचार किया था, किन्तु कबीरदास के समय मे तो केवल असुर-संहारक बुद्ध ही जन-मानस मे व्याप्त थे। इस प्रकार कबीर के समय में उत्तर भारत की धार्मिक विचारधारा अनेक प्रकार के प्रभावों से समन्वित थी और उसका प्रभाव तत्कालीन सभी धार्मिक व्यक्तियों पर पड़ना स्वाभाविक था। उसी प्रभाव के फलस्वरूप रामानन्द आदि सन्तों की साधना-पद्धति, जीवन-आदर्श, भक्ति-स्वरूप एवं मुक्ति समन्वयात्मक-प्रवृत्ति से समन्वित है, जिसमें प्रधान रूप से शान्त-रस प्रवाहमान है, विनय, संयम, प्रेरणा, उद्बोधन, शरणागति, भक्ति, वैराग्य, मुक्ति आदि सन्त-सुलभ गुणधर्म विद्यमान हैं और मध्ययुगीन भारतीय सन्तों की यह सबसे बड़ी देन है। इन्हीं पूर्ववर्ती सन्तों की विचार-सरणी का प्रभाव कबीर पर पड़ा था, जिसे कि उन्होंने एक व्यवस्थित रूप दिया था तथा भारतीय जन-जीवन में एक सांस्कृतिक एवं धार्मिक चेतना को जागृत किया था, जो अत्याचारी, अन्यायी तथा धर्म-विद्वेषी शासकों के उत्पीड़न सहने में समर्थ थी। ये सन्त मध्ययुगीन भारतीय धर्म एवं संस्कृति के आधार-स्तम्भ थे, जिनके बल पर धर्म का प्रासाद झंझावात तथा असनिपात को भी सहने में सक्षम हो सका।

सेन नाई

कबीर के समसामयिक सन्तों में सेन नाई, स्वामी रामानन्द, राघवानन्द, पीपा, रैदास, धन्ना, मीराबाई, झालीरानी और कमाल के नाम उल्लेखनीय हैं। इन सन्तों के अतिरिक्त अन्य भी अनेक सन्त हुए, किन्तु वे मूक-साधक की भाँति साधना-रत हो धर्म-रस की अनुभूति में अपने जीवन को व्यतीत कर सदा के लिए प्रज्वलित प्रदीप की भाँति बुझ गये। उनके चरित्र, भक्ति, साधना और त्याग की स्मृति कुछ दिनों तक जन-मानस में रही और धीरे-धीरे विस्मृति मे विलीन हो गयी। जिन सन्तों के नाम, जीवन-चरित्र, साधना, वाणी आदि के सम्बन्ध मे सन्तपरम्परा में कुछ तत्व सुरक्षित बच गये है, वे हमें पूर्वजों की संचित-निधि के रूप में प्राप्त हुए हैं, इन्हीं सन्तों मे सेन नाई भी एक थे। वे स्वामी रामानन्द के शिष्य थे[२]। उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा से वे बान्धवगढ़ के राजाराम नामक नरेश के सेवक थे[३]। किन्तु महाराष्ट्रीय सन्तों की परम्परा के अनुसार वे बीदर नरेश की सेवा मे नियुक्त

१. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७। २. आदिग्रंथ, रागु धनासरी, पद १।

३. भक्तमाल, पृष्ठ ५२६।

ज्ञानेश्वर के समकालीन थे[1]। इनके सम्बन्ध में दोनों परम्पराएँ मानती हैं कि ये राजा की सेवा में थे और इनकी भक्ति को देखकर राजा इनसे प्रभावित होकर इनका शिष्य हो गया था। दोनों ही अनुश्रुतियों से ज्ञात होता है कि ये सन्तों की सेवा में लगे रहने के कारण राजा की सेवा में विलम्ब से गये, तब तक इनकी अनुपस्थिति में स्वयं भगवान् इनका रूप धारण कर राजा की सेवा कर गए। रहस्य प्रगट होने पर राजा इनका शिष्य हो गया था[2]। इन तथ्यों पर विचार करते हुए विद्वानों ने यह स्वीकार किया है कि सेन रामानन्द के ही शिष्य थे और नाई जाति के थे[3]। मराठी भाषा के अभंग इन्हीं के हैं। आदिग्रन्थ में इनका जो पद संकलित है, उससे भी स्पष्ट है कि ये रामानन्द के ही शिष्य थे। सेन का शेष जीवनवृत्तान्त अज्ञात है। डॉ० ग्रियर्सन ने इनके सेन-पन्थ की भी चर्चा की है, किन्तु उसका इस समय कुछ पता नहीं चलता[4]।

स्वामी रामानन्द

स्वामी रामानन्द का जन्म सन् १२९९ (वि० सं० १३५६) में प्रयाग में हुआ था। इनकी माता का नाम सुशीला और पिता का नाम पुण्यसदन था[5]। बचपन में वे पढ़ने के लिए काशी भेजे गये थे और वहीं उन्होंने राघवानन्द से शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। पीछे संन्यास ग्रहण कर वे काशी के ही पंचगंगा घाट पर एक गुहा में रहने लगे थे। वे अपने समय के बड़े प्रसिद्ध सन्त थे। उन्होंने भारतीय योग, भक्ति, साधना एवं निर्गुण भक्ति-धारा को एक नई दिशा दी। उनके मतावलम्बी रामानन्दी अथवा रामावत् सम्प्रदाय के कहे जाते हैं और उनमें कुछ अवधूत तथा कुछ वैरागी कहलाते हैं। आबू और जूनागढ़ की पहाड़ियों पर उनके चरण-चिह्न मिलते हैं। जूनागढ़ में उनकी एक गुफा भी है[6]। स्वामी रामानन्द ने सम्पूर्ण भारतवर्ष का पर्यटन किया था। वे तीर्थयात्रा करते हुए गंगासागर, बदरिकाश्रम, रामेश्वरम्, द्वारका, मिथिला आदि स्थानों में भी गये थे[7]। इस पर्यटन से उनके विचार में परिवर्तन आ गए थे और उन्होंने राघवानन्द के मठ को छोड़कर स्वयं अपने विचारों के प्रचार में समय व्यतीत किया। परम्परागत सम्प्रदाय वालों का कहना है कि जब रामानन्द तीर्थयात्रा से आये तब अन्य सन्तों ने उनके साथ भोजन करने में आपत्ति की, तब वे उनसे अलग होकर धर्म-प्रचार में लग गए, किन्तु डॉ० बद्रीनारायण श्रीवास्तव का कथन ही समीचीन है कि रामानन्द ने तीर्थों का भ्रमण करके ही अपने दृष्टिकोण को युगधर्म के अनुकूल बना लिया

---

१. मराठी का भक्ति-साहित्य, पृष्ठ ९७।

२. मराठी का भक्त-साहित्य, पृष्ठ ९८ तथा रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १७७।

३. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १७७।

४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २३३।

५. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ७७।

६. हिन्दीकाव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३७।

७. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ८४।

था[१]। रामानन्द द्वारा लिखे १७ ग्रन्थों के नाम लिए जाते है,[२] किन्तु इनमें से श्री वैष्णव-मताब्जभास्कर और श्रीरामार्चनपद्धति ही प्रामाणिक माने जाते हैं[३]। इनका लिखा एक पद आदिग्रन्थ में संग्रहीत है[४]। इसके अतिरिक्त हनुमान स्तुति, शिवरामाष्टक और रज्जबदास के सर्वाङ्गी ग्रन्थ में संकलित पद भी मिले हैं, किन्तु इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में अनेक मत हैं[५]। डॉ० त्रिगुणायत का कथन है कि "रामानन्द ज्ञान, भक्ति, योग एवं वैराग्य—इन चारों के मिलनविन्दु थे। उनकी इस समन्वय-प्रवृत्ति ने सभी परवर्ती सन्तों को प्रभावित किया है[६]।" हम पहले देख चुके हैं कि सन्त कबीर ने स्वामी रामानन्द को ही अपना गुरु माना था और उनके समसामयिक सन्तों ने भी उनसे ही शिष्यत्व ग्रहण किया था। स्वामी रामानन्द के शिष्यों की विचारधाराएँ प्रायः निर्गुण थीं। उन्होंने राम की भक्ति एवं अनन्य शरणागति को प्रधान रूप से ग्रहण किया था। डॉ० श्रीवास्तव का यह कथन वस्तुतः सत्य है कि रामानन्द को पाकर राम-भक्ति-लता समूचे भारतवर्ष की ऊर्वरा भूमि में बहुत ही पल्लवित हुई[७]। स्वामी रामानन्द का देहावसान सन् १४१० (वि० सं० १४६७) में वैशाख शुक्ल तृतीया को माना जाता है[८]।

राघवानन्द

राघवानन्द स्वामी रामानन्द के गुरु थे[९]। वे काशी में रहते थे। उन्हीं के पास रामानन्द की शिक्षा हुई थी और उन्होंने इन्हीं से दीक्षा भी ग्रहण की थी। अगस्त संहिता, नाभादास-कृत "भक्तमाल, भविष्य-पुराण आदि ग्रन्थों से यह बात प्रमाणित है और आधुनिक सभी विद्वान् इससे सहमत हैं[१०]। राघवानन्द स्वामी हर्यानन्द के शिष्य थे, जो रामानुज परम्परा के थे[११]।

राघवानन्द का लिखा एक ग्रन्थ मिला है, जिसका नाम "सिद्धान्त पंचमात्रा" है। डॉ० बड़थ्वाल ने इस ग्रन्थ के आधार पर अनुमान किया है कि इनका साधना-मार्ग योग और प्रेम का समन्वित रूप था[१२]। परशुराम चतुर्वेदी का कथन है कि "उक्त ग्रन्थ की योग-सम्बन्धी बातें

---

१. वही, पृष्ठ ८५। २. वही, पृष्ठ १००।
३. वही, पृष्ठ १५४। ४. वही, पृष्ठ १३९।
५. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १५४।
६. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ २४।
७. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ९८।
८. वही, पृष्ठ ९६।
९. वही, पृष्ठ ८१।
१०. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ८०-८१।
११. वही, पृष्ठ ८२।
१२. योग प्रवाह, पृष्ठ ८।

अधिकतर हठयोग-प्रणाली का अनुसरण करती हैं और उसमें वैष्णवधर्म द्वारा स्वीकृत माला, तिलक, सुमिरनी जैसे विषयों का भी पूरा समावेश है, जिससे सिद्ध है कि उस काल का वातावरण नाथयोगी-सम्प्रदाय के सिद्धांतों एवं साधनाओं द्वारा भी बहुत कुछ प्रभावित रहा[१]।" डॉ० बदरीनारायण श्रीवास्तव ने "सिद्धान्त पंचमात्रा" को राघवानन्द की कृति होने में सन्देह किया है,[२] किन्तु ग्रन्थ में वर्णित विषयों एवं नाथयोगी-सम्प्रदाय के प्रभाव से प्रभावित होने के कारण इसे राघवानन्द की कृति मानने में कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि राघवानन्द रामानन्द के गुरु थे और रामानन्द के शिष्य सन्तों ने सिद्ध तथा नाथयोगी परम्परा से प्रभावित भक्ति का स्रोत प्रवाहित किया था। हम यह भी जानते हैं कि राघवानन्द काशी के एक बड़े योगी थे। उन्होंने अपने योग-बल से ही रामानन्द को मृत्यु से बचाया था तथा उन्हें भी योग की शिक्षा दी थी[३]।

पीपा

सन्त पीपा राजस्थान के गांगरौनगढ़ के राजा थे। इनके समय के सम्बन्ध में मतभेद है। मैकालिफ तथा डॉ० फर्कुहर ने इनकी जन्मतिथि वि० सं० १४८२ मानी है, परशुराम चतुर्वेदी ने इनका समय सं० १४६५ से १४७५ के लगभग माना है[४], किन्तु जनरल कनिंघम ने गांगरौन राज्य की वंशावली के अनुसार पीपा का समय सं० १४१७ से १४४२ के बीच माना है[५]। इसे ही डॉ० बड़थ्वाल[६], डॉ० श्रीवास्तव[७] आदि विद्वानों ने भी स्वीकार किया है। हम भी इसी तिथि के पक्ष में हैं।

सन्त पीपा स्वामी रामानन्द के शिष्य थे। इनके सम्बन्ध मे अनेक चमत्कारिक घटनायें प्रचलित हैं। इन्होंने अपना राजसिंहासन त्याग कर अपनी छोटी रानी सीतादेवी के साथ संन्यास ग्रहण कर लिया था। इन्होंने रामानन्दजी के साथ द्वारिका की यात्रा भी की थी और वहाँ कुछ दिनों तक निवास किया था। वहाँ से लौटते समय पठानों ने इन्हें तथा इनकी रानी को कष्ट दिया था और रानी को छीन लेना चाहा था, किन्तु सफल नहीं हो पाये थे। ये परमभक्त और भक्तों की सेवा करने वाले थे।

इनका एक पद आदिग्रन्थ में संग्रहीत है। कहते है कि "पीपाजी की बानी" नाम से एक ग्रन्थ काशी से प्रकाशित हुआ था, जो अब उपलब्ध नहीं है।

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २२३।
२. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दीसाहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ ८२-८३।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३७।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २२३।
५. आर्कियालाजिकल सर्वे रिपोर्ट, भाग २, पृष्ठ २९५-९७।
६. हिन्दी-काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४०।
७. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १८२।

रैदास

सन्त रैदास का वास्तविक नाम "रविदास" था[१], किन्तु नाभादास[२] और मीराबाई[३] ने इन्हें रैदास नाम से ही स्मरण किया है। इनका जन्म वाराणसी के पास मड़ुआडीह नामक ग्राम में हुआ था[४]। इनके पिता का नाम रग्घू और माता का नाम करमा था[५]। ये चमार जाति के रत्न थे। रैदास ने स्वयं स्वीकार किया है कि "मेरी जाति चमार नाम से विख्यात है"[६]। उन्होंने अपने को "रैदास चमइया"[७] तथा अपने कुल को ढोर ढोने वाली ढेढ जाति का बतलाया है[८]। सन्तकबीर की भाँति ये भी विवाहित थे। इनकी पत्नी का नाम लोना था[९]। ये भी अनपढ़ थे। इन्होंने सत्संग से ही ज्ञानार्जन किया था। ये भी स्वामी रामानन्द के शिष्य थे और कबीर के समसामयिक थे। ये बचपन से ही भक्ति में संलग्न रहा करते थे और भक्ति करने के साथ अपने पैतृक-व्यवसाय को भी करते थे। कहते हैं कि सन्त रैदास जूते बनाते और बेचकर जीविका चलाते थे। कभी-कभी प्रेमपूर्वक अपने बनाये हुए जूतों को सन्तों को भी पहनाकर प्रसन्नता का अनुभव करते थे। इनके ज्ञान और योग की बड़ी ख्याति थी। उच्च वर्ण के लोग भी इन्हें प्रणाम करते थे और इनका शिष्यत्व ग्रहण करते थे। मीराबाई[१०] और झालीरानी[११] भी इन्हीं को अपना दीक्षा-गुरु मानती थीं। सन्त रैदास चित्तौड़ की रानी झाली के निमन्त्रण पर चित्तौड़ गये थे और सिकन्दर लोदी के आमन्त्रण पर दिल्ली भी[१२]। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक बातें प्रचलित हैं।

रैदास के जीवन-काल के सम्बन्ध में भी मतैक्य नहीं है, किन्तु हम डॉ० त्रिगुणायत के मत से सहमत हैं कि रैदास का जन्म माघी पूर्णिमा, रविवार सं० १४७१ को हुआ था और देहावसान १२६ वर्ष की आयु में सं० १५९७ में[१३]। रैदास की कुछ रचनायें ग्रन्थ साहब में संकलित है और उनके पदों के अनेक संकलन भी प्रकाशित हुए हैं। इनमें "रैदासजी की बानी" तथा "सन्त रविदास और उनका काव्य" नामक संग्रह उत्तम हैं। प्रथम संग्रह में

---

१. रविदास ढुवन्ता ढोरनी तितिनी तिआगी भाइआ। —गुरु ग्रन्थ साहिब, राग आसार।
२. सन्देह ग्रन्थि खण्डन विपुन, वाणी विमल रैदास की। —भक्तमाल, पृष्ठ ४५२।
३. गुरु मिल्या रैदास जी दीन्हीं ज्ञान की गुटकी। —मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १०।
४. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ७१। ५. वही, पृष्ठ ७३।
६. ऐसी मेरी जाति विख्यात चमारं।
हृदय राम गोविन्द गुन सारं।—रैदासजी की बानी, पृष्ठ २१।
नीचे से प्रभु ऊंच कियो है, कह रविदास चमारं। —रैदासजी की बानी, पृष्ठ ४३।
७. वही, पृष्ठ ४०। ८. गुरु ग्रन्थ साहब, पृष्ठ ६९८।
९. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ७३-७४।
१०. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५९।
११. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ७८। १२. वही, पृष्ठ ७८।
१३. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३२–३३।

रैदास द्वारा रचित ८७ साखी हैं और द्वितीय में साखियाँ और पद तथा प्रह्लाद-चरित्र हैं। "सन्तबानी संग्रह" में भी इनके पद संग्रहीत हैं।

धन्ना

सन्त धन्ना जाट जाति के थे। ये राजस्थान के टांक जनपद के अन्तर्गत धुअन नामक ग्राम के निवासी थे। बचपन में ही इन्होंने भक्ति में मन लगाया। ये कबीर के समसामयिक तथा रामानन्द के शिष्य थे। इनकी जन्म-तिथि सं० १४७२ विक्रमी (ई० सन् १४१५) मानी जाती है[1]। ये विवाहित तथा कृषि-कर्म से जीवन-यापन करनेवाले सन्त थे। सन्तों की सेवा में अधिक समय व्यतीत करते थे। इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध है कि एक बार इन्होंने खेत में बोने के लिए रखे गेहूँ के बीज को सन्तों को खिला दिया और पिता के भय से बिना बीज के ही खेत में हल चला आये, किन्तु बिना बीज बोये ही पौधे उगे और अच्छी फसल हुई। यह घटना भक्तमाल और उसकी टीका में बहुत ही सुन्दर ढंग से वर्णित है[2]। इस प्रकार की अनेक चमत्कारिक घटनायें इनके सम्बन्ध में प्रसिद्ध हैं। इनके केवल चार पद आदिग्रन्थ में संगृहीत हैं, जिनसे धन्ना के भक्तिभाव और सिद्धान्त पर प्रकाश पड़ता है।

मीराबाई

मीराबाई सन्त रैदास की शिष्या थीं। इनका जन्म राजस्थान के कुड़की नामक ग्राम में सन् १४९८ ई० में हुआ था। इनके पिता रत्नसिंह थे। ये उनकी इकलौती सन्तान थीं। बचपन से ही ये श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहा करती थीं। अनुश्रुति है कि एक बार एक साधु इनके यहाँ आया था। उसके पास गिरिधर की एक सुन्दर मूर्ति थी। उसे देखते ही मीरा ने उसकी ओर आकर्षित होकर माँगा, किन्तु साधु ने उसे दिया नहीं और वहाँ से चलता बना। मीरा ने मूर्ति न पाने के दुःख में खाना-पीना छोड़ दिया। कहते हैं कि साधु ने स्वप्न मे देखा कि भगवान् उससे कह रहे हैं कि मूर्ति को मीरा को दे दे। वह साधु फिर वापस आया और उसे मीरा को प्रदान कर दिया। तब से मीरा भक्तिपूर्वक उस मूर्ति की पूजा करती थीं। यह भी प्रसिद्ध है कि किसी कन्या का विवाह था। मीरा और उनकी माँ बारात को खिड़की से देख रही थीं। मीरा ने वर को देखकर माँ से पूछा "मेरा वर कौन है ?" माँ ने मुस्कराते हुए श्रीकृष्ण की मूर्ति की ओर संकेत कर दिया। बस, तब से मीरा श्रीकृष्ण को ही अपना सब कुछ मानने लगीं।

मीरा का विवाह सन् १५१६ ई० में मेवाड़ के प्रसिद्ध महाराणा साँगा के ज्येष्ठ पुत्र कुँवर भोजराज के साथ हुआ, किन्तु सन् १५१८ के आसपास ही भोजराज का देहान्त हो गया और मीरा विधवा हो गयीं। उन्होंने अब पूर्ण विरक्ति के साथ भक्तिमय जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ किया। वे सत्संग एवं संकीर्तन में निमग्न रहने लगीं। कभी-कभी पैर में घुँघरू

---

१. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १७९।

२. धन्य धन्ना के भगति को बिनहि बीज अंकुर भयो।—भक्तमाल, पृष्ठ ५२१।

बाँधकर भी कृष्ण-भक्ति के आवेश में नाचती थीं। उन्होंने रैदास से दीक्षा ली और साधु-सन्तों का स्वागत-सत्कार करना अपना कर्तव्य बना लिया। उनके परिवार वाले ऐसा नहीं चाहते थे कि सन्तों के सामने एक उच्च कुल की बहू लोकलाज छोड़कर वार्तालाप करे या उनके साथ कृष्ण के आगे नाचे। फलतः उन्होंने मीरा को अनेक प्रकार से सताया। विष तक दिया, किन्तु मीरा का कुछ बिगड़ा नहीं। मीरा ने मेवाड़ छोड़कर पर्यटन किया। वे वृन्दावन और द्वारिका गयीं। वृन्दावन में चैतन्य सम्प्रदायी श्री जीवगोस्वामी से मिलीं और धार्मिक चर्चा कीं। उनका अन्तिम समय द्वारिका में व्यतीत हुआ और वहीं सन् १५४६ में श्री रणछोड़जी की मूर्ति में समा गयीं[1]।

मीराबाई ने अनेक ग्रन्थों की रचनायें की थीं। इनके ग्रन्थों में से नरसीजी रो माहेरो, गीतगोविन्द की टीका, रागगोविन्द, सोरठ के पद, मीराबाई का मलार, गर्वागीत और फुटकर पद के नाम उल्लेखनीय हैं।

झालीरानी

झाली रानी सन्त रैदास की शिष्या थीं। ये चित्तौड़ के महाराणा साँगा की धर्मपत्नी थीं। इन्होंने काशी में जाकर रैदास से शिष्यत्व ग्रहण किया था और उन्हें अपने यहाँ आने का निमन्त्रण भी दिया था। जब रैदास चित्तौड़ पहुँचे तब कुछ ब्राह्मण उनसे शास्त्रार्थ करने आये। वे यह नहीं पसन्द करते थे कि एक रानी चमार सन्त की शिष्या बने। कहते हैं कि सिंहासन पर शालिग्राम की मूर्ति रख दी गयी और उसे अपने पास बुलाने में हार-जीत मानी गयी। ब्राह्मण मन्त्र-पाठ करते ही रह गये, किन्तु मूर्ति हिली तक नहीं, किन्तु जब रैदास ने भक्तिपूर्वक गाया—"पतित पावन नाम कीजिये प्रकट आजु", तब मूर्ति उनके पास आ गयी और ब्राह्मणों ने अपनी हार मान ली। इस घटना से झाली रानी की भक्ति रैदास के प्रति अत्यधिक दृढ़ हो गयी। वे सन्त रैदास के बतलाये हुए भक्ति-मार्ग का अनुसरण करने लगीं और सदा भक्ति में ही तल्लीन रहने लगीं।

कमाल

सन्त कमाल कबीर के औरस पुत्र थे और उन्हीं के शिष्य भी थे। इनके जीवन के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है। बोधसागर[2] के अनुसार कबीर की आज्ञा से कमाल धर्म-प्रचारार्थ अहमदाबाद गये थे। दादू दयाल की गुरु-परम्परा में ये ऊपर पाँचवीं पीढ़ी में माने जाते हैं[3]। इनकी रचनाओं से यह भी प्रगट होता है कि इन्होंने पण्ढरपुर की यात्रा की थी। इन्होंने स्वयं कहा है कि जिस प्रकार दक्षिण भारत में सन्त नामदेव हुए उसी प्रकार उत्तर में कबीर का पुत्र कमाल प्रसिद्ध है। इन्होंने "हम यवन तुम तो हिन्दू" कहकर अपने को मुसलमान होना बतलाया है।

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २७।

२. चले कमाल तब सीस नवाई, अहमदाबाद तब पहुँचे जाई। —बोधसागर, पृष्ठ १५१५।

३. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २४६।

ऐसा जान पड़ता है कि प्रारम्भ में कमाल की कबीर साहब से बनती न थी और कबीर इनसे असन्तुष्ट रहा करते थे। कबीर चाहते थे कि कमाल हरि-भक्ति में लगें, किन्तु वे जीविकोपार्जन में ही अधिक समय व्यतीत करते थे। एक बार किसी सेठ या राजा के प्राप्त धन को ग्रहण कर लेने के कारण कबीर को कहना पड़ा था—

"नाम साहब का बेंचकर, घर लाया धन माल।
बूड़ा बंस कबीर का, जनमा पूत कमाल॥"

सन्त कमाल की जन्म तथा मृत्यु-तिथि के जानने के लिए कोई साधन नहीं है। इनकी समाधि कड़ा-मानिकपुर, झूँसी और मगहर में बतलाई जाती है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि मगहर की समाधि, जो कबीर साहब के रौजे के पास स्थित है, इन्हीं की है[१]।

इनकी साधना

कबीर के समसामयिक सन्त निर्गुण विचारधारा के अनुसार निर्गुण परमात्मा के भक्त थे। सेन नाई तो एक आदर्श हजाम थे, उनकी साधना अद्‌भुत भक्ति से ओत-प्रोत थी। उन्होंने अपने एक मराठी अभंग में अपनी आदर्श-भक्ति का परिचय देते हुए कहा है—"हम पतली हजामत बनायेंगे, विवेक का दर्पण दिखायेंगे, वैराग्य का चिमटा हिलायेंगे, भावार्थ की बगल साफ करेंगे, शान्ति के जल से सिर भिगायेंगे, अभिमान की चोटी दबायेंगे, काम-क्रोध के नाखून काटेंगे और चारों वर्णों की सेवा करेंगे"[२]। सेन की यह दार्शनिक हजामत उनकी साधना की परिचायिका है। वे निर्गुण, निरंजन कमलापति की भक्ति और आरती में ही लगे रहते थे। स्वामी रामानन्द निवृत्ति-मार्ग के उपदेष्टा और साधक थे। "राम" नाम की भक्ति इन्होंने ही प्रारम्भ की। वे भी निराकार ब्रह्म के उपासक थे। उन्होंने मूर्ति-पूजा, स्नान-शुद्धि आदि को व्यर्थ और निरर्थक माना। वे एक निर्गुण ब्रह्म और सतगुरु को मानते थे और इसी भाव से ब्रह्म की भावना में लीन रहते थे। योग आदि में हठयोग को भी मानते थे और इसे उन्होंने राघवानन्द से सीखा था। राघवानन्द साधनामार्ग के योग और प्रेम के समन्वित रूप थे[३]। हठयोग की साधना को मानते थे और सिद्धों तथा नाथों की साधना से प्रभावित थे[४]। सन्त पीपा, रैदास और धन्ना भी निर्गुण साधक थे। ये भी कबीर की भाँति सत्यनाम और हरि का स्मरण करके परमपद की प्राप्ति मानते थे। कबीर ने "सन्तनि में रविदास सन्त हैं" कहकर सन्त रैदास को परम सन्त माना है और इन्हें सन्त मत का सच्चा प्रचारक बतलाया है[५]। रैदास अष्टांग-साधना के प्रचारक थे। इस अष्टांग-साधना के सदन, सेवा, सन्त, नाम, ध्यान, प्रणति, प्रेम और विलय ये आठ अंग थे। इन पर चलकर ही परमपद की प्राप्ति हो

---

१. वही, पृष्ठ २५१।
२. मराठी का भक्ति-साहित्य, पृष्ठ ९७।
३. योग प्रवाह, पृष्ठ ८।
४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २२३।
५. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ २४५।

सकती है। हम आगे देखेंगे कि रैदास की अष्टांग साधना बौद्धधर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग से प्रभावित और उसी का रूपान्तर है। अष्टांगिक मार्ग की सम्यक् समाधि रैदास की सहज समाधि है—

गुरु की सारि, ज्ञान का अच्छर।
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊं[1]।

मीराबाई और झाली रानी रैदास की शिष्यायें थीं और इनपर रैदास की साधना-पद्धति का गहरा प्रभाव पड़ा था। कमाल सन्त कबीर के औरस पुत्र ही थे। उनकी साधना कबीर से बहुत भिन्न न थी। कबीर की भांति उनका भी कथन था—

"काहे कू जंगल जाता बच्चा, अपना दिल रखो रे सच्चा।"
राजा रंक दोनों बराबर जैसे गंगाजल पानी।
मान करो कोई भूपर मारो, दोनों मीठा बानी।।
सुख से बैठो अपने महेल मो, राम भजन नहीं अच्छा है।
अन्तर भीतर भई भरपूर, देखूं सब ही उजाला है।।[2]

ये सबमें एक ज्योति ही मानते हैं और राम-भक्ति ही सब साधनाओं से श्रेष्ठ मानते हैं। इस प्रकार हमने देखा कि कबीर के समसामयिक सन्तों की साधना-पद्धति कबीर से समानता रखती है। ये सभी कबीर की भांति निर्गुण उपासक सन्त थे।

सिद्धान्त

कबीर के समसामयिक इन सन्तों के सिद्धान्त भी बहुत कुछ कबीर के समान ही हैं। सेन नाई ने निरंजन परमात्मा की उपासना की है। "तुम्हीं निरंजन कमलापाती" कहकर उन्होंने भगवान् को अलखनिरंजन माना है और यह भी स्वीकार किया है कि राम की वास्तविक भक्ति रामानन्द जानते हैं जो पूर्ण ब्रह्म को बतलाते हैं, गोविन्द की मूर्ति ही परमानन्द-दायिनी है, उसे ही हृदय में रखना चाहिए, किन्तु हां, मूर्ति साकार नहीं, निराकार, निरंजन और अलख है। उनका गुरुग्रन्थ साहब में संगृहीत पद इसी भाव का द्योतक है—

उत्तम दियरा निरमल बाती, तुम्हीं निरंजन कमलापाती।
राम भगति रामानन्दु जानै, पूरन परमानन्द बखानै।
मदनमूरति मय तमी गुविन्दै, सैन भणय भजु परमानन्दै।।[3]

इनकी दार्शनिक हजामत के सम्बन्ध में लिखा जा चुका है। ये वेद-शास्त्रों को नहीं मानते थे। ग्रन्थ-प्रमाण तथा ब्रह्मा, विष्णु, महेश को कबीर की भाँति ही अस्वीकार कर निर्गुण

---

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ २१६।
२. उत्तरी भारत की सन्त परम्परा के पृष्ठ २५१ से उद्धृत—"श्री सन्तगाथा" का पद।
३. गुरुग्रन्थ साहब।

ब्रह्म के उपासक थे। इन्होंने कबीर और रैदास को सच्चा भक्त माना है और उन्हीं के सिद्धान्तों के अनुसार अनुसरण करने का प्रयत्न किया है—

> वेदहि झूठा शास्त्रहि झूठा, भक्त कहां से पछानी।
> ज्या ज्या ब्रह्मा तू ही झूठा, झूठी साके न मानी॥
> गरुड़ चढ़े जब बिष्णु आया, सांच भक्त मेरे दो ही।
> धन्य कबीरा धन्य रोहिदास, गावे सेना न्हाबी॥[1]

स्वामी रामानन्द के सिद्धान्तों का प्रभाव प्रायः सभी निर्गुण सन्तों पर थोड़ा-बहुत पड़ा था। कबीर और उनके समसामयिक प्रायः सभी सन्त किसी-न-किसी रूप में रामानन्द से प्रभावित या उनके शिष्य थे। स्वामी रामानन्द सर्वत्रव्यापी ईश्वर को मानते थे। उनका वह ब्रह्म केवल एक है, जो सतगुरु की कृपा से प्राप्त होता है, वेद, स्मृति में नहीं, अपने "घट" में ही उस ब्रह्म का दर्शन होता है। उस गुरु की बलिहारी है जिसकी कृपा से उस ब्रह्म का परिचय प्राप्त होता है—

> कहाँ जाइए हो घरि लागो रंग, मेरो चंचल मन भयो अपंग।
> जहाँ जाइए तहँ जल पषान, पूरि रहे हरि सब समान।
> वेद स्मृति सब मेल्हे जेइ, जहाँ जाइए हरि इहाँ न होइ।
> एक बार मन भयो उमंग, घसि चोआ चन्दन चारि अंग।
> पूजत चाली छाइं छाइं, सो ब्रह्म बतायो गुरु आप माइं।
> सतगुरु मैं बलिहारी तोर, सकल विकल भ्रम जारे मोर।
> रामानन्द रमै एक ब्रह्म, गुर कै एक सबद कोटि कोटि क्रम्म।[2]

स्वामी रामानन्द ने स्मरण, भजन और साधु-सत्संग से आभ्यान्तरिक कलुष को धोने का मार्ग निर्दिष्ट किया है[3]।

राघवानन्द नाथों के हठयोग से प्रभावित थे। उन्होंने अवधूत-वेष धारण किया था। "गुरु प्रकारी" नामक ग्रन्थ में लिखा है—

> श्री अवधूत वेष को धारे, राघवानन्द सोई।
> तिनके रामानन्द जग जाने, कलि कल्यान मई॥[4]

इससे स्पष्ट है कि राघवानन्द सिद्ध-नाथों से प्रभावित सिद्धान्त के अनुगामी थे और निर्गुण भक्ति का प्रभाव उनपर पूर्व सन्तों का पड़ा था।

---

१. मराठी का भक्ति साहित्य, पृष्ठ ९८।

२. आदिग्रन्थ, रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी साहित्य पर उसका प्रभाव, पृष्ठ १३९-४० से उद्धृत।

३. सुमिरन भजन साधकी संगति अन्तरि मन बैल न धोयो रे।
—हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ३९।

४, योगप्रवाह, पृष्ठ २-३।

पीपा इस काया में ही सब कुछ मानते थे। भगवान् बुद्ध ने कहा था—"मैं इसी व्याम (चार हाथ) मात्र संज्ञा-विज्ञान सहित वाले शरीर में लोक को भी प्रज्ञप्त करता हूँ, लोक के समुदय (उत्पत्ति), लोक के निरोध और लोक के निरोध की ओर ले जाने वाली प्रतिपदा (मार्ग) को भी[1]।" उसी प्रकार पीपा भी इस शरीर में ही इष्टदेव, देवालय, धूप, दीप, नैवेद्य आदि पूज्य एवं पूजा-सामग्री को विद्यमान मानते थे।

वे यह मानते थे कि सत्यगवेषी को यहीं सारी वस्तुयें प्राप्त हो जाती है, किन्तु उन्हें प्राप्त करने के लिए सतगुरु का आश्रय आवश्यक है। पीपा की वाणी में बौद्धधर्म के अनात्मवाद की भी झलक मिलती है। उनका कथन है कि जब व्यक्ति उत्पन्न होता है तब इस शरीर में बाहर से कुछ आता नहीं है और मरते समय न तो यहाँ से बाहर कुछ जाता ही है—"ना कछु आइबो ना कछु जाइबो[2]।" यही बात बौद्धधर्म के प्रसिद्ध ग्रन्थ विशुद्धिमार्ग में कही गयी है—

"दुःख ही उत्पन्न होता है, दुःख ही रहता है और दुःख ही नाश होत है। दुःख के अतिरिक्त दूसरा नहीं उत्पन्न होता और न दुःख के अतिरिक्त दूसरा निरुद्ध होता है[3]।"

भाव यह है कि यह शरीर दुःखमय है। उत्पन्न होते समय दुःख मात्र ही उत्पन्न होता है और मरते समय भी दुःख ही शान्त होता है, अन्य कोई जीव या सत्व आता या जाता नहीं है। और भी वहीं कहा है—

"न चितो गच्छति किञ्चि,
पटिसन्धि च जायति।[4]

अर्थात् मरते समय इस शरीर से निकल कर कोई आत्मा या जीव जाता नहीं है, किन्तु बिना कुछ गये ही पुनर्जन्म होता है।

इस प्रकार पीपा ने बाह्य-शुद्धि का निषेध और नैरात्म्यवाद, सतगुरु-सेवा तथा परमतत्व को स्वीकार किया है। सिद्धों और नाथों के समान ही शरीर में सभी तीर्थों की स्थापना की है। घट को ही उन्होंने मठ माना है। सिद्धों के "सअलु निरन्तर बोहि ठिअ"[5], "नियरे बोधि ना जाहु रे लंक"[6], "देहहि बुद्ध बसन्त न जाणइ"[7], "देहा सरिस तित्थ, मइ सुणउ ण दिट्ठउ[8]" कथन के सदृश ही पीपा ने काया मे तीर्थ, मन्दिर, परमतत्व एवं सर्वव्यापी निर्गुण राम को माना है और इसी में परमतत्व का साक्षात्कार सम्भव बतलाया है। सिद्धों की भाँति गुरु-महिमा उन्होंने स्वीकार की है और शास्ता की भाँति सतगुरु को मार्गोपदेष्टा माना है—

---

१. विशुद्धिमार्ग भाग १, पृष्ठ १८२। २. सन्तबानी संग्रह भाग २, पृष्ठ २७।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ १९८। ४. वही, पृष्ठ २०७।
५. सिद्ध सरहपा, दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।
६. दोहाकोश, पृष्ठ ३५९। ७. वही, पृष्ठ ६५।
८. वही, पृष्ठ २२।

काया देवा काया देवल, काया जंगम जाती।
काया धूप दीप नैबेदा, काया पूजों पाती।।

काया बहु खँड खोजते, नव निद्धी पाई।
ना कछु आइबो ना कछु जाइबो राम की दुहाई।।

जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे, जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रनवै परमतत्व ही, सतगुरु होय लखावै।।[१]

सन्त रैदास निर्गुण ब्रह्म के उपासक थे। वे निर्गुण ब्रह्म को ही सर्वश्रेष्ठ मानते थे[२]। वे उस ब्रह्म को राम, हरि, माधव, गोविन्द, मुकुन्द, मुरारि आदि नामों से पुकारते थे, किन्तु उसे दशरथ-पुत्र राम अथवा गोकुल के नायक कृष्ण से भिन्न मानते थे। सांसारिक लोग जिसे "राम, राम" या "कृष्ण, कृष्ण" कहकर पुकारते हैं, वह राम या कृष्ण रैदास के नहीं हैं[३]। उनका राम तो अलख है, निरंजन है, निराकार है, निर्गुण है, अगोचर और निर्विकार है[४], उसका कहीं स्थान नहीं है, वाणी से उसे बतला सकना सम्भव नहीं है[५]। वह घट-घट में विद्यमान है[६]। उसका कोई रूप-रंग नहीं है[७]। कनक-कुण्डल, सूत-वस्त्र, जल-तरंग तथा पत्थर-प्रतिमा में जिस प्रकार एक ही तत्व है, उसी प्रकार ब्रह्म और आत्मा में अन्तर नहीं है[८]। तथागत के समान रैदास ने भी मनुष्य-जीवन दुर्लभ बतलाया है। धम्मपद में भगवान् बुद्ध ने कहा है—"किच्छो मनुस्सपटिलाभो[९]" और रैदास ने इसी को इस प्रकार दुहराया है—"मनुषावतार दुर्लभ"[१०]। कर्म-फल को मानते हुए रैदास ने कहा है कि व्यक्ति जैसा कर्म करता है, वैसा फल भोगता है[११]। वह आवागमन[१२] और स्वर्ग-नरक[१३] का चक्कर काटता है। बाह्याडम्बरों को त्याग कर संसार तथा शरीर को अनित्य एवं अशुभ समझ कर[१४] निर्गुण राम की

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २६-२७।

२. निरगुन को गुन देखौं आई।
देहीं सहित कबीर सिधाई।। —रैदासजी की बानी पृष्ठ ३३।

३. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १००।

४. वही, पृष्ठ ११८।

५. वही, पृष्ठ १०१।

६. सब घट अन्तर राम निरन्तर, मै देखन नहिं जाना।
—सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १०१।

७. अवरण वरण रूप नहिं जाकै—वही, पृष्ठ १०१।

८. वही, पृष्ठ ११८।

९. धम्मपद गाथा १८२।

१०. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११३।

११. जो कुछ बोया लूनिये सोई।
ता में फेर फार कस होई।। —वही, पृष्ठ १९३।

१२. वही, पृष्ठ १०८।

१३. वही, पृष्ठ १३५।

१४. वही, पृष्ठ १२५, १३४।

भक्ति करने से ही परमपद की प्राप्ति हो सकती है[१]। जीवन की मुक्ति निर्वाण मात्र है[२]। रैदास ने जप, तप[३], स्नान-शुद्धि[४], मूर्ति-पूजा[५] आदि को व्यर्थ कहा है। इनसे परमपद निर्वाण की प्राप्ति नहीं हो सकती। रैदास ने शून्य, सहज-समाधि, सुरति, निर्वाण, सतगुरु, हठयोग आदि को माना है और परमपद प्राप्त करने के लिए अष्टांग-साधना के मार्ग का निर्देश किया है जिसका संकेत पहले किया जा चुका है। बौद्धधर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग के शील, समाधि और प्रज्ञा तीन स्कन्धों में विभक्त होने की भाँति यह भी तीन अंगों में विभक्त है—(१) बाह्य अंग, (२) आभ्यान्तरिक अंग, (३) अन्तिम अवस्था। "सन्त रविदास और उनका काव्य[६]" के लेखकों ने अष्टांग-साधना को निम्नलिखित प्रकार से माना है—

१. सदन २. सेवा ३. सन्त	बाह्यांग
४. नाम ५. ध्यान ६. प्रणति	आभ्यान्तरिक अंग
७. प्रेम ८. विलय	अन्तिम अवस्था

किन्तु परशुराम चतुर्वेदी ने सदन को गृह कहा है और विलय को समाधि[७]। रैदास मानते थे कि परमपद की प्राप्ति के लिए गृह-त्यागकर संन्यासी बनने की आवश्यकता नहीं है, उसे सदन में रहकर ही प्राप्त किया जा सकता है, गृहस्थ-जीवन में रहते हुए भी आसक्ति नहीं होनी चाहिए। सन्तों की संगति और उनकी सेवा भक्त का परम कर्तव्य है। वास्तव में सन्त की सेवा से ही सत्संग प्रारम्भ होता है, इस प्रकार अष्टांग साधना के ये तीन बाह्यांग हैं। नाम-स्मरण के महत्व को बतलाते हुए रैदास ने कहा है—"कलि केवल नाम अधारा[८]।" नाम-स्मरण के साथ ही हरि का ध्यान, प्रणति अथवा भक्ति भी आवश्यक है, इसीलिए सन्त रैदास ने कहा है—

> हृदय सुमिरन करौं नैन अवलोकना, स्रवनौं हरिकथा पूरि राखूं।
> मन मधुकर करौं चरनन चित्त धरौं, राम रसायन रसना चाखूं ॥
> साधु संगति बिना भाव नहिं उपजै, भाव बिन भगति नहिं होय तेरी।
> ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन पवन दृढ़ सुषमन नारी ॥[९]

---

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १२४।
२. वही, पृष्ठ ९६।
३. वही, पृष्ठ ११९।
४. वही, पृष्ठ १०८।
५. वही, पृष्ठ ११५।
६. वही, पृष्ठ २०७।
७. उत्तरी भारत की सन्तपरपरा, पृष्ठ २४५।
८. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ १०८।
९. वही, पृष्ठ २१३।

अष्टांग साधना का सातवाँ अंग प्रेम है। इसकी पूर्ति के लिए तन, मन देकर लगने पर ही 'राम रसायन" का रसास्वाद लिया जा सकता है[1]। जब भक्त प्रेम की पूर्णता को प्राप्त कर लेता है तब विलय, अथवा समाधि की प्राप्ति होती है। यह सहजावस्था अथवा सहज-समाधि ही है, रैदास ने इसे ही बतलाते हुए कहा है—

गुरु की सारि ज्ञान का अच्छर।
बिसरै तौ सहज समाधि लगाऊँ॥[2]

यह सहज-समाधि की अवस्था ही परमानन्द की अवस्था है, इसी को प्राप्त करने के लिए अष्टांग साधना की आवश्यकता है। इसे प्राप्त कर इस साधना का परम लक्ष्य पूर्ण हो जाता है। वास्तव में अष्टांग-साधना रैदास की ही साधना की देन है, किन्तु इस पर परम्परागत बौद्ध-साधना के आर्य अष्टांगिक मार्ग का प्रभाव पड़ा है और उसी प्रभाव से इस साधना का भी विभाजन आदि हुआ है। आर्य अष्टांगिक मार्ग का विभाजन इस प्रकार हुआ है—

१. सम्यक् दृष्टि २. सम्यक् संकल्प	प्रज्ञा
३. सम्यक् वाणी ४. सम्यक् कर्मान्त ५. सम्यक् आजीविका	शील
६. सम्यक् व्यायाम ७. सम्यक् स्मृति ८. सम्यक् समाधि	समाधि

अष्टांग साधना के बाह्यांग शील के ही अंग हैं और आभ्यान्तरिक अंग प्रज्ञा के, क्योंकि संयमपूर्वक घर-गृहस्थी में रहकर भक्ति करना, सेवा-सत्संग में लगना—ये सब शील के ही अंग हैं तथा ज्ञान (प्रज्ञा) द्वारा ही नामस्मरण, ध्यान एवं प्रणति को जानकर तद्नुरूप लीन होना सम्भव है, अतः ये प्रज्ञा के अंग हैं और प्रेम एवं विलय की पूर्णता स्मृति (सुरति) तथा सहज-समाधि में ही सम्भव हैं, अतः ये अन्तिम अंग हैं। इस प्रकार अष्टांग-साधना को भी शील, समाधि और प्रज्ञा के अनुसार तीन स्कन्धों में विभक्त किया जा सकता है और अष्टांगिक मार्ग का भी निरूपण इस साधना में सम्भव है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि रैदास ने आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही उपदेश दिया है, प्रत्युत इससे केवल इतना ही समझना चाहिए कि रैदास की साधना पर सन्त-परम्परा द्वारा आनीत बौद्ध साधना का प्रभाव पड़ा था और रैदास को अष्टांग-साधना के विचार बौद्धधर्म से ही अप्रत्यक्ष रूप में प्राप्त हुए थे। इन दोनों साधनाओं का अन्तिम लक्ष्य निर्वाण-पद की प्राप्ति है। भगवान् बुद्ध ने कहा था—"निब्बानं परमं सुखं[3]"

१. तन मन देय न अन्तर राखै, राम रसायन रसना चाखै। —वही, पृष्ठ २१६।
२. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ २१६।
३. धम्मपद, गाथा २०३।

और रैदास ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए गाया था—"जीवन मुक्ति सदा निरवाण[१]" और "संसा सकल निवारं[२] ।" शून्य-विमोक्ष से विमुक्त होने के समान ही रैदास ने भी "सहज सुन्न में रह्यो बिलाई[३]" कहा है। और इस प्रकार बौद्धधर्म से प्रभावित रैदास की साधना का अन्तिम फल भी बौद्ध-साधना से प्राप्त परम-सुख शान्त निर्विकार, आदि-अन्त रहित, परमपद निर्वाण ही है जो सहज शून्य, सत्य और जीवन-मुक्ति-स्वरूप है[४] ।

धन्ना उसी गोविन्द में मन लगाने का उपदेश देते थे, जिसमें मन लगाकर छीपी जाति के नामदेव लखपती हो गये, जुलाहा जाति के कबीर महाज्ञानी हो गये, मरे हुए पशुओं को ढोनेवाली जाति के रैदास ने हरि का दर्शन पा लिया, सेन नाई परमभक्त हो गये और स्वयं धन्ना को भी प्रत्यक्ष उस गोस्वामी के दर्शन हुए[५] । धन्ना आवागमन तथा पुनर्जन्म को मानते थे[६] । गुरु-सेवा, सत्संग और सन्त-समागम से ही परम-पुरुष को जाना जा सकता है, वह ब्रह्म दयालु है, माता के पेट में उसी से जीव की रक्षा होती है, वह पूर्ण और परमानन्द है, अतः धन्ना ने उस गोपाल की भक्ति करते हुए अपने लिए प्रार्थना की है—"हे गोपाल, मैं तेरी आरती करता हूँ, तू अपने भक्तों के मनोरथ पूर्ण किया करता है, अतः मैं भी अपने लिये तुझसे भोजन-सामग्री (सीधा), दाल, घी, जूते, वस्त्र, अन्न, दूध देने वाली गाय, भैंस और तेज घोड़ी तथा स्वस्थ एवं सुन्दर पत्नी माँगता हूँ[७] ।"

मीराबाई गिरधर नागर की भक्ति में तल्लीन रहने वाली महिला सन्त थीं, उनके गिरधर नागर पूर्ण ब्रह्म[८], निरंजन[९], रामनाम से अभिहित[१०], अन्तर्यामी[११] और अविनासी[१२] हैं। परमपद[१३] की प्राप्ति के लिए सतगुरु-सेवा[१४], साधु-संगति[१५], हरिस्मरण[१६], आदि आवश्यक है, इसके लिए शील-पालन[१७], सन्तोष[१८], आदि गुणधर्म भी अपेक्षित हैं। स्नान-शुद्धि[१९], तीर्थ-यात्रा[२०], संन्यास-ग्रहण निरर्थक हैं, अतः संसार-सागर को पारकर परमपद को प्राप्त करने के

---

१. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६। २. वही, पृष्ठ ११९ ।
३. वही, पृष्ठ २१ । ४. वही, पृष्ठ ११८ ।
५. सन्त काव्य, पृष्ठ २२९ ।
६. भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने, तनु मनु धनु नहीं धीरे ।
—वही, पृष्ठ २२९ ।
७ सन्त काव्य, पृष्ठ २३० । ८. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २४४ ।
९. वही, पृष्ठ २४४ । १०. वही, पृष्ठ २४१ ।
११. वही, पृष्ठ १२७ । १२. वही, पृष्ठ १३० ।
१३. वही, पृष्ठ १४७ । १४. वही, पृष्ठ १३४ ।
१५. वही, पृष्ठ १५९ । १६. वही, पृष्ठ १५९ ।
१७. मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ १०९, १५८, २४४ ।
१८. वही, पृष्ठ २४४ । १९. वही, पृष्ठ १०८ ।
२०. वही, पृष्ठ १११, १४१, १५९ ।

लिए सिद्धों की भाँति खाते-पीते, साधु-सत्संग करते हरि-स्मरण करना चाहिए[१], गंगा-यमुना में स्नान करने से कुछ नहीं होगा, क्योंकि—

अठसठ तीरथ सन्तों ने चरणे।
कोटि कासी ने कोटि गंग रे॥[२]

वेष-धारण से भी मुक्ति सम्भव नहीं—

कहाँ भया थां भगवा पहरचां।
घर तज लयां संन्यासी॥[३]

रामनाम का स्मरण बिना किये मुक्ति नहीं मिलेगी और चौरासी का चक्कर लगा रहेगा[४]। नरक-कुंड[५] और अमरापुर[६] का आवागमन नहीं छूटेगा। जो हरि के रंग में रंग जाता है वह अन्त में परम ज्योति में मिल जाता है[७]। इन बातों का ज्ञान गुरु से ही होता है जो गुरु-सहित होता है, वही अमृत-पान करता है, गुरु-रहित (निगुरा) तो प्यासा ही चला जाता है[८]।

मीरा ने अनाहत नाद[९], आत्मा को हंस[१०], शरीर को अनित्य-अशुभ[११], पूर्वकृत पुण्य[१२], कर्म-फल[१३], आवागमन[१४], स्वर्ग-नरक[१५], उच्चकुलीनता का निषेध[१६], ब्रह्म को सगुण[१७] तथा निर्गुण दोनों ही मानते हुए योगी[१८], अवतारी-पुरुष[१९] तथा अविनासी[२०] माना है। इस प्रकार मीरा के भगवान् कबीर के गगन-गुफा में रहने वाले निर्गुण ब्रह्म की भाँति दूर स्थित ऊँचे महल के रहने वाले हैं[२१], वही मीरा के प्रियतम हैं जो गगन-मण्डल में सेज बिछाकर सोने वाले हैं[२२], उनके पास पहुँचने का मार्ग विघ्नों से परिपूर्ण है[२३], वे दूर होते हुए भी पास हैं, वे मीरा के हृदय में निवास करते हैं[२४], मीरा उन्हें अपने नयनों में बसाना चाहती हैं, जहाँ

१. वही, पृष्ठ १५९।
२. वही, पृष्ठ १११।
३. वही, पृष्ठ १५९।
४. वही, पृष्ठ १४७।
५. वही, पृष्ठ १११।
६. वही, पृष्ठ २४३।
७. मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ ११६।
८. वही, पृष्ठ २४६।
९. वही, पृष्ठ २४४।
१०. वही, पृष्ठ १५८।
११. वही, पृष्ठ १५९।
१२. वही, पृष्ठ १०८।
१३. वही, पृष्ठ १५७।
१४. वही, पृष्ठ १४७।
१५. वही, पृष्ठ १११, २४३।
१६. वही, पृष्ठ १४२, १४३।
१७. वही, पृष्ठ १०२।
१८. वही, पृष्ठ १३६।
१९. वही, पृष्ठ १०२, "नन्द जसोदा पुन्न री प्रगटचां प्रभु अविनासी।"
२०. वही, पृष्ठ १०२।
२१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २४६।
२२. गगन मण्डल में सेज पिया की केहि विधि मिलना होइ।
२३. वही, पृष्ठ २४५।
२४. मीरांबाई की शब्दावली, पृष्ठ १०।

"त्रिकुटी" के झरोके से वे झाँका करेंगी तथा "सुन्न" महल मे सुख की सेज बिछायेंगी, उस भगवान् का कोई रूप-रंग नहीं है। मीरा के गिरधर नागर योगी स्वरूप भी है जिनकी गति अद्भुत है—

तेरो मरम नहिं पायो रे जोगी।
आसण मांडि गुफा में बैठो ध्यान हरी को लगायो।[1]
गल बिच सेली हाथ हाजरियो, अंग भभूति रमायो।
मीरां के प्रभु हरि अविनासी भाग लिख्यो सो ही पायो॥[2]

डॉक्टर श्रीकृष्णलाल का यह कथन समीचीन है कि "मीरा के गिरधर नागर का जो योगी स्वरूप है उस पर स्पष्टतः नाथ-सम्प्रदाय के योगियों का प्रभाव दिखाई देता है। राजस्थान में नाथ सम्प्रदाय के योगियों का पर्याप्त प्रभाव था। डॉ० बड़थ्वाल का अनुमान है कि प्रसिद्ध योगी करपटनाथ राजपूताने के निवासी थे, उसके पश्चात् सिद्ध धूँधलीमल और गरीबनाथ राजस्थान के प्रसिद्ध योगी हुए हैं जिनका उल्लेख नैणसी की ख्यात में मिलता है। ऐसा जान पड़ता है कि मेवाड़ में आने से पहले मीरा इन योगियों से प्रभावित हो चुकी थीं। ये योगी भगवान् को योगी के रूप में देखते थे[3]।" योगी की पूर्व परम्परा पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने यह भी लिखा है कि "महायान में योगी बुद्ध के स्थान पर बोधिसत्व की प्रतिष्ठा की गयी, परन्तु वज्रयानी बौद्धों तथा सिद्धों ने और उन्हीं के प्रभाव से नाथों ने अपने भगवान् को योगी के रूप में स्वीकार किया[4]।"

इस प्रकार मीरा के राम निर्गुण ब्रह्म भी हैं, सगुण रूप भगवान् श्रीकृष्ण भी हैं और योगी स्वरूप भी हैं। मीरा के 'योगी' के प्रति पद्मावती 'शबनम' ने लिखा है—"सम्भव है.... प्राप्त सामग्री की मनोवैज्ञानिक विवेचना तथाकथित मीरा के पदों में प्रायः सर्वत्र प्राप्त किसी योगी विशेष के प्रति गहरे व्यक्तिगत दाम्पत्य सम्बन्ध को व्यक्त करने वाले अन्तःस्रोत का स्पष्टीकरण कर सके[5]।" किन्तु श्री परशुराम चतुर्वेदी के विचारों से हम भी सहमत हैं कि "इससे मीरा का अपने गिरधर नागर को एक साधारण-सा नश्वर व्यक्ति मान बैठना सूचित नहीं होता, प्रत्युत उनकी आसक्ति की प्रगाढ़ता व्यक्त होती है। मीरा के लिए वह सदा उसी रूप में उपास्य है जो "जोगिया चतुर सुजाण सजणी, ध्यावै संकर सेस" द्वारा प्रकट किया गया है[6]।" शबनमजी की सम्भावना सर्वथा ही भ्रामक है, क्योंकि मीरा ने कृष्ण को ही योगी और अपने को उनकी पूर्व जन्म की गोपिका माना है—

धूतारा जोगी एक बेरिया मुख बोल रे।
रास रच्यो बंसी बट जमुना ता दिन कीनी कोल रे।
पुरब जनम की मैं हूँ गोपिका अधबिच पड़ गयो झोल रे॥[7]

---

१. मीरांबाई, पृष्ठ १२७।
२. मीरांबाई की पदावली, पृष्ठ १५७।
३. मीरांबाई, पृष्ठ १२९।
४. वही, पृष्ठ १२८।
५. मीरा, एक अध्ययन, पृष्ठ १२६।
६. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ २२८।
७. मीरा वृहद् पद-संग्रह, पृष्ठ २९९।

यही नहीं, योगी के रूप में भगवान् को प्राप्त करने के लिए उन्होंने स्वयं योगिनी बन जाना उचित समझा है—

जोगण होइ मैं वण-वण हेरूँ तेरा न पाया भेस,
जोगिया के कहज्यो जी आदेस।
माला मुद्रा मेखलाँ रे, बाला खप्पर लूंगी हाथ,
जोगिण होइ जग ढूंढ़ सूं रे म्हारां रावलिया री साथ ।।[1]

झालीरानी रैदास के सिद्धान्त से ही प्रभावित थीं, और कमाल कबीर के आत्मज ही थे। श्री परशुराम चतुर्वेदी ने कमाल के सिद्धान्तों के सम्बन्ध में लिखा है—"इनकी विचार-धारा का भी मूलस्रोत कबीर साहब के ही निर्मल जलाशय से लगा हुआ था। ये बाह्य विडम्बनाओं से सदा दूर रहते रहे और उन्हीं की भाँति एक शुद्ध निष्कपट तथा स्वतन्त्र जीवन व्यतीत करने का उपदेश भी देते रहे। ये उन्हीं की भाँति खरी-चुटीली बातों के कहने में भी निपुण हैं, किन्तु अपने आचरण में ये सदा नम्रभाव के व्यवहार करते जान पड़ते हैं[2]।" सन्त कमाल का कथन था कि तीर्थ-व्रत से कोई लाभ नहीं है, सांसारिक आसक्ति छोड़कर रामनाम का स्मरण करने से ही परमपद की प्राप्ति होगी, अतः जहां व्यक्ति रहे वहीं बैठकर सत्य को पहचानने का प्रयत्न करे—

राम सुमरो राम सुमरो, राम सुमरो भाई।
कनक कान्ता तजकर बाबा, अपनी बादशाही ।।
देस बदेस तीरथ बरतये, कछु नहीं काम।
बैठा जगा सुख से ध्यावो, अखिल राजाराम ।।
कहे कमाल इतना वचन, पुरानों का सार।
झूठा सच्चा आपनो दिलमो, आपही आप पछाननहार ।।[3]

बौद्ध-विचारों का समन्वय

कबीर के समसामयिक सन्तों की वाणियों में बौद्ध-विचारों का अद्भुत समन्वय पाया जाता है। इन सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव किसी न किसी रूप से अवश्य पड़ा था। ये बौद्धधर्म से अपरिचित होते हुए भी बौद्ध-विचारों के अनेक अंशों के अनुगामी, प्रचारक तथा प्रवक्ता थे। कुछ भ्रमणशील सन्तों पर गुजरात, बंगाल, आसाम आदि प्रदेशों के बौद्धों का प्रभाव पड़ना भी असम्भव न था, किन्तु प्रत्यक्षतः इसका प्रमाण उपलब्ध नहीं है। सन्त-परम्परा से प्राप्त विचारों का प्रभाव इन पर था ही और उन्हीं द्वारा प्रायः इन पर बौद्ध-विचारों का प्रभाव पड़ा जान पड़ता है। अब हम इन सन्तों के उन विचारों पर प्रकाश डालेंगे जो बौद्धधर्म से प्रभावित हैं अथवा जिनके द्वारा बौद्धधर्म की किसी मान्यता को प्रकट किया गया है।

---

१. वही, पृष्ठ ५४ तथा १८१।
२. सन्त काव्य, पृष्ठ २२६।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ २२७।

सन्त सेन नाई निरंजन ब्रह्म को मानते थे और निरंजन ब्रह्म सिद्धों तथा नाथों की देन थी। "वेदहि झूठा, शास्त्रहि झूठा" कहकर उन्होंने ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध किया है। यह बौद्धधर्म का प्रमुख सिद्धान्त है। बौद्धधर्म ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर विश्वास नहीं करता[1]। इस सम्बन्ध में पहले पर्याप्त प्रकाश डाला जा चुका है।

स्वामी रामानन्द सिद्धों के "सर्वत्र निरन्तर व्याप्त बोधि" की विचार-धारा से प्रभावित होकर "हरि को सर्वत्र व्याप्त" मानते थे। ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध, गुरु-सेवा से ज्ञान-प्राप्ति, सतगुरु को मार्गोपदेष्टा मानना आदि सिद्धों के प्रभाव का द्योतक है। धुतांगधारी बौद्ध-योगियों की प्रवृत्ति का भी प्रभाव रामानन्द पर पड़ा था और उसी प्रभाव से उन्होंने अवधूत वेष धारण किया था। स्वामी राघवानन्द पर बौद्ध-प्रभाव पड़ने की ओर संकेत किया जा चुका है।

सन्त पीपा इस शरीर में ही ज्ञान की प्राप्ति मानते थे और बौद्धधर्म की यह भावना सिद्धों से उन्हें प्राप्त हुई थी। उनकी वाणी में प्राप्त बौद्धधर्म के नैरात्म्यवाद के प्रभाव से ऐसा विदित होता है कि सन्त पीपा को अपनी गुजरात-यात्रा में किसी बौद्ध-विचारधारा से प्रभावित सन्त या विद्वान् से सत्संग करने का अवसर प्राप्त हुआ था, तभी उन्होंने गाया है—" ना कछु आइबो, ना कछु जाइबो"। पीपा की इस विचारधारा का बौद्ध-विचार होना स्पष्ट रूप से प्रकट है। सतगुरु, घटघट व्यापी ब्रह्म आदि को भावना भी बौद्धधर्म से ही उन्हें प्राप्त हुई थी।

सन्त रैदास की वाणियों में बौद्ध-विचारों का पर्याप्त समन्वय मिलता है और यह समन्वय-वृत्ति सिद्धों तथा नाथों की परम्परा से इन तक पहुँची थी। पहले हमने बतलाया है कि रैदास की अष्टांग साधना बौद्धधर्म के आर्य अष्टांगिक मार्ग का ही प्रतिरूप है। निर्वाण, सहज-शून्य, सहज समाधि, वज्र, हठयोग, उल्टी साधना, अनित्य, अशुभ आदि की भावना, परमतत्व आदि रैदास पर बौद्ध-प्रभाव के द्योतक हैं। रैदास का सहज-शून्य बौद्धधर्म का निर्वाण ही है। ज्ञान प्राप्त होने के पश्चात् प्रदीपवत् शान्त हो जाना ही निर्वाण है, उस अवस्था में 'ईश्वर' और 'आत्मा' दोनों ही नहीं होते, वह दोनों से रहित सहज शून्य नाम से अभिहित होता है—

> पहले ज्ञान का किया चांदना पाछे दिवा बुझाई।
> शून्य सहज में दोऊ त्यागे, राम कहुं न खुदाई॥[2]

बौद्धधर्म कार्य-कारण के सिद्धान्त को मानता है, जिसे प्रतीत्य-समुत्पाद कहते हैं[3]। संत रैदास ने भी प्रतीत्य समुत्पाद के सिद्धान्त को माना है। उनका कथन है कि फल के लिए ही वृक्ष पुष्पित होता है, किन्तु जब फल उत्पन्न हो जाता है, तब पुष्प नष्ट हो जाता है, ऐसे ही ज्ञान-प्राप्ति के लिए कर्म किया जाता है, किन्तु ज्ञान के उत्पन्न होते ही कर्म नष्ट हो जाता है—

> फल कारन फूलै बनराय, उपजै फल तब पहुप बिलाय।
> ज्ञानहि कारन कर्म कराय, उपजै ज्ञान तो कर्म नसाय॥[4]

---

१. अंगुत्तर निकाय, कालाम सुत्त।
२. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
३. देखिये, पहला अध्याय, पृष्ठ ३८।
४. वही, पृष्ठ १।

बौद्धधर्म के अनुसार कुशल-कर्मों का संचय उसी समय तक करते हैं जब तक कि ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो जाती, जब ज्ञान प्राप्त हो जाता है तब पुण्य-पाप दोनों से रहित हो व्यक्ति अर्हत् हो जाता है। उसके कर्म केवल "अहोसि कर्म" होते हैं, उनका कोई फल नहीं होता और उस अवस्था के प्राप्त होने पर कर्म को नष्ट हुआ ही कहा जाता है, उसे प्राप्त व्यक्ति "कृतकरणीय", "क्षीण-आस्रव" और मुक्त हो जाता है। उदान में कहा गया है कि जो व्यक्ति इस तथ्य को जान लेता है, जिसे इस धर्म का पूर्ण बोध हो जाता है, उसकी सारी कांक्षायें मिट जाती हैं, क्योंकि वह हेतु के साथ धर्म को जान लिया होता है[1]। जिस प्रकार घी के लिए दही को मथते हैं, उसी प्रकार निर्वाण की प्राप्ति के लिए कर्म भी करते हैं, किन्तु जब निर्वाण का साक्षात्कार हो जाता है तब कुशल-अकुशल कर्म समाप्त हो जाते हैं। रैदास ने इसी भाव को प्रकट करते हुए गाया है—

घृत कारण दधि मथै सुआन।
जीवन मुक्ति सदा निरवाण ।।[2]

डॉ० धर्मवीर भारती ने रैदास की वाणी में बौद्ध वज्रयान के तत्व को भी पाया है और उन्होंने लिखा है—"सन्त वज्र के या मणि के उस अर्थ को तो भूल चुके थे किन्तु सहज-पद्धति के साथ चित्त को मणि अथवा हीरा बनने की प्रक्रिया उनकी परम्परा में अवशिष्ट रह गयी थी[3]।" सन्त रैदास ने इसी पद्धति का अनुसरण किया था—

पीवत डाल फूल फल अमृत,
सहज भई मति हीरा।[4]

पहले हम बतला आये हैं कि हठयोग बौद्धयोग की देन है और रैदास ने हठयोग के पवन-निरोध, सुष्मना नाड़ी, अनाहत शब्द आदि की भावना पर बल दिया है, इससे स्पष्ट है कि उन्हें बौद्ध-स्रोत से ही यह भावना प्राप्त हुई थी—

ऐसा ध्यान धरौं बनवारी, मन-पवन दृढ़ सुषमन नारी।
सो जप जपूं जो बहुरि न जपना, सो तप तपूं जो बहुरि न तपना ।।
सो गुरु करूँ जो बहुरि न करना, ऐसो मरूँ जो बहुरि न मरना।
उलटी गंग जमन में लाऊँ, बिन ही जल मज्जन ह्वै पाऊँ ।।
लोचन भरि भरि बिम्ब निहारौं, जोति विचारि न और विचारौं।
पिंड परै जिव जस घर जाता, शब्द अतीत अनाहद राता ।।[5]

---

१. उदान, हिन्दी, पृष्ठ २, ३।
२. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
३. सिद्ध साहित्य, पृष्ठ ३६२।
४. रैदासजी की बानी, पृष्ठ १९।
५. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११९।

ऐसे ही रैदास-वाणी में अलख निरंजन[१], शून्य[२], सहजशून्य[३], सत्यनाम (सच्चनाम)[४], घट-घट व्यापी ब्रह्म[५], निर्गुण तत्व[६], तप-तीर्थ-स्नान[७] की निस्सारता, आवागमन[८] अवधूत[९], मूर्ति-पूजा की व्यर्थता[१०], सुरति (स्मृति)[११], शील[१२], अनित्य-अशुभ[१३], परमपद[१४], निर्वाण[१५], [illegible][१६], गुरु महिमा[१७], सत्संग से परमपद की प्राप्ति[१८], सतगुरु[१९], नाम-महिमा[२०], जन्मजात श्रेष्ठपन (जातीयता) का निषेध[२१], ग्रन्थ प्रमाण का बहिष्कार[२२], आदि बौद्ध-तत्व, साधना एवं विचारों के समन्वय पाये जाते हैं। "सुन्न मण्डल में मेरा वास[२३]", "कह रैदास निरंजन ध्याऊं[२४], "कहत रैदास सहज सुन्न सत[२५]", "आदि अन्त अनन्त परमपद[२६]", "का जप तप विधि-पूजा[२७]", "नाद विन्द ये सब ही थाके[२८]", तीरथ व्रत न करूं अन्देसा[२९]", "बिन सहज सिद्ध न होय[३०]", आदि रैदास-वचन बौद्ध-विचारों की समन्वयात्मक-प्रवृत्ति के ही परिचायक हैं।

सन्त धन्ना के विचारों में साधु-संगति[३१], गुरुसेवा[३२], आवागमन[३३], खसम-भावना[३४], जन्मगत ऊंच-नीच की मान्यता का निषेध[३५], मुक्ति[३६], आदि जो सन्तमत की मूलभावना पाई जाती है, वह सब बौद्धधर्म से प्रभावित है, इनका मूल-स्रोत बौद्धधर्म ही है।

---

१. वही, पृष्ठ ९८, १०० ।
२. वही, पृष्ठ ९८, ९९ ।
३. वही, पृष्ठ ९६, ११४, १२०, १२४ ।
४. वही, पृष्ठ १०० ।
५. वही, पृष्ठ १००, १०१ ।
६. वही, पृष्ठ १०१, ११८, १२४, १२५ ।
७. वही, पृष्ठ १०३ ।
८. वही, पृष्ठ १०८ ।
९. वही, पृष्ठ ११४ ।
१०. वही, पृष्ठ ११५ ।
११. वही, पृष्ठ ११५, १२४ ।
१२. वही, पृष्ठ ११६ ।
१३. वही, पृष्ठ ११६, १२५, १३४ ।
१४. वही, पृष्ठ ९७, ११९, १२७ ।
१५. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६ ।
१६. वही, पृष्ठ १२० ।
१७. वही, पृष्ठ १२७ ।
१८. वही, पृष्ठ १२७ ।
१९. वही, पृष्ठ १२८ ।
२०. वही, पृष्ठ १३० ।
२१. वही, पृष्ठ १३२ ।
२२. वही, पृष्ठ ९८ ।
२३. वही, पृष्ठ १२० ।
२४. वही, पृष्ठ १२० ।
२५. वही, पृष्ठ ११८ ।
२६. वही, पृष्ठ ११९ ।
२७. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ११९ ।
२८. वही, पृष्ठ ११७ ।
२९. वही, पृष्ठ ११७ ।
३०. वही, पृष्ठ ११४ ।
३१. सन्त काव्य, पृष्ठ २२९ ।
३२. गिआन प्रवेस गुरहि धनु दीआ—वही, पृष्ठ २२९ ।
३३. भ्रमत फिरत बहु जनम बिलाने ।
तनु मनु धनु नहीं धीरे ।।—वही, पृष्ठ २२९ ।
३४. देइ अहारु अगनि महि राखै ।
ऐसा खसम हमारा ।।—वही, पृष्ठ २३० ।
३५. वही, पृष्ठ २२९, पद १ ।
३६. त्रिपति अघाने मुकति भए—वही, पृष्ठ २२९।

मीरा पर बौद्ध-प्रभाव की ओर पहले संकेत किया जा चुका है। उनपर सिद्धों और नाथों का प्रभाव पड़ा था तथा सन्त रैदास से भी उन्हें बौद्ध-विचार प्राप्त हुए थे। इसीलिए उन्होंने अपने गुरु रैदास के प्रति कृतज्ञता प्रकट की है[१]। बौद्धधर्म में शील धर्म का आधार है, शील पर प्रतिष्ठित होकर ही ध्यान और भावना कर निर्वाण की प्राप्ति सम्भव है[२]। मीराबाई ने भी शील को प्रधान गुणधर्म माना है। शील ही आधार है। वे शील का घुंघरू पहन कर नाचना चाहती हैं[३], शील, सन्तोष, निरत के आभूषणों से अपने को अलंकृत करती हैं[४], शील, सन्तोष और समता उनके घट में सदा विद्यमान रहता है[५], शील ही उनका हथियार है[६], शील तथा सन्तोष उनके शृंगार हैं[७], वे शील और सन्तोष रूपी केसर घोलकर अपने गिरधर से होली खेलती हैं[८], शील के साथ व्रत को भी उन्होंने अपना शृंगार बनाया है[९], वे न चोरी करती हैं, न जीवों को सताती हैं[१०], न मिथ्याचार और कुकर्म करती हैं[११], असत्य भाषण तथा मादक-द्रव्यों के सेवन की तो बात ही नहीं. इस प्रकार बौद्ध-धर्म के पंचशील का पालन मीरा के जीवन का परम कर्तव्य है, इसी से परमपद की प्राप्ति होगी! बाह्य वेशभूषा से ज्ञान की प्राप्ति नहीं होती, उसके लिए आभ्यान्तरिक शुद्धि आवश्यक है, तीर्थ-यात्रा, स्नानशुद्धि आदि कर्म-काण्डों से भी चित्त-परिशुद्धि सम्भव नहीं—ऐसी बौद्धधर्म की मान्यता है। मीरा ने भी वेष धारण आदि को व्यर्थ बतलाया है[१२], स्नान-शुद्धि, काशी-करवट, तीर्थ-यात्रा आदि का निषेध कर सन्तों के सत्संग में ही ६८ तीर्थो एवं गंगा-यमुना आदि को माना है[१३]। साधु-संगति, गुरु-सेवा और सतगुरु-भजन में लवलीन रहने वाली मीरा पर बौद्ध-विचारों का प्रभाव स्पष्ट रूप से प्रकट है। सिद्धों तथा नाथों के शून्य[१४], सुरति, निरति[१५], हठयोग[१६], अनाहत नाद[१७], परमपद[१८], निर्गुण ब्रह्म[१९] आदि की भावना ही मीरा की भक्ति में समाविष्ट हैं। मीरा गगन-मण्डल में प्रीतम की शय्या मानती हैं और शून्य महल में उससे मिलना चाहती हैं, उन्होंने उसकी तल्लीनता में गाया है—

गगन मण्डल पै सेज पिया की,
किस विध मिलना होय[२०]।

---

१. गुरु मिलिया रैदासजी, दीन्हीं ज्ञान की गुटकी।—मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ २१।
२. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १।
३. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५८।
४. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ११, ३३।
५. वही, पृष्ठ २०।
६. वही, पृष्ठ ३३।
७. वही, पृष्ठ ३३।
८. वही, पृष्ठ ३३।
९. वही, पृष्ठ ५२।
१०. वही, पृष्ठ ५४।
११. वही, पृष्ठ ३२, ५४।
१२. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १५९।
१३. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५४, १, २, ६, ३०।
१४. वही, पृष्ठ २६।
१५. वही, पृष्ठ ९, ११, २२, २४, २६, २७।
१६. वही, पृष्ठ १०, ३७।
१७. वही, पृष्ठ ३७।
१८. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १४७।
१९ मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ १०, २७।
२०. वही, पृष्ठ ४।

ऊँची अटरिया लाल किवड़िया,
निरगुन सेज बिछी।[1]
सेज सुखमणा मीरा सोवे,
सुभ है आज घरी।[2]

मीरा मन मानी सुरत सैल असमानी।
जब-जब सुरत लगे वा घर की, पल-पल नैनन पानी।।[3]

त्रिकुटी महल में बना है झरोखा,
तहां से झाँकी लगाऊँ री।
सुन्न महल में सुरत जमाऊँ,
सुख की सेज बिछाऊँ री।।[4]

परमपद को पति स्वरूप मानने की भावना बौद्धधर्म के निर्वाण के शून्य-स्वरूप की देन है। हम इस ओर संकेत कर चुके हैं कि शून्य स्वरूप निर्वाण ही खसम कहलाता था और सिद्ध खसम स्वरूप होने को ही निर्वाण की प्राप्ति मानते थे, वही पीछे विकृत होकर पति-स्वरूप हो गया। मीरा ने अपने प्रियतम गिरधर नागर को जो शून्य-महल-वासी माना है, जो निर्गुण है, आकाश अर्थात् शून्य में स्थित है, उससे मिलने के लिए मीरा प्रत्येक सम्भव प्रयत्न करती हैं, वह खसम स्वरूप परमपद भी बौद्ध-प्रभाव का ही द्योतक है। मीरा का अमरलोक, बैकुंठ, मोक्ष, परमपद, सर्वव्यापी एवं लोकनाथ (जगत् स्वामी), अविनासी हरि, तारक राम, अन्तर्यामी ब्रह्म आदि भी बौद्ध-विचारों से प्रभावित ही हैं। जिस प्रकार बौद्ध भिक्षु-भिक्षुणी तथागत को ही माता-पिता मानते हैं, उसी प्रकार मीरा के गिरधर नागर भी उनके पति, माता, पिता, भाई और बहिन हैं—

गिरधर कंथ गिरधर धनि म्हाँरे, मात पिता वोइ भाई।
थें थांरे मैं म्हांरे राणाजी, यूं कहे मीरा बाई।।[5]

मीरा का पुनर्जन्मवाद, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक, मोक्ष, समता, क्षणभंगुरता आदि भी बौद्ध-विचारों के समन्वय से प्रभावित है। बौद्धधर्म में कर्म की गति को अचिन्त्य माना जाता है, मीरा ने भी सन्त कबीर[6] के ही स्वर मे स्वर मिलाते हुए कर्म की गति को अपरिहार्य माना है—

"करम गति टारे नाहिं टरे।"[7]

इस प्रकार हम देखते हैं कि मीरा की वाणी में बौद्ध-विचारों का अद्भुत ढंग से समन्वय हुआ है।

झाली रानी और कमाल भी सन्त-परम्परा द्वारा प्राप्त बौद्ध-विचारों से प्रभावित थे। हम पहले कह आये हैं कि झाली रानी सन्त रैदास की शिष्या थीं और कमाल सन्त कबीर के पुत्र थे, अतः इन दोनों पर रैदास और कबीर के प्रभाव पड़े थे तथा इन्हे अपने गुरुओं से ही साधना-पद्धति एवं विचार प्राप्त हुए थे।

---

१. वही, पृष्ठ १०।
२. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ १०।
३. वही, पृष्ठ १७।
४. वही, पृष्ठ २६।
५. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ५४।
६. सन्तवानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ ५।
७. मीराबाई की शब्दावली, पृष्ठ ४९।

पाँचवाँ अध्याय

सिख गुरुओं पर बौद्ध-प्रभाव

सिखधर्म के आदिगुरु नानक देव

जीवन-वृत्तान्त

सिखों के आदिगुरु नानक देव का जन्म १५ अप्रैल सन् १४६९ ई० (तदनुसार वैशाख शुक्ल ३, सम्वत् १५२६ विक्रमी) को लाहौर (पश्चिमी पाकिस्तान) से ३० मील दक्षिण-पश्चिम में स्थित तिलवंडी नामक ग्राम में हुआ था, जो अब "नानकाना साहब" नाम से प्रसिद्ध है और सिखों का एक प्रसिद्ध तीर्थस्थान है। गुरु नानक के जन्म-सम्वत् के सम्बन्ध में सभी एकमत हैं, किन्तु जन्म-मास के विषय में मतभेद है। "इतिहास गुरु खालसा" के लेखक श्री गोविन्दसिंह ने गुरु नानक की जन्म-तिथि कार्तिक पूर्णिमा मानी है[1], उन्होंने उनकी जन्म-कुंडली भी प्रस्तुत की है[2], बाबा छज्जूसिंह भी इसी पक्ष में हैं[3], सम्प्रति सिख धर्मावलम्बी कार्तिक पूर्णिमा को ही नानक-जयन्ती मनाते हैं और शासन की ओर से भी इसी दिन सार्वजनिक अवकाश रहता है, किन्तु अधिकांश विद्वानों ने वैशाख शुक्ल ३ को ही नानक-जन्मदिवस स्वीकार किया है[4], डॉ० जयराम मिश्र का यह कथन समीचीन है कि गुरु नानक की जन्म-तिथि वैशाख शुक्ल ३ ही है, किन्तु सुविधा के लिए उसे कार्तिक पूर्णिमा को मनाया जाता है[5]।

गुरु नानक के पिता का नाम कालूचन्द तथा माता का नाम तृप्तादेवी था। उनके पिता अपने ग्राम के पटवारी थे और कृषि तथा व्यापार भी करते थे। वे खत्री जाति के थे। गुरु नानक से बड़ी उनकी एक बहिन भी थी, जिसका नाम नानकी था।

गुरु नानक बचपन से ही शान्त स्वभाव वाले बालक थे, वे अन्य बच्चों की भाँति खेल-कूद में समय न व्यतीत कर आत्म-चिन्तन एवं मनन में लीन रहा करते थे। उनके असाधारण व्यक्तित्व एवं विलक्षण स्वभाव को देखकर सबको आश्चर्य होता था। उनके मुखमण्डल पर एक अद्भुत ज्योति जगमगाती रहती थी। उनको स्पर्श करने मात्र से आनन्द का संचार हो जाता था।

जब गुरु नानक सात वर्ष के हुए तब उन्हें पढ़ने के लिए पाठशाला भेजा गया, किन्तु वहाँ उनका मन नहीं लगा। जब अध्यापक ने पूछा—"पढ़ क्यों नहीं रहे हो ?" तो उन्होंने अध्यापक को ही उपदेश दिया—"मोह को जलाकर उसे घिसकर स्याही बनाओ, बुद्धि को ही

---

१. इतिहास गुरु खालसा, पृष्ठ ७८। २. वही, पृष्ठ ८०।

३. हिन्दी साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास—डॉ० रामकुमार वर्मा, पृष्ठ ३८३।

४. डॉ० जमराममिश्र, परशुराम चतुर्वेदी, डॉ० रामकुमार वर्मा, डॉ० त्रिगुणायत आदि।

५. नानकवाणी, पृष्ठ ८१५।

श्रेष्ठ कागज बनाओ और चित्त को लेखक। गुरु से पूछकर विचार पूर्वक लिखो! नाम लिखो, नाम की स्तुति लिखो और साथ ही यह भी लिखो कि उस परमात्मा का न तो अन्त है और न सीमा है[1]।" इसे सुनकर अध्यापक ने कहा—"तुम्हारी जो इच्छा हो सो करो।" अब गुरु नानक ने पढ़ना-लिखना छोड़कर मनन, ध्यान एवं सत्संग में मन लगाया।

गुरु नानक के जीवन के सम्बन्ध में ऐसी अनेक अद्भुत बातें उनकी जन्म-साखियों में लिखी हुई हैं, जिन्हे सर्वांशतः स्वीकार करना शक्य नहीं है। यद्यपि साखियाँ कहती हैं कि गुरु नानक पढ़े-लिखे नहीं थे, किन्तु अन्तर्साक्ष्य के आधार पर यह प्रमाणित हो जाता है कि वे पढ़े-लिखे थे और उन्होंने फारसी का भी अध्ययन किया था। उनकी वाणी में फारसी शब्दों से पूर्ण पद भी आये हुए हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि गुरु नानक फारसी पढ़े थे। यथा—

यक अरज गुफतम पेसि तो दर गास कुन करतार।
हका कबीर करीम तू बे ऐब परवदगार॥
दुनीआ मुकामे फानी तहकीक दिल दानी।
मम सर मूइ अजराईल गिरफतह दिल हेचि न दानी॥[2]

गुरु नानक के पिता अपने बालक की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति को देखकर चिन्तित रहा करते थे। वे चाहते थे कि नानक गृह-कार्यों में लगे और घर-गृहस्थी सम्हाले, अतः उन्होंने नानक को विभिन्न कार्यों मे लगाने का प्रयत्न किया किन्तु नानक का मन केवल साधु सत्संग एवं भक्ति में ही रमा रहता था। भैंस चराने जाकर उन्होंने खेत चरा दिया, दूकानदारी करने के लिए जाकर रुपये साधुओं के भोजन निमित्त व्यय कर दिये, यही नहीं यज्ञोपवीत धारण करने को भी अस्वीकार कर दिया, पुरोहित के समझाने पर उसे ही उपदेश देते हुए कहा—"दया कपास हो, सन्तोष सूत हो, संयम गाँठ हो और उस जनेऊ की सत्य ही पूरन हो। यही जीव के लिए आध्यात्मिक जनेऊ है। हे पाण्डेय, यदि इस प्रकार का जनेऊ तुम्हारे पास हो तो मेरे गले में पहना दो। यह जनेऊ न तो टूटता है, न इसमें मैल लगती है, न यह जलता है और न खोता ही है[3]।" जब माता तृप्तादेवी ने समझाया तब उन्होंने जनेऊ धारण किया।

गुरु नानक की इस विरक्ति से चिन्तित हो उनके पिता ने उन्हें वैद्य को भी दिखलाया। उन्होंने समझा कि बालक को कोई रोग हो गया है, किन्तु जब वैद्य ने कहा कि इसे कोई रोग नहीं है, यह तो केवल भक्ति में ही लवलीन रहना पसन्द करता है, तब उनके पिता की चिन्ता अत्यधिक बढ़ गयी। उन्होंने सन् १४८५ में गुरुनानक का विवाह बटाला निवासी मूला की कन्या सुलक्खनी से कर दिया। गुरु नानक के वैवाहिक जीवन की बहुत थोड़ी जानकारी प्राप्त होती है। ३१ वर्ष की अवस्था तक उन्हें दो पुत्र हुए थे। बड़े पुत्र का नाम श्रीचन्द था जो

---

१. जालि मोहु घसि मसु करि मति कागदु करि सारु।
भाउ कलम करि चितु लेखारी गुर पुछि लिखु बीचारु।
लिखु नामु सालाह लिखु अंतु न पारावारु। —नानकवाणी, पृष्ठ १०५।

२. नानकवाणी, पृष्ठ ४२७।

३. नानकवाणी, पृष्ठ ८१७।

पीछे अपने पिता का अनुगमन किया तथा उदासी सम्प्रदाय का संस्थापक बना। दूसरे पुत्र का नाम लक्ष्मीचन्द अथवा लक्ष्मीदास था।

गुरु नानक के स्वभाव एवं कार्यों के सम्बन्ध में उनके बहनोई जयराम को जब पता चला तो वह इन्हें अपने पास सुल्तानपुर बुला लिया। वह नवाब दौलत खाँ की नौकरी में था। इन्हें भी वहीं मोदीखाने में तौल का काम करने के लिए नियुक्त करा दिया। गुरु नानक ने वहाँ अपनी बहिन नानकी का मन रखने के लिये प्रेमपूर्वक सन् १५०४ से १५०७ तक नौकरी की, किन्तु अर्जित धन साधु, निर्धन आदि को ही खिला देते थे। कभी-कभी घाटा होने पर अपने अर्जित धन को भी नवाब की पूँजी में लगा देते थे। एक दिन एक साधु मोदीखाने में आटा लेने आया। गुरु नानक तौलकर उसे देने लगे, किन्तु गिनते-गिनते जब वे तेरह पर पहुँचे तो "तेरा-तेरा" कहते रहे और तराजू से आटा तौलते ही गये। इस बात का पता जब दौलत खाँ को लगा तो उसने जाँच की और देखा कि उसके भण्डार में घाटे के स्थान मे वृद्धि ही हुई थी, इस पर वह बहुत प्रसन्न हुआ।

सुल्तानपुर में रहते समय ही गुरु नानक का एक गवैया साथी मरदाना तिलवण्डी से उनके पास आया और वह भी उन्हीं के साथ रहने लगा। वह रबाब बजाने में निपुण था। मरदाना रबाब बजाता था और गुरु नानक भजन गाते थे। दोनों के संयोग से गुरु नानक की स्वर-लहरी चारों ओर प्रवाहित हो उठी और धीरे-धीरे गुरु नानक के दिव्य संगीत की कीर्ति सर्वत्र फैलने लगी। अब उनके भजन और उपदेश सुनने के लिए जनता एकत्र होने लगी तथा गुरु नानक ने अपना सन्देश देना प्रारम्भ किया। इसी बीच वे एक दिन वेंई नदी में स्नान करने के लिए गये और नदी के जल में प्रवेश कर तिरोहित हो गये। उन्हें बहुत ढूँढ़ा गया, किन्तु जब वे नहीं मिले तो लोगों ने समझा कि वे नदी में डूब मरे, किन्तु जब तीन दिनों तक अदृश्य रहने के उपरान्त वे लौट कर आये तो जनता को यह जान कर आश्चर्य हुआ कि वे डूबे नहीं, प्रत्युत "सच्चखण्ड" में पहुँच गए थे। सच्चखण्ड से उपदेश ग्रहण कर उन्होंने बतलाया कि परमात्मा ने मुझे अमृत पिलाया है और कहा है—"मैं सदैव तुम्हारे साथ हूँ। मैंने तुम्हें आनन्दित किया है। जो तुम्हारे सम्पर्क मे आयेंगे, वे भी आनन्दित होंगे। जाओ, नाम में रहो। दान दो, उपासना करो, स्वयं हरिनाम लो और दूसरों से भी नाम स्मरण कराओ।" तब से गुरु नानक ने अकाल पुरुष, अपरंपार, परब्रह्म परमेश्वर को अपना गुरु माना—

"अपरंपार पारब्रह्म परमेसरु,
नानक गुरु मिलिआ सोई।"[१]

इस घटना के पश्चात् गुरु नानक ने देश-भ्रमण प्रारम्भ किया। उनके देश-भ्रमण को सिखधर्मावलम्बी "उदासी" कहते हैं। देश-भ्रमण के समय मरदाना भी उनके साथ रहा। उन्होंने पहले पूर्व देश की यात्रा की, जो सन् १५०७ से १५१५ तक पूर्ण हुई थी। इस यात्रा में उन्होंने हरिद्वार, मथुरा, अयोध्या, काशी, पटना, राजगिरि, बुद्धगया, आसाम, जगन्नाथपुरी,

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ ८१९।

जबलपुर, कुरुक्षेत्र आदि स्थानों के दर्शन किए और अनेक विद्वानों तथा सन्तों से उनकी भेंट हुई। इसी यात्रा में काशी में उन्होंने परमसन्त कबीर तथा रैदास से भी सत्संग किया था[1]।

दूसरी उदासी में गुरु नानक दक्षिण की ओर गये। इस बार उन्होंने बीकानेर, जोधपुर, अजमेर, पुष्कर, उज्जैन, नागपुर, हैदराबाद, बिदर, केरल, पंढरपुर, तंजौर, त्रिचनापल्ली, रामेश्वरम्, सिंहल द्वीप (श्रीलंका) आदि के परिभ्रमण किए।

तीसरी उदासी में उन्होंने उत्तराखण्ड की यात्रा करते हुए कांगड़ा, ज्वालामाई, रिवालसर, कुल्लू, चम्बा, उत्तर काशी, गोरखपुर, नेपाल, सिक्किम, भूटान, मिथिला, जनकपुर आदि स्थानों एवं देशों की चारिका की। इस यात्रा में उन्हें नाथ तथा बौद्ध विद्वानों एवं सन्तों से सत्संग करने का अवसर मिला था।

चौथी उदासी में उन्होंने पश्चिम-देशों की यात्रा की और बहावलपुर, साधुबेला, मक्का, मदीना, बगदाद, बलख, बुखारा, काबुल, गोरखहटी, कन्धार, ऐमनाबाद आदि स्थानों का परिभ्रमण किया। गोरखहटी में नाथपन्थी साधुओं से उनकी धर्म-चर्चा हुई थी, जो "सिध गोसटि" (सिद्ध गोष्ठी) नाम से प्रसिद्ध है[2]। इसी यात्रा में गुरु नानक ने ऐमनाबाद पर बाबर के आक्रमण को सन् १५२१ में स्वयं अपनी आँखों से देखा था, जिसका सुन्दर वर्णन उनकी वाणी में आया हुआ है[3]।

गुरु नानक की यात्रायें सन् १५२१ में समाप्त हुई थीं और तब से वे करतारपुर में बस गये थे। उनका अन्तिम काल वहीं बीता। वहीं सन् १५३९ में गुरु अंगद (बाबा लहना) को गुरुगद्दी का भार सौंपने के उपरान्त उनकी "ज्योति परम ज्योति" में लीन हो गयी।

डॉ० जयराम मिश्र ने गुरु नानक के सम्बन्ध में लिखा है—"उनका व्यक्तित्व असाधारण, सरल और दिव्य था। वे सच्चे अर्थ में सद्गुरु थे। वे सदैव परमात्मा में निवास करते थे और जो भी उनकी शरण में आया, उसे परमात्मा का साक्षात्कार कराया। उन्होंने लोगों को आध्यात्मिक जीवन का अमृत पिलाया और सांसारिक जीवन के प्रति वैराग्य-भावना उत्पन्न की। वे किसी जाति अथवा वर्ग विशेष के गुरु नहीं थे, प्रत्युत मानवमात्र के सद्गुरु थे। ऐसे कठिन युग में भी उन्होंने चीन, बर्मा, लंका, अरब, मिश्र, तुर्किस्तान, रूसी तुर्किस्तान तथा अफगानिस्तान आदि की यात्रायें कीं। जहाँ भी गये, वहीं वे प्रेम, भक्ति, सेवा, त्याग, वैराग्य, सत्य, संयम, तितिक्षा आदि का सन्देश ले गये[4]। वास्तव में गुरु नानक एक महान् उपदेशक तथा धर्म-सुधारक थे। वे एक अपूर्व योगी तथा गृहस्थ सन्त थे। उन्होंने रूढ़ियों एवं संकीर्ण-मनोवृत्ति से सभी धर्मावलम्बियों को ऊपर उठाने का प्रयत्न किया। उन्होंने समान रूप से हिन्दू और मुसलमानों की अज्ञानता को उनके समक्ष स्पष्ट किया और उन्हें सन्मार्ग पर लाकर एकेश्वरवाद में प्रतिष्ठित किया। उनके लिए मानव मात्र समान था। वे सभी को हरि-स्मरण में प्रवृत्त कर प्रभुपद दिलाना चाहते थे। वे एक महान् कवि, संगीतज्ञ, दार्शनिक, देशभक्त,

---

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ १०५-१०६। २. नानकवाणी, पृष्ठ ५४७।
३. वही, पृष्ठ ६। ४. वही, पृष्ठ ८१९।

धर्म-प्रचारक और विश्वबन्धु के असीम भाव से ओतप्रोत महापुरुष थे, इसीलिए भाई गुरुदास जी ने उन्हें परमात्मा द्वारा प्रेषित अवतारी पुरुष कहकर उनके गुणगान किये हैं—

सुणी पुकार दातार प्रभु गुरु नानक जग मांहि पठाया।
चरन धोइ रहि रासि करि चरनामृतु सिक्खां पिलाया॥
पारब्रह्म पूरन ब्रह्म कलिजुग अन्दर इक दिखाया।
चार पैर धरम दे चार वरन इक वरन कराया॥
राणा रंक बराबरी पैरी पवणा जग वरताया।
उलटा खेल पिरंम दा पैरां उपर सीस नवाया॥
कलिजुग बाबे तारिआ सतिनाम पढ़ मंत्र सुणाया।
कलि तारण गुरु नानक आया॥
सति गुर नानक प्रगटिआ मिटी धुंध जग चानण होआ।
जिउँ कर सूरज निकलिआ तारे छपे अंधेर पलोआ॥[१]

गुरु नानक ने बहुत से पद, साखियाँ तथा भजन लिखे, जो गुरुग्रन्थ साहब में संग्रहीत हैं[२]। उनमें उन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, जाति-पाँति आदि का खण्डन किया है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश को स्वीकार करते हुए भी उन्हें परमात्मा नहीं माना है। "ओम्" को आदर के साथ ग्रहण किया है और उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि "जिह दिट्ठा में ते हो कहिआ" अर्थात् मैंने जो कुछ देखा है, वही कह रहा हूँ। इससे बढ़कर और क्या ज्ञान की परख होगी ? सच्चा ज्ञानी ही अपने कथन की सच्चाई के सम्बन्ध में ऐसा दृढ़तापूर्वक कह सकता है जैसा कि भगवान् बुद्ध ने "जो मैंने स्वयं देखा है उसे ही कह रहा हूँ" कहा अथवा कबीर ने "मैं कहता आंखिन की देखी" कहकर अपने प्राप्त ज्ञान की सत्यता प्रकट की। वस्तुतः गुरु नानक अपने क्षेत्र में एक महान् व्यक्तित्व थे। ऐसी विभूतियाँ कभी ही कभी अवतरित हुआ करती हैं।

साधना

गुरु नानक का धर्म साधना प्रधान था। उसमें गुरु-सेवा, सत्संग, नामस्मरण, राजयोग, सहज-समाधि, सुरति, शून्य-भावना, सत्यनाम का गुणगान, कर्म-काण्ड का निषेध, शील, संयम, सन्तोष आदि गुणधर्मों से युक्त होकर हरि में लवलीन रहने से ही परम-पद की प्राप्ति होती है। गुरु नानक का हरि सत्यनाम वाला है[३], वह निरंजन है[४], वह शाश्वत रहने वाला निरा-

---

१. वारां भाई गुरुदासजी, वार १, पउड़ी २३, २७, नानकवाणी, पृष्ठ ८१५ से उद्धृत।

२. डॉ० जयराम मिश्र ने "गुरु नानक की सभी वाणियों का सुन्दर संकलन एवं हिन्दी अनुवाद "ननाकवाणी" नामक ग्रन्थ में किया है।

३. साचा साहिब साचु नाइ।
भाखिआ भाउ अपारु॥ —नानकवाणी, पृष्ठ ८१।

४. आपे आपि निरंजन सोइ —वही, पृष्ठ ८१।

कार ब्रह्म है[१], वह आदि, अनादि, वर्ण-रहित, अनाहत तथा युग-युगान्तरों में एक ही रूप में रहने वाला है[२], वह अथाह और गम्भीर है तथा घट-घट में रम रहा है[३], वह खसम (पति) स्वरूप है, उसी ने तन-मन को रचकर सँवारा है[४], वह रामनाम भी है और वही निर्मल धन है[५], वह राजाओं में भी सर्वोत्तम राजा है, वही संसार को तारता है[६], वही कर्त्ता है, दूसरा कोई कर्त्ता नहीं है[७], उसी की भक्ति से व्यक्ति तर जाता है और फिर उसका जन्म-मरण नहीं होता[८], उसी के नाम में कीर्ति (संस्कार), सुरति, मोक्ष सब कुछ है[९], वह निराकार प्रभु निर्भय है, राम, कृष्ण आदि तो धूल हैं[१०], ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही मूर्तियाँ हैं, जिहें उस प्रभु ने स्वयं रचा है[११], वह स्वयं निर्वाण-स्वरूप है[१२], वह ओंकार (प्रणव), सत्यनाम, कर्त्ता पुरुष, निर्भय, निर्वैर, अकाल मूर्ति, अयोनिज और स्वयम्भू है[१३]।

परमात्मा को गुरु से ही जाना जा सकता है। गुरु वाक्य ही नाद है, गुरु का वाक्य ही वेद है, क्योंकि गुरु की रसना में परमात्मा समाया हुआ है, गुरु ही शिव, गोरख (विष्णु), ब्रह्म और पार्वती है[१४], गुरु ही सीढ़ी है, गुरु ही नाव है, गुरु ही छोटी नाव है और हरि नाम है, गुरु ही सरोवर है, सागर है, जहाज है, गुरु ही तीर्थ है और सरिता है[१५], गुरु के बिना

---

१. तू सदा सलामति निरंकार —वही, पृष्ठ ८७।
२. आदि अनीलु अनादि अनाहति जुगु जुगु एको वेसु —वही, पृष्ठ ९३।
३. घटि घटि गहिर गंभीरु —वही, पृष्ठ १२१।
४. मन रे साची खसम रजाइ।
   जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ तिसु सेती लिव लाइ—नानकवाणी पृष्ठ १५४।
५. रामनामु धनु निरमलो—वही, पृष्ठ १५६।
६. नानक तरीऐ सचि नामि सिरि साहा पातिसाहु —वही, पृष्ठ १५८।
७. जो तिसु भाणा सोई हूआ।
   अवरु न करणै वाला दूआ॥ —वही, पृष्ठ २०७।
८. राम भगति गुर सेवा तरणा।
   बाहुड़ि जनमु न होइहै मरणा। —वही, पृष्ठ २०९।
९. कीरति सूरति मुकति इक नाई —वही, पृष्ठ २१९।
१०. नानक निरभउ निरंकारु होरि केते राम रवाल —वही, पृष्ठ ३२९
११. ब्रह्मा बिसनु महेस इक मूरति आपे करता कारी —वही, पृष्ठ ५१४।
१२. गिआनु धिआनु नरहरि निरबाणी—वही, पृष्ठ ७९२।
१३. ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु, अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।
   —नानकवाणी, पृष्ठ ४९१।
१४. गुरमुखि नादं गुरमुखि वेदं गुरमुखि रहिआ समाई।
   गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई॥ —वही, पृष्ठ ८१।
१५. गुरु पउड़ी बेड़ी गुरू गुरु तुलहा हरि नाउ।
   गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथ दरीआउ॥ —वही, पृष्ठ १०८।

त्रिकुटी (बन्धन) नहीं छूटती है, गुरु की कृपा से ही सहजावस्था का सुख प्राप्त होता है[१], गुरु के उपदेश से ही सुख होता है[२], गुरु के बिना ज्ञान नहीं प्राप्त होता[३], गुरु के समान कोई अन्य तीर्थ नहीं है[४]।

गुरु नानक ने परमज्ञान की अवस्था को तुरियावस्था, निर्वाण, पद-निर्वाण, परमपद आदि नामों से पुकारा है। उसे प्राप्त करने के लिए तीर्थ-यात्रा, तपश्चर्या, दया, पुण्य, दान, स्नान, हठयोग आदि की आवश्यकता नहीं है, उसे तो अपने भीतर ही प्राप्त किया जाता है[५]। तीर्थ-स्नान और वेश-धारण से लाभ नहीं[६]। गुरु नानक ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि तीर्थ, व्रत, शुचि, संयम, कर्म, धर्म और पूजा से मुक्ति नहीं मिलती, केवल परमात्मा के प्रेम और भक्ति से भवसागर से निस्तार होता है—

तीरथ वरत सुचि संजमु नाही, करमु धरमु नही पूजा।
नानक भाइ भगति निसतारा दुविधा विआपै दूजा॥[७]

क्योंकि जिस वस्तु की प्राप्ति के लिए तीर्थ-यात्रा की जाती है, वह तो अपने भीतर ही सदा विद्यमान है। पण्डित वेद-ग्रन्थों को पढ़-पढ़कर व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने भीतर रहती हुई भी उस वस्तु को नहीं जानते—

जै कारणि तटि तीरथ जाही, रतन पदारथ घट ही माही।
पड़ि पड़ि पंडितु वादु वखाणै, भीतरि होदी वसतु न जाणै॥[८]

वेश बदलने और सिर मुड़ा लेने से ज्ञान की प्राप्ति सम्भव नहीं[९], और न तो वेश धारण करने से कोई ऊँच या नीच ही होता है[१०], इस वेश-धारण से योग की प्राप्ति भी नहीं होती, यदि निरंजन से मुक्त रहा जाय तो वास्तविक योग यही है[११]। वास्तविक तीर्थ तो अपने घट में ही है, ज्ञानी उसी में स्नान करता है और फिर वह पुनर्जन्म में नहीं पड़ता[१२]। उपवास करके शरीर को कष्ट देना व्यर्थ है, उससे कोई लाभ नहीं होता[१३], यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि करने से देह दुखी रहती है, इनसे शान्ति नहीं प्राप्त होती, मुक्ति तो रामनाम से प्राप्त होती है और नाम गुरु की आज्ञा में चलने वाले को प्राप्त होता है[१४]।

---

१. किउ गुर बिनु त्रिकुटी छुटसी सहजि मिलिऐ सुखु होइ। —वही, पृष्ठ १११।
२. इतु तनि लागै बाणीआ, सुखु होवै सेव कमाणीआ। —वही, पृष्ठ १३०।
३. गुर बिनु गिआनु न पाईऐ बिखिआ दूजा सादु। —वही, पृष्ठ १५३।
४. गुर समानि तीरथु नहीं कोइ। —वही, पृष्ठ ७८०।
५. नानकवाणी, पृष्ठ ८८।
६. वही, पृष्ठ १५२।
७. वही, पृष्ठ १६६।
८. वही, पृष्ठ २०२।
९. वही, पृष्ठ २१२-२१३।
१०. वही, पृष्ठ २७२।
११. नानकवाणी, पृष्ठ ४४१-४२।
१२. वही, पृष्ठ ४७४।
१३. वही, पृष्ठ ५०८।
१४. वही, पृष्ठ ६९७।

गुरु नानक स्वर्ग, नरक, कर्म-फल और पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं। वे मानते हैं कि मनुष्य स्वयं ही बोता और स्वयं ही खाता है[१], इसीलिए उन्होंने कहा है—"जेहा राधे तेहा लुणै[२]।" अर्थात् मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है। मनुष्य का जन्म पाना कठिन है[३], क्षमा, शील, सन्तोष से ही मुक्ति होती है और जो मुक्त हो जाते हैं वे रूप-रेखा रहित प्रभु के समान ही हो जाते हैं[४]।

धन, यौवन अनित्य हैं[५], जनता माया मे पड़ी रहती है और "मेरा, मेरा" करती है, किन्तु अन्त में कोई साथ नहीं देता[६], पिता, पुत्र, स्त्री, माता कोई भी अन्त में सहायक नहीं होते[७], प्रत्युत वे सभी बन्धन हैं[८], इसीलिए दुर्लभ जन्म को पाकर[९] हरि नाम जपो, दान दो और पवित्र रहो, ऐसा करने से ही "निर्वाण-पद" का बोध कर सकोगे[१०], संसार में सब कुछ क्षणभंगुर है, यहाँ न किसी का कोई मित्र है, न भाई, न माता-पिता, यहाँ केवल हरिनाम ही एकमात्र सहायक है[११]। कंचन और कामिनी से प्रेम त्यागकर यत, सत्, संयम और शील का अभ्यास करो, जो ऐसा नहीं करता वह प्रेत होकर उत्पन्न होता है[१२]। सभी सुख-दुःख पूर्व जन्म कृत कर्मों के फल हैं[१३], शरीर पानी के बुलबुला और मिट्टी के घड़े के समान नश्वर है[१४], अतः चोरी, व्यभिचार, जुआ आदि कुकर्मों को छोड़कर शील, संयम और पवित्रता का जीवन व्यतीत करो, जो कुकर्म करते हैं वे नरक में घानो में पेरे जाते हैं[१५]। हरि-स्मरण से कल्याण होता है, क्योंकि हरि के अंक में ही गंगा, यमुना, आदि सभी पवित्र नदियाँ और तीर्थ हैं[१६], मूर्ति-पूजा व्यर्थ है, जो अन्धे, गूँगे, मूढ़ और गँवार हैं वे ही पत्थर की पूजा करते हैं, जब पत्थर स्वयं जल में डूब जाते हैं, तो उन्हें पूजकर संसार-सागर से कैसे तरा जा सकता है—

> अंधे गुंगे अंध अंधारु, पाथरु ले पूजहि मुगध गवार।
> ओहि जा आपि डुबे तुम कहा तरणहारु॥[१७]

गुरु नानक ने मूर्ति-पूजा से बढ़कर मन की पवित्रता को माना है। उन्होंने कहा है कि मन को जीतना जगत् को जीतना है[१८], जो मनुष्य पत्थर की पूजा करते हैं, तीर्थों और वनों में

---

१. आपे बीजि आपे ही खाहु। —वही, पृष्ठ ८८।
२. वही, पृष्ठ १४०।
३. वही, पृष्ठ २१५।
४. वही, पृष्ठ २२६।
५. वही, पृष्ठ १२४।
६. वही, पृष्ठ १४८।
७. नानकवाणी, पृष्ठ १२५।
८. वही, पृष्ठ २६१।
९. वही, पृष्ठ ४४६।
१०. वही, पृष्ठ ४८८।
११. वही, पृष्ठ ४९२।
१२. वही, पृष्ठ ५११।
१३. सुखु दुखु पुरब जनम के कीए। —वही, पृष्ठ ६३२।
१४. वही, पृष्ठ ७०९।
१५. वही, पृष्ठ ७६७, ७३७।
१६. वही, पृष्ठ ६१०।
१७. नानकवाणी, पृष्ठ ३६६।
१८. वही, पृष्ठ ९४।

निवास करते हैं, उदासी होकर भटकते फिरते हैं, किन्तु उनका मन गन्दा ही बना रहता है तो भला वे पवित्र कैसे हो सकते है, वास्तव में जो सत्य से मिलता है वही प्रतिष्ठा पाता है—

पूजि सिला तीरथ बनवासा, भरमत डोलत भए उदासा।
मनि मैले सूचा किउ होइ, साचि मिलैं पावै पति सोइ॥[१]

गुरु नानक की सभी प्राणियों पर समदृष्टि थी, उन्होंने मानव मात्र को समान माना है, उनका कथन था कि जीवमात्र में परमात्मा की ज्योति समझो, जाति के सम्बन्ध में प्रश्न न करो, क्योंकि आगे किसी भी प्रकार को जाति नहीं थी—

जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे।[२]

जाति का अहंकार व्यर्थ है[३], जाति में कुछ भी तत्व की बात नहीं है, जैसे विष चखने पर सभी मरते है, वैसे ही जाति के अहंकार में पड़कर व्यक्ति नष्ट हो जाता है—

जाती दै किआ हथि सचु परखीये।
महुरा होवै हथि मरीऐ चखीये॥[४]

गुरु नानक की साधना में अहंकार, माया, आसक्ति आदि को त्याग कर परमात्मा के प्रेम एवं भक्ति में लीन होकर उसे पति-स्वरूप मान कर निर्मल नाम-धन के सहारे सहजावस्था को प्राप्त किया जा सकता है, जो शून्य समाधि भी कहलाती है। शून्य समाधि की अवस्था में जल, स्थल, धरती, आकाश कुछ भी नहीं होते, वहाँ केवल कर्त्तार स्वयं ही होता है, उस अवस्था में माया नहीं होती, न अज्ञान का अन्धेरा, न सूर्य, न चन्द्रमा और न अपार ज्योति ही होती है, सब वस्तुओं का ज्ञान अन्तःकरण में हो जाता है और एक ही दृष्टि में तीनों लोकों की सूझ हो जाती है—

सुंन समाधि रहहि लिव लागे एका एकी सबदु बीचार।
जलु थलु धरणि गगनु तह नाहीं आपे आपु कीआ करतार॥
ना तदि माइआ मगनु न छाइआ ना सूरज चंद न जोति अपार।
सरब दृसटि लोचन अभ अंतरि एका नदरि सु त्रिभवण सार॥[५]

सहजावस्था प्राप्त व्यक्ति के सारे दुःख मिट जाते हैं—

पति सेती जावै सहजि समावै।
सगले दूख मिटावै॥[६]

सारी साधना, त्याग, शील, सन्तोष, पवित्रता, भक्ति, प्रेम, गुरु-सेवा, नाम-स्मरण तथा समाधि का यही परम लक्ष्य है, यही जीवन का साफल्य है, इसी में मनुष्य तन पाना

---

१. वही, पृष्ठ ४१९।
२. वही, पृष्ठ २४८।
३. वही, पृष्ठ १६९।
४. नानकवाणी, पृष्ठ १८३।
५. वही, पृष्ठ ३५९-६०।
६. वही, पृष्ठ १६७।

सार्थक है, और इस काया का सर्वोत्तम उपयोग है कि सारे दुःखों का अन्त हो जाय, आवागमन रुक जाय और परमपद निर्वाण को प्राप्त कर व्यक्ति स्वयं हरि-स्वरूप हो जाय। गुरु नानक की यह साधना सहज, सरल और सर्वग्राह्य है।

बौद्ध-देशों का भ्रमण

गुरु नानक देव ने जिन-जिन नगरों, प्रान्तों एवं देशों की यात्रायें कीं, उनका संक्षिप्त वर्णन पहले किया जा चुका है। उससे ज्ञात है कि उन्होंने पहली उदासी में राजगिरि, बुद्धगया, आसाम, जगन्नाथपुरी आदि बौद्ध-तीर्थों एवं बौद्ध-प्रमुख स्थानों के भ्रमण किये। ' इतिहास गुरु खालसा" से ज्ञात होता है कि बुद्धगया मन्दिर की बुद्धमूर्ति को देखकर मरदाना ने अनेक प्रश्न गुरु नानक से किये थे और उसका समाधान करते हुए भी उन्होंने भगवान् बुद्ध तथा बौद्धधर्म की बड़ी प्रशंसा की थी[१]। आसाम मे उन दिनों बौद्धों की संख्या सबसे अधिक थी। आज भी आसाम में बौद्ध कम नहीं हैं। गुरु नानक देव ढाका की ओर भी गये थे। डॉ० जयराम मिश्र ने उनके बर्मा और चीन जाने का भी उल्लेख किया है[२]। ये दोनों बौद्ध-देश रहे हैं। बर्मा सम्प्रति भी बौद्ध-प्रधान देश ही है। उड़ीसा प्रदेश में भी उस समय बौद्धों की संख्या पर्याप्त थी जिनकी परम्परा आज तक चली आ रही है। हम पहले कह आये है कि जगन्नाथपुरी के मन्दिर की मूर्ति को वहाँ की जनता "सुइ बउद्ध रूप हइ"[३] कहकर पूजा करती थी और बुद्ध का स्वरूप मानती थी। श्री नगेन्द्रनाथ बसु ने लिखा है—"उत्कल के सभी प्राचीन कवियों ने दसों अवतार के गुणगान करने के प्रसंग में जगन्नाथ या दारु ब्रह्म को कलियुग में उद्धार करने वाले बुद्ध के साथ एक, और समान माना है[४]।" गुरु नानकदेव ने भी जगन्नाथ की आरती की थी और अपनी आरती में उन्होंने अनाहत शब्द की भेरी बजाई थी और आकाश रूपी थाल में सूर्य और चन्द्रमा के दीप एवं तारामण्डल के मोती सजाये थे—

गगन में थालु रवि चन्दु दीपक बने तारिका मंडल जनक मोती।
धूपु मलआनलो पवणु चवरो करे सगल बनराइ फूलंत जोती॥
कैसी आरती होइ भवखंडना तेरी आरती।
अनहता सबद बाजंत भेरी॥[५]

अनाहत शब्द के वाद्य से जगन्नाथपुरी के दारु-ब्रह्म की ही पूजा हो सकती थी जिन्हें कि "प्रणवगीता" में भी "कलियुगे दारु ब्रह्म शरीर"[६] कहकर बौद्धधर्म के शून्यवाद का प्रतिपादन किया गया है। आगे इस पर विचार किया जायेगा कि उड़ीसा के बौद्धों का कितना गहरा प्रभाव गुरु नानकदेव पर पड़ा था।

गुरु नानकदेव दूसरी उदासी में सिंहल द्वीप तक गये थे। सिंहल द्वीप में बौद्धधर्म सम्राट अशोक के समय में भारत से गया था और आज तक वहाँ विद्यमान है। इस बौद्ध देश

---

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ ११०।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ८१९।
३. बौद्धधर्म दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ २०४।
४. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, पृष्ठ १५४।
५. नानकवाणी, पृष्ठ ४१६।
६. प्रणवगीता, पद ४७।

की यात्रा कर गुरु ननाक अवश्य ही स्थविरवाद बौद्धधर्म से प्रभावित हुए होते किन्तु उनकी वाणियों का अध्ययन करने से उन पर महायान का ही प्रभाव दृष्टिगत होता है जो भ्रमण, नाथ-सिद्धों तथा सन्तों के प्रभाव की देन है। इस पर हम आगे विचार करेंगे। सिंहल के राजा का नाम शिवनाम भी इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि गुरु नानक सिंहल के किसी द्रविण धनपति से ही मिले थे, बौद्ध-राजाओं से उनकी भेंट नहीं हुई थी और न तो बौद्ध-भिक्षुओं से ही उनका सत्संग हुआ था, अन्यथा नानकवाणी में उसकी झलक अवश्य मिलती।

तीसरी उदासी में गुरु नानक ने अधिक बौद्ध देशों तथा स्थानों की यात्रा की थी। कांगड़ा, कुल्लू, चम्बा और हिमाचल प्रदेश उस समय बौद्धधर्म से प्रभावित थे। वहाँ अब भी परम्परागत बौद्धों की संख्या अधिक है। रिवालसर अब भी महायानी बौद्धों का महान् पवित्र तीर्थस्थान है, जिसके दर्शनार्थ लाखों व्यक्ति प्रति वर्ष जाते हैं। गुरु नानक के वहाँ जाने के कारण अब सिखों का भी वह तीर्थ बन गया है। उत्तरकाशी, गढ़वाल आदि प्रदेशों में भी बौद्धों की संख्या कम न थी। गुरु नानक ने गोरखपुर से बुटवल होकर धौलागिरि, मुक्तिनाथ (ज्वालामाई) आदि की यात्रा करते हुए काठमांडू की चारिका की थी। इस मार्ग में भी हिन्दू और बौद्ध समान रूप से थे। नेपाल के पशुपतिनाथ मन्दिर के दर्शन के साथ ही उन्होंने खास्ति और स्वयम्भू चैत्यों का भी दर्शन किया होगा। ललितपाटन में उन्हें अशोक-निर्मित थूर (स्तूप) और प्राचीन बौद्ध मन्दिर मिले होंगे। नाथों तथा वज्राचार्यों से उनका सत्संग हुआ होगा। सिक्किम, और भूटान के बौद्धों के सम्पर्क में आने से गुरु नानक को बौद्ध-विचारों से परिचय प्राप्त हुआ होगा। इतिहास गुरु खालसा[1] से ज्ञात होता है कि भूटान की यात्रा में किसी बड़े लामा ने गुरु नानक के प्रवचन का अनुवाद श्यर्पा भाषा में किया था। इस यात्रा में वे बौद्धों के अधिक सम्पर्क में आये थे।

महायान का प्रभाव

गुरु नानक की वाणियों का अध्ययन करने से उन पर महायान बौद्धधर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। शून्य[2], शून्यसमाधि[3], अनाहत[4], दशमद्वार[5], शून्यमण्डल[6], सहज गुफा[7], निर्वाण[8], निरंजन[9], सत्यनाम[10], सहजावस्था[11], सुरति[12], कर्म-स्वकता[13],

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ १४०।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ३३३।
३. वही, पृष्ठ ३३३, ३६०, ५५६।
४. वही, पृष्ठ ९४, २३७, ३१७, ५५६।
५. वही, पृष्ठ २०२।
६. वही, पृष्ठ ६५।
७. वही, पृष्ठ ६५।
८. वही, पृष्ठ १५२, ४८९, ७९२।
९. वही, पृष्ठ ८१, ८४, ३२९, ९८।
१०. वही, पृष्ठ ८१, ९३, ९८, १५९, ४९५, १४१, २५७।
११. वही, पृष्ठ ८३, ११०, ११२, १४४, १५२, १६८, २०६, ५१६।
१२. वही, पृष्ठ ८४, १५५।
१३. वही, पृष्ठ ८८, १४०, ६३२।

तीर्थ-व्रत[१] आदि कर्मकाण्डों का निषेध, गुरु माहात्म्य[२], ईश्वर की घट-घट व्यापकता[३], निर्वाण-पद[४], ग्रन्थ-प्रमाण का वहिष्कार[५], सन्त-महिमा[६], खसम-भावना[७], जातिवाद का त्याग[८], शील आदि गुणों की ग्राहकता[९], संस्कार[१०], परमपद[११], मोह-माया का त्याग[१२], सहज-योग[१३], स्नान-शुद्धि की भावना का परित्याग[१४], पुनर्जन्मवाद का अंगीकार[१५], अवतारवाद का खण्डन[१६], यज्ञ-होम आदि का परिवर्जन[१७] इत्यादि बौद्धधर्म के तत्व नानक-वाणी में आए हुए हैं। इनमें से कुछ ऐसे हैं जो सन्तों से होकर नानक तक पहुँचे थे और कुछ बौद्ध विद्वानों के सत्संग, सिद्धों, नाथों एवं वज्राचार्यों की धर्म-साकच्छा (धर्मचर्चा) तथा बौद्ध-देशों के भ्रमण से प्राप्त हुए थे।

गुरु नानक ने अनेक स्थलों पर भगवान् बुद्ध को भी स्मरण किया है। उन्होंने तथागत को ज्ञान-खण्ड का निवासी माना है[१८], साथ ही परमात्मा को भी सच्चखण्ड में रहने वाला बतलाया है[१९]; उस निराकार निरंजन परमात्मा का वर्णन बुद्ध करते हैं—

> आखहि ईसर आखहि सिध।
> आखहि केते कीते बुध ॥[२०]

बुद्ध भी परमात्मा के भय में रहते हैं—

> भे बिचि सिध बुध सुर नाथ।[२१]

सभी बुद्धों पर परमात्मा की आज्ञा चलती है—

> सभे बुधी सुधि सभि सभि तीरथ सभि थान।
> हुकमि चलाए आपणै करमी वहै कलाम ॥[२२]

गुरु नानक के इन वर्णनों से ऐसा नहीं समझना चाहिए कि वे बुद्ध के प्रभाव से वंचित थे। निराकार, निरंजन, अलख तथा सर्वव्यापी परमात्मा की देशना का जो प्रवाह सिद्धों के

---

१. वही, पृष्ठ ८८, १५२, १६७, २०२, २२७, ५०८, ६१०।
२. वही, पृष्ठ ८२, १०९, ११२, १५३, ७८०।
३. वही, पृष्ठ १२१, २०२।
४. वही, पृष्ठ १२५, १५२, ४८९, ७९२।
५. वही, पृष्ठ २०२, १३९।
६. वही, पृष्ठ २२७, ३४० तथा ५६८।
७. नानकवाणी, पृष्ठ १५५।
८. वही, पृष्ठ १६९, १८३, २४८, २५७।
९. वही, पृष्ठ १७९, २२६, ५११, ७३७।
१०. वही, पृष्ठ ५७५, २२०।
११. वही, पृष्ठ २३४।
१२. वही, पृष्ठ ५११, २९१।
१३. वही, पृष्ठ ३३६।
१४. वही, पृष्ठ १५२, १६७, २०२, २२७, २७१, ४७४, ६१०।
१५. वही, पृष्ठ ६३२, ७३१, ४४६, २१४।
१६. वही, पृष्ठ ६८९।
१७. वही, पृष्ठ ६९७।
१८. केते सिध बुध नाथ। —वही, पृष्ठ ९७।
१९. वही, पृष्ठ ९७।
२०. नानकवाणी, पृष्ठ ९१।
२१. वही, पृष्ठ ३२९।
२२. वही, पृष्ठ ७३१।

काल में प्रवाहित हुआ था, उसी का प्रभाव कबीर आदि सन्तों पर पड़ा था और नानक आदि सिख गुरुओं ने भी उस प्रवाह से प्रभावित होकर सत्यनाम वाले परमात्मा का गुणगान करते हुए कबीर की भाँति बुद्ध का ही गुणगान किया। सिद्ध सरहपा ने आठवीं सदी के पूर्वार्द्ध में जिस तथ्य को उद्घोषित करते हुए कहा था—

"पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ।
देहहिं बुद्ध वसन्त ण जाणअ॥[1]

(अर्थ—पण्डित सम्पूर्ण शास्त्रों का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने शरीर के ही भीतर निवास करने वाले 'बुद्ध' को नहीं जानते हैं।)

उसी तथ्य को दुहराते हुए, उन्हीं शब्दों में सन्त कबीर ने गाया—

पढ़ि पढ़ि पण्डित बेद बखानैं।
भीतरि हूती बसत न जानैं॥[2]

(अर्थ—पढ़-पढ़ कर पण्डित वेदों का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जानते।)

इन्हीं शब्दों को दुहराते हुए तथा यही भाव प्रकट करते हुए गुरु नानक ने भी गाया—

पड़ि पड़ि पंडित वादु बखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै॥[3]

(अर्थ—पढ़-पढ़ कर पण्डित वादों (मतों) का व्याख्यान करते हैं, किन्तु अपने भीतर रहने वाले परमात्मा को नहीं जानते।)

ऐसे ही सिद्ध सरहपा ने घोषणा करते हुए कहा—

किन्तह तित्थ तपोवण जाई।
मोक्ख कि लब्भइ पाणी न्हाई॥[4]
घरहि म थक्कु म जाहि वणे, जहि तहि मण परिआण।
सअलु णिरन्तर बोहि ठिअ, कहिं भव कहिं णिब्वाण॥[5]

गोरखनाथ ने भी इसी भाव को प्रकट करते हुए कहा—

घट हीं भीतरि अठसठि तीरथ कहां भ्रमै रे भाइ।[6]

सन्त कबीर ने इसे और भी स्पष्ट करते हुए गाया—

जिस कारणि तटि तीरथ जांहीं।
रतन पदारथ घट हीं मांहीं॥[7]

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ १८।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
३. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
४. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ६।
५. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १४।
६. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
७. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।

गुरु नानक ने कबीर के ही स्वर में स्वर मिलाते हुए उन्हीं शब्दों को पुनः गाया—

जै कारणि तटि तीरथ जाहीं।
रतन पदारथ घटहिं माहीं ।।[1]

कितनी समता है महायानी सिद्धों, नाथों, सन्तों और गुरु नानक की वाणी में। स्पष्ट है कि यह विचारधारा बौद्धधर्म की देन है, जो शताब्दियों से जन-मानस को प्रभावित करती हुई सिख-गुरुओं को भी अपने मूल अर्थ एवं भाव के साथ अंगीकृत हुई। आगे हम देखेंगे कि किस प्रकार बौद्ध-विचार गुरु नानक को प्रभावित किए हैं और वे किस रूप में सिखधर्म में विद्यमान हैं।

शून्य

गुरु नानक ने शून्य को सबकी उत्पत्ति का मूल कारण माना है—

पउणु पाणी सुंनै ते साजे।
सुंनहु ब्रह्मा विसनु महेसु उपाए।।
सुंनहु उपजे दस अवतारा।
सृसटि उपाइ कीआ पासारा ।।[2]

महायानी सिद्धों ने निर्वाण-प्राप्त चित्त की अवस्था को शून्य (खसम) कहा है[3] और स्थविरवादी बौद्ध शून्य को विमोक्ष मानते हैं[4], नाथ भी शून्य को परमतत्व के रूप में मानते हुए उसे ही सर्वस्व बतलाते हैं[5], किन्तु कबीर ने शून्य को आदितत्व के रूप में माना है, उन्होंने संसार की उत्पत्ति को शून्य से ही स्वीकार किया है—

सहज सुंनि इकु बिरवा उपजि धरती जलहरु सोखिया।
कहि कबीर हउ ताका सेवक जिनि इहु बिरवा देखिआ ।।[6]

उदक समुंद सलिल की साखिआ नदी तरंग समावहिगे।
सुंनहि सुंनु मिलिआ समदरसी पवन रूप होइ जावहिगे ।।[7]

नेपाल, आसाम और उत्कल प्रदेश के पन्द्रहवीं शताब्दी के बौद्ध भी शून्य से ही सृष्टि मानते थे। श्री हॉगसन ने लिखा है—"महाशून्य कुछ लोगों के अनुसार स्वभाव और अन्यों के अनुसार ईश्वर है। वह व्योम-सा परिव्याप्त है और आत्म-निर्भर है, वही आदिबुद्ध है जो स्वेच्छा से प्रकट हुआ। वही स्वयम्भू है जिसे सब लोग सत्पुरुष के रूप में जानते हैं, उसने पंच-बुद्ध को उत्पन्न किया[8]।" नगेन्द्रनाथ वसु का कथन है कि यह व्याख्या बाह्यतौर पर

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ६५१।
३. दोहाकोश, पृष्ठ ३२।
४. दीघनिकाय, संगीति परियायसुत्त।
५. गोरखबानी, पृष्ठ ७३।
६. सन्त कबीर, पृष्ठ १८१।
७. सन्त कबीर, पृष्ठ १९२।
८. भक्तिमार्गी बौद्धधर्म, पृष्ठ १०७।

वैष्णव धर्म मानने वाले उत्कल के गुप्त बौद्धों तथा बौद्ध नेवारों (नेपाली बौद्धों) की दशा में समान रूप के ठीक उतरती है और यह सिद्धान्त महायानी बौद्धों का है[१]। नेपाल के स्वयम्भू पुराण में शून्य को जननी की संज्ञा दी गयी है—

शून्यतां शून्यतां माता बुद्धमाता प्रकीर्तिता ।
प्रज्ञापारमितारुपी बौद्धानां जननी तथा ।।[२]

उत्कल के बौद्धों ने भी शून्य को आदिमाता कहकर ही गाया है—

आद्यदेवमाता शून्य वरदाता गहाङ्क शून्यटि कहि ।[३]
परम आत्माटि महाशून्य बलि भाव ।[४]

सन्त रैदास ने भी शून्य से ही उत्पत्ति मानी है—

जहां का उपज्या तहां समाय ।
सहज शून्य मे रह्यो लुकाय ।।[५]

इस प्रकार स्पष्ट है कि गुरु नानक का शून्य बौद्ध-परम्परा से आगत शून्य का ही रूपान्तरित स्वरूप है, जो उनके समय में नेपाल एवं उत्कल प्रदेश में प्रचलित था। शून्य समाधि, शून्य-मण्डल, सहज-गुफा, निर्वाण, निरंजन, सहजावस्था, सुरति आदि में भी इसी प्रकार बौद्ध-प्रभाव परिलक्षित है।

शून्य समाधि

शून्य समाधि को गुरु नानक ने निरंजन परमात्मा के ध्यान की अवस्था माना है। उस समाधि में केवल कर्तार ही रहता है और कुछ नहीं रहता, वह अफुर समाधि की अवस्था है—

जोगी सुंनि धिआवन्हि जेते अलख नामु करतारु ।
सूखम मूरति नामु निरंजन काइआ का आकारु ।।[६]

सुंन समाधि रहहि लिव लागे एकाकी सबदु बीचार ।
जलु थलु धरणि गगनु तह नाही आपे आपु कीआ करतार ।।[७]

गुरु नानक की शून्य-समाधि सिद्धों-नाथों की सहज समाधि का ही स्वरूप है। नाथों ने सहज समाधि को स्थिर चित्त की अवस्था कहा है[८]। सिद्ध सरहपा ने उसे परमसुख बतलाया है[९] और गुरु नानक ने शून्य को स्वयम्भू की नगरी कहकर शून्य-समाधि को अफुर समाधि अर्थात् परमतत्व की अवस्था बतलाया है[१०]। इसी से कबीर ने "सहज समाधि भली" कहा

---

१. वही, पृष्ठ १०८। २. स्वयम्भूपुराण, पृष्ठ १८०।
३. गणेश-विभूति टीका, अध्याय १४। ४. वही, अध्याय २२।
५. सन्त रविदास और उनका काव्य, पृष्ठ ९६।
६. नानकवाणी, पृष्ठ ३३२। ७. वही, पृष्ठ ३५९।
८. गोरखबानी, पृष्ठ १९५। ९. दोहाकोश, पृष्ठ ३०।
१०. प्राण सांगली, पृष्ठ १८३।

है[1]। साथ ही कोटि कल्पों तक सहज समाधि में विश्राम करने की भी इच्छा प्रकट करते हुए उसे ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति बतलाया है[2]। अतः गुरु नानक की शून्य समाधि सहज समाधि का ही रूप है।

अनाहत नाद

गुरु नानक ने हठयोग की साधना को नहीं माना है, किन्तु हठयोग में प्रचलित शब्दों को अपनाया है। ये शब्द सिद्धों द्वारा प्रचारित किये गये थे और नाथों ने इन्हें दृढ़ता से ग्रहण किया था। योगी दशमद्वार की प्राप्ति से पूर्व ही अनाहत नाद सुनने लगता है, किन्तु गुरु नानक के अनुसार अनाहत नाद का आनन्द दशमद्वार में पहुँच कर होता है—

गुरमति राम जपै जनु पूरा।
तितु घट अनहत बाजे तूरा॥[3]
पंच सबद धुनि अनहद बाजे हम घरि साजन आये।[4]

सिद्ध कण्हपा ने कहा है कि नाड़ी शक्ति के दृढ़ होने पर अनाहत नाद होता है—

नाडि शक्ति दिढ धरिआ खाटे।
अनहा डमरू बजइ विरनाटे॥[5]

दशमद्वार

सिद्ध विरूपा का कथन है कि दशमद्वार से ही जान पड़ने लगता है कि योगी अपने गन्तव्य स्थान को पहुँच गया है[6]। गुरु नानक ने इसी बात को प्रकट करते हुए कहा है कि इस शरीर में नव दरवाजे हैं और दशमद्वार (ब्रह्मरन्ध्र) भी है—

नउ दरवाजे दसवा दुआरु।[7]

निर्वाण

निर्वाण परमसुख की अवस्था है, जिसे गुरु नानक ने निर्वाण, निर्वाण-पद, परमपद आदि नामों से पुकारा है। यह बौद्ध "निर्वाण" शब्द का पूर्णरूपेण परिचायक है जो सिद्धों, नाथों और सन्तों से होकर गुरु नानक तक पहुँचा था। गुरु नानक ने निर्वाण के प्रति अपने भाव इस प्रकार व्यक्त किये हैं—

अकथ कहाणी पदु निरबाणी को विरला गुरमुखि बूझए।
ओहु सबदि समाए आपु गवाए त्रिभवण सोझी सूझए॥[8]
गिआनु धिआनु नरहरि निरबाणी।
बिनु सतिगुर भेटे कोइ न जाणी॥

---

१. कबीर, पृष्ठ २६२।
२. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ ८९।
३. नानकवाणी, पृष्ठ २३७।
४. वही, पृष्ठ ४५४।
५. हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १५०।
६. वही, पृष्ठ १३८।
७. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
८. वही, पृष्ठ ४८८।

सगल चराचर जोति समाणी ।
आनद रूप विटहु कुरबाणी ॥[1]
मनु किरमाणु हरि रिदै जंमाइ ।
लै इउ पावसि पदु निरबाणी ॥[2]
हउ हउ करत नही सचु पाईए ।
हउमै जाइ परमपदु पाईए ॥[3]

उपर्युक्त वर्णन से विदित है कि गुरु नानक परमात्मा से मिलने को ही निर्वाण, परम-पद अथवा परमसुख मानते हैं, जिसे अहंकार-त्याग के उपरान्त ही प्राप्त किया जा सकता है। धम्मपद में भी कहा गया है कि तृष्णा के नष्ट होने पर ही निर्वाण-सुख का लाभ होता है, जो परम सुख है—'निब्बाणं परमं सुखं[4] ।' गुरु नानक ने जो निर्वाण को ईश्वर प्राप्ति की अवस्था बतलायी है वह उनकी अपनी स्वयं की अर्जित देशना नहीं है. प्रत्युत सिद्धों की ही देशना का वह अपने रूप में वर्णन है। सिद्ध मानते थे कि बुद्ध सर्वत्र तथा सदा विद्यमान रहते हैं और वे ज्ञान स्वरूप हैं। ज्ञान को ही बोधि भी कहते हैं, वह बोधि सदा सर्वत्र सुलभ है। सिद्ध सरहपा ने इससे भी स्पष्ट रूप से कहा कि बुद्ध तो सदा हमारे शरीर में ही निवास कर रहे है[5]। वे ही ज्ञानस्वरूप, बोधिस्वरूप, सत्यनाम वाले बुद्ध गुरु नानक के हरि, परमात्मा, निरंजन ब्रह्म, निर्वाण, पद-निर्वाण और परमपद हैं।

कर्म-स्वकता

बौद्धधर्म में कर्म-स्वकता प्रधान रूप से मानी जाती है। चूल कम्भविभंग सुत्त में कहा गया है कि सभी प्राणी कर्मस्वक हैं[6]। जातक में कर्मस्वकता को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है—

यानि करोति पुरिसो तानि अत्तनि पस्सति ।
कल्याणकारी कल्याणं पापकारी च पापकं ॥
यादिसं वपते बीजं तादिसं हरते फलं ।[7]

(अर्थ—पुरुष जिन कर्मों को करता है, उनके फल को स्वयं अपने ही देखता है, जो जैसा बीज बोता है वह वैसा फल पाता है, पुण्य करने वाला अच्छा फल पाता है तथा पाप करने वाला बुरा।)

सिद्ध सरहपा ने भी इसी का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि व्यक्ति कर्म के बन्धन से बँधे हैं, जब वे कर्म से विमुक्त हो जाते हैं तब उनका चित्त मुक्त हो जाता है और उसके पश्चात् निर्वाण की प्राप्ति होती है—

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ ७९२ । २. वही, पृष्ठ १२५ ।
३. वही, पृष्ठ २३३ । ४. धम्मपद, गाथा २०३-४ ।
५. दोहाकोश, पृष्ठ १८ ।
६ मज्झिमनिकाय ३, ४, ५; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५२२ ।
७. जातक, गाथा २२२ ।

बज्झइ कम्मेण जणो कम्मविमुक्केण होइ मणमुक्को।
मणमोक्खेण अणुअरं पाविज्जइ परम णिव्वाणं ॥[१]

गुरु नानक ने भी कर्मस्वकता को माना है। उनका भी यही कथन है कि मनुष्य स्वयं ही बोता है और स्वयं ही खाता है—

आपे बीजि आपे ही खाहु।
नानक हुकमी आवहु जाहु ॥[२]

भगवान् बुद्ध की वाणी को ही दुहराते हुए गुरु नानक ने यह भी कहा है कि मनुष्य जैसा बोता है, वैसा ही काटता है—"जेहा राधे तेहा लुणै[३]।" पूर्व-जन्म में जो जैसा कर्म करता है, वैसा ही उसे उसका फल मिलता है, कुशल कर्म का फल सुखकर होता है और पाप कर्म का कष्टकर, फिर दोष अन्य को क्यों दिया जाय ?

सुखु दुखु पुरब जनम के कीए।
सो जाणै जिनि दातै दीए॥
किस कउ दोसु देहि तू प्राणी।
सहु अपना कीआ करारा हे ॥[४]

तीर्थ-व्रत का निषेध

बौद्धधर्म की भाँति गुरु नानक भी तीर्थ-व्रत का निषेध करते हैं। उनका कथन है कि तीर्थ-तप-व्रत से तिलमात्र भी मान नहीं प्राप्त होता, प्रत्युत हरि-भक्ति ही आन्तरिक तीर्थ में स्नान करना है—

तीरथु तपु दइआ दतु दानु, जे को पावै तिल का मानु।
सुणिआ मंनिआ मनि कीता भाउ, अंतरगति तीरथि मलि नाउ ॥[५]

यदि मन में घमण्ड और मैल भरे हुए हैं तो फिर तीर्थ में जाकर स्नान करने से क्या लाभ होगा—

तीरथ नाता किआ करे,
मन महि मैलु गुमान।[६]

जिनमें ज्ञान, ध्यान, गुण और संयम नहीं हैं, वे जन्मकर झूठे ही मर जायेंगे। तीर्थ, व्रत, शुचि, संयम, कर्म, धर्म और पूजा आदि से मुक्ति नहीं मिलती, केवल परमात्मा के प्रेम और भक्ति से निस्तार होता है—

गिआनु धिआनु गुण संजमु नाही जनमि मरहुगे झूठे।
तीरथ वरत सुचि संजमु नाही करमु धरमु नही पूजा।
नानक भाइ भगति निसतारा दुबिधा विआपै दूजा ॥[७]

---

१. दोहाकोश, पृष्ठ ६।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ८८।
३. वही, पृष्ठ १४०।
४. वही, पृष्ठ ६३२।
५. वही, पृष्ठ ८८।
६. नानकवाणी, पृष्ठ १५१।
७. वही, पृष्ठ १६६।

जिस निमित्त मनुष्य तीर्थ-तटों आदि में जाते हैं, वह रत्न-पदार्थ तो घट के भीतर ही स्थित है—

जै कारणि तटि तीरथ जाहीं।
रतन पदारथ घट ही माहीं ॥[१]

अन्तःकरण में मल रहते हुए स्नान करने से कोई लाभ नहीं है। मन को पवित्र करना ही सर्वोत्तम स्नान है—

अंतरि मैलु तीरथ भरमीजै।
मनु नहीं सूचा किआ सोच करीजै॥
किरतु पइआ दोसु का कउ दीजै।
अंनु न खाहि देही दुखु दीजै।
बिनु गुर गिआन तृपति नही थीजै॥[२]

गंगा, यमुना आदि पवित्र नदियाँ, श्रीकृष्ण की क्रीड़ाभूमि वृन्दावन, केदारनाथ, काशी, काँची, जगन्नाथपुरी, द्वारिकापुरी, गंगासागर, त्रिवेणी का संगम प्रयागराज तथा अन्य अड़सठ तीर्थ स्थान हरि के ही अंक में समाए हुए हैं—

गंगा जमुना केल केदारा, कासी कांती पुरी दुआरा।
गंगासागरु बेणी संगमु अठसठि अंकि समाई हे॥[३]

इसी बात को गोरखनाथ ने भी कहा है—"घट हीं भीतरि अठसठि तीरथ कहां भ्रमै रे भाई[४]।" मीराबाई ने तो इन्हें सन्तों के चरणों में ही वतलाया है—"अठसठ तीरथ सन्तों ने चरणे कोटि कासी ने कोटि गंग रे"[५]। मन की पवित्रता सबसे उत्तम स्नान है, इसीलिए भगवान् बुद्ध ने कहा है कि शुद्ध चित्त वाले के लिए सदा ही उपोसथ व्रत और पवित्र सरितायें हैं[६], तथा गोरखनाथ ने बुद्धवाणी को ही दुहराते हुए कहा है—"अवधू मन चंगा तो कठौती गंगा[७]।" इस प्रकार हमने देखा कि गुरु नानक ने तीर्थ-व्रत, स्नान-शुद्धि आदि के सम्बन्ध में वही विचार प्रकट किये हैं जो कि भगवान् बुद्ध तथा बौद्ध परम्परा के हैं।

गुरु-माहात्म्य

गुरु नानक ने सिद्धों-नाथों के समान ही गुरु की महिमा गायी है और गुरु को सब कुछ माना है। गुरु ही शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि सब हैं—

गुरमुखि नादं गुरमुखि वेदं गुरमुखि रहिआ समाई।
गुरु ईसरु गुरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई॥[८]

---

१. वही, पृष्ठ २०२।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ५०७।
३. वही, पृष्ठ ६०९।
४. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
५. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १११।
६. मज्झिमनिकाय, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २६।
७. गोरखबानी, पृष्ठ ५३।
८. नानकवाणी, पृष्ठ ८१।

गुरु सीढ़ी, नाव, तीर्थ सब कुछ है—

गुरु पउड़ी बेड़ी गुरू गुरु तुलहा हरि नाउ।
गुरु सरु सागरु बोहिथो गुरु तीरथ दरीआउ ॥[१]

गुरु सन्तों की सभा में मिलते हैं और उनकी सेवा में ही मुक्ति प्राप्त होती है। उनसे सभी कलुप नष्ट हो जाते हैं—

सन्त सभा गुरु पाइये मुकति पदारथु धेणु।
बिनु गुर मैलु न उतरै बिनु हरि किउ घर वासु ॥[२]

विना गुरु के ज्ञान प्राप्त नहीं होता—

गुर बिनु गिआनु न पाईए।[३]

गुरु नानक से कई शताब्दी पूर्व ही गोरखनाथ ने इन्हीं शब्दों में कहा था—"गुरु बिन ग्यांन न पायला रे भाईला[४]" और गुरु नानक से आयु में ज्येष्ठ परम सन्त कबीर ने भी इसी भाव को इस प्रकार प्रकट किया था—"गुरु बिन चेला ग्यांन न लहै[५]।" स्पष्ट है कि गुरु नानक की गुरु-माहात्म्य की भावना बौद्ध-परम्परा की देन है।

ग्रन्थ-प्रमाण का बहिष्कार

बौद्धधर्म ग्रन्थ-प्रमाण को नहीं मानता। गुरु नानक भी ग्रन्थ-प्रमाण के विरोधी थे। उनका कथन था कि केवल ग्रन्थों को पढ़कर व्याख्यान देने मात्र से ही ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती, प्रत्युत अपने आध्यात्म्य को पहचानना ग्रन्थ-स्वाध्याय से श्रेष्ठ है—

पड़ि पड़ि पंडितु बादु बखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै ॥[६]

केवल ग्रन्थों को पढ़ने से आसक्ति नहीं छूटती। ग्रन्थ तो झूठे हैं, उनमें सारा संसार भटकता फिरता है, वास्तव में सच्चा जीवन ही सार तत्व है—

पंडित वाचहि पोथीआ ना बूझहि बीचारु।
अन कउ मती दे चलहि माइआ का पावारु ॥
कथनी झूठी जगु भवै रहणी सबदु सु सारु।
केते पंडित जोतकी वेदा करहि बीचारु ॥
वादि विरोधि सलाहणे वादे आवणु जाणु।
बिनु गुर करम न छूटसी कहि सुणि आखि बखाणु ॥[७]

---

१. वही, पृष्ठ १०८।
२. वही, पृष्ठ १११।
३. वही, पृष्ठ १५३।
४. गोरखबानी, पृष्ठ १२८।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२८।
६. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
७. नानकवाणी, पृष्ठ १३८।

सन्त महिमा

गुरु नानक ने बौद्ध-परम्परा एवं बौद्धधर्म के समान ही सन्त-महिमा भी गायी है। जिस प्रकार मीराबाई ने सन्तों के चरणों में अड़सठ तीर्थों को माना है[1], उसी प्रकार गुरु नानक ने सन्तों की चरण-धूलि मे अड़सठ तीर्थों के स्नान का फल माना है—

दरसनु देखि भई मति पूरी।
अठसठि मजनु चरनह धूरी ॥[2]

गुरु नानक यह भी मानते हैं कि पूर्व-जन्म-कृत पुण्य से ही सन्तों की चरण-धूलि मस्तक में लगाने को प्राप्त होती है, अतः सन्तों की चरण-धूलि का पाना सौभाग्य की बात है—

दानु महिंडा तली खाकु जे मिलै त मसतकि लाईऐ।
कूड़ा लालचु छडीऐ होइ इक मनि अलखु धिआईऐ ॥
फलु तेवहो पाईऐ जेवेही कार कमाईऐ।
जे होवै पूरबि लिखिआ ता धूड़ि तिना दी पाईऐ ॥
मति थोड़ी सेव गवाईऐ।[3]

खसम

खसम शब्द का प्रयोग शून्यवत के अर्थ में सिद्धों ने किया है[4] और उसे ही योगियों ने गगनोपम तथा शून्यवत माना है, किन्तु जैसा कि पहले संकेत किया जा चुका है, यही खसम शब्द अरबी भाषा के खसम का द्योतक बन गया और सन्तों ने परमात्मा को पति स्वरूप मानकर उससे मिलन की कामना की। "हरि मेरा पीव मैं हरि की बहुरिया[5]" कहकर वे हरि स्वरूप खसम की भक्ति में लीन रहा करते थे। गुरु नानक ने भी उसी परम्परा को अपनाया। उन्होंने खसम को इस तन-मन को रचकर सँवारने वाला माना है—

मन रे साची खसम रजाइ।
जिनि तनु मनु साजि सीगारिआ तिसु सेती लिव लाइ ॥[6]

जो खसम को विस्मरण कर देते हैं वे नीच जाति के हैं—

खसम विसारहि ते कमजाति।
नानक नावै बाझु सनाति ॥[7]

जो खसम को छोड़कर द्वैतभाव में लगते हैं, वे डूब जाते हैं—

खसमु छोडि दूजै लगे, डुबे से वणजारिआ।[8]

---

१. मीराबाई की पदावली, पृष्ठ १११। २. नानकवाणी, पृष्ठ २२७।
३. वही, पृष्ठ ३३९।
४ सब्ब रूअ तहि खसम करिज्जइ।
खसम सहावें मणवि धरिज्जइ ॥ —हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ १२।
५. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १२५। ६. नानकवाणी, पृष्ठ १५४।
७. वही, पृष्ठ २४७। ८. वही, पृष्ठ ३४४।

जिसने खसम को विस्मरण कर दिया है, उसने अपने को नष्ट कर दिया है, उसके क्षणभंगुर जीवन को धिक्कार है—

खसमु विसारि खुआरी कीनी,
धृगु जीवणु नही रहणा।[१]

कबीर के समान ही गुरु नानक ने भी परमात्मा को पति-स्वरूप मानकर गाया है—

की न सुणही गोरीए आपण कंनी सोइ।
लगी आवहि साहुरै नित न पेईआ होइ॥[२]
आपे बहुबिधि रंगुला सखीए मेरा लालु।
नित खै सोहागणी देखु हमारा हालु॥[३]
काइआ कामणि जे करी भोगे भोगणहारु।
तिसु सिउ नेहु न कीजई जो दीसै चलणहारु॥
गुरमुखि रवहि सोहागणी सो प्रभु सेज भतारु।[४]

जातिवाद का त्याग

बौद्धधर्म जातिवाद को नहीं मानता और सिद्ध, नाथ तथा सन्तों ने भी जातिवाद का निषेध किया है। वैसे ही गुरु नानक ने भी जातिवाद को तुच्छ और त्याज्य कहा है। जब सभी में एक ही परमात्मा विराजमान है तो भेद कैसा? कोई भी व्यक्ति अपनी जाति के कारण उत्तम नहीं होता—

फड़क जाती फड़क नाउ, सभना जीआ इका छाउ।
आपहु जे को भला कहाए, नानक तापरु जापै जा पति लेखै पाए॥[५]

जातिवाद से कोई लाभ नहीं है—

जाती दै किआ हथि सचु परखीऐ।
महुरा होवै हथि मरीऐ चखीऐ॥[६]

इसलिए किसी से भी जाति नहीं पूछनी चाहिए। सभी परमात्मा की ज्योति हैं और परलोक में कोई भी जाति नहीं है—

जाणहु जोति न पूछहु जाती आगै जाति न हे।[७]

वास्तव में हरि का सच्चा नाम ही गुरु नानक की जाति है—

हमरी जाति पति सचु नाउ।
करम धरम संजमु सत भाउ॥[८]

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ ७४४।
२. वही, पृष्ठ १२४।
३. वही, पृष्ठ १२४।
४. वही, पृष्ठ १२०।
५. नानकवाणी, पृष्ठ १६९।
६. वही, पृष्ठ १८३।
७. वही, पृष्ठ २४८।
८. वही, पृष्ठ २५७।

शील आदि गुणों की ग्राहकता

बौद्धधर्म का आधार शील माना गया है। गुरु नानक ने भी शील, क्षमा, सन्तोष आदि गुणधर्मों को मुक्ति का साधन बतलाया है। उनका कथन है कि जिन्होंने क्षमा, शील और सन्तोष का व्रत ग्रहण कर लिया है, उन्हें न तो कोई रोग व्याप्त होता है और न यम का दोष ही लगता है। ऐसे लोग मुक्त हो जाते हैं और रूप तथा रेख से रहित प्रभु का स्वरूप ही हो जाते हैं—

खिमा गही व्रतु सील संतोखं।
रोगु न विआपै ना जम दोखं।
मुकत भए प्रभु रूप न रेखं॥[1]

जो यत, सत, संयम और शील का अभ्यास नहीं करता है, उसका जीवन प्रेत्य-पिंजर सदृश शुष्क है और जो पुण्य, दान, पवित्रता (स्नान), संयम तथा साधु-संगति से हीन है, उसका जन्म लेना व्यर्थ है—

जतु सतु संजमु सीलु न राखिआ प्रेत पिंजर महि कासटु भइआ।
पुंनु दानु इसनानु न संजमु साध संगति बिनु बारि जइआ॥[2]

गुरु नानक ने खेद प्रकट करते हुए कहा है कि लोग शील, संयम और शुद्धता को त्यागकर खाद्य-अखाद्य में लीन हो गये हैं, जो उचित नहीं है। यही कारण है कि श्रम और प्रतिष्ठा से लोग विहीन हो गये हैं—

सीलु संजमु सुच भंनी खाणा खाजु अहाजु।
सरमु गइआ घरि आपणै पति उठि चली नालि॥[3]

पुनर्जन्मवाद का अंगीकार

बौद्धधर्म अनीश्वर तथा अनात्मवादी होते हुए भी पुनर्जन्म मानता है। गुरु नानक ईश्वरवादी एवं आत्मवादी थे और उन्होंने भी पुनर्जन्मवाद को अंगीकार किया है। पूर्व-जन्म के संस्कारों को उन्होंने स्वीकार किया है और कहा है कि संस्कारों के अनुसार ही हमारा जीवन चलता है[4]। अतः सुख-दुःख पूर्व-जन्म-कृत हैं[5]। सभी जीव अपने पूर्वकृत कर्म के अनुसार ही अच्छे-बुरे होते हैं[6]। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि बौद्धधर्म में कर्मों के फल स्वतः मिलते हैं, किन्तु गुरु नानक ने कर्म-फल का दाता परमात्मा को माना है, जिसकी आज्ञा सब पर चलती है।

बौद्धधर्म की भाँति गुरु नानक ने भी मनुष्य का जन्म दुर्लभ बतलाया है—"माणस जनमु दुलंभु[7]।" व्यक्ति कभी पशु, पक्षी, सर्प आदि होकर उत्पन्न होता है तो कभी उतार-चढ़ाव के चक्कर में घूमता है। जन्म-जन्मान्तर में उसे अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं—

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ २२५।
२. वही, पृष्ठ ५११।
३. वही, पृष्ठ ७३७।
४. नानकवाणी, पृष्ठ ५७५।
५. वही, पृष्ठ ६३२।
६. वही, पृष्ठ ७३१।
७. वही, पृष्ठ ४४६।

केते रुख बिरख हम चीने केते पसू उपाए।
केते नाग कुली महि आए केते पंख उड़ाए ॥
तट तीरथ हम नव खंड देखे पटण बाजारा।
लै कै तकड़ी तोलणि लागा घट ही महि बणजारा ॥[1]

इसलिए मनुष्य को चाहिए कि इस मनुष्य जीवन को यों ही खाने-पीने और सोने में न गँवा डाले। सांसारिक सुख-विलास में पड़कर इस जीवन के महत्व को विस्मरण कर देना उचित नहीं है—

रैणि गवाई सोइ कै दिवसु गवाइआ खाइ।
हीरे जैसा जनमु है कउड़ी बदले जाइ ॥[2]

यज्ञ, होम आदि का परिवर्जन

बौद्धधर्म में यज्ञ, होम आदि के लिए कोई स्थान नहीं है। भगवान् बुद्ध ने इनका सर्वथा निषेध किया था और इन्हें महाफलदायी नहीं बतलाया था। सिद्धों ने कड़े शब्दों में यज्ञ-होम का विरोध किया था। सिद्ध सरहपा ने यहाँ तक कह डाला कि व्यर्थ ही ब्राह्मण मिट्टी, जल, कुश लेकर मंत्र पढ़ते और घर में बैठकर अग्नि-होम करते हैं, वे व्यर्थ ही होम करके धूँए की कड़ुआहट से अपनी आँख जलाते हैं[3]। इसी प्रकार गुरु नानक ने भी यज्ञ, होम आदि का परिवर्जन किया। उन्होंने कहा कि यज्ञ, होम, पुण्य, तप, पूजा आदि करने से देह दुःखी ही रहती है, शान्ति नहीं प्राप्त होती, अतएव नित्य दुःख सहन करना पड़ता है—

जगन होम पुंन तप पूजा देह दुखी नित दूख सहै।[4]

इस प्रकार हम देखते हैं कि गुरु नानक की वाणियों में महायानी बौद्धों, सिद्धों, नाथों और सन्तों का प्रभाव पड़ा हुआ है जो अपने मूल रूप में बौद्ध विचारधारा की देन है। यदि गुरु नानक पर पड़े बौद्धधर्म के प्रभाव का विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो वह स्वयं एक प्रबन्ध का रूप धारण कर ले, अतः यहाँ विस्तारपूर्वक लिखने के लिए अवकाश नहीं है। हमने यहाँ कतिपय प्रधान तत्वों की ओर ही संकेत किया है। जिन शील आदि गुणधर्मों की नींव पर बौद्धधर्म का धर्म-प्रासाद खड़ा है, उसकी गुणगाथा परवर्ती सिद्धों और नाथों को वाणियों में भी उपलब्ध है और उसे ही सन्तों तथा सिख गुरुओं ने भी अपने ढंग से ग्रहण किया है। ऊपर हमने गुरु नानक के शील आदि गुणों की ग्राहकता के सम्बन्ध में प्रकाश डाला है। स्मरण रहे कि गोरखनाथ ने भी गुरु नानक से पूर्व ही शील, सन्तोष, क्षमा, दया, दान, नाम-स्मरण आदि व्रतों को सर्वोत्तम व्रत कहा था—

सील संतोष सुमिरण व्रत करै।
ताकै भुषी कौंण कहि मरै ॥

---

१. वही, पृष्ठ २१४। २. नानकवाणी, पृष्ठ २१५।
३. दोहाकोश, पृष्ठ २। ४. नानकवाणी, पृष्ठ ६९६।

मन इंद्रियन कौं अस्थिर राषै।
राम रसाइन रसनां चाषै॥
इन व्रत समि [illegible] नहीं कोई।
वेद अरु नाद कहै मत दोई॥
ता थै ए व्रत हिरदय धारौ।
गुरु साधौं की साष विचारौं॥
सील व्रत संतोष व्रत छिमा दयाव्रत दान।
ये पाँचों व्रत जो गहै, सोई साध सुजांन॥
इन व्रतां का जांणै भेव, आपै करता आपै देव॥[1]

तिब्बती बौद्ध और गुरु नानक

बौद्ध देशों की यात्राओं से गुरु नानक का सम्पर्क बौद्धों से हुआ था। विशेषकर भूटान की यात्रा में उन्हें अपने कार्य में इच्छित सफलता मिली थी। वहाँ उनका प्रवचन हुआ था, जिसका भूटानी भाषा में अनुवाद वहाँ की बौद्ध-जनता को सुनाया गया था। भूटानी बौद्ध वास्तव में तिब्बती ही हैं। उन्होंने गुरु नानक का बहुत सम्मान-सत्कार किया। वे यह नहीं समझ पाये कि गुरु नानक लामा नहीं हैं और न तो बौद्ध ही हैं। तिब्बती बौद्ध लामा की शरण जाते हैं और लामा गुरुवाचक शब्द है। इस बात का ऐसा प्रभाव पड़ा कि गुरु नानक की कुछ वाणियों का एक संकलन भी तिब्बती भाषा में किया गया। कुछ समय के उपरान्त गुरु नानक को तिब्बत, भूटान, नेपाल, लद्दाख आदि की महायानी बौद्ध-जनता लोपुन रिम्पोछे (गुरु पद्मसम्भव) भी समझने लगी। यही कारण है कि इन देशों की बौद्ध-जनता प्रति वर्ष सहस्रों की संख्या में अमृतसर के गुरुद्वारा के दर्शनार्थ जाया करती है। यद्यपि गुरु नानक के जन्म से लगभग साढ़े तीन सौ वर्ष पूर्व गुरु पद्मसम्भव धर्म-प्रचारार्थ तिब्बत गये थे[2]। तिब्बती बौद्धों में गुरु पद्मसम्भव के प्रति बहुत श्रद्धा है। वे शान्तरक्षित के शिष्य थे और उद्यान जनपद से सन् ७४७ ई० में तिब्बत गये थे। इनके सम्बन्ध में महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने लिखा है कि पद्मसम्भव तिब्बत में भगवान् बुद्ध से भी बढ़कर माने जाते हैं[3]। तिब्बती बौद्धों में यह अनुश्रुति प्रसिद्ध है कि गुरु पद्मसम्भव का आविर्भाव एक सरोवर के मध्य स्थित पद्म-गर्भ से हुआ था और उस सरोवर को रिवालसर का प्रसिद्ध जलाशय ही माना जाता है, जहाँ सिखों का भी एक गुरुद्वारा है। सिख तथा बौद्ध समान रूप से रिवालसर के दर्शनार्थ जाते हैं। ऐसे ही अमृतसर का गुरुद्वारा सरोवर के मध्य होने के कारण भी गुरु पद्मसम्भव का जन्म-स्थान होने का भ्रम उत्पन्न करने में सक्षम है, इसीलिए तिब्बती बौद्ध वहाँ गुरु पद्मसम्भव का ही

---

१. गोरखबानी, पृष्ठ २४५।

२. विशाल भारत, भाग २९, अंक ३, मार्च, १९४२, पृष्ठ ३१२ में प्रकाशित श्री शिवनारायण सेन के "तिब्बत और उसकी कला" शीर्षक लेख में वर्णित।

३. तिब्बत में बौद्धधर्म, पृष्ठ १७।

स्थान समझ कर जाते हैं। इतिहास गुरुखालसा में इस सरोवर के सम्बन्ध में एक दन्तकथा लिखी हुई है। उसके अनुसार इस सरोवर के स्थान पर पहले एक प्राचीन मन्दिर था,[१] जिसे खोदवाकर सरोवर का रूप दिया गया था। यद्यपि उक्त ग्रंथ में उसका सम्बन्ध श्री रामचन्द्र के काल से बतलाया गया है, किन्तु ऐसा सम्भव है कि वहाँ प्राचीन काल से चला आता कोई बौद्ध-अवशेष रहा हो। जो भी हो, इतना स्पष्ट है कि एक दीर्घकाल से तिब्बती बौद्ध अमृतसर के जलाशय और वहाँ के गुरुद्वारे को श्रद्धा की दृष्टि से देखते चले आ रहे हैं। इस श्रद्धा-भक्ति का सृजन गुरु नानक की बौद्ध-देशों की यात्रा से ही हुआ है। यह भी ज्ञातव्य है कि तिब्बती बौद्धों के सम्पर्क में आने के कारण सिखधर्म पर भी एक बड़ा प्रभाव लामावाद का पड़ा। तिब्बत, भूटान, सिक्किम, लद्दाख आदि लामावादी देशों में अवतारी लामा माने जाते हैं और ऐसा विश्वास किया जाता है कि एक अवतारी लामा के देहान्त के उपरान्त वह फिर अवतरित होता है। उसे उसके पूर्व लक्षणों तथा ज्योतिषियों के सहारे प्राप्त किया जाता है। तिब्बत के दलाई लामा लामा-अवतारवाद के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं। दलाई लामा की प्रथा तिब्बत में ईस्वी सन् १३९१–१४७४ में प्रारम्भ हुई थी। वर्तमान दलाई लामा चौदहवें अवतारी महापुरुष माने जाते हैं[२]। लद्दाख के प्रधान लामा कुशोक बकुल भी अवतारी लामा माने जाते हैं। इस समय अवतारी लामाओं की इतनी अधिक संख्या है कि उनकी वास्तविक गणना बतला सकना सम्भव नहीं है। इन्हीं अवतारी लामाओं के समान आगे सिख गुरु भी गुरु नानक के अवतार माने जाने लगे। उनका भी एक की मृत्यु के पश्चात् दूसरे के शरीर में प्रवेश माना जाने लगा। उन सभी पिछले गुरुओं ने अपनी कविताओं में अपने नाम के स्थान पर "नानक" शब्द का ही प्रयोग किया[३]। गुरुग्रंथ साहब में महला १, महला २, महला ३, महला ४, महला ५ तथा महला ९ से क्रमश: गुरु नानक, गुरु अंगद, गुरु अमर-दास, गुरु रामदास, गुरु अर्जुन और गुरु तेगबहादुर समझे जाते हैं[४]। यदि महला का क्रम नहीं रखा गया होता तो इन सिख गुरुओं की वाणियों में भेद कर सकना सम्भव न होता। इस प्रकार स्पष्ट है कि सिख गुरुओं के अवतारवाद पर तिब्बती बौद्धों का प्रभाव पड़ा है।

सिखधर्म के अन्य गुरु

गुरु अंगद

सिखों के द्वितीय गुरु अंगददेव थे। इनका जन्म सन् १५०४ ई० में जिला फिरोजपुर के "मत्ते दी सरां" नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम फेरू तथा माता का नाम शुभराई था। इनका पहले का नाम "लहना" था। इनका विवाह खीवी नामक महिला के साथ हुआ था। इन्हें दो पुत्र और एक पुत्री थी। प्रारम्भ में ये शक्ति के उपासक थे, किन्तु

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ २१८-२२०।
२. ओम् मणि पद्मे हुँ, पृष्ठ ५४-५५।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ६९।
४. नानकवाणी, पृष्ठ १।

गुरु नानक के व्यक्तित्व से प्रभावित होकर इन्होंने शक्ति-पूजा त्याग दी और गुरु नानक के उपदिष्ट मार्ग में लग गये। गुरु नानक ने इनकी श्रद्धा-भक्ति देखकर इन्हें अंगद नाम से विभूषित किया और अपने दोनों पुत्रों की उपेक्षा कर इन्हें ही शिष्यत्व एवं गुरुगद्दी प्रदान की। इन्हें सन् १५३९ में गुरुगद्दी प्रदान की गई थी। गुरु अंगद ने सर्वप्रथम गुरु नानक के शिष्यों को संगठित किया, जिन्हें "सिख" (=शिष्य) नाम से पुकारा जाने लगा। गुरु अंगद ने सिख-धर्म तथा उसके संघटन को शक्तिशाली बनाने के जो प्रयत्न किये, उनमें से निम्नलिखित बातें प्रधान रूप से मानी जाती हैं :—

(१) गुरु अंगद ने गुरुमुखी लिपि का प्रचलन किया और उसमें गुरु नानक की वाणियों को लिखने की प्रथा चलाई। तब से गुरुमुखी लिपि सिखों की धार्मिक लिपि हो गई।

(२) इन्होंने गुरु नानक की वाणियों तथा जीवन-चरित्र का संग्रह करने का प्रयत्न किया।

(३) गुरु नानक द्वारा स्थापित लंगर प्रथा को विस्तार दिया। लंगर में सिख तथा अन्य धर्मावलम्बी भी बिना मूल्य भोजन पाते थे। इससे सेवा-भाव तथा एकता को प्रश्रय मिला। लंगर में सभी जाति के लोग एक पंक्ति में बैठकर बिना किसी भेद-भाव के भोजन करते थे।

गुरु अंगद की रचनायें गुरुग्रंथ साहब में महला २ के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। सन् १५५२ ई० में खडूर में गुरु अंगद परमज्योति में लीन हो गये[१]।

गुरु अमरदास

सिखों के तृतीय गुरु अमरदास थे। इनका जन्म अमृतसर जिलान्तर्गत "बासर के ग्राम" में ई० सन् १४७९ में हुआ था। ये पहले वैष्णव सम्प्रदाय के भक्त थे। पीछे इन्होंने सिख धर्म की दीक्षा ग्रहण की। ये बड़े भक्त और गुरु-सेवा में लीन रहनेवाले सन्त थे। इन्होंने जाति-पाँति के बन्धन को शिथिल करने के लिए नियम बनाया था कि केवल गुरु का दर्शन उस व्यक्ति को ही प्राप्त हो सकेगा जो कि एक पंक्ति में बैठकर भोजन कर सके। गुरु अंगद ने इनके सेवा-भाव एवं धर्म-निष्ठा से प्रसन्न होकर ही इन्हें गुरु-गद्दी प्रदान की। गुरु अंगद के देहावसान के पश्चात् सिख धर्मावलम्बियों में गुरु-गद्दी के प्रश्न को लेकर कुछ मतभेद उत्पन्न हुआ, किन्तु गुरु अमरदास ने बड़ी बुद्धिमत्ता से उसे सम्हाला। कुछ लोग गुरु नानक के पुत्र श्रीचन्द के पक्ष में थे। गुरु अमरदास ने अपने शिष्यों को समझाया— "गुरु नानक धर्म-परायण और त्यागी होने पर भी जंगल में नहीं गये थे। वे संसार में रहते हुए भी संसार से पृथक् थे। गुरु नानक का आदर्श जीवन यही बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य संसार में रहते हुए भी संसार से अलग रह सकता है[२]।"

---

१. इतिहास गुरुखालसा में "परमज्योति" में मिलने की तिथि चैत्र, शुक्ल ४, बुधवार को अपराह्न में बतलाई गयीं है। —पृष्ठ १८२।

२. सिक्खों का उत्थान और पतन, पृष्ठ १४।

अकबर बादशाह गुरु अमरदास को बहुत मानता था। इन्होंने सिख धर्म के संगठन एवं प्रचार के लिए २२ गद्दियों की स्थापना की, जिन्हें "मंजा" कहा जाता था। महिलाओं की शिक्षा पर भी इन्होंने बल दिया। ५२ उपदेशिकाएँ विभिन्न स्थानों में नियुक्त की गयी थीं। इनके समय में सिख धर्म की नींव दृढ़ हुई। इनकी रचनाएँ गुरुग्रंथ साहब में "महला ३" के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। इनकी सर्वाधिक प्रसिद्ध रचना "आनन्द" है, जो विशेष अवसरों पर गायी जाती है।

गुरु अमरदास का शरीरपात ई० सन् १५७४ में भाद्रपद की पूर्णिमा को दिन में १० बजे हुआ था।

गुरु रामदास

गुरु रामदास सिखों के चतुर्थ गुरु थे। इनका जन्म लाहौर की चुन्नीमण्डी में सन् १५३४ में हुआ था। इनके पहले का नाम जेठा था। इन्होंने ही "सन्तोष सर" का निर्माण कराया था, जो पीछे "अमृतसर" नाम से प्रसिद्ध हुआ। ये ९ वर्ष की अवस्था में ही गुरु अमरदास की सेवा में लग गये थे। इनका विवाह गुरु अमरदास की ही पुत्री "बीबी भानी" से हुआ था। ये गुरु अमरदास के परमभक्त थे। अतः उन्होंने सन् १५७४ में इन्हें गुरुगद्दी प्रदान की थी। इनके तीन पुत्र थे, जिनमें अर्जुनदेव इनके कनिष्ठ पुत्र थे, जो पीछे सिखों के पाँचवें गुरु हुए। इन्हीं के समय से गुरुगद्दी एक ही वंश-परम्परा में रहने लगी।

गुरु रामदास ने बहुत-सी रचनाएँ की थीं, जो गुरुग्रंथ साहब में "महला ४" के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। सन् १५८१ ई० में ये परमज्योति में लीन हो गए थे।

गुरु अर्जुनदेव

सिखों के पाँचवें गुरु अर्जुनदेव थे। इनका जन्म सन् १५६३ में गोइंदवाल नामक ग्राम में हुआ था। गुरु अमरदास इन्हें बहुत मानते थे। इनके स्वभाव, भक्ति, प्रेम और सत्यनिष्ठा से गुरु अमरदास भी इन पर बहुत प्रसन्न रहा करते थे। फलतः इन्हें ही सन् १५८१ में गुरुगद्दी मिली। गुरुगद्दी प्राप्त होने से इनके बड़े भाइयों के मन में कुछ द्वेष-भावना उत्पन्न हुई, अतः ये उन्हें कुछ सम्पत्ति देकर उसी वर्ष अमृतसर चले गये। अमृतसर में रहते हुए ही इन्होंने सन् १५८८ में प्रसिद्ध गुरुद्वारा "हरि मन्दिर" की नीव डाली तथा तरनतारन और करतारपुर नगरों को बसाया। इन्हे सन् १५९५ मे एक पुत्र-रत्न का लाभ हुआ, जिसका नाम हरगोविन्द सिंह रखा गया था। ये ही सिखों के छठें गुरु हुए।

गुरु अर्जुनदेव ने गुरुओं की वाणी का एक सुन्दर एवं शुद्ध संकलन किया, जिसे 'आदि-ग्रंथ' कहते हैं। उसे उन्होंने अमृतसर सरोवर के मध्य निर्मित "हरि मन्दिर" में स्थापित किया और वह सिखों का पवित्र एवं पूज्य ग्रन्थ माना जाने लगा। सिखों की उन्नति के लिए उन्होंने अपने अनुयायियों को तुर्किस्तान से घोड़ों के व्यापार में संलग्न किया, जिससे बहुत लाभ हुआ। इसी समय से सिखों में घुड़सवारी करने की भी प्रवृत्ति प्रबल हुई।

गुरु अर्जुनदेव एक ओर सिखधर्म के विस्तार एवं उन्नति में लगे थे और दूसरी ओर उनके विरुद्ध बराबर षड्यन्त्र होते रहे। इनके भाई तो विरुद्ध थे ही, अब चन्दूशाह नामक

व्यक्ति भी इनका शत्रु बन गया। चन्दूशाह अपनी पुत्री का विवाह गुरु अर्जुनदेव के पुत्र हरगोविन्द से करना चाहता था, जिसे उन्होंने स्पष्ट शब्दों में अस्वीकार कर दिया था। तदुपरान्त उसने अकबर बादशाह को गुरु अर्जुन के विरुद्ध करना चाहा, किन्तु अकबर ने गुरु को निर्दोष पाकर उनका सम्मान-सत्कार किया, किन्तु अकबर के देहावसान के उपरान्त चन्दूशाह ने जहाँगीर को भड़काया। जहाँगीर ने गुरु अर्जुन को अपने भाई खुसरो की सहायता करने का दोष लगाकर दो लाख रुपये का अर्थदण्ड दिया और उसे न देने पर कारागार में बन्द करा दिया। वहाँ चन्दूशाह ने गुरु को नानाप्रकार से हृदय-विदारक यातनाएँ दीं। सिखधर्म की रक्षा के लिए उन्होंने उन यातनाओं को प्रसन्नतापूर्वक सहन किया और ईस्वी सन् १६०६ में रावी के पवित्र जल के साथ विलीन होकर परमज्योति में लीन हो गये।

पहले संकेत किया जा चुका है कि गुरुग्रन्थ साहब का वर्तमान स्वरूप गुरु अर्जुन द्वारा ही प्रदान किया गया था। उसमें सबसे अधिक रचना इन्हीं की हैं,[1] जो "महला ५" के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। इनकी संख्या ०० से भी अधिक है[2]। इनमें 'सुखमनी" सबसे प्रसिद्ध है। उसका पाठ प्रातःकाल जपुजी के उपरान्त किया जाता है।

गुरु हरगोविन्द

गुरु हरगोविन्द सिखों के छठें गुरु थे। इनका जन्म सन् १५९५ में हुआ था। अपने पिता गुरु अर्जुनदेव के देहावसान के पश्चात् ये गुरुगद्दी पर विराजमान हुए। इन्होंने सेली अथवा दुपट्टे को न धारण कर तलवार धारण की और युद्धोपयोगी वस्त्रों से अपने को विभूषित कर लिया। इन्होंने अपने सभी शिष्यों को निमन्त्रित कर उन्हें आज्ञा दी कि भविष्य में वे उन्हें द्रव्य का उपहार न देकर शस्त्र एवं घोड़ों को ही दिया करें। अमृतसर के स्वर्ण-मंदिर के एक भाग में 'तख्त अकालबुङ्गे" की स्थापना की गयी, जहाँ अकाली सिख अपने अस्त्र-शस्त्र रखते तथा बैठते थे। इन्होंने ५२ पहलवानों का निर्वाचन कर रक्षात्मक टुकड़ी भी बनाई और सिखों में सैनिक भाव का उद्रेक हुआ। चन्दूशाह के षड्यन्त्र से गुरु हरगोविन्द को कुछ दिनों तक ग्वालियर के कारागार मे निर्वासित के रूप में रहना पड़ा, किन्तु पीछे रहस्य खुलने पर चन्दूशाह को बादशाह जहाँगीर ने पकड़वा कर गुरु हरगोविन्द को सौंप दिया, जिसे सिखों ने टुकड़े-टुकड़े कर मार डाला।

गुरु हरगोविन्द ने अमृतसर में "कौलसर" नामक एक नवीन तालाब का निर्माण कराया और इस प्रकार वहाँ सन्तोषसर, अमृतसर, रामसर, कौलसर तथा विवेकसर पाँच तालाब हो गए, जो मुख्य दर्शनीय स्थान माने जाते हैं।

गुरु हरगोविन्द को मुगल बादशाह शाहजहाँ की सेना से कई एक मुठभेड़ हुई थी और वे विजयी हुए थे। इन्होंने सन् १६४४ में अपनी गद्दी का भार अपने पौत्र हरराय को सौंप

---

१. श्रीगुरुग्रन्थ दर्शन, पृष्ठ २५।

२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३१६।

दिया। उसी वर्ष ३७ वर्षों तक गद्दी पर बैठने के उपरान्त चैत्र, शुक्ल ५, (सन् १६४४) को गुरु हरगोविन्द का शरीरपात हो गया।

गुरुग्रन्थ साहब में गुरु हरगोविन्द, गुरु हरराय और गुरु हरकृष्ण की रचनाएँ संग्रहीत नहीं हैं, अतः यह कह सकना सम्भव नहीं है कि इन गुरुओं ने कुछ रचनायें की थीं या नहीं।

गुरु हरराय

सिखों के सातवें गुरु हरराय थे। ये गुरु हरगोविन्द के पौत्र थे। ये शान्तचित्त और विचारशील स्वभाववाले थे। इनका मन युद्धादि से हटकर हरिभक्ति में अधिक लगता था। एक बार शाहजहाँ का पुत्र दारा शिकोह रोगी हुआ। उसका रोग गुरु हरराय की औषधि से अच्छा हुआ। दारा शिकोह को जब यह ज्ञात हुआ तब उसने गुरु के प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट की। पीछे शाहजहाँ के देहान्त के पश्चात् जब औरंगजेब ने दाराशिकोह को पकड़ने के लिए सेना भेजी तो गुरु हरराय ने दारा की सहायता की, जिससे औरंगजेब इनसे रुष्ट हो गया और इन्हें अपने यहाँ बुला भेजा, किन्तु गुरु ने स्वयं न जाकर अपने पुत्र रामराय को भेज दिया। वहाँ जाने पर औरंगजेब ने रामराय से पूछा कि गुरुग्रंथ साहब में जो लिखा है—

मिट्टी मुसलमान की पेडे पई घुमि आर।
घड भांडे ईंटा किया, जलती करे पुकार[1]॥

इसमें "मुसलमान" शब्द का क्या अर्थ है? रामराय ने तुरन्त कह दिया कि यहाँ "मुसलमान" न होकर "बेईमान" होना चाहिए, यह पाठ अशुद्ध है। इसे सुनकर औरंगजेब तो प्रसन्न हो गया, किन्तु गुरु हरराय ने रामराय से अप्रसन्न होकर उसे गुरुगद्दी से वंचित कर अपने छोटे पुत्र हरकृष्ण राय को गद्दी का उत्तराधिकारी बना दिया। उन्हें यह बात असह्य हुई कि एक गुरु का पुत्र मुगल बादशाह को प्रसन्न करने के लिए कैसे नानकवाणी को अशुद्ध कह सकता है? गुरु हरराय का शरीरपात कार्तिक, बदी ७, सन् १६६१ को हुआ था।

गुरु हरकृष्ण राय

गुरु हरकृष्ण राय सिखों के आठवें गुरु थे। इनका जन्म गुरु हरराय की पत्नी कृष्ण कुँवर से सन् १६५६ मे हुआ था। अल्पायु मे ही इन्हे गुरुगद्दी मिल गयी थी। उस समय इनकी अवस्था केवल पाँच वर्ष तीन मास थी। जब औरंगजेब को इस बात का पता लगा तो उसने इन्हें अपने दरबार मे आने के लिए सन्देश भेजा। ये दिल्ली के लिये चल दिये। मार्ग में इन्हें चेचक निकल आयी और सन् १६६४ में ही केवल सात वर्ष की ही अवस्था में इनका देहावसान हो गया।

गुरु तेगबहादुर

गुरु तेगबहादुर सिखों के नवें गुरु थे। ये गुरु हरगोविन्द के पुत्र थे। इनका जन्म सन् १६२१ में अमृतसर में हुआ था। ये बचपन से ही परमशान्त एवं चिन्तनशील स्वभाव-

---

१. इतिहास गुरुखालसा, पृष्ठ ३०७।

वाले थे। अपनी इसी प्रवृत्ति के कारण "बकाला" नामक स्थान में रहकर हरि-स्मरण, भक्ति एवं चिन्तन-मनन में समय व्यतीत करते थे। जब गुरु हरकृष्ण राय परमज्योति में लीन होने लगे थे तब उन्होंने इन्हीं की ओर संकेत करते हुए कहा था—"बाबा बकाले!"। माखनशाह ने इस संकेत से बकाला ग्राम में गुरु तेगबहादुर का पता लगाया और सन् १६६४ में उन्हें गुरुगद्दी सौंपी गयी।

गुरु तेगबहादुर का स्वभाव सीधा-सादा था और स्वयं वे अल्पेच्छता तथा सन्तोष से पूर्ण हो विहरते थे, किन्तु उनके दरबार की शोभा अनुपम थी, इसीलिए सिख लोग उन्हें "सच्चा बादशाह" कहते थे। गुरु तेगबहादुर के विरोधी रामराय ने औरंगजेब को उनके विरुद्ध भड़काया। उन पर शान्ति भंग का दोष लगाकर दिल्ली बुलाया गया, किन्तु जयपुर-नरेश के समझाने से औरंगजेब ने गुरु को नरेश के साथ आसाम जाने की स्वीकृति दे दी। आसाम-युद्ध में गुरु तेगबहादुर ने राजा की बड़ी सहायता की। आसाम से लौटकर वे पटना में रह गये। वहीं सन् १६६६ में गुरु गोविन्द सिंह का जन्म हुआ। तदुपरान्त गुरु तेगबहादुर पंजाब चले गये और शान्तिपूर्वक जीवन व्यतीत करने लगे। वहाँ उनके जाने से सिख लोग पुनः उनके पास एकत्र होने लगे और धर्म-कार्य तीव्र गति से आगे बढ़ने लगा। रामराय ने फिर औरंगजेब को उभाड़ा। औरंगजेब ने गुरु को दिल्ली आने के लिए सन्देश भेजा। जब सन्देश मिला, तब गुरु तेगबहादुर ने अपने पुत्र गोविन्द सिंह को बुलाकर कहा—"शत्रु मेरी हत्या करने के लिए बुला रहा है, देखना मेरे मृत शरीर को कुत्ते न खाने पावें।" दिल्ली जाने पर औरंगजेब ने गुरु तेगबहादुर को मुसलमान हो जाने के लिए कहा, किन्तु जब उन्होंने धर्म-परिवर्तन करना स्वीकार नहीं किया तब उनका कत्ल करवा दिया। वे हँसते-हँसते धर्म की बलिवेदी पर चढ़ गये। पीछे उनके गले में बँधे एक कागज में लिखा हुआ पढ़ा गया—"सिर दिया पर सार न दिया।" अर्थात् मैंने अपना सिर दे दिया, किन्तु धर्म नहीं दिया। यह घटना सन् १६७५ में घटी थी। इससे उत्तर भारत के हिन्दू और सिख समान रूप से क्षुब्ध हो उठे। उनमें संगठन और नवशक्ति का संचार हो गया। समस्त पंजाब में क्रोध और प्रतिकार के भाव जागृत हो गये, जिसका परिणाम मुगल-शासकों को भोगना पड़ा।

गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ गुरुग्रन्थ साहब में "महला ९" के अन्तर्गत संग्रहीत हैं। उनकी वाणी बड़ी रोचक, सुन्दर और क्षमाशीलता के भाव से पूर्ण है। वे प्रायः कहा करते थे—"क्षमा करना दान देने के समान है। इसके द्वारा मोक्ष की प्राप्ति निश्चित रहती है। क्षमा के समान अन्य कोई भी पुण्य नहीं है[1]।" भगवान् बुद्ध ने भी क्षमाशीलता को परम तप कहा है—

"खन्ती परमं तपो तितिक्खा[2]।"

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३२६।

२. धम्मपद, गाथा १८४।

इन दोनों वाणियों में कैसी अद्भुत समता है। दोनों में क्षमाशीलता के प्रति निहित भाव प्रायः एक समान उच्चादर्श के द्योतक हैं। सन्त-परम्परा की यह अद्भुत देन है। हम आगे इस सम्बन्ध में विस्तारपूर्वक विचार करेंगे।

गुरु गोविन्द सिंह

गुरु गोविन्द सिंह सिखों के दसवें तथा अन्तिम गुरु थे। इनका जन्म पटना नगर में सन् १६६६ में हुआ था। जब सन् १६७५ में इनके पिता गुरु तेगबहादुर धर्म के लिए आत्माहुति स्वरूप परमज्योति में लीन हो गये तब गुरु गोविन्द सिंह को गुरुगद्दी प्राप्त हुई। इनमे सिखों में संगठन, एकता और वीरभाव उत्पन्न करने की अद्भुत शक्ति थी। इन्होंने ही सिख जाति को एक योद्धा जाति का स्वरूप दिया और उसमें अपूर्व शक्ति का संचार कर दिया। वे केवल धार्मिक नेता ही न थे, प्रत्युत एक महान् राष्ट्रीय नेता तथा राजनीतिज्ञ भी थे। उन्होंने अपने पिता की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए अपने अनुयायियों का संघटन किया और उन्हें सामूहिक उपासना, समान वेश तथा एकता के लिए प्रेरित किया। उन्होंने सभी सिखों को कंघी, कच्छ, केश, कड़ा और कृपाण धारण करने की आज्ञा दी और सिखों को एक सैनिक संगठन का स्वरूप प्रदान किया।

गुरु गोविन्द सिंह की इस बढ़ती हुई शक्ति को नष्ट करने के लिए औरंगजेब ने बहुत प्रयत्न किये। उसने अपनी धर्मान्धता में इनके दो पुत्रों को जीवित ही ईंटों की दीवारों मे चुनवा दिए तथा शेष दो पुत्र युद्ध में बलिदान चढ़ गये। औरंगजेब की मृत्यु के पश्चात् बहादुर शाह ने गुरु गोविन्द सिंह से मैत्री कर ली और अनेक स्थानों में दोनों साथ-साथ गये। पीछे गुरु गोविन्द सिंह गोदावरी के किनारे नादेड़ नामक स्थान में चले गये। वहाँ रहते हुए एक वैरागी साधु इनका शिष्य हो गया, जिसका नाम 'वीरवन्दा बहादुर' था। नादेड़ में ही एक पठान के घातक प्रहार से गुरु को मर्मान्तिक चोट लगी और कुछ ही समय के उपरान्त सन् १७०८ में वे परमज्योति में लीन हो गये।

गुरु गोविन्द सिंह ने आध्यात्मिक एवं वाह्य जीवन में अद्भुत सामञ्जस्य स्थापित किया था। धर्म-कार्य के साथ देश-रक्षा, धर्म-संवर्द्धन, आत्मोन्नति एवं परमात्मा का स्मरण भी करने की शिक्षा इन्होंने दी। डॉ० धर्मपाल मैनी ने गुरु गोविन्द सिंह के व्यक्तित्व पर प्रकाश डालते हुये सम्यक् वर्णन किया है—"बुद्धि मे राजनीति, वाहुओं में शक्ति, कार्य मे सामाजिकता तथा आत्मा मे आध्यात्मिकता लिए हुए उनका अपूव व्यक्तित्व था, जिसने विकटतम समय की पुकार का उत्तर हँसकर दिया। यही महान् पुरुषों के जीवन की सफलता का रहस्य होता है[1]।"

गुरु गोविन्द सिंह ने अपने पश्चात् योग्य पुत्र के अभाव के कारण गुरुगद्दी के लिए होनेवाले भावी संघर्षों का विचार कर "श्री गुरुग्रन्थ साहिब" का पूरा पाठ लिखवाया। उसमें अपने पिता गुरु तेगबहादुर की रचनाएँ भी सम्मिलित करायीं। उन्होंने अपनी भी एक रचना उसमें संग्रहीत करायी, जो इस प्रकार है—

---

१. श्री गुरुग्रंथ साहब—एक परिचय, पृष्ठ २८-२९।

बकु होआ बन्धन छुटै, सभ किछु होत उपाइ।
नानक सभ किछु तुमरै हाथ मे, तुम ही होत सहाइ[1] ॥

जब श्री गुरुग्रंथ साहिब का सम्पादन पूर्ण हो गया तब गुरु गोविन्द सिंह ने गुरुत्व का समस्त भार उसी में केन्द्रीभूत कर दिया। उन्होंने स्वयं उसे प्रणाम किया और सभी सिखों को अपने पश्चात् उसे ही अपना गुरु मानने का आदेश दिया—

आग्या भई अकाल की तबी चलायो पंथ।
सभ सिक्खन को हुक्म है गुरु मानियो ग्रंथ ॥
गुरु ग्रंथ जी मानियो प्रगट गुरां की देह।
जो प्रभु को मिलबै चहै खोज शब्द मे लेह[2] ॥

इस प्रकार भव-सागर से पार उतरने के लिए श्री गुरुग्रंथ साहिब ही तब से देहधारी गुरु के स्थान पर सिखों द्वारा सम्पूज्य हुआ।

वीर बन्दा बहादुर

वीर बन्दा बहादुर का जन्म सन् १६७० में हुआ था। इनका प्रारम्भिक नाम लक्ष्मणदेव था। इन्होंने पीछे संन्यास ग्रहण कर लिया था और तब इनका नाम लक्ष्मणदास हो गया था। गुरु गोविन्द सिंह से इनकी पहली भेंट सन् १७०७ में हुई थी। ये उनके शिष्य बन गये थे और तब इनका नाम गुरु बख्श सिंह रखा गया था, किन्तु पीछे ये केवल 'बन्दा' नाम से प्रसिद्ध हुए।

गुरु गोविन्द सिंह ने बन्दा को शिष्यत्व प्रदान करते हुए उन्हें एक तलवार और अपनी तुण्डी से पाँच बाण प्रदान किए तथा निम्नलिखित पाँच आज्ञाएँ दी—

(१) कभी किसी स्त्री के पास न जाकर ब्रह्मचर्य का पालन करना।
(२) सदा सत्य विचार करना, सत्य बोलना और सत्य पर चलना।
(३) सदा अपने को खालसा का सेवक समझना और उसके इच्छानुसार कार्य करना।
(४) कभी अपना अलग मत स्थापित करने का विचार न करना।
(५) कभी अपनी विजयों पर अभिमान न करना।

बन्दा ने गुरु की आज्ञा श्रद्धा-भक्तिपूर्वक शिरोधार्य की और वहाँ से वे पंजाब चले गये। वहाँ उन्होंने सिख जनता को एकत्रित कर सिख-गुरुओं एवं बालकों की हत्या का प्रतिशोध लेने के लिए अपने वीरों को संगठित किया। उन्होंने मुगलों के साथ अनेक युद्ध किए और उन्हें सफलता भी मिली। किन्तु धीरे-धीरे बन्दा में अभिमान एवं प्रभुत्व की भावना का प्रवेश हो गया और उन्होंने गुरु की दी शिक्षा का पालन बहुत आवश्यक नहीं समझा। उन्होंने एक सुन्दरी कन्या से विवाह कर लिया, जिससे सन् १७१२ में एक पुत्र उत्पन्न हुआ। उन्होंने अमृत के स्थान पर चरणोदक प्रदान करना प्रारम्भ किया और "वाह गुरु की फतेह" के स्थान

---

१. श्री गुरुग्रंथ साहिब, पृष्ठ १४२९।
२. श्री गुरुग्रन्थ साहब—एक परिचय, पृष्ठ २९।

पर "वन्दा की दर्शनी फतेह" कहलवाना प्रारम्भ किया। सन् १७१७ के वैशाखी मेले के अवसर पर वे अपने सिर पर कलँगी लगाकर हरिमन्दिर में गद्दी पर जा बैठे। इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि सिख जनता के बीच कलह उत्पन्न हो गये और वह दो दलों में विभक्त हो गई।

जब इन बातों का पता मुगलों को लगा तो उन्होंने सिखों पर आक्रमण कर दिया। सिखों की असफलता हुई और वन्दा पकड़कर दिल्ली पहुँचाए गये। वहाँ उनके सामने ही उनके पुत्र को मार डाला गया और उन्हें भी बड़ी निर्दयता के साथ अनेक यातनाएँ देकर सन् १७१९ में मरने के लिए बाध्य कर दिया गया। तड़प-तड़प कर उनके प्राण-पखेरू नश्वर शरीर से उड़ गए।

ग्रन्थ साहिब और बौद्ध-मान्यता

श्री गुरुग्रंथ साहिब सिख मतावलम्बियों का धार्मिक ग्रंथ है। हम कह आए हैं कि गुरु गोविन्द सिंह के समय से उसे गुरु-सदृश माना जाता है और उसकी पूजा देहधारी गुरु के समान होती है। ऐसे ही भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय कहा था कि मेरे न रहने पर मेरे द्वारा उपदिष्ट धर्म और विनय ही गुरु समझे जायेंगे[1]। बुद्ध-वचनों के संग्रह-ग्रंथ त्रिपिटक में केवल तथागत और उनके प्रमुख शिष्य-शिष्याओं के ही उपदेश संकलित हैं, किन्तु गुरुग्रंथ साहिब में सिख गुरुओं के अतिरिक्त जयदेव, नामदेव, त्रिलोचन, परमानन्द, सधना, वेणी, रामानन्द, धन्ना, पीपा, सेन, कबीर, रैदास, मीराबाई, फरीद, भीखन और सूरदास जैसे सन्तों तथा कुछ भट्टों की भी वाणियाँ संग्रहीत हैं[2]। इसीलिए यह केवल किसी एक धर्म का ग्रंथ न होकर सभी मानव-हित-साधक वचनों का केन्द्रीभूत महान् प्रकाश-पुंज है, जिससे प्रत्येक व्यक्ति अपनी आध्यात्मिक ज्योति को अधिकाधिक ज्योतित कर सकता है। डॉ॰ धर्मपाल मैनी ने यथार्थ ही लिखा है—"वस्तुतः 'ग्रंथ' का धर्म सिखधर्म नहीं, 'शिष्यधर्म' है और 'शिष्य धर्म' ही 'मानव धर्म' है। संसार के किसी धर्म से इसका विरोध नहीं और किसी विशिष्ट धर्म का प्रतिपादन नहीं, इसका विशिष्ट धर्म केवल 'मानव धर्म' ही है। यही सांसारिक जगत् को 'ग्रंथ' की महानतम धार्मिक देन है[3]।"

बौद्ध-देशों में त्रिपिटक की पूजा होती है। कनिष्क ने सम्पूर्ण त्रिपिटक को ताम्रपत्रों पर अंकित करवा कर एक स्तूप में निधान कराया था[4]। लंका और बर्मा में त्रिपिटक के कुछ प्रमुख सूत्रों या ग्रंथों को स्तूपों मे निधान करने की प्रथा है[5]। कुशीनगर के स्तूप की खोदाई में बौद्धधर्म का प्रसिद्ध 'निदान सूत्र' एक ताम्रपत्र पर लिखित प्राप्त हुआ, जो इस समय लखनऊ संग्रहालय मे सुरक्षित है[6]। तिब्बती बौद्ध कन्-जुर और तन्-जुर की पूजा करते

---

१. महापरिनिब्बान सुत्तं, पृष्ठ १७१। २. श्री गुरुग्रंथ दर्शन, पृष्ठ २९-३०।

३ श्री गुरुग्रंथ साहिब—एक परिचय, पृष्ठ १५८।

४. बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य, पृष्ठ १६०।

५. वही, पृष्ठ १०५।

६. कुशीनगर का इतिहास, पृष्ठ १२८-१३४।

हैं[1]। जापान में सद्धर्मपुण्डरीक ग्रंथ की सदा पूजा "नम् म्यो होरेन्गेक्यो" कहकर की जाती है[2]। इसी प्रकार सिख गुरुग्रंथ साहिब की पूजा करते हैं और अपने गुरुद्वारों में उसका ही प्रतिष्ठापन करते हैं। पहले संकेत किया जा चुका है कि महायान के लामा-अवतारवाद का प्रभाव सिख-गुरुओं के ज्योति-अवतरण पर पड़ा है, केवल अन्तर इतना ही है कि एक लामा के देहावसान के पश्चात् उसका दूसरा जन्म होता है और तब उसे पहचान कर पूर्वजन्म के लामा के अवतार को घोषित किया जाता है, किन्तु सिखधर्म के अनुसार एक गुरु की ज्योति का अंश दूसरे गुरु में प्रवेश कर जाता है। इस प्रकार थोड़े-से परिवर्तन के साथ महायान का प्रभाव सिखधर्म पर पड़ा दिखाई देता है। सिखधर्म की अन्य अनेक मान्यताएँ बौद्धधर्म से प्रभावित हैं, जिनकी ओर संकेत नानक-वाणी के उद्धरण के साथ किया जा चुका है।

सिखों के आदि गुरु नानकदेव थे। उन्होंने बौद्ध-देशों की यात्राएँ की थीं, बौद्ध-विद्वानों, सन्तों, नाथों, सिद्धों आदि से सत्संग करके बौद्ध-परम्परागत धर्म की बहुत-सी बातों को अंगीकार किया था, वैसे ही अन्य सिख-गुरुओं ने भी उसी परम्परा को आगे बढ़ाया। यही कारण है कि गुरु नानक तथा अन्य गुरुओं की वाणियों में मौलिक भेद नहीं है। यद्यपि गुरु नानक पूर्ण अहिंसावादी थे, जब बाबर ने भारत पर आक्रमण किया और विनाशलीला मचाई तब उन्होंने केवल इतना ही कथा था—

आपे करे कराए करता किस नो आखि सुणाईऐ।
दुखु सुखु तेरे भाणै होवै किसथै जाइ रूआईऐ।
हुकमी हुकमि चलाए विगसै नानक लिखिआ पाईऐ[3]॥

[प्रभु स्वयं ही करता और कराता है। उसकी बातें किससे कहकर सुनाई जायँ? हे प्रभु, दुःख-सुख सब तेरी ही आज्ञा से होते हैं। अतएव किसके पास जाकर रोया जाय? वह हुक्म का स्वामी सभी को अपने हुक्म में चलाता है और विकसित होता है। नानक कहते हैं कि जो कुछ उसका लिखा होता है, वही प्राप्त होता है।]

किन्तु पीछे के गुरुओं को क्षात्र-धर्म का आश्रय लेना पड़ा, फिर भी उन्होंने भक्ति, हरि-स्मरण आदि का पूर्ण रूप से निर्वाह किया। सभी गुरुओं ने खसम स्वरूप परमात्मा, गुरु-महिमा, घट-घट व्यापी राम, रामनाम स्मरण, संसार की अनित्यता, कर्म-फल, निर्वाण, अनाहत नाद, साधु-सत्संग आदि को स्वीकार किया तथा जाति-पाँति, तीर्थ-स्नान, व्रत, वेदादि ग्रन्थों के पाठ से मुक्ति आदि का निषेध किया। यथा—

खसम

नानक हुकमु पछाणिकै, तउ खसमै मिलणा[4]।
—गुरु अंगद

---

१. बौद्ध संस्कृति, पृष्ठ ४१६।
२. वही, पृष्ठ ३९२।
३. नानकवाणी, पृष्ठ २९४।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५६।

इहु फुरमाइआ खसम का होआ, बरतै इहु संसारा[१]।
—गुरु अमरदास।

निर्वाण

हरिजन प्रीति लाई हरि निरवाणपद।
नानक सिमरत हरि हरि भगवान[२]॥
—गुरु रामदास।

तूं निरवाणु रसीआ रंगिराता[३]।
—गुरु अर्जुनदेव।

गुरु

गुर बिनु घोर अंधारु[४]।
—गुरु अंगद।

सतिगुरु सेविऐ सूतकु जाइ।
मरै न जनमै कालु न खाइ[५]॥
—गुरु अमरदास।

गुर मती सुखु पाईऐ, सचु नामु उर धारि[६]।
—गुरु अमरदास।

घट घट व्यापी

घटि घटि अंतरि एको हरि सोइ[७]।
—गुरु रामदास।

घट घट अंतरि आपे सोइ[८]।
घटि घटि माधउ जीआ[९]।
—गुरु अर्जुनदेव।

घटहीं भीतरि बसत निरंजन[१०]।
रतनु रामु घटही के भीतरि[११]।
—गुरु तेगबहादुर।

---

१. वही, पृष्ठ २६३।
२. वही, पृष्ठ २७८।
३. वही, पृष्ठ ३०१।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५७
५. वही, पृष्ठ २६१।
६. वही, पृष्ठ २५९।
७. वही, पृष्ठ २७६।
८. वही, पृष्ठ २९९।
९. वही, पृष्ठ २९९।
१०. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३४५।
११. वही, पृष्ठ ३४३।

अनाहत नाद

अनहद सबदु बजावै[१]।
गोविन्द गाजे अनहद बाजे[२]।
—गुरु अर्जुनदेव।

नाम-स्मरण

राम नामि लिव लाइ[३]।
नामै ते सभि ऊपजै भाई[४]।
—गुरु अमरदास।

नाम पदारथु पाइआ, तिना गई विलाइ[५]।
—गुरु रामदास।

अनित्य-भावना

जिउ जल ऊपरि फेनु बुदबुदा, तैसा इहु संसार[६]।
—गुरु अमरदास।

सभ किछु जीवत को बिवहार।
मात पिता भाई सुत बंधय, अरु फुनि ग्रिहकी नारि॥
तन ते प्रान होत जब निआरे, टेरत प्रेति पुकारि।
आध घरी कोऊ नहि राखे, घरि ते देत निकारि[७]॥
—गुरु तेगबहादुर।

देह अनित्य न नित्य रहै जस नाव चढ़ै भवसागर तारै[८]।
—गुरु गोविन्द सिंह।

कर्म-फल

करमु होवै सोई जनु पाए।
गुरमुखि बूझै कोई[९]॥
कहतु नानक इहु जीउ करम बंधु होई[१०]।
—गुरु अमरदास।

वही, पृष्ठ ३०६।
२. वही, पृष्ठ ३०८।
वही, पृष्ठ २६२।
४. वही, पृष्ठ २६२।
वही, पृष्ठ २७९।
६. सन्तकाव्य, पृष्ठ २६५।
वही, पृष्ठ ३४४।
८. वही, पृष्ठ ४१६।
वही, पृष्ठ २६५।
१०. वही, पृष्ठ २६४।

तीर्थ-व्रत

जगि हउमै मैलु दुखु पाइआ, मलु लागी दूजै भाइ।
मलु हउमै धोती किवै न उतरै, जे सउ तीरथ नाइ[1] ॥
—गुरु अमरदास।

[illegible] भयो दोउ लोचन मूंदकै, बैठि रह्यो बकध्यान लगायो।
न्हात फिरयो लिए सात समुंद्रन, लोक गयो परलोक गँवायो[2] ॥
—गुरु गोविन्द सिंह।

जातिवाद-खण्डन

जाति का गरबु न करिअहु कोई।
ब्रह्मु बिंदे सो ब्राह्मणु होई ॥
जाति का गरबु न करि मूरख गँवारा।
इसु गरबते जलहि बहुतु विकारा[3] ॥
—गुरु अमरदास।

ग्रन्थ-पाठ व्यर्थ

वेद पढ़ै पढ़ि वादु बखाणै।
ब्रह्म विसनु महेसा।
एह त्रिगुण माइआ जिनु जगतु भुलाइआ।
जनम मरण का सहसा[4]।
—गुरु अमरदास।

पंडितु सासत सिम्रिति पडिआ।
जोगी गोरखु गोरखु करिआ।
मैं मूरख हरि हरि जपु पड़िआ[5] ॥
—गुरु रामदास।

साधु-सत्संग

गुरु गुरु करत सदा सुखु पाइआ।
सन्त संगति मिलि भइआ प्रगास।
हरि हरि जपत पूरन भई आस[6] ॥

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५९।
२. वही, पृष्ठ ४१६।
३. वही, पृष्ठ २६४।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ २६५।
५. वही, पृष्ठ २७७।
६. वही, पृष्ठ ३०६।

कर संगि साधू चरन पखारै ।
संत धूरि तनि लावै ॥
मनु तनु अरपि धरे गुर आगै ।
सति पदारथु पावै[1] ॥
—गुरु अर्जुनदेव ।

उक्त तथ्यों एवं मान्यताओं पर बौद्धधर्म का किस प्रकार प्रभाव पड़ा है, इस ओर सन्त कबीर के सम्बन्ध में लिखते हुए संकेत किया जा चुका है। उनकी पुनरावृत्ति यहाँ आवश्यक नहीं। बौद्धधर्म की जो विचारधारा सिद्धों, नाथों और सन्तों से होती हुई जन-समाज में परिव्याप्त थी, उससे सिख-गुरुओं का प्रभावित होना अनिवार्य था। आत्मा, परमात्मा और भक्ति के स्वरूप का भली प्रकार मनन करने पर स्पष्ट ज्ञात होता है कि सन्तों के सत्तनाम, निर्गुण राम और अलख निरंजन ही सिख-गुरुओं की वाणी में प्रवेश पाए थे, जो "सच्चनाम" वाले भगवान् बुद्ध, निराकार निर्वाण अथवा परमपद के ही रूपान्तरित नाम थे। सिद्धों के समय के "घट घट व्यापी" और "सदा निरन्तर बुद्ध" ही सन्तों और गुरुओं के सर्वव्यापी "राम" अथवा परमात्मा थे। बौद्धधर्म के नैरात्मवाद से इन सन्तों एवं गुरुओं का परिचय नहीं था। केवल सन्त पीपा का ही "ना कछु आइवो ना कछु जाइवो" कथन इसका अपवाद है।

आहार-शुद्धि सम्बन्धी प्राचीन रूढ़ियों का त्याग तथा नारी-निन्दा का परिवर्जन भी सिखधर्म की अपनी विशेषता है। इन दोनों बातों पर बौद्धधर्म का प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा हुआ दीखता है। बौद्धधर्म में आहार-शुद्धि के स्थान पर चित्त-शुद्धि पर बल दिया गया है। त्रिकोटि परिशुद्ध[2] मांस खाना बौद्धधर्म के अनुसार विहित है। सिखधर्म में भी मांस खाना वर्जित नहीं है। गुरु नानक ने तो मांस खाना उचित बतलाया है और उसका विरोध करने-वालों को फटकारा है। उन्होंने यहाँ तक कहा है कि मूर्ख लोग "मांस मांस" कहकर झगड़ा करते हैं; वे ज्ञान-ध्यान कुछ भी नहीं जानते।....जिनका गुरु अन्धा होता है, वे न खानेवाली हराम की कमाई तो खाते हैं, किन्तु खाने योग्य मांसादि त्याग देते हैं।....चारों युगों में मांस का प्रयोग होता रहा है, इसीलिए पुराणों और कुरान आदि ग्रंथों में भी मांस खाने का वर्णन है—

मासु मासु करि मूरखु झगड़े,
गिआनु धिआनु नहीं जाणै।
अभखु भखहि भखु तजि छोडहि,
अंध गुरू जिन केरा।
मासु पुराणी मासु कतेबीं,
चहु जुगि मासु कमाणा[3]।

---

१. वही, पृष्ठ ३०७।
२. मज्झिमनिकाय, जीवकसुत्त २, १, ५; हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २२०।
३. नानकवाणी, पृष्ठ ७७१-७२।

बौद्धधर्म में स्त्रियों के लिए गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है। भगवान् बुद्ध की भिक्षुणी-शिष्याओं के नाम भारतीय संस्कृति के प्रचार एवं प्रसार में भिक्षुओं से कम उल्लेखनीय नहीं हैं। भिक्षुणी-संघ महिलाओं की एक आदर्श धर्म-वाहिका मण्डली थी। भगवान् ने स्त्रियों की प्रशंसा की थी और कहा था कि कोई-कोई स्त्रियाँ पुरुषों से भी बढ़कर बुद्धिमती तथा शीलवती होती हैं। उन्हीं की कुक्षि से शूरवीर राजा तक जन्म लेते हैं[1]। इसी प्रकार सिख-गुरुओं ने भी स्त्रियों की प्रशंसा की है। उन्होंने भी भिक्षुणियों की भाँति उपदेशिकाओं की नियुक्ति की थी, जिन्होंने नारी-समाज में सद्धर्म का स्रोत प्रवाहित किया था। गुरु नानक ने तथागत के समान ही स्त्रियों की प्रशंसा करते हुए कहा था कि स्त्री से ही मनुष्य जन्म लेता है।....स्त्री से ही जगत् की उत्पत्ति का क्रम चलता है। उस स्त्री को बुरा क्यों कहा जाय, जिससे राजागण भी जन्म लेते हैं—

> भंडि जंमीऐ....भंडहु चलै राहु।
> सो किउ मंदा आखीऐ,
> जितु जंमहि राजान[2]।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बौद्ध मान्यताओं का प्रभाव "श्रीगुरुग्रंथ साहिब" पर पड़ा है, जिस ओर आज तक विद्वानों का ध्यान नहीं गया है। इस दिशा में अभी पर्याप्त शोध-कार्य करने की आवश्यकता है। भोट भाषा में अनूदित गुरु नानक के वाणी-संग्रह के प्राप्त होने पर इस कार्य में और भी प्रगति होगी।

●

---

१. संयुत्तनिकाय, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ७८।
२. नानकवाणी, पृष्ठ ३५२।

छठाँ अध्याय

सन्तों की परम्परा में बुद्धवाणी
और
बौद्ध-साधना का समन्वय

[अ] सन्तों के सम्प्रदाय
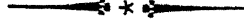
कबीर, नानक आदि प्रमुख सन्तों के पश्चात् उनके शिष्यों की सन्त-परम्परा में सम्प्रदायगत-भावना उत्पन्न हो गयी। वे अपने गुरुओं की विशेषताओं एवं साधना-वैशिष्ट्य के अनुरूप अपने सम्प्रदाय को अन्य सन्त-सम्प्रदायों से भिन्न मानने लगे। यद्यपि उनमें मौलिक एकता थी। वे सभी एक ही निर्गुण-साधना के समर्थक एवं अनुगामी थे। पूर्व की सारी आध्यात्मिक तथा सैद्धान्तिक प्रवृत्तियाँ उनके सम्प्रदाय की शिक्षाओं में विद्यमान थीं। यदि किसी प्रकार का भेद था तो वह अत्यल्प एवं केवल बाह्य लिंगों के रूप में। ये सभी सन्त-सम्प्रदाय निर्वाण, अनाहत, निर्गुण, सत्तनाम अलख निरंजन, घट घट व्यापी परमात्मा, पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक आदि को माननेवाले तथा बाह्य कर्म-काण्ड, तीर्थ-व्रत, ग्रंथ-प्रमाण आदि के विरोधी थे। इस प्रकार इनमें अपने पूर्ववर्ती सन्तों की विचारधारा ही प्रवाहमान थी। ये सन्त अपने अग्रज सन्तों की सिद्धि के प्रशंसक थे। जयदेव, धन्ना, पीपा, रैदास, कबीर, नामदेव, त्रिलोचन, मीराबाई आदि सन्तों के गुणगान इन्होंने मुक्त-कण्ठ से किया है[1]। इन सन्त-सम्प्रदायों में कतिपय प्रसिद्धि-प्राप्त हैं, जिनकी परम्परा अब तक चली आ रही है। इन सन्त-सम्प्रदायों में बुद्धवाणी तथा बौद्ध-साधना का समन्वय उसी प्रकार हुआ है, जैसा कि इनके पूर्ववर्ती सन्तों की वाणियों में मिलता है। हम यहाँ इन सभी प्रमुख सन्त-सम्प्रदायों में बुद्ध-वाणी और बौद्ध-साधना के प्रभाव पर विचार करेंगे तथा देखेंगे कि किस प्रकार सन्तों की परम्परा में बुद्धवाणी बनी रही है और कैसे बौद्ध-साधना का अद्भुत प्रकार से समन्वय इन सन्तों के सम्प्रदायों में हुआ है।

साध सम्प्रदाय

साध सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तर प्रदेश के विभिन्न भागों में पाये जाते हैं। मैनपुरी, मिर्जापुर आदि जिलों में इनकी संख्या अधिक है। दिल्ली के निकट भी इनके निवास है। ये घरबारी होते हैं और अपने को साध अथवा साधक कहते हैं। इस सम्प्रदाय के आदि पुरुष के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं, अभी तक मतैक्य नहीं हो पाया है। अधिकांश विद्वान् वीरभान को इसका आदि-प्रवर्तक मानते हैं[2]। विद्वानों का अनुमान है कि वीरभान ने सन् १५४३ के

---

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ २१-२२; दादू दयाल की बानी, पृष्ठ २७ आदि।

२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३९७ और हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४३९।

आस-पास अपने मत का प्रवर्तन किया था[१]। वे नारनौल के निकटवर्ती विजेसर ग्राम के रहनेवाले थे। उनके लगभग सवा सौ वर्षों के पश्चात् जोगीदास ने इस सम्प्रदाय को संगठित एवं सुव्यवस्थित किया था। कुछ विद्वान् साध सम्प्रदाय और सत्तनामी को एक ही मानते हैं,[२] किन्तु वास्तव में ये दोनों भिन्न सम्प्रदाय हैं।

साध सम्प्रदाय के ग्रंथों का प्रकाशन अभी तक नहीं हुआ है। इस सम्प्रदायवाले अपने धर्म-ग्रंथों को सर्वसाधारण से छिपाकर रखते हैं। "निर्वान ग्यान" और "आदि उपदेश" इस सम्प्रदाय के प्रमुख ग्रंथ माने जाते हैं। इनमें प्रथम पद्य में है और द्वितीय गद्य में। इन ग्रंथों से स्पष्ट है कि साध सम्प्रदायवाले कबीर को अवतारी पुरुष मानकर उन पर श्रद्धा व्यक्त करते हैं—

हुआ होते हुकमी दास कबीर।
पैदायस ऊपर किया वजीर।।
उस घर का उजीर कबीर।
अवगत का सिष दास कबीर[३]।।

ऐसे ही गोरखनाथ भी साध सम्प्रदाय में ज्ञानी पुरुष माने जाते हैं। फर्रुखाबाद के मठ में इस सम्प्रदाय का यह आदर्श-वाक्य अंकित है—"सत्त अवगत्त गोरख उदय कबीर", इससे स्पष्ट है कि साधों की परम्परा सिद्धों, नाथों और सन्तों की ही देन है।

साध सम्प्रदायवाले निराकार ईश्वर को मानते हैं और "सत्तनाम" के प्रति उनकी पूरी आस्था है। नम्रता, सन्तोष, स्वच्छता, मादक वस्तुओं का निषेध, अहिंसा, एक पत्नीव्रत और श्वेत वस्त्र धारण करने पर साध सम्प्रदाय में जोर दिया जाता है। ये शिव को भी मानते हैं, किन्तु उन्हें यज्ञ में उपस्थित होकर हवि ग्रहण करनेवाला नहीं मानते—

सत की भगति महादेव पाई।
जग्य जाइ न भीखा खाई।।

ये मूर्तिपूजा, बाह्य कर्म-काण्ड आदि को नहीं मानते हैं। साध सम्प्रदायवाले प्रत्येक पूर्णिमा को अपने मठ पर एकत्र होते और प्रवचन सुनते है। इसी प्रकार प्रत्येक देश के बौद्ध पूर्णिमा और अमावस्या को विहारों में जाते हैं तथा अष्टशील ग्रहण कर उपोसथ व्रत रहते एवं धर्मोपदेश श्रवण करते हैं।

साध सम्प्रदाय के अनुयायियों के लिए कुछ आचरणीय नियम बने हुए हैं, जिनका पालन करना सभी साधों के लिए आवश्यक माना जाता है। इन नियमों में १२ नियम ऐसे हैं जो बहुत प्रसिद्ध तथा सरल हैं। इन नियमों में बौद्धधर्म के पंचशील तथा अष्टशील के नियम भी सम्मिलित हैं। इनकी तुलना इस प्रकार की जा सकती है :—

---

१. वही, पृष्ठ ३९७ और पृष्ठ ४३९।
२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३९८।
३. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४०।

साध सम्प्रदाय	बौद्धधर्म
१. जीवहिंसा न करो।	१. जीवहिंसा से विरत रहो।
२. किसी भी वस्तु के लिए लालच न करो।	२. बिना दी हुई किसी वस्तु को ग्रहण करने से विरत रहो।
३. एकपत्नी तथा एकपति का व्रत ग्रहण करो।	३. कामभोगों में मिथ्याचार से विरत रहो।
४. कभी असत्य न बोलो।	४. असत्य भाषण से विरत रहो।
५. मादक द्रव्यों का व्यवहार न करो।	५. शराब आदि मादक द्रव्यों के सेवन से विरत रहो।

इसी प्रकार बौद्धधर्म के अष्टशील से केवल विकाल-भोजन, ब्रह्मचर्य-पालन और उच्चासन के सेवनवाले नियमों के अतिरिक्त शेष सभी नियम साध सम्प्रदाय मे विद्यमान हैं। साध संगीत से विरत रहते हैं। मेंहदी, सुरमा, तिलक आदि नहीं लगाते और श्वेत वस्त्र धारण करते हैं। अष्टशील पालन करनेवाले बौद्ध भी श्वेत वस्त्र धारण करते हैं तथा अष्टशील के इस सातवें नियम का पालन करते हैं--"मैं नाच, गाना, बाजा और मेले-तमाशे को देखने तथा माला और सुगन्धि लेपन आदि को धारण करने एवं शरीर-श्रृंगार के लिए किसी प्रकार के आभूषण की वस्तुओं को धारण करने से विरत रहने की शिक्षा ग्रहण करता हूँ[1]।" साध सम्प्रदायवाले दिन, मास आदि के शुभाशुभ होने की बात नहीं मानते हैं। बौद्धधर्म मे भी नक्षत्र आदि के शुभाशुभ मानने का निषेध किया गया है। नक्खत्त जातक में कहा गया है कि शुभाशुभ नक्षत्र देखते रहनेवाले मूर्ख का काम नष्ट हो जाता है। अर्थ की सिद्धि ही अर्थ का नक्षत्र है। भला तारे क्या करेंगे ?

नक्खत्तं पतिमानेन्तं अत्थो बालं उपच्चगा।
अत्थो अत्थस्स नक्खत्तं किं करिस्सन्ति तारका[2]॥

साधों का यह भी नियम है कि वे वर्ण, जाति आदि नहीं बतलाते। यदि उनसे पूछा जाय कि "तुम कौन हो ?" तो केवल इतना ही उत्तर पर्याप्त है--"मैं साध हूँ।" ऐसे ही भगवान् बुद्ध ने अपने शिष्यों को कहा था कि यदि तुमसे कोई पूछे कि "तुम कौन हो ?" तो केवल इतना ही कहना चाहिए—"मैं शाक्यपुत्रीय श्रमण हूँ[3]।" बौद्धधर्म में जाति-भेद के लिए स्थान नहीं है।

साध संन्यास वेश नहीं ग्रहण करते। संन्यास वेश ग्रहण करना उनके सम्प्रदाय में निषिद्ध है। हम जानते हैं कि सरहपा आदि सिद्ध भी घरबार छोड़कर साधु होना व्यर्थ मानते थे[4]।

---

१. नच्चगीतवादित–विसूकदस्सन–मालागन्ध–विलेपन–धारण–मण्डन–विभूसनट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि। —बौद्धचर्या विधि, पृष्ठ १२।

२. जातक ४९, हिन्दी अनुवाद, प्रथम भाग, पृष्ठ ३३६ से उद्धृत।

३. विनयपिटक, महावग्ग।

४. दोहाकोश, भूमिका, पृष्ठ २७।

इस प्रकार प्रकट है कि साध सम्प्रदाय पर बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पड़ा हुआ है और साध अपने परिपालनीय नियमों के रूप में बौद्धधर्म की प्रधान शिक्षाओं का ही पालन करते हैं, जो उन तक सन्त-परम्परा द्वारा पहुँची हैं। डॉ० बड़थ्वाल का यह कथन समीचीन नहीं है कि साध-दर्शन पर इस्लाम का गहरा प्रभाव पड़ा है[1] और न तो डॉ० विल्सन और डॉ० के का यही कथन संगत है कि साध सम्प्रदाय ईसाई धर्म से प्रभावित है[2]। साध सम्प्रदाय की शिक्षाओं पर बौद्धधर्म का पूर्ण प्रभाव दिखाई देता है, जिसका संक्षिप्त परिचय ऊपर दिया गया है। साध सम्प्रदाय में भगवान् बुद्ध के लिए चाहे कोई स्थान न हो, किन्तु घट-घट व्यापी निराकार परमात्मा के रूप में—"देहहिं बुद्ध बसन्त[3]" के अनुसार 'बुद्ध' ही हैं और इस प्रकार साधों के १२ नियम बौद्धधर्म की ही शिक्षाओं पर आधारित हैं।

लालदास और उनका सम्प्रदाय

सन्त लालदास का जन्म सन् १५४० में अलवर राज्य के धौलीधूप नामक ग्राम में हुआ था। ये मेओ जाति के रत्न थे। ये बचपन से ही साधु-सत्संग में रहा करते थे। युवावस्था में इन्होंने अपनी पत्नी के साथ अपना ग्राम त्याग दिया और बांदोली चले गये। इन पर कबीर साहब के मत का अधिक प्रभाव पड़ा था। फकीर गदन चिश्ती के सत्संग से भी इन्हें लाभ हुआ था। ये अनपढ़ थे। इन्होंने साधु-सत्संग से ही धर्म की बातें सीखी थीं। अन्तिम दिनों में ये टोड़ो ग्राम में जा बसे थे। इन्हें स्वरूपा नामक एक कन्या और पहाड़ नामक एक पुत्र था। इनके सम्बन्ध में लालपन्थ के अनुयायियों में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। इनके हिन्दू-मुसलमान दोनों ही अनुयायी थे और वे दोनों को समान रूप से उपदेश देते थे।

सन्त लालदास की वाणियों का एक संग्रह ग्रंथ "लालदास की चेतावनी" नामक है, जो अभी तक प्रकाशित नहीं है। इस ग्रंथ से जान पड़ता है कि लालदास ने जो कुछ उपदेश दिया, वह कबीर और दादू दयाल की विचारधारा से प्रभावित है। लालदास तथा उनके अनुयायी नाम-महिमा को प्रधान रूप से मानते हैं और 'राम' ही उनके सब कुछ हैं। ये 'राम' सत्तनाम (सच्चनाम = सत्यनाम = भगवान् बुद्ध) ही हैं। चित्तशुद्धि, आचरण की पवित्रता, नामस्मरण, भिक्षावृत्ति का निषेध, कर्म-काण्ड का बहिष्कार आदि इस सम्प्रदाय के प्रधान कर्तव्य हैं।

सन्त लालदास का देहान्त ई० सन् १६४८ में हुआ था। उनकी समाधि भरतपुर राज्य के नगला नामक ग्राम में अब तक विद्यमान है, जो लालपन्थी लोगों का पवित्र स्थान माना जाता है।

दादू दयाल तथा उनकी शिष्य-परम्परा

सन्त दादू दयाल का जन्म ईस्वी सन् १५४४ में माना जाता है,[4] किन्तु उनके जन्म-स्थान, जाति आदि के सम्बन्ध में विभिन्न मत हैं। अधिकांश विद्वानों का मत है कि दादू

---

१. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ४४०।

२. वही, पृष्ठ ४४०। ३. दोहाकोश, पृष्ठ १८।

४. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४११।

दयाल का जन्म अहमदाबाद में हुआ था,[१] पण्डित सुधाकर द्विवेदी उन्हें जौनपुरी मानते हैं,[२] किन्तु दादू की वाणी में गुजराती भाषा के शब्द इस बात के प्रमाण हैं कि वे जौनपुर के नहीं थे। उनकी विचरण-भूमि भी गुजरात और राजस्थान ही थी, अतः अहमदाबाद ही उनका जन्मस्थान ग्राह्य है।

दादू धुनिया जाति के थे। उनके शिष्य रज्जबजी ने स्पष्टतः अपने गुरु को धुनिया कहा है। स्वयं दादू ने भी अपने को सबसे नीच और कमीन कहा है,[३] अतः सम्प्रदायवालों की यह मान्यता कि वे ब्राह्मण-सन्तान थे और साबरमती की धारा में बहते हुए मिले थे,[४] केवल दादू को उच्च जाति का बनाने का प्रयास है। ज्ञानी सन्तों के लिए जाति की हीन-उच्चता तुच्छ है। वे तो अपनी आध्यात्मिक पवित्रता से ही सर्वश्रेष्ठ एवं पूज्य हो जाते हैं।

आचार्य क्षितिमोहन सेन ने बंगाल के बाऊलों में प्रचलित दादू के प्रति श्रद्धा-भक्ति और दाऊद नाम 'दादू' के लिए ही व्यवहृत होने की बात से सिद्ध किया है कि दादू का यथार्थ नाम दाऊद था[५]। वे पीछे दादू दयाल नाम से प्रसिद्ध हुए। कहा जाता है कि ११ वर्ष की अवस्था में ही श्रीकृष्ण ने एक वृद्ध संन्यासी के वेश में दादू को दर्शन दिया था और वे ही दादू के गुरु थे,[६] किन्तु दादू के शिष्यों ने उनके गुरु का नाम वृद्धानन्द अथवा बुड्ढन बाबा माना है[७]। हम देखते हैं कि दादू ने अपने गुरु के सम्बन्ध में कोई प्रकाश नहीं डाला है। विद्वानों का मत है कि वास्तव में दादू के कोई जीवित मनुष्य गुरु नहीं थे, प्रत्युत वे परमात्मा को ही अपना गुरु मानते थे[८]।

दादू दयाल ने अठारह वर्ष तक की अवस्था अहमदाबाद में व्यतीत की, तदुपरान्त देश-भ्रमण के लिए प्रस्थान किया। इस भ्रमण-काल में उन्होंने छः वर्षों तक उत्तर प्रदेश, बिहार, बंगाल आदि की यात्रा की और इस बीच कबीरपन्थी, नाथपन्थी आदि सन्तों से सत्संग किया। वे तीस वर्ष की अवस्था में सांभर चले गये थे। वहीं बत्तीस वर्ष की आयु में उनके पुत्र गरीबदास का जन्म हुआ था। जनगोपाल ने "जनमपरची" में इस बात को स्पष्ट किया है—

> बारह बरस बालपन खोये,
> गुरु भेंटे थे सन्मुख होये।
> सांभर आये समये तीसा,
> गरीबदास जनमे बत्तीसा[९]।।

---

१. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उनकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३७।
२. दादूबानी की भूमिका।
३. "तँह मुझे कमीणकी कौण चलाये ?" —दादूबानी, भाग १, पृष्ठ १६३।
४. सन्त साहित्य, पृष्ठ ३६। ५ दादू, पृष्ठ १७।
६. सन्त साहित्य, पृष्ठ ३६-३७।
७. दादू की भूमिका, पृष्ठ ३१, आचार्य क्षितिमोहन सेन।
८. परशुराम चतुर्वेदी : उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४१३ तथा डॉ० त्रिगुणायत : हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।
९. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४१४।

सांभर में रहते समय ही दादू दयाल ने अपने मत का प्रचार-कार्य प्रारम्भ किया। उनकी बैठक "अलख दरीबा" नाम से होती थी, जिसमें उनके भक्तजन सम्मिलित होकर प्रवचन सुनते थे। उन्होंने जिस मत का उपदेश किया, उसे "परब्रह्म सम्प्रदाय" कहा जाता है। उसमें मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा, छापा-तिलक आदि का निषेध है। ध्यान, अभ्यास, स्मरण, सहज-भावना, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच, शान्ति, अपरिग्रह, क्षमा, दया, त्याग, तितिक्षा, वैराग्य, समता, सन्तोष आदि सात्विक गुणों को ज्ञान-प्राप्ति का साधन माना जाता है। इन बातों का प्रभाव इतनी द्रुतगति से हुआ कि दादू के शिष्यों की संख्या थोड़े ही दिनों में बहुत अधिक बढ़ गई। उनकी प्रसिद्धि को सुनकर अकबर बादशाह भी उनसे सीकरी में मिला और चालीस दिनों तक सत्संग किया।

दादू दयाल सांभर से आमेर चले गए थे और वहीं से सीकरी गए थे। सीकरी से लौटकर उन्होंने कतिपय स्थानों की यात्रा की। अन्त में ५८ वर्ष, ढाई मास की आयु में नराना की गुफा में सन् १६०३ में दादू का देहावसान हो गया। आज भी वहाँ उनके बाल, तूँबा, चोला और खड़ाऊँ सुरक्षित हैं[१]।

दादू दयाल के दो पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। सन्त-शिष्यों की भी एक बड़ी संख्या थी, जिनमें ५२ शिष्य प्रसिद्ध हैं। इनमें भी रज्जबजी, सुन्दरदास, गरीबदास, हरिदास, प्रागदास, राघोदास, निश्चलदास आदि प्रमुख हैं, जिनके जीवन-चरित्र भी उपलब्ध हैं।

दादू दयाल की रचनाएँ बीस सहस्र कही जाती हैं, किन्तु इनके शिष्यों द्वारा संकलित "हरडे वाणी" ही प्रामाणिक रचना है। अन्य रचनाएँ प्राप्त नहीं हो सकी हैं।

दादू द्वारा प्रवर्तित "परब्रह्म सम्प्रदाय" को दादूपन्थ भी कहते हैं। यह दो भागों में विभक्त है—एक शाखा के अनुयायी गेरुआ वस्त्र पहनते हैं तथा दूसरी शाखा के अनुयायी श्वेत वस्त्र। इनके विरक्त शिष्यों के पाँच भेद हैं—खालसा, नागा, उत्तरादी, विरक्त और खाकी[२]। गृहस्थ शिष्यों को सेवक कहते हैं।

दादू दयाल कबीर को जीवन्मुक्त तथा आदर्श सन्त मानते थे[३] और उन्हीं के मार्ग पर चलने का प्रयत्न करते थे[४]। दादू दयाल की विचार-शैली एवं कबीर के प्रति व्यक्त आदर-भाव को देखते हुए डॉ० बड़थ्वाल ने यह अनुमान किया है कि दादू को कबीर-मत की शिक्षा अवश्य मिली थी[५]। डॉ० त्रिगुणायत ने कबीर को दादू का मानस-गुरु भी होने की सम्भावना

---

१. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४१९।

२. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।

३. कासी तजि मगहर गया, कबीर भरोसे राम।
सैंदेही साईं मिल्या, दादू पूरे काम॥
—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १८९।

४. जो था कन्त कबीर का, सोई बर बरिहौं।
मनसा वाचा कर्मना, मैं और न करिहौं॥ —वही, पृष्ठ १९२।

५. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७१-७२।

प्रकट की है[१]। हम तो देखते हैं कि दादू पर न केवल कबीर का प्रभाव पड़ा था और न कबीर उनके मानस-गुरु थे, प्रत्युत जिस सन्त-विचारधारा का अवगाहन कबीर ने किया था, उसी में स्नात दादू "सच्चनाम" (=सत्तिराम, सत्तनाम=बुद्ध) को ही अपना इष्टदेव मानते थे[२]। यद्यपि उन्होंने कबीर की ही भाँति[३] बौद्धों को कपट-वेशधारी कहा है,[४] किन्तु उन पर भी सन्त-परम्परागत बौद्धधर्म का गहरा प्रभाव पड़ा था। दादू की वाणी में बौद्धधर्म का सुन्दर समन्वय हुआ है। वे उस मूलस्रोत से परिचित न थे, किन्तु कबीर, पीपा, रैदास, गोरख आदि[५] सिद्धों, नाथों तथा सन्तों के प्रशंसक एवं अनुगामी थे और इनकी विचारधारा का उन पर अमिट प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि सिद्धों, नाथों एवं सन्तों की वाणी दादू के उपदेशों में प्रायः अक्षरशः पाई जाती है। कुछ वचन तो ऐसे हैं जो बौद्ध-सिद्धों से लेकर दादू तक एक ही रूप एवं भाव में विद्यमान हैं।

सिद्धों की मान्यता थी कि भगवान् बुद्ध सर्वत्र एवं सबमें विद्यमान रहते हैं अर्थात् ज्ञान-राशि (=बोधि) सदा घट में ही प्राप्य है। सरहपा ने इसी भाव को प्रकट करते हुए गाया था—

"पंडिअ सअल सत्थ वक्खाणअ।
देहहिं बुद्ध वसन्त न जाणअ[६] ॥"
"सअलु निरन्तर बोहि ठिअ।
कहि भव कहिं निब्बाण[७] ॥"

सिद्ध गोरखनाथ ने इसे ही इस प्रकार दुहराया—

"घट ही भीतरि अठसठि तीरथ कहां भ्रमै रे भाइ[८]।"

कबीर ने सिद्ध सरहपा के ही स्वर में स्वर मिलाते हुए कहा—

जिस कारनि तटि तीरथि जाहीं।
रतन पदारथ घट ही माहीं॥
पढ़ि पढ़ि पंडित बेद बखाणैं।
भीतरि हूती बसत न जाणैं[९]॥

---

१. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ३८।

२. सत्तिराम सब माहिं रे। —दादू दयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ १५६।

३. जोगी जंगम सेवड़े, बौध संन्यासी सेख।
षटदर्सन दादू राम बिन, सबै कपट के भेख॥
—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १५६।

४. अरु भूले षट दरसन भाई, पाखंड भेष रहे लपटाई।
जैन बोध अरु साकत सैनां, चारबाक चतुरंग बिहूंना॥ —कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ २४०।

५. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २७।

६. दोहाकोश, पृष्ठ १८।

७. वही, भूमिका, पृष्ठ २७।

८. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।

९. कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ १०२।

गुरु नानक ने भी अक्षरशः इसे ही [illegible]—

जै कारणि तटि तीरथ जाही।
रतन पदारथ घट ही माही ॥
पड़ि पड़ि पंडितु बादु बखाणै।
भीतरि होदी वसतु न जाणै[1] ॥

इसी भाव और इन्हीं शब्दों में दादू दयाल ने भी गाया—

जा कारणि जग ढूँढिया,
सो तो घट ही माँहि[2]।
घट घट रामँहि रतन है,
दादू लखै न कोइ[3]।
पढ़ि पढ़ि थाके पंडिता।
किन हुँ न पाया पार[4] ॥

इसी प्रकार गोरखनाथ[5] और कबीरदास[6] की ही भाँति दादू ने भी मध्यम मार्ग का गुणगान किया है तथा उसे मुक्ति का द्वार कहा है—

मद्धि भाइ सेवैं सदा, दादू मुकति दुवार ॥ ८ ॥
दादू जँह जँह द्वै नहीं, मद्धि निरन्तर बास[7] ॥१०॥

दादू दयाल ने बौद्धधर्म के तत्वों को उसी प्रकार ग्रहण किया है, जैसे कि कबीर, रैदास आदि सन्तों ने किया था। उन्हीं सन्तों की भाँति दादू ने भी निरंजन,[8] निराकार,[9] निर्गुण,[10] सतगुरु,[11] निर्वाण,[12] सुरति,[13] घट-घट व्यापी राम,[14] सहज-शून्य,[15] ग्रन्थ-प्रमाण का निषेध,[16] शून्य,[17] अनाहत,[18] शील,[19] सन्तोष,[20] सत्य,[21] हठयोग,[22] स्नान-शुद्धि का

---

१. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
२. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ २४२।
३. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ ७। ४. वही, भाग १, पृष्ठ १४३।
५. मधि निरंतर कीजै बास। —गोरखबानी, पृष्ठ ५१।
६. मधि निरन्तर बास। —कबीर ग्रंथावली, पृष्ठ ५४।
७. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १७०।
८. दादू नमो नमो निरंजनं, नमस्कार गुर देवतः। —दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १।
९. वही, पृष्ठ १।
१०. वही, पृष्ठ २४।
११. वही, पृष्ठ १।
१२. वही, पृष्ठ २, ६७, ४७।
१३. वही, पृष्ठ ६, २३, ३४, ४२, ४३।
१४. वही, पृष्ठ ७।
१५. वही, पृष्ठ, ८।
१६. वही, पृष्ठ २५।
१७. वही, पृष्ठ २३।
१८. वही, पृष्ठ ४७।
१९. वही, पृष्ठ ५८।
२०. वही, पृष्ठ ५८।
२१. वही, पृष्ठ ५८।
२२. वही, पृष्ठ ९०, ७४, ५७।

वर्जन,[१] आवागमन,[२] अनित्यता,[३] कर्म-फल,[४] कनक-कामिनी का त्याग,[५] पुण्य-पाप से स्त्री-पुरुष का लिंग-परिवर्तन,[६] दया,[७] अहिंसा,[८] सुरा-त्याग,[९] जातिभेद-निषेध,[१०] मूर्तिपूजा की व्यर्थता,[११] माला-तिलक का परिवर्जन,[१२] मध्यम-मार्ग,[१३] इसी जन्म में ज्ञान का साक्षात्कार,[१४] खसम-भावना,[१५] अभयपद,[१६] सत्तनाम,[१७] गुरु-माहात्म्य,[१८] सहज-समाधि,[१९] समता,[२०] जप-तप-तीर्थ-यात्रा-मौन का बहिष्कार,[२१] कर्म-स्वकता,[२२] शून्य-मण्डल[२३] आदि मूलभूत सिद्धान्तों एवं तत्वों को अपनाया है। ये सभी तत्व सन्त-परम्परा को बौद्धधर्म की देन हैं। दादू दयाल ने इस परम्परा का सदा स्मरण किया है—

---

१. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १४८।

२. वही, पृष्ठ ११५। ३. वही, पृष्ठ १२०।

४. वही, पृष्ठ १२१। ५. वही, पृष्ठ १२३, १२६, १३१।

६. पुरिष पलटि बेटा भया, नारी माता होइ।
दादू को समझै नहीं, बड़ा अचम्भा मोहिं॥

माता नारी पुरिष की, पुरिष नारि का पूत।
दादू ज्ञान विचारि करि, छाड़ि गये अवधूत॥

—दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १२८।

तेलकटाहगाथा में इसी बात को इस प्रकार कहा गया है :—

पुत्तो पिता भवति मातु पतीह पुत्तो।
नारी कदाचि जननी च पिता च पुत्तो॥
एवं सदा विपरिवत्तति जीवलोको।
चित्ते सदातिचपले खलु जातिरङ्गे॥

—गाथा ३७, पृष्ठ १८।

७. दादू दयाल की बानी, भाग १, पृष्ठ १३३।

८. वही, पृष्ठ १३३।

९. वही, पृष्ठ १३३। १०. वही, पृष्ठ १४६।

११. वही, पृष्ठ १४७। १२. वही, पृष्ठ १५५।

१३. वही, पृष्ठ १७०। १४. वही, पृष्ठ २२८।

१५. वही, भाग २, पृष्ठ ३४।

"सब हम नारी एक भतार"। —पृष्ठ २५।
"दीदार दरूनै दीजिए, सुनि खसम हमारे"। —पृष्ठ ३४।

१६. वही, भाग २, पृष्ठ ९७। १७. वही, पृष्ठ १५६।

१८. वही, भाग १, पृष्ठ १, १५। १९. वही, पृष्ठ २५९।

२०. वही, पृष्ठ २३५। २१. वही, पृष्ठ १४४, १४६, १४७, १४८।

२२. वही, पृष्ठ १४९, १५२। २३. वही, भाग २, पृष्ठ १७२।

अमृत राम रसायन पीया, ता थैं अमर कबीरा कीया[१]।
राम राम कहि राम समाना, जन रैदास मिले भगवाना[२]।

इहि रस राते नामदेव, पीपा अरु रैदास।
पिवत कबीरा ना थक्या, अजहूँ प्रेम पियास[३]॥
नामदेव कबीर जुलाहौ, जन रैदास तिरै।
दादू बेगि बार नहिं लागै, हरि सौं सबै सरै[४]॥

जिस प्रकार भगवान् बुद्ध ने ऊँच-नीच, छुआछूत आदि जाति-गत विषम भावनाओं का निषेध कर समता का उपदेश किया था, वैसे ही दादू ने भी अपनी सन्त-परम्परा के अनुसार सबको समान बतलाया था। उनकी दृष्टि में ऊँच, नीच, मध्यम कोई नहीं है, क्योंकि "राम" सबके ही भीतर समान रूप से विद्यमान हैं—

नीच ऊँच मद्धिम को नाहीं।
देखो राम सबन के माहीं[५]॥

दादू दयाल के "राम" निरंजन, निर्गुण, निराकार और अलख के साथ मुकुटधारी सगुण भी हैं[६] अर्थात् वे निर्गुण-सगुण दोनों हैं, फिर भी उन्हें प्राप्त करने की साधना बौद्ध-साधना से प्रभावित है और दादू की वाणी में बौद्धधर्म के तत्वों का सुन्दर समन्वय हुआ है।

रज्जबजी

रज्जबजी दादू दयाल के प्रमुख शिष्यों में से थे, इनका जन्म ईस्वी सन् १५६७ में राजस्थान के सांगानेर नामक स्थान में हुआ था। ये पठान वंश के थे। इनका गृहस्थ नाम रज्जबअली खाँ था। इनके पिता महाराज जयपुर के यहाँ नायक थे। इनका मन बचपन से ही साधु-सन्तों की सेवा एवं सत्संग में अधिक लगता था। जनश्रुति है कि जब इनका विवाह होने जा रहा था और ये दूल्हा बनकर घोड़े पर बैठे जा रहे थे, तब मार्ग में दादू दयाल का दर्शन पा घोड़े से उतर गए। दादू दयाल ने रज्जब की ओर देखते हुए कहा—

"कीया था कुछ काज कौ, सेवा सुमिरण साज।
दादू भूल्या बंदिगी, सरया न एको काज[७]॥"
"रज्जब है गज्जब किया, सिर पर बाँधा मौर।
आया था हरि भजन कूँ, करै नरक को ठौर[८]॥"

इसका रज्जब के हृदय पर बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा। उन्होंने विवाह करने का विचार त्याग दिया। वे दादू के शिष्य हो गए। इस घटना का वर्णन राघवदास ने अपने भक्तमाल

---

१. दादू दयाल की बानी, भाग २, पृष्ठ २०।
२. वही, पृष्ठ २१। ३. वही, पृष्ठ २४।
४. वही, पृष्ठ ११७। ५. वही, पृष्ठ १५९।
६. "गरीब निवाज गुसाईं मेरौ माथैं मुकुट धरै।" —वही, पृष्ठ ११६।
७. सन्तसुधा सार, पृष्ठ ५१० से उद्धृत। ८. वही, पृष्ठ ५१०।

में भी किया है[1]। जब रज्जब दादू दयाल से दीक्षित हुए, तब से उनका नाम रज्जबजी हो गया। रज्जबजी गुरु की सेवा में अधिक रहते थे। वे अपने गुरु के बड़े प्रशंसक थे। उन्होंने गुरु के प्रति श्रद्धा व्यक्त करते हुए कहा है—

गुरु गरवा दादू मिल्या, दीरघ दिल दरिया।
हँसत प्रसन्न होत ही, भजन भल भरिया[2]॥

रज्जबजी दीर्घायु थे। कहा जाता है कि वे १२२ वर्ष की आयु तक जीवित रहे। सन् १६८९ में किसी जंगल में उनका देहान्त हुआ था।

रज्जबजी के दस शिष्यों का उल्लेख भक्तमाल में किया गया है। इनकी गद्दी सांगानेर में ही है। इनके अनुयायियों को रज्जबपन्थी या रजवावत कहते हैं।

रज्जबजी की रचनाओं में 'वाणी' और 'सर्वंगी' प्रमुख है। रज्जबजी पर उनके गुरु दादू दयाल की साधना-पद्धति, विचार-शैली आदि का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था। यही कारण है कि दादू दयाल की ही भाँति रज्जबजी की वाणियों में बौद्धधर्म के तत्वों का प्रभाव स्पष्ट रूप से दिखाई देता है। औधू (=अवधूत[3]), निरंजन,[4] सतगुरु,[5] जाति-पाँति का निषेध,[6] सुरति,[7] साधु-सत्संग,[8] गुरु-महिमा,[9] राम की घट-घट व्यापकता,[10] सन्तोष,[11] शील,[12] स्मरण,[13] सत्य,[14] शून्य[15] आदि शब्दों के प्रयोग से रज्जबजी पर बौद्ध-प्रभाव भली प्रकार जान पड़ता है।

कबीर ने संस्कृत भाषा को कूप-जल और जन-भाषा को बहता नीर[16] कहा है और रज्जबजी ने वेद की वाणी को ही कूप-जल तथा साखी के शब्द को जलाशय का शुद्ध जल बतलाते हुए सरलता से प्राप्य माना है—

वेद सुबाणी कूप जल, दुखसूं प्रापति होय।
शब्द साखी सरवर सलिल, सुख पीवै सब कोय[17]॥

---

१. वही, पृष्ठ ५११।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४२४।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३७१ से उद्धृत।
४. वही, पृष्ठ ३७१।
५. वही, पृष्ठ ३७१।
६. वही, पृष्ठ ३७३।
७. वही, पृष्ठ ३७४।
८. वही, पृष्ठ ३७५।
९. वही, पृष्ठ ३७४।
१०. "सब घट घटा समानि है, ब्रह्म बिज्जुली माँहि।
रज्जब चिमकै कौन में, सो समझै कोइ नाँहि॥" —सन्तकाव्य, पृष्ठ ३७६।
११. "साध सबूरी स्वान की, लीजै करि सुबिबेक।
बे घर बैठा एक कै, तूं घर घर फिरहिं अनेक॥" —वही, पृष्ठ ३७८।
१२. वही, पृष्ठ ३८०।
१३. वही, पृष्ठ ३८०।
१४. वही, पृष्ठ ३८०।
१५. वही, पृष्ठ ३७८।
१६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ६३।
१७. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३८२।

भगवान् बुद्ध भी जनभाषा के ही प्रशंसक और वैदिक भाषा (छान्दस्) के विरोधी थे[१]। रज्जबजी ने तो बौद्धधर्म के क्षणिकवाद को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया है—

रज्जब मन में मोज उठि, मन की काया होय।
यूँ शरीर पल पल धरै, बूझै बिरला कोय[२] ॥

विशुद्धिमार्ग में आचार्य बुद्धघोष ने क्षणिकवाद को समझाते हुए यही बात कही है—"एकचित्त समायुत्ता लहुसो वत्तते खणो"[३] अर्थात् जीवन-क्षण इतना छोटा है कि वह एक-एक चित्त के साथ ही रहता है। वह भी उत्पत्ति, स्थिति तथा भंग—इन तीन भागों में विभक्त होता है।

सुन्दरदास

सुन्दरदास दादू के परमप्रिय शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५९६ में जयपुर राज्य की प्राचीन राजधानी द्यौसा में हुआ था। ये खण्डेवाल वैश्य थे। छः वर्ष की अवस्था में ही अपने पिता के साथ इन्होंने दादू दयाल का दर्शन किया था[४]। उसी समय इन्हें शिष्यत्व प्राप्त हुआ था और सुन्दरदास नाम भी रखा गया था[५]। ये ११ वर्ष की अवस्था में ही काशी चले गए थे और वहाँ रहकर संस्कृत भाषा तथा भारतीय दर्शन एवं साहित्य का अध्ययन किया। अध्ययन समाप्त कर ये काशी से फतहपुर शेखावटी लौट गये और वहाँ रहकर अपने कुछ साथियों के साथ योगाभ्यास किया। सुन्दरदास ने बिहार, बंगाल, उड़ीसा आदि पूर्व के प्रदेशों का भ्रमण भी किया। अन्तिम समय में ये सांगानेर चले गए थे और वहीं ईस्वी सन् १६८९ में लगभग ९३ वर्ष की अवस्था में उनका निधन हो गया।

सुन्दरदास की ४२ रचनाएँ अब तक प्राप्त हुई हैं, जिनमें ज्ञानसमुद्र और सुन्दरविलास प्रमुख एवं महत्वपूर्ण हैं। इनकी सभी रचनाओं का एक संग्रह "सुन्दर ग्रन्थावली" नाम से प्रकाशित हुआ है।

सुन्दरदास दादू के शिष्य थे और अपने गुरु के परम-भक्त थे, उन्होंने दादू दयाल के प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त की है—

सुन्दरदास कहै कर जोरि जु,
दादू दयालु को हूँ नित चेरो[६]।
सुन्दरदास कहै कर जोरि जु,
दादू दयालहिं मोरि नमो है[७]।

---

१. चुल्लवग्ग, ५, ६, १।
२. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३८२ से उद्धृत।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग २, पृष्ठ २२२।
४. दादूजी जब द्यौसा आए, बालेपन मॅह दर्शन पाए।
—उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४२७ से उद्धृत।
५. तिनही दीया आपु तैं सुन्दर के सिर हाथ। —वही, पृष्ठ ४२७।
६. सुन्दरविलास, पृष्ठ १।
७. वही, पृष्ठ २।

ये सब लच्छन हैं जिन माँहि सु,
सुन्दर के उर हैं गुरु दादू[1] ।

उन्होंने अपने गुरु की ही भाँति शील,[2] सन्तोष,[3] क्षमा,[4] गुरु-माहात्म्य,[5] शून्य-समाधि,[6] परमपद,[7] खसम,[8] निरंजन,[9] नामस्मरण,[10] जातिभेद का निषेध,[11] कामिनी-त्याग,[12] तीर्थ-व्रत[13] जप की निस्सारता, घट-घट व्यापी राम,[14] निर्गुण,[15] अनाहद[16] आदि बौद्धधर्म के तत्वों को ग्रहण किया है किन्तु बौद्धों को भ्रम में पड़ा हुआ भी कहा है—

---

१. वही, पृष्ठ ३ ।

२. सील सँतोष छिमा जिनके घट, लागि रह्यो सु अनाहद नादू ।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ २ ।

पंचशील के कुछ अंगों पर भी सुन्दरदास ने प्रकाश डाला है—

करत प्रपंच इन पंचनि के बस पर्यो ।
परदारा रत भय न आनत बुराई को ।।
परधन हरै परजीव की करत घात ।
मद्य मांस खाय लवलेस न भलाई को ।।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ २० ।

३. वही, पृष्ठ २ ।   ४. वही, पृष्ठ २ ।

५. गुरु बिन ज्ञान नहिं, गुरु बिन ध्यान नहिं । —वही, पृष्ठ ६ ।
गुरु की तौ महिमा अधिक है गोविन्द तें । —वही, पृष्ठ ९ ।

६. वही, पृष्ठ ७ ।   ७. वही, पृष्ठ ११ ।

८. वही, पृष्ठ ११ ।

९. वही, पृष्ठ २५, ७९—

'निर्गुण एक निरंजन ध्यावै' । —१२९ ।

१०. वही, पृष्ठ २५, ६९, ८६—

"हरिनाम विना मुख धूरि परै" । —२२ ।

११. सुन्दर विलास, पृष्ठ ५०-५१ ।

१२. वही, पृष्ठ ५१-५२—

सुन्दर कहत नारी, नरक को कुंड यह ।
नरक में जाइ परै, सो नरक पाती है ।। ३ ।।
सुन्दर कहत नारी, नखसिख निन्दा रूप ।
ताहि जो सराहै सो तौ, बड़ोई गँवार है ।। ४ ।।

—सुन्दर विलास, पृष्ठ ५२ ।

"नागिनी सी नारी है" । —वही, पृष्ठ १४० ।

१३. वही, पृष्ठ ६५ ।   १४. वही, पृष्ठ ६८ ।

१५. वही, पृष्ठ ७९ ।   १६. वही, पृष्ठ २ ।

जोगी जैन जंगम संन्यासी बनवासी बौद्ध।
और कोऊ वेष पच्छ, सब भ्रम भान्यो है[१]॥

यही नहीं, दादू ने बौद्धों को "भूला हुआ" बतलाते हुए कहा है कि वे वास्तविक गुरु को नहीं जानते, जिससे हमें हैरानी होती है—

यों सब भूलि परे जितही तित,
सुन्दर के उर हैं गुरु दादू।
जोगि कहैं गुरु जैन कहैं गुरु,
बौद्ध कहैं गुरु जंगम मानैं।
याहि तें सुन्दर होत हिरानै[२]॥

अन्त में सुन्दरदास ने बौद्धधर्म का परिचय भी दिया है और उन्होंने मन के निरोध को ही बौद्धधर्म का चरम लक्ष्य कहा है—

बौद्ध नाम तब जब मन को निरोध होइ।
बोध के विचार सोध आतम को करिये॥
सुन्दर कहत ऐसे जीवतही मुक्ति होइ।
मुए तें मुकति कहै ता कूं परिहरिये[३]॥

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि सुन्दरदास जयदेव, नामदेव, रामानन्द, रैदास, कबीर, पीपा[४] आदि सन्तों की परम्परा से प्राप्त विचारशैली एवं साधना के साधक थे और दादू-शिष्य सुन्दरदास पर उक्त सन्तपरम्परा की गहरी छाप पड़ी थी, जो बौद्ध-विचारों एवं साधना-पद्धति से प्रभावित थी।

गरीबदास

गरीबदास सन्त दादू दयाल के ज्येष्ठ पुत्र तथा प्रधान शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५७५ में हुआ था। ये लगभग अट्ठाइस वर्ष की अवस्था में गद्दी पर बैठे थे। ये एक निपुण गायक, कवि और वीणाकार थे। गरीबदास के नाम से निरंजनपन्थी सन्त भी हुए हैं, किन्तु दादू-पुत्र गरीबदास उनसे अधिक प्रसिद्ध थे। भक्तमाल में इनकी बड़ी प्रशंसा की गई हैं। इनका देहान्त ईस्वी सन् १६३६ में हुआ था। इनको रचनाओं की संख्या बहुत बड़ी कही जाती है, किन्तु अब तक केवल चार ही ग्रंथ प्राप्त हुए हैं, जो क्रमशः अनभय प्रबोध, साखी, चौबोले और पद हैं। स्वामी मंगलदास ने इनकी रचनाओं का एक संग्रह "गरीबदास की बानी" नाम से प्रकाशित किया है।

गरीबदास की वाणी में उन बौद्ध-तत्वों का होना स्वाभाविक है, जो दादू दयाल की वाणी में विद्यमान है। इनकी वाणी मे भी नाम-स्मरण,[५] अनित्यता,[६] अनहद,[७] निरति,[८] सतगुरु[९] आदि बौद्ध-प्रभावित विचार पर्याप्त मात्रा में है।

---

१. वही, पृष्ठ १०। २. सुन्दर विलास, पृष्ठ ३।
३. वही, पृष्ठ १०७। ४. वही, पृष्ठ ९।
५. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३१८। ६. वही, पृष्ठ ३१८।
७. वही, पृष्ठ ३१९। ८. वही, पृष्ठ ३१९। ९ वही, पृष्ठ ३१९।

हरिदास

हरिदास सन्त दादू दयाल के शिष्य प्रागदास के शिष्य थे। इनका जन्म ईस्वी सन् १५९९ मे राजस्थान के डीडवाणा परगने के कापड़ोद नामक ग्राम में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनका प्रारम्भिक नाम हरिसिंह था। इन्होंने दुर्भिक्ष पड़ने के कारण अपनी तरुणाई में डकैती भी की, किन्तु साधु-सन्तों के सत्संग में आकर इनका स्वभाव बदल गया और ये दादूपन्थी प्रागदास के शिष्य हो गये। पीछे इन्होंने दादूपन्थ त्याग कर नाथपन्थी दीक्षा ग्रहण की तथा एक पहाड़ी गुफा मे तप किया। तदुपरान्त इन्होंने अजमेर, टोडा, जयपुर आदि स्थानों की यात्रा की। सन् १६४३ मे डीडवाणा मे सन्त हरिदास का देहान्त हो गया। कहा जाता है कि इन्होंने ही निरंजनी सम्प्रदाय की स्थापना की थी, जो कबीर तथा नाथपन्थ से प्रभावित था। इनकी रचनाओं का एक संग्रह "श्री हरि पुरुषजी की वाणी" नाम से प्रकाशित हुआ है। इन पर बौद्धधर्म के तत्वों का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। कबीर, दादू तथा नाथपन्थ के उन सभी तत्वों का समावेश इनकी वाणी में दृष्टिगत होता है, जो कि बौद्धधर्म की प्रवाहित विचारधारा से प्रभावित थे। अवधूत,[1] निर्गुण,[2] नामस्मरण,[3] निराकार,[4] घट घट व्यापी हरि,[5] खसम-भावना,[6] सुरति,[7] मुरारी-राम-गोविन्द-हरि निरंजन राम ही,[8] अलख,[9] शून्य-मण्डल[10] आदि पारिभाषिक, सैद्धान्तिक, दार्शनिक तथा धार्मिक शब्द बौद्ध-प्रभाव के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं।

प्रागदास

प्रागदास सन्त दादू दयाल के शिष्य थे। इनकी जन्म-तिथि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं है, किन्तु यह निश्चित है कि इनका देहान्त ई० सन् १६३१ में कार्तिक मास में हुआ था। फतहपुर में इनके स्मारक में एक शिलालेख आजतक विद्यमान है। इनकी गद्दी डीडवाणा में है। इनकी बानियों की गणना ४८००० कही जाती है।

अन्य दादू-शिष्य

सन्त दादू दयाल के शिष्यों में जगजीवन राम एक प्रसिद्ध सन्त थे। ये बड़े विद्वान् थे। इनकी अनेक रचनाएँ प्राप्त हैं। इनकी गद्दी डिलही (धांसा) में है। दादू-शिष्य वाजिन्दजी के अरिल्ल बहुत प्रसिद्ध हैं। इनका एक संग्रह "पंचामृत" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कहा जाता है कि इन्होंने १५ ग्रंथ लिखे थे। वपनाजी एक निपुण संगीतज्ञ थे। इनकी

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३२२।
२. वही, पृष्ठ ३२३, ३२४।
३. वही, पृष्ठ ३२३, ३२६।
४. वही, पृष्ठ ३२४।
५. वही, पृष्ठ ३२४।
६. वही, पृष्ठ ३२४।
७. वही, पृष्ठ ३२४, ३२५, ३२७।
८. वही, पृष्ठ ३२४, ३२६, ३२७।
९. वही, पृष्ठ ३२५।
१०. वही, पृष्ठ ३२७।

वाणियों का संग्रह प्रकाशित हो चुका है। सन्त बालकराम छोटे सुन्दरदास के शिष्य थे और छीतरजी तथा खर्मदासजी रज्जबजी के शिष्य थे। बनवारीदास और बड़े सुन्दरदास भी प्रसिद्ध दादूपन्थी सन्त थे। इनके अतिरिक्त भीमसिंह, राघवदास, प्रह्लाददास, चत्रदास, निश्चलदास आदि अनेक दादूपन्थी सन्त हुए। इनमें राघवदास अपनी रचना भक्तमाल के लिए बहुत प्रसिद्ध है। ऐसे ही निश्चलदास का "विचार-सागर" ख्याति-प्राप्त है। वृत्ति-प्रभाकर, मुक्तिप्रकाश और कठोपनिषद् की संस्कृत व्याख्या भी निश्चलदास की रचनाएँ हैं। विचार-सागर का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हो चुका है। इन सभी दादूपन्थी सन्तों की रचनाओं में बुद्धवाणी का एक सुन्दर समन्वय दीख पड़ता है, जो इन्हें दादू-परम्परा से प्राप्त हुआ था।

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त

निरंजनी सम्प्रदाय एक प्रसिद्ध सन्त-परम्परा है। इसका मूलस्रोत यद्यपि नाथपन्थ से माना जाता है,[1] किन्तु नाथपन्थ भी बौद्धधर्म से ही प्रभावित था, वस्तुतः निरंजन का सम्बन्ध बुद्ध से है[2] और यह बौद्धधर्म से प्रभावित सन्तपरम्परा है, जिसके प्रवर्तक हरिदास निरंजनी माने जाते हैं। राघवदास ने इस सम्प्रदाय के १२ मुख्य प्रचारकों का उल्लेख अपने ग्रंथ 'भक्तमाल' में किया है। उनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—जगन्नाथदास, श्यामदास, कान्हड़-दास, ध्यानदास, खेमदास, नाथ, जगजीवन, तुरसीदास, आनन्ददास, पूरणदास, मोहनदास और हरिदास। निरंजनी सम्प्रदाय के प्रवर्तक हरिदास तथा भक्तमाल में वर्णित हरिदास दोनों भिन्न सन्त हैं। इन सन्तों के सम्बन्ध में बहुत ही कम जानकारी है। ऐसा जान पड़ता है कि ये सभी सन्त प्रायः समसामयिक थे। इनमें जगनाथदास थरोली नामक ग्राम के निवासी थे, जो बड़े सदाचारी, संयमी, त्यागी एवं प्रसिद्ध साधक थे। श्यामदास दत्तवास ग्राम के रहनेवाले थे और थे उच्चकोटि के सन्त। कान्हड़दास का स्थान चाडूस था। वे कुम्हार थे और बिना कुटी के विहार करते थे। आननदास लिवाली नामक स्थान के सन्त थे। वे परम विरक्त माने जाते थे। पूरणदास का स्थान भंमोर में था। वे कबीर को अपना गुरु मानते थे। खेमदास का स्थान सिवहाड़ में था। वे समता के प्रशंसक थे। ध्यानदास झारि के रहनेवाले थे और एक उच्चकोटि के ज्ञानी थे। इनकी रचनाएँ साखी, कवित्त और पदों के रूप में प्राप्त हैं। मोहनदास देवपुर नामक ग्राम में विहरते थे। इन्होंने अपने अनुभव की बातों को बड़े मार्मिक ढंग से व्यक्त की हैं। नाथ टोड़ा नामक ग्राम के निवासी थे, जो सदा निरंजन में ही निरत रहते थे। तुरसीदास सेरपुर-निवासी थे। वे संयमी तथा योगी थे। जगजीवनदास तथा हरिदास निरंजनी-साधना के प्रसिद्ध संयमी, सदाचारी एवं त्यागी सन्त थे। सन्त हरिदास के सम्बन्ध में दादूपन्थी सन्तों के परिचय के साथ वर्णन किया गया है।

इन सन्तों के अतिरिक्त निपट निरंजन स्वामी, भगवान्दास, सेवादास, मनोहरदास, निरंजनदास और रामप्रसाद भी निरंजनी सम्प्रदाय के प्रसिद्ध सन्त हुए हैं। इन सन्तों में

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४६०।

२. कबीर, पृष्ठ ५२।

भगवान्दास द्वारा लिखित ग्रंथों में भर्तृहरिशतक का पद्यानुवाद, प्रेमपदार्थ, अमृतधारा, गीता-माहात्म्य आदि प्रमुख हैं। तुरसीदास की भी रचनाएँ अधिक संख्या में प्राप्त हुई हैं। सेवादास की रचना उनकी बानी के नाम से प्रसिद्ध है और उनके प्रशिष्य रूपादास द्वारा लिखित "सेवादास परची" में उनका जीवन-वृत्तान्त वर्णित है। मनोहरदास, खेमदास, कान्हड़दास, मोहनदास, आननदास और निरंजनदास की भी रचनाएँ प्राप्त हो चुकी हैं। रामप्रसाद निरंजनी का "योगवासिष्ठ" सन् १७४१ में पूर्ण हुआ था।

निरंजनी सम्प्रदाय के सन्त शून्यमण्डल, नामस्मरण, अवतारवाद का निषेध, कर्मकाण्ड, मूर्तिपूजा और वर्ण-व्यवस्था का बहिष्कार आदि सिद्धान्तों के प्रतिपादक थे। तुरसीदास ने बौद्धधर्म के "जन्म नहीं कर्म प्रधान[1]" के सिद्धान्त को बड़े ही सुन्दर ढंग से इस प्रकार बतलाया है—

जनम नीच कहिये नहीं, जौ करनी उत्तम होय।
तुरसी नीच करम करै, नीच कहावै सोय[2] ॥

सन्त हरिदास निरंजनी ने अवतारवाद का खण्डन करते हुए कहा है—

दस औतार कहौ क्यूं भाया, हरि अवतार अनन्त करि आया।
जल थल जीव जिता अवतारा, जल ससि ज्यूं देखो ततसारा[3] ॥

सन्त हरिदास ने सदा निरंजन का ही भजन करने का उपदेश दिया है—

नांव निरंजन निर्मला, भजतां होय सो होय।
हरीदास जन यूं कहै, भूलि पड़ै मति कोय[4] ॥

अभी तक निरंजनी सम्प्रदाय के सन्तों का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं प्राप्त हुआ है और न तो इस सम्प्रदाय के सन्तों की प्राप्त सभी रचनाओं का प्रकाशन ही हुआ है, अतः पूर्ण एवं विस्तृत रूप से इस सम्प्रदाय के सम्बन्ध में प्रकाश डाल सकना सम्भव नहीं है। यदि सभी निरंजनी सन्तों की रचनाओं का प्रकाशन हो जाय, तो इस सम्प्रदाय पर पड़े बौद्ध-प्रभाव के विवेचन में सरलता हो जाय। फिर भी, इतना स्पष्ट है कि निरंजनी सम्प्रदाय सन्तपरम्परा का एक ऐसा अंग है, जिस पर सिद्धों, नाथों एवं कबीर, रैदास आदि सन्तों से प्राप्त बौद्ध-विचारों का प्रभाव प्रधान रूप से पड़ा है। इस प्रभाव को सन्त हरिदास ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है—

नाथ निरंजन देखि अंति संगी सुखदाई।
गोरख गोपीचन्द सहज सिधि नवनिधि पाई ॥
नाभैदास कबीर राम भजतां रस पीया।
पीयै जब रैदास बड़े छकि लाहा लीया ॥

---

१. सुत्तनिपात, वासेट्ठसुत्त ३५, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ १३९।
२. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३६१ से उद्धृत। ३. श्री हरिपुरुषजी की वाणी, पृष्ठ २८८।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३२७ से उद्धृत।

अनभै बस्न विचारि कै जन हरिदास लागा तिहीं।
राम विमुख दुवध्या करैं, ते निरबल पहुँचे नहीं[1]।।

बावरी साहिबा और उनका पन्थ

बावरी-पन्थ एक प्रसिद्ध सन्त-परम्परा है। इस पन्थ के सन्तों में बीरू साहब, यारी साहब, केशवदास, बूला साहब, जगजीवन साहब, गुलाल साहब, भीखा साहब, हरलाल साहब, गोविन्द साहब और पलटू साहब प्रमुख सन्त हुए हैं। इस पन्थ के प्रवर्तक सन्त रामानन्द थे, जो गाजीपुर जिले के पटना ग्राम के निवासी थे। रामानन्द के शिष्य दयानन्द हुए और दयानन्द के मायानन्द। मायानन्द ने गाजीपुर की ओर से जाकर दिल्ली के आस-पास तक अपने मत का प्रचार किया था। इन्हीं सन्त मायानन्द की शिष्या बावरी साहिबा थीं, जिनके नाम पर इस सम्प्रदाय का नाम पड़ा। बावरी साहिबा के समय के सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ कह सकना सम्भव नहीं है, क्योंकि रामानन्द से लेकर बावरी साहिबा के पीछे तक इस सम्प्रदाय का कोई क्रमबद्ध इतिहास नहीं मिलता है। परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान है कि बावरी साहिबा अकबर-कालीन सन्त हैं और वे ई० सन् १५४२ से १६०५ तक विद्यमान थीं। उन्होंने यह भी कहा है कि वे दादू दयाल और हरिदास निरंजनी की समकालीन थीं[2]। डॉ० त्रिगुणायत ने भी इसी अनुमान को स्वीकार किया है[3]। किन्तु "महात्माओं की वाणी" के सम्पादक का अनुमान है कि वे अकबर के शासन-काल के पूर्व की सन्त हैं[4]। भुड़कुड़ा मठ की वंशावली के अनुसार विचार करने पर परशुराम चतुर्वेदी का अनुमान ही समीचीन जान पड़ता है। क्योंकि बूला साहब का जीवन-काल निश्चित है (ई० सन् १६३२–१७०९) और उनसे पूर्व तीसरी पीढ़ी में बावरी साहिबा हुई थीं, यारी साहब और बूला साहब समकालीन थे। यदि हम बीरू साहब और बावरी साहिबा के जीवन-काल को साठ-साठ वर्ष मान लें, तो बावरी साहिबा का समय अकबर के शासन-काल (ई० सन् १५५६–१६०५) में ही ठहरता है।

बावरी साहिबा एक उच्चकोटि की सन्त और उच्चकुलीन महिला थीं। वे कवयित्री भी थीं। उनकी रचनाओं का प्रभाव उनकी शिष्य-परम्परा पर पर्याप्त पड़ा होगा, किन्तु सम्प्रति उनकी रचनाएँ एक-दो पदों को छोड़कर अनुपलब्ध हैं। इनके सम्बन्ध में भी अभी शोध करने की आवश्यकता है। इनका एक चित्र बावरी-पन्थ के मठों में पाया जाता है। भुड़कुड़ा-मठ में भी इनका एक चित्र सुरक्षित है, जो 'महात्माओं की वाणी' में प्रकाशित किया गया है। उसे देखने से ही इस महिला सन्त के व्यक्तित्व एवं साधनापूर्ण जीवन का अनुमान किया जा सकता है। इनकी साधना एवं त्यागमय जीवन का ही यह परिणाम है कि इन्हीं

१. श्री हरिपुरुषजी की वाणी, पृष्ठ ३१४।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४७६।
३. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ४२।
४. महात्माओं की वाणी, पृष्ठ 'क', 'जीवन-चरित्र'।

के नाम पर पन्थ का नाम प्रचलित हुआ। महन्थ बाबा रामबरनदास द्वारा प्रकाशित 'महात्माओं की वाणी' में बावरी साहिबा का यह एक पद मात्र दिया गया है—

अजपा जाप सकल घट बरतै, जो जानै सोइ पेखा।
गुरुगम जोति अगम घर बासा, जो पाया सोइ देखा।।
मैं बन्दी हौं परमतत्व की जग जानत कि भोरी।
कहत 'बावरी' सुनो हो बीरू सुरति कमल पर डोरी[1] ।।

परशुराम चतुर्वेदी ने निम्नलिखित सवैया को भी बावरी साहिबा की रचना मानी है,[2] किन्तु यह बावरी साहिबा के सम्बन्ध में प्रकाश डालनेवाली रचना उनके किसी भक्त की है—

बावरी रावरी का कहिये मन ह्वै के पतंग भरे निन भाँवरी।
भाँवरी जानहिं संत सुजान जिन्हें हरि रूप हिये दरसावरी।
साँवरी सूरत मोहनी मूरत दै कर ज्ञान अनन्त लखावरी।
खाँवरी सौंह तेहारी प्रभू गति रावरी देखि भई मति बावरी[3] ।।

बावरी-पन्थ मे यह प्रसिद्ध है कि बावरी साहिबा माला, जप, तिलक, छाप आदि की विरोधिनी थीं। उनका कथन था—

जप माला छापा तिलक, सरै न एको काम।
काँचे घट राचै नहीं, साँचे राचै राम।।
माला फेरत युग गया, गया न मन का फेर।
कर का मनिका छोड़ दे, मन का मनिका फेर[4] ।।

उक्त पदों में आए 'अजपा जाप', सुरति-योग, सद्गुरु, कर्मकाण्ड-निषेध आदि ऐसे तत्व हैं, जिनसे स्पष्ट है कि बावरी साहिबा को जो साधना तथा सिद्धान्त अपनी परम्परा से प्राप्त थे, वे सिद्धों एवं नाथों की साधना-पद्धति से प्रभावित तथा कबीर, रैदास आदि निर्गुण सन्तों द्वारा अनुमोदित थे। बावरी-पन्थ के अन्य सन्तों की वाणियों से यह बात पूर्ण रूप से प्रमाणित हो जाती है।

बीरू साहब

बीरू साहब बावरी साहिबा के प्रधान शिष्य थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में भी विशेष कुछ पता नहीं चलता। ये बावरी साहिबा के निधन के पश्चात् गद्दी पर बैठे थे और एक सिद्ध-पुरुष तथा धर्मोपदेशक सन्त थे। इनके तीन पद "महात्माओं की वाणी" में संकलित हैं। इनमें पहले पद में बीरू साहब ने जीव को 'हंस' नाम से पुकारा है और कहा है कि जीवरूपी हंस संसार में मोती चुगने आया है, किन्तु यहाँ कर्मरूपी कीट चुग रहा है। सद्गुरु की दया

---

१. महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १।
२. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ४७७।
३. महात्माओं की वाणी, जीवन-चरित्र, पृष्ठ 'क'।
४. वही, पृष्ठ 'क'।

से ही वह सुखरूपी सागर में स्नान कर सकता है और सांसारिक बन्धन से मुक्त हो सकता है[१]। दूसरे पद में त्रिकुटी और नामस्मरण का महत्व बतलाया गया है[२]। तीसरे में अनहद, खसम-भावना, सतगुरु आदि की साधना से संग्राम-जयी होने का महापन्थ दिखलाया गया है[३]। बीरू-साहब का यह साधना-मार्ग स्पष्टतः बौद्ध-प्रभाव से प्रभावित है।

यारी साहब

यारी साहब बीरू साहब के शिष्य थे। इनका मूल नाम यार मुहम्मद था। ये किसी शाही घराने से सम्बन्धित थे। इनके जीवन-काल के सम्बन्ध में कोई निश्चित तिथि नहीं मिली है। "यारी साहब की रत्नावली" के अनुसार ये ईस्वी सन् १६६८ से १७२३ तक जीवित रहे,[४] किन्तु यह तिथि प्रामाणिक नहीं है। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि यारी साहब का देहान्त उक्त काल के पूर्वार्द्ध में ही किसी समय हो गया होगा और ये मलूकदास तथा सन्त प्राणनाथ के समकालीन रहे होंगे,[५] किन्तु यह भी कथन साधार नहीं है। केवल हम इतना कह सकते हैं कि यारी साहब सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम भाग में जीवित थे और यह अनुमान बूला साहब की प्राप्त तिथि के अनुसार उचित जान पड़ता है।

यारी साहब एक प्रसिद्ध सन्त थे। अपने समय में इनकी पर्याप्त ख्याति थी। इनकी रचनाओं से जान पड़ता है कि ये एक उच्चकोटि के साधक थे। इनकी समाधि आजकल भी दिल्ली में विद्यमान है। इनके शिष्यों में से केशवदास, सूफीशाह, शेखनशाह और हस्त मुहम्मद ने दिल्ली की ओर इनके मत का प्रचार किया तथा बूला साहब ने उत्तर प्रदेश के पूर्वी भाग में स्थित गाजीपुर जिलान्तर्गत भुड़कुड़ा में मठ की स्थापना कर बावरी-पन्थ का उपदेश दिया। भुड़कुड़ा में इस पन्थ की सन्त-परम्परा आजतक अटूट चली आ रही है।

यारी साहब की रचनाओं का संग्रह "यारी साहब की रत्नावली" नाम से प्रकाशित है। भुड़कुड़ा से प्रकाशित "महात्माओं की वाणी" में भी इनकी रचनाएँ संग्रहीत हैं। इन रचनाओं में बौद्धधर्म से प्रभावित सिद्धान्त एवं पारिभाषिक शब्द पर्याप्त मात्रा में आए हुए हैं। सुष्मना,[६] निर्गुण,[७] निराकार,[८] खसम-भावना,[९] निरंजन,[१०] गुरु-माहात्म्य,[११] साधु-सत्संग,[१२] निर्वाण,[१३] अनहद,[१४] सुरति,[१५] सतगुरु,[१६] सहज-ध्यान,[१७] शून्य,[१८] घट घट व्यापी

---

१ महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।
३. महात्माओं की वाणी, पृष्ठ २।
४. यारी साहब की रत्नावली, जीवन-चरित्र।
५. उत्तरी भारत की सन्त-परम्परा, पृष्ठ ३७९।
६ यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ १।
७. वही, पृष्ठ १, २, ५।
८. वही, पृष्ठ १
९. वही, पृष्ठ १, २।
१०. वही, पृष्ठ १, ८, १६।
११. वही, पृष्ठ १।
१२. वही, पृष्ठ १।
१३. वही, पृष्ठ २, ८, १२।
१४. वही, पृष्ठ २, ३, ४, ६, ८, १४, १६।
१५. वही, पृष्ठ २, ३, ४, ५, ७।
१६. वही, पृष्ठ २।
१७. वही, पृष्ठ ३।
१८. वही, पृष्ठ ३, ५, ६, ७, १२, १४।

राम,[1] सत्तपुरुष,[2] सुरति-निरति,[3] आवागमन,[4] शून्य-सहज,[5] हठयोग की साधना,[6] सहज,[7] पद-निर्वाण,[8] नामस्मरण,[9] भूचरी-खेचरी मुद्रा,[10] ऊँच-नीच की भावना का निषेध,[11] शून्य-गुफा,[12] दशमद्वार[13] आदि तत्व बौद्धधर्म के प्रभाव के ही द्योतक हैं, जो यारी साहब को अपने पूर्ववर्ती सन्तों की परम्परा से प्राप्त हुए थे।

केशवदास

केशवदास यारी साहब के शिष्य थे। इन्होंने दिल्ली में रहकर अपने मत का प्रचार किया था। ये बनिया जाति के थे और एक सिद्ध सन्त थे। इनका जीवन-काल भी अनुमान के आधार पर ही ई० सन् १६९३ से १७६८ तक माना जाता है[14]। इनके सम्बन्ध में भी विशेष जानकारी नहीं प्राप्त होती। इनकी रचनाओं का एक संग्रह "केशवदासजी की अमीघूँट" नाम से प्रकाशित हुई है। इसी प्रकार इससे कुछ अधिक रचनाएँ "महात्माओं की वाणी" में भी इनकी संकलित हैं। इन्होंने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हें निर्गुण-राज्य का राजा माना है—

निर्गुण राज समाज है, चँवर सिंहासन छत्र।
तेहिं चढ़ि यारी गुरु दियो, केसोंहि अजपा मंत्र[15]॥

यारी साहब के शिष्य केशवदास पर बौद्ध-प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था। यही कारण है कि उनकी रचनाओं में सतगुरु,[16] पद-निर्वाण,[17] शून्य,[18] निर्गुण,[19] अजपा मंत्र,[20] खसम-भावना,[21] सुरति,[22] सहज,[23] निरंजन,[24] सुरति-निरति,[25] सत्यपुरुष,[26] आवागमन,[27] गगन-

---

१. यारी साहब की रत्नावली, पृष्ठ ५, ७, ९।
२. वही, पृष्ठ ६।
३. वही, पृष्ट ७।
४. वही, पृष्ठ ७।
५. वही, पृष्ठ ७।
६. वही, पृष्ठ ८।
७. वही, पृष्ठ ८।
८. वही, पृष्ठ ८।
९. वही, पृष्ठ १०।
१०. वही, पृष्ठ १२।
११. "यारी एक सोनो ता में ऊँच कवन नीच है"। —वही, पृष्ठ १३।
१२. वही, पृष्ठ १६।
१३. "तारी लागी दसवें द्वार"। —वही, पृष्ठ ८।
१४. केशवदासजी की अमीघूँट, जीवन-चरित्र।
१५. अमीघूँट, पृष्ठ २।
१६. वही, पृष्ठ १, ७।
१७. वही, पृष्ठ १।
१८. वही, पृष्ठ १, ८।
१९. वही, पृष्ठ २, ४, ७।
२०. वही, पष्ठ २।
२१. वही, पृष्ठ ३, ४, ५।
२२. वहीं, पृष्ठ ३, ४, ९, ११।
२३. वही, पृष्ठ ३, ४, ६, ७।
२४. वही, पृष्ठ ४।
२५. वही, पृष्ठ ४।
२६. वही, पृष्ठ ५।
२७. वही, पृष्ठ ५।

मण्डल,[1] राम की घट घट व्यापकता,[2] अनहद,[3] कनक-कामिनी का त्याग,[4] समता[5] आदि बौद्ध-तत्व आये हुए हैं। सतगुरु के सहारे ही निर्वाण की प्राप्ति हो सकती है, जैसे कि परम-गुरु तथागत की शरण जाने से ही सभी दुःखों से मुक्ति प्राप्त हो सकती है[6]—

सतगुरु परम निधान, ज्ञानगुरु तें मिलै।
पावै पद निरबान, परम गति तब दिलै[7]॥

बूला साहब

बूला साहब यारी साहब के प्रसिद्ध शिष्य थे। सन्त होने से पूर्व इनका नाम बुलाकी राम था। ये अपने ग्राम के एक जमींदार के यहाँ हलवाही का काम करते थे। बावरी-पन्थ में प्रचलित जनश्रुति के अनुसार ये एक समय अपने मालिक के साथ दिल्ली गये। वहाँ इनकी भेंट प्रसिद्ध सन्त यारी साहब से हो गयी। यारी साहब के साथ इन्होंने सत्संग की और उनसे दीक्षा ले ली। वहीं रहकर इन्होंने सन्तमत की साधना-पद्धति का अभ्यास किया। वहीं इनके मालिक से साथ छूट गया। ये कुछ दिनों तक दिल्ली में रहने के उपरान्त अपने ग्राम भुड़कुड़ा (जिला गाजीपुर) की ओर लौट पड़े। मार्ग में इन्होंने बाराबंकी जिलान्तर्गत सरदहा नामक ग्रामनिवासी बालक जगजीवन को सन्त-मत में दीक्षित किया। वहाँ से आकर, घर न जा जंगलों में रहने लगे, किन्तु इनके मालिक को इनका पता लग गया। वह इन्हें घर बुला ले गया। ये पुनः हलवाही का काम करने लगे, किन्तु भक्ति-साधना में सदा निरत रहते थे। लोगों ने इनके मालिक से शिकायत की। जब मालिक इनके कार्यों पर कड़ी नजर रखने लगा, तब वह स्वयं इनकी भक्ति-भावना तथा इनके अद्भुत चमत्कारों से प्रभावित होकर इनका शिष्य हो गया, जो पीछे गुलाल साहब के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

बूला साहब का जन्म ई० सन् १६३२ में हुआ था और सन् १७०९ में इनका निधन हुआ था। ये बहुत पढ़े-लिखे न थे। इनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि ये एक पहुँचे हुए सन्त थे। इन्होंने अपने गुरु यारी साहब के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हें अपना मार्ग-प्रवक्ता माना है—

यारीदास परमगुरु मेरे, बेड़ा दिहल लखाय।
जन बूला चरनन बलिहारी, आनँद मंगल गाय[8]॥

बूला साहब ने अपने पूर्ववर्ती सन्तों में से जयदेव, कबीर, नानक, धन्ना, सेन, नामदेव, रैदास, सधना, पीपा, कान्हादास, यारी साहब और केशवदास को जीवन्मुक्त माना है तथा उनका आदर्श ग्रहण किया है—

---

१. वही, पृष्ठ ७।
२. "प्रान पुरुष घट घट बसै, सब मँह सबद अभेव"। —वही, पृष्ठ ११।
३. महात्माओं की वाणी, पृष्ठ १४।
४. वही, पृष्ठ ४५३।
५. वही, पृष्ठ ३७५।
६. धम्मपद, गाथा १८८-१९२।
७. अमीघूँट, पृष्ठ १।
८. शब्दसार, पृष्ठ ५।

ऐसे मन रहु हरि के पास, सदा होय तोहि मुक्ति वास।
जस धना सेन कबीरदास, नामदेव रैदास दास।
सधना पीपा कान्हादास, यारीदास तहँ केसोदास[1]।
खेले ब्रह्मा औ महादेव,
खेले नारद औ जैदेव।
खेले नामा औ कबीर,
खेले नानक बड़े धीर[2]॥

बूला साहब की रचनाओं का एक संग्रह 'शब्दसार' नाम से प्रकाशित है। 'महात्माओं की वाणी' में भी इनकी रचनायें संकलित हैं। इन पर भी परम्परागत बौद्ध-प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा है। इनकी रचना में निराकार,[3] खसम-भावना,[4] सुष्मना,[5] सुरति,[6] अनहद,[7] नामस्मरण,[8] सतगुरु,[9] शून्य,[10] कर्म-काण्ड-जटा-जूट-योग-तप-वैराग्य का निषेध,[11] गगन-मण्डल,[12] सत्त,[13] निर्गुण,[14] दशमद्वार,[15] अवधूत,[16] साधु-सत्संग,[17] अजपा जाप,[18] आवागमन,[19] परमपद,[20] समता,[21] नाम-महिमा,[22] अनित्यता,[23] गोपाल-राम-हरि एक ही,[24] जातिभेद का वहिष्कार,[25] शरणागति,[26] मुद्राएँ,[27] हठयोग,[28] सुरति-निरति,[29] मोक्ष,[30] अलख-निरंजन,[31] अमरपद,[32] माला-तिलक का त्याग,[33] तीर्थ-व्रत व्यर्थ[34] आदि

---

१. शब्दसार, पृष्ठ २९। २. वही, पृष्ठ १८। ३. वही, पृष्ठ १।
४. वही, पृष्ठ १, ११। ५. वही, पृष्ठ १, १६।
६. वही, पृष्ठ १, ७, ८, ११, १३, १५, १६, १७, १९, २८, ३०, ३१।
७. वही, पृष्ठ १, ३, ४, ८, १०, ११, १२, १५, १६, १९, २२, २४, २८, ३०।
८. वही, पृष्ठ २, ६, ७।
९. वही, पृष्ठ २, ३, ४, १०, ११, १२, १४, १८, २४, २६।
१०. वही, पृष्ठ ३, १८। ११. वही, पृष्ठ ३।
१२. वही, पृष्ठ ३, ४, ५, ६, १०, १६। १३. वही, पृष्ठ ३, १२, २४।
१४. वही, पृष्ठ ४, ९, १०, १२, १३, १४, १६, २५।
१५. वही, पृष्ठ १८। १६. वही, पृष्ठ ५, १६।
१७. वही, पृष्ठ ५। १८. वही, पृष्ठ ५।
१९. वही, पृष्ठ ६, ८, ९, १२, २२, २४, २७।
२०. वही, पृष्ठ ६, १७। २१. वही, पृष्ठ ६, ८।
२२. वही, पृष्ठ ६। २३. वही, पृष्ठ ६, ७।
२४. वही, पृष्ठ ७। २५. वही, पृष्ठ ८।
२६. वही, पृष्ठ ८। २७. वही, पृष्ठ १४।
२८. वही, पृष्ठ १६। २९. वही, पृष्ठ १७, २८, ३०, ३१।
३०. वही, पृष्ठ १९। ३१. वही, पृष्ठ २०।
३२. वही, पृष्ठ २४। ३३. वही, पृष्ठ २५।
३४. वही, पृष्ठ २५।

बौद्ध-साधना तथा सिद्धान्त आए हुए हैं। अनित्यता का कितना सुन्दर चित्रण बूला साहब ने किया है, जो बौद्ध-अनित्य-भावना से स्पष्टतः प्रभावित है—

जीवन जनम सुधारन देह।
देह छोड़ि बिदेह होना, अचल पद यहि लेह।।
काको माता पिता काको, सुत बित देह।
जीवतही का नात इनका, मुए काको केह।।
देह धरिके राम कृस्नहुँ, जगत आनि बड़ेह।
पारब्रह्म को सुमिरन करिकै, जोतिहिं जोति मिलेह।।
जानि के अनजान होइये, पूजिये ब्रह्म नेह।
दास बूला बानि बोले, काल के मुख खेह[1]।।

गुलाल साहब

गुलाल साहब बूला साहब के शिष्य थे। ये क्षत्रिय जाति के थे और गाजीपुर जिलान्तर्गत बँसहरि[2] इलाके के भुड़कुड़ा ग्राम के रहनेवाले थे[3]। ये एक बड़े जमींदार थे। इन्हीं के यहाँ इनके गुरु बूला साहब पहले हलवाही का काम करते थे। इन्होंने बूला साहब की साधना एवं चमत्कारों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया था। इनका जन्म ई० सन् १६९३ में और निधन ई० सन् १७५९ में माना जाता है[4]। ये ई० सन् १७०९ में गद्दी पर बैठे थे। "गुलाल साहब की बानी" में इनकी निधन तिथि सन् १७९३ मानी गयी है, वह समीचीन नहीं है। भुड़कुड़ा की सन्त-परम्परा में गुलाल साहब का शान्त होना १७५९ में ही माना जाता है। इनकी रचनाओं का संग्रह "गुलाल साहब की बानी" नाम से प्रकाशित हुआ है। "महात्माओं की वाणी" में भी इनकी रचनायें संग्रहीत हैं। परशुराम चतुर्वेदी ने "ज्ञान-गुष्टि" और "रामसहस्र नाम" नामक इनके अन्य दो ग्रन्थों के नाम भी सुने हैं,[5] किन्तु अभी तक वे प्रकाश में नहीं आए हैं।

गुलाल साहब एक उच्चकोटि के सन्त थे। इनकी वाणी में वे सभी तत्व निहित हैं, जिनसे इनकी साधना एवं सिद्धि का भली प्रकार ज्ञान होता है। इन पर पूर्व के सन्तों का पर्याप्त प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। जिन सन्तों का स्मरण गुलाल साहब ने किया है, उनमें सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। उन सन्तों के नाम हैं—नारद, शुकदेव, नवनाथ, प्रह्लाद,

---

१. शब्दसार, पृष्ठ ६–७।
२. गगन मगन धुनि गाजै हो, देखि अधर अकास।
जन गुलाल बँसहरिया हो, तहाँ करहु निवास।।
—महात्माओं की वाणी, पृष्ठ ४१।
३. महात्माओं की वाणी, जीवन-चरित्र, पृष्ठ 'घ'।
४. वही, पृष्ठ 'च'।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४८३।

ध्रुव, अम्बरीष, नामदेव, कबीर, नानक, पीपा, रैदास, मलूकदास, चतुर्भुजदास, तुलसीदास, यारी, बूला,[१] गोरख, दत्तात्रेय, रामानन्द, धन्ना, सेन, कृष्णदास, केशवदास,[२] मीराबाई और नरसी[३]। इससे प्रकट है कि इन पर सगुण-भक्ति का भी प्रभाव पड़ा था फिर भी ये निर्गुण सन्त थे और इन्होंने अपने पन्थ के मूलमत का ही प्रचार किया था। बूला साहब के दूसरे शिष्य जगजीवन साहब ने सत्यनामी सम्प्रदाय का प्रचार किया था, किन्तु गुलाल साहब ने अपने पन्थ की मर्यादा न केवल स्थिर रखी, प्रत्युत उसे और भी दृढ़मूल किया। इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि इन पर उस बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था, जो सिद्धों, नाथों और सन्तों से होता हुआ बावरी-पन्थ को प्राप्त हुआ था। इनकी वाणी में निर्गुण,[४] शून्य,[५] आवागमन,[६] सतगुरु,[७] शील,[८] सन्तोष,[९] निर्वाण,[१०] मथुरा-काशी का निषेध,[११] सुरति,[१२] परमपद,[१३] अनहद,[१४] सहज,[१५] सहज-शून्य,[१६] सुरति-निरति,[१७] ग्रंथ-प्रमाण-निषेध,[१८] सहज-समाधि,[१९] अनित्यता,[२०] देव-पूजा-तीर्थ-व्रत फोकट धर्म,[२१] गगनगुफा,[२२] शून्य-शिखर,[२३] अवधूत,[२४] साधु-सत्संग,[२५] नारी-त्याग,[२६] तीर्थ-व्रत व्यर्थ,[२७] तिलक-छापा निरर्थक,[२८] नामस्मरण,[२९] जातिभेद का त्याग,[३०] हठयोग,[३१] निरंजन,[३२] खसम,[३३] क्षमा,[३४] शरणागति,[३५] मूर्ति-पूजा का निषेध,[३६] जल-स्नान-पूजा व्यर्थ,[३७] आवागमन,[३८] कर्म-काण्ड का त्याग,[३९] सत्तनाम,[४०] गुरु-माहात्म्य,[४१]

---

१. गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ ९०।
२. वही, पृष्ठ ९४।
३. वही, पृष्ठ १३३।
४. वही, पृष्ठ २।
५. वही, पृष्ठ २।
६. वही, पृष्ठ २।
७. वही, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ ४।
९. वही, पृष्ठ ४।
१०. वही, पृष्ठ ४, ४२।
११. वही, पृष्ठ ६।
१२. वही, पृष्ठ ७।
१३. वही, पृष्ठ ८।
१४. वही, पृष्ठ ८।
१५. वही, पृष्ठ ८।
१६. वही, पृष्ठ ८।
१७. वही, पृष्ठ १०।
१८. वही, पृष्ठ १०।
१९. वही, पृष्ठ ११।
२०. वही, पृष्ठ १२।
२१. वही, पृष्ठ १३।
२२. वही, पृष्ठ १४।
२३. वही, पृष्ठ १४।
२४. वही, पृष्ठ १७।
२५. वही, पृष्ठ १८।
२६. वही, पृष्ठ १८, १९।
२७. वही, पृष्ठ २१।
२८. वही, पृष्ठ २२।
२९. वही, पृष्ठ २३।
३०. वही, पृष्ठ २३।
३१. वही, पृष्ठ ४७।
३२. वही, पृष्ठ ३९।
३३. वही, पृष्ठ २९, ४७।
३४. वही, पृष्ठ ४९।
३५. वही, पृष्ठ ५२।
३६. वही, पृष्ठ ६४।
३७. वही, पृष्ठ ६६।
३८. वही, पृष्ठ ८०।
३९. वही, पृष्ठ ८७।
४०. वही, पृष्ठ ८७।
४१. वही, पृष्ठ १२१।

ग्रन्थ-पाठ से ज्ञान नहीं,[१] महाशून्यता की समाधि[२] आदि बौद्धधर्म से प्रभावित सिद्धान्त तथा साधनावाची शब्द पर्याप्त मात्रा में आए हुए हैं। गुलाल साहब ने निर्वाण का वर्णन ठीक वैसा ही किया है, जैसा कि बौद्धधर्म में निर्वाण का स्वरूप वर्णित है—

जोग जग्य जप तप नहीं, दुख सुख नहिं सन्ताप।
घटत बढ़त नहिं छीजई, तहवाँ पुन्न न पाप[3] ॥

जाति-पाँति के विरोध में गुलाल साहब ने कड़े शब्दों में कहा है—

जन्म जाति बैठो बहु भाँती,
इहँ देखा उहँ जाति न पाँती[४]।

गुरु नानक की भाँति उन्होंने "गगन को थाल" बनाकर आरती उतारी है,[५] सिद्ध सरहपा और कबीर के समान "पढ़ि पढ़ि सबहिं ठगावल हो, आपनि गति खोइ[६]" कहकर वेद-ग्रन्थों के पाठ का निषेध किया है, रैदास-सदृश "कहिं पत्थल और पानी, जा पूजहिं अज्ञानी[७]" कहकर मूर्तिपूजा तथा स्नान-शुद्धि को निरर्थक बतलाया है और अन्त में साधुओं की महिमा गाते हुए कहा है—

सोई दिन लेखे जा दिन सन्त मिलाप।
सन्त के चरन कमल की महिमा, मोरे बूते बरनि न जाहि ॥
जल तरंग जल ही तें उपजे, फिर जल मांहि समाइ।
हरि में साध साध में हरि हैं, साध से अन्तर नाहि ॥
ब्रह्मा बिस्नु महेस साध सँग, पाछे लागे जाहिं।
दास गुलाल साध की संगति, नीच परमपद पाहिं[८] ॥

गुलाल साहब ने अपने को "अवधूत"[९] और "अतीथ"[१०] भी कहा है। "अवधूत" के सम्बन्ध में पहले कहा जा चुका है कि यह धुतांगधारी योगियों की प्रवृत्ति का द्योतक है, जिसका अधिक प्रचार सिद्धों-नाथों द्वारा किया गया तथा नाथों का तो यह साम्प्रदायिक शब्द बन गया। "अतीथ" शब्द का अर्थ अनासक्त अर्थात् उदासीन है। आज भी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में "अथीथ" नामक एक गोसाइँयों की कुल-परम्परा विद्यमान है, सम्भवतः यह "अथीथ" शब्द उसी "अतीथ" का विकृत रूप है, उक्त दोनों ही शब्दों का मूलस्रोत बौद्धधर्म है।

---

१. गुलाल साहब की बानी, पृष्ठ १३०।
२. वही, पृष्ठ १४१।
३. वही, पृष्ठ १४२।
४. वही, पृष्ठ २३।
५. वही, पृष्ठ १२२।
६. वही, पृष्ठ १३०।
७. वही, पृष्ठ ११३।
८. वही, पृष्ठ १३९।
९. "कहै गुलाल अवधूत फकीरा"। —वही, पृष्ठ १७।
१०. "कह गुलाल अतीथ ज्ञान तिन पाइया"। —वही, पृष्ठ ७२।

भीखा साहब

भीखा साहब गुलाल साहब के सर्वाधिक प्रसिद्ध शिष्य थे। इनका जन्म ई० सन् १७१३ में आजमगढ़ जिलान्तर्गत परगना मुहम्मदाबाद के खानपुर बोहना नामक ग्राम में हुआ था। ये ब्राह्मण जाति के थे। इनका प्रारम्भिक नाम भीखानन्द चौबे था[१]। इन्हें बचपन में ही साधु-सत्संग के कारण वैराग्य उत्पन्न हो गया था। कहते हैं कि जब इनका विवाह होना निश्चित हो गया और जिस दिन तिलक होनेवाला था, उसी दिन ये गृह-त्याग कर काशी की ओर चल दिये, किन्तु काशी में इनका मन नहीं लगा, वहाँ से ये गुलाल साहब के पास भुड़कुड़ा चले गये और वहीं गुलाल साहब से सन्त-दीक्षा ले ली। भीखा साहब ने स्वयं अपने गृह-त्याग एवं सन्तमत में प्रवेश का वर्णन किया है[२]। उससे स्पष्ट है कि इन्होंने बारह वर्ष की अवस्था में ही गृहत्याग कर दिया था[३]। सन् १७६० में ये गुलाल साहब की गद्दी पर बैठे और सन् १७९१ में भुड़कुड़ा में ही इनका देहान्त हो गया। इनकी समाधि अब तक वहाँ विद्यमान है। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक बातें प्रसिद्ध हैं। इनके दो प्रमुख शिष्य थे—गोविन्द साहब तथा चतुर्भुज साहब। गोविन्द साहब ने फैजाबाद जिला के अहिरौली नामक ग्राम में बावरी मठ की स्थापना की और चतुर्भुज साहब भुड़कुड़ा मठ के उत्तराधिकारी बने। भीखा साहब की रचनाओं का एक संग्रह "भीखा साहब की बानी" नाम से प्रकाशित है। "महात्माओं की वाणी" में भी इनकी रचनाएँ संकलित हैं। इनके अतिरिक्त रामकुंडलियाँ, रामसहस्रनाम, रामसबद, रामराग, रामकवित्त और भगवत वच्छावली के नाम परशुराम चतुर्वेदी ने दिए हैं[४]। 'राम-जहाज' नामक भी इनका एक बड़ा ग्रंथ है[५]।

भीखा साहब के सम्बन्ध में प्रचलित चमत्कारिक कथाओं एवं इनकी रचनाओं से ज्ञात होता है कि ये एक सिद्ध पुरुष थे। बावरी-पन्थ के अन्य सन्तों की भाँति इन्होंने भी अपने सम्प्रदाय के मूलमत का अनुगमन तथा प्रचार किया। इनकी वाणी के अध्ययन से यह भी स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है कि इन पर भी निर्गुण सन्तों की भाँति बौद्धधर्म का परम्परागत प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में सुरति-निरति,[६] शून्य,[७] गुरु-महिमा,[८] साधु-सत्संग,[९] मनुष्य-

---

१. "जनम अस्थान खानपुर बुहना, सेवत चरन भिखानन्द चौबे"।
—भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ८।

२. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १४-१५।

३. "बीते बारह बरस उपजी रामनाम सों प्रीती। —वही, पृष्ठ १४।

४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४८६।

५. भीखा साहब की बानी, जीवन-चरित्र, पृष्ठ २।

६. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ १। ७. वही, पृष्ठ २।

८. वही, पृष्ठ ३। ९. वही, पृष्ठ ३।

जन्म की दुर्लभता,[१] सन्त-महिमा,[२] सत्त,[३] अनहद,[४] ब्रह्म की घट घट व्यापकता,[५] योग-यज्ञ-तप का निषेध,[६] जल-शुद्धि तथा मूर्तिपूजा व्यर्थ,[७] सतगुरु,[८] सहजसमाधि,[९] हठयोग,[१०] द्वारिका-काशी आदि सभी तीर्थ घट में हो,[११] कनक-कामिनी का त्याग,[१२] निर्वाण,[१३] निरंजन,[१४] तीर्थ-व्रत-देव-पूजन आदि निरर्थक,[१५] नाम-महिमा,[१६] क्षमा-शील-सन्तोष,[१७] निर्गुण,[१८] अलख,[१९] निराकार,[२०] आवागमन,[२१] शून्य-मण्डल,[२२] शरणागत,[२३] नामस्मरण,[२४] परमपद,[२५] अवधूत,[२६] शून्य-शिखर,[२७] शून्य-समाधि[२८] आदि बौद्ध-सिद्धान्त तथा साधना से प्रभावित तत्व विद्यमान हैं। भीखा साहब ने नाम-माहात्म्य का वर्णन करते हुए कर्म-काण्ड की जो व्यर्थता बतायी है, वह सिद्धों की वाणी से मिलती है —

> कोउ जजन जपन कोउ तीरथ रटन,
> व्रत कोउ बन खंड कोउ दूध को अधार है।
> कोउ धूम पानि तप कोउ जल सैन लेवै,
> कोउ मेघडम्बरी सो लिये सिर भार है।
> कोउ बाँह को उठाय ढढ़ेसुरी कहाइ जाय,
> कोउ तौ मवन कोउ नगन बिचार है।
> कोउ गुफा ही में बास मन मोच्छही की आस,
> सब भीखा सत्त सोई जाके नाम को अधार है[२९]।

---

१. "मानुष जनम बहुरि न पैहो"। —वही, पृष्ठ ३।
२. "प्रभु में सन्त सन्त में प्रभु हैं"। —वही, पृष्ठ ३।
३. वही, पृष्ठ ३।
४. वही, पृष्ठ ४।
५. वही, पृष्ठ ५।
६. "जप तप भजन सकल हैं बिरथा"। —वही, पृष्ठ ५, ८।
७. वही, पृष्ठ ५।
८. वही, पृष्ठ ६।
९. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ६।
१०. वही, पृष्ठ ७।
११. वही, पृष्ठ ९।
१२. वही, पृष्ठ ९।
१३. वही, पृष्ठ १०, १३, ६९—"निर्गुन ब्रह्म रूप निर्वान"। ७१।
१४. वही, पृष्ठ १०।
१५. वही, पृष्ठ २०।
१६. वही, पृष्ठ २०।
१७. वही, पृष्ठ २१।
१८. वही, पृष्ठ २९।
१९. वही, पृष्ठ २९।
२०. वही, पृष्ठ ३१।
२१. वही, पृष्ठ ३९।
२२. वही, पृष्ठ ४०।
२३. वही, पृष्ठ ४३, ७२।
२४. वही, पृष्ठ ४७–४८।
२५. वही, पृष्ठ ५७।
२६. वही, पृष्ठ ५९।
२७. वही, पृष्ठ ६४।
२८. वही, पृष्ठ ६७।
२९. वही, पृष्ठ ४७।

कोउ प्रानायाम जोग कोउ गुन गावै लोग,
कोउ मानसिक पूजा करे चित चेतना।
कोउ गीता भागवत कोउ रामायन मन,
कोउ होम यज्ञ करे विधि बेद कहे जेतना।
कोउ ग्रहन में दान कोउ गंगा अस्नान,
कोउ कासी ब्रह्मनाल वे फलही के हेतना।
भीखा ब्रह्म रूप निज आत्मा अनूप,
जो न खुल्यो दिव्य दृष्टि खाली कियो भ्रम एतना[1]।

हरलाल साहब

हरलाल साहब भीखा साहब के गुरुभाई थे। इन्होंने अपने ग्राम चोट बड़ागाँव (जिला बलिया) में अपना मठ स्थापित किया। ये एक गृहस्थ-सन्त थे। इनकी शिष्य-परम्परा और गद्दी आजतक चली आ रही है, किन्तु इनकी रचनाएँ प्राप्त नहीं हुई है। इस गद्दी के सन्त देवकीनन्दन, अजबदास, गरीबदास, विरंच गोसाई. जनकुवा, मकरन्ददास तथा जगनाथ की कुछ रचनाएँ मिली हैं। इनमें देवकोनन्दन ने शब्द, चतुरमासा, कुण्डलिया और कुछ फुटकर पदों की रचना की। अजबदास के ४१ पद "महात्माओं की वाणी" में संकलित हैं तथा "गरीबदास की बानी" का प्रकाशन प्रयाग से हो चुका है। गरीबदास के सम्बन्ध में हम आगे विचार करेंगे। इन सभी सन्तों पर बावरी-पन्थ में परम्परागत बौद्ध-सिद्धान्त एवं साधना का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा होगा।

गोविन्द साहब

भीखा साहब के प्रथम शिष्य गोविन्द साहब थे, किन्तु इनके सम्बन्ध में कुछ पता नहीं चलता। ये ब्राह्मण जाति के थे। ये फैजाबाद जिले के अहिरौली नामक ग्राम के रहनेवाले थे। इनकी कोई रचना प्राप्त नहीं हुई है।

भीखा साहब के प्रधान केन्द्र भुड़कुड़ा के उत्तराधिकारी शिष्य चतुर्भुज साहब थे। यह भी ब्राह्मण जाति के थे। इनका जन्म-स्थान वाराणसी जिले का कावरि नामक ग्राम था। ये भीखा साहब के देहान्त के बाद उनकी गद्दी पर सन् १७९२ में बैठे थे और सन् १८१८ में इनका देहावसान हुआ था। इनकी कुछ वाणियाँ मिली हैं, जिनसे जान पड़ता है कि ये एक उच्च-कोटि के सन्त थे। इनके पश्चात् भुड़कुड़ा की गद्दी पर क्रमशः नारसिंह साहब, कुमार साहब, रामहित साहब और जयनारायण साहब बैठे। आजकल सन्त रामवरनदास साहब गद्दी पर विराजमान हैं। ये सन् १९३३ में गद्दी पर बैठे थे।

---

१. भीखा साहब की बानी, पृष्ठ ४८।

पलटू साहब

पलटू साहब गोविन्द साहब के शिष्य थे। इनका जन्म ई० सन् १७९३ में अवध के नवाब शुजाउद्दौला के समय फैजाबाद और आजमगढ़ जिलों की सरहद पर स्थित नंग जलालपुर नामक ग्राम में हुआ था। ये कांदू बनिया जाति के थे। इन्होंने पहले गृहस्थ-वेश में ही रहकर सन्तमत का प्रचार किया, पीछे अयोध्या मे विरक्त-वेश ग्रहण कर एक मठ की स्थापना की। इनके भाई पलटू प्रसाद ने इनका जीवन-चरित्र लिखा है। इनकी बड़ी कीर्ति फैली हुई थी और बहुत चढ़ावा आदि दान-उपदान भी प्राप्त होते थे। ये कबीर साहब की भाँति स्पष्टवक्ता तथा अन्य मतों के खण्डन करने में निपुण थे, इसलिए सभी अन्य मतावलम्बी इनसे चिढ़ते एवं ईर्ष्या रखते थे[1]। पलटू साहब ने स्वयं स्वीकार किया है कि एक बार अयोध्या के सभी वैरागियों ने मिलकर उन्हें 'अजाति' कर दिया था—

सब वैरागी बटुरि कै पलटुहि किया अजात।
पलटुहि किया अजात प्रभुता देखि न जाई।
बनिया काल्हिक भक्त प्रगट भा सब दुतियाई॥
हम सब बड़े महन्त ताहिको कोउ ना जानै।
बनिया करै पखंड ताहिको सब कोउ मानै॥
ऐसो ईर्षा जाति कोउ ना आवै ना खाइ।
बनिया ढोल बजाय के रसोई दिया लुटाइ॥
मालपुवा चारिउ बरन बाँधि लेत कुछ खात।
सब बैरागी बटुरि कै पलटुहि किया अजात[2]॥

इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि दुष्टों ने एक दिन पलटू साहब को जीवित जला डाला। इस घटना के सम्बन्ध में यह साखी प्रसिद्ध है—

अवधपुरी में जरि मुए, दुष्टन दिया जराइ।
जगन्नाथ की गोद में, पलटू सूते जाइ[3]॥

पलटू साहब का जहाँ शरीरान्त हुआ था, वहाँ आज भी इनकी समाधि बनी हुई है। यह स्थान अयोध्या से ६ किलोमीटर दूर स्थित है। उसे 'पलटू साहब का अखाड़ा' कहते हैं।

पलटू साहब की रचनाओं का एक संग्रह 'पलटू साहब की बानी' नाम से तीन भागों में प्रकाशित है। इनके 'आत्मकर्म' नामक एक अन्य ग्रन्थ की भी चर्चा परशुराम चतुर्वेदी ने की है[4]। इनकी रचनाओं से जान पड़ता है कि ये एक सच्चे धर्म-प्रचारक थे। इनसे वैरागियों, संन्यासियों, काजी मुसलमानों और पण्डितों से सदा धार्मिक तथा साम्प्रदायिक विद्वेष

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ २३।
२. वही, भाग १, पृष्ठ ९९।
३. वही, जीवन-चरित्र, पृष्ठ १।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ४९२।

बना रहा। इनसे वादविवाद में विजय पा सकना टेढ़ी खीर थी। जहाँ उपदेश होता था, सारी जनता इनके साथ हो जाती थी[1]। इन्होंने परम्परागत बावरी-पन्थ की विशेषताओं को अपनाकर उस तत्व का उपदेश दिया, जो बौद्धधर्म के प्रभाव से अनुप्राणित तथा सिद्धों, नाथों एवं सन्तों द्वारा सेवित था। बावरी-पन्थ के अन्य सभी सन्तों की भाँति इनकी वाणी में भी सहजसमाधि,[2] सत्संग,[3] स्नान-शुद्धि-निषेध,[4] नामस्मरण,[5] गगन गुफा,[6] सत्तनाम,[7] नाम-माहात्म्य,[8] सकल घट अन्तर्यामी,[9] सन्त-महिमा,[10] निर्गुण,[11] सुरति,[12] अनित्यता,[13] आवागमन,[14] देवी-देवता की पूजा की व्यर्थता,[15] खसम-भावना,[16] अभयपद,[17] दशमद्वार,[18] परमपद,[19] अनहद,[20] अवधूत,[21] तृष्णा-त्याग से मुक्ति,[22] गुरु-भक्ति,[23] जाति-वर्ण कुल का त्याग,[24] समता,[25] कर्म-स्वकता,[26] शून्य,[27] निर्वाण,[28] मूर्तिपूजा व्यर्थ,[29] तीर्थ-यात्रा से पुण्य नहीं,[30] हिंसा त्याज्य,[31] प्रतीत्य समुत्पाद,[32] सुरति-निरति,[33] ग्रन्थ-प्रमाण मान्य नहीं,[34] माला फेरना निरर्थक,[35] गगन महल,[36] शून्य-समाधि,[37] सन्तोष,[38] ब्राह्मण-विरोध,[39] पद-निर्वाण,[40]

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ २३।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ ३।
४. 'मिलै कूप में मुक्ति गंग को देवै डुबकी"।—वही, पृष्ठ ४।
५. वही, पृष्ठ ५।
६. वही, पृष्ठ ५।
७. वही, पृष्ठ ५।
८. वही, पृष्ठ ७।
९. वही, पृष्ठ ९।
१०. वही, पृष्ठ ९, ११, १२, १३।
११. वही, पृष्ठ १३।
१२. वही, पृष्ठ १७।
१३. वही, पृष्ठ १८।
१४. वही, पृष्ठ २०।
१५. वही, पृष्ठ २०।
१६. वही, पृष्ठ २३।
१७. वही, पृष्ठ ३०।
१८. वही, पृष्ठ ३४।
१९. वही, पृष्ठ ३८।
२०. वही, पृष्ठ ३९।
२१. वही, पृष्ठ ४०।
२२. वही, पृष्ठ ४८।
२३. वही, पृष्ठ ५०।
२४. वही, पृष्ठ ५२, ५६, ८४।
२५. वही, पृष्ठ ५६।
२६. वही, पृष्ठ ६०।
२७ वही, पृष्ठ ६७, ७०।
२८. वही, पृष्ठ ७०।
२९ वही, पृष्ठ ८२।
३०. वही, पृष्ठ ८१।
३१. वही, पृष्ठ ८४।
३२. वही, भाग २, पृष्ठ ५६।
३३. वही, भाग २, पृष्ठ ५७।
३४. वही, पृष्ठ ५९।
३५. वही, पृष्ठ ७६।
३६. वही, पृष्ठ ८०।
३७ वही, पृष्ठ ८०।
३८. वही, पृष्ठ ८३।
३९. वही, भाग ३, पृष्ठ ७७।
४०. वही, पृष्ठ ८०।

जप-तप व्यर्थ,[१] सतगुरु,[२] नारी-त्याग[३] आदि बौद्ध-तत्व आए हुए हैं। पलटू साहब ने सन्त सधना, कबीर, रैदास आदि को बड़े प्रेम एवं श्रद्धा से स्मरण किया है। कर्म-स्वकता के सम्बन्ध में उनकी यह वाणी कैसी सुन्दर तथा बौद्ध-विचारों के अनुकूल है—

अपनी अपनी करनी अपने अपने साथ।
अपने अपने साथ करै सो आगे आवै ॥
नेकी बदी है संग और ना संगी कोई।
देखौ बूझि विचारि संग ये जैहैं दोई ॥

ऐसे ही ब्राह्मणों की निन्दा करते हुए उन्होंने भगवान् बुद्ध से भी आगे बढ़कर कह डाला है—

"पाप कै मोटरी बाम्हन भाई।
इन सब ही जग को बगदाई[४] ॥"

भगवान् बुद्ध ने तो इतना ही कहा था कि ब्राह्मण अपने धर्म से विचलित हो गए हैं[५] और वर्ण-व्यवस्था का जो विधान उन्होंने बनाया है, उसका अधिकार उन्हें किसी ने दिया नहीं है, उन्होंने तो अनधिकार चेष्टा की है[६]। पलटू साहब ने जातिभेद के विरुद्ध तो कहा ही है, उन्होंने "जातिं मा पुच्छ चरणं पुच्छ" (जाति मत पूछो आचरण पूछो)—इस बुद्ध-वाणी के अनुसार ही सदाचार को श्रेष्ठ माना है न कि जाति को—

हरि को भजे सो बड़ा है जाति न पूछै कोय।
जाति न पूछै कोय हरी को भक्ति पियारी।
जो कोइ करै सो बड़ा जाति हरि नाहि निहारी[७] ॥
कोई जाति न पूछै हरि को भजै सो ऊँचा है।
कोटि कुलीन कोइ ब्रह्मा सम सो भी उनसे नीचा है[८] ॥

भगवान् बुद्ध की भाँति पलटू का यह भी कथन है कि जिस प्रकार नदियाँ गंगा में मिल कर गंगा ही हो जाती हैं, उसी प्रकार व्यक्ति सन्त होकर ऊँच-नीच के भाव से ऊपर उठ जाता है और यही नहीं, वह तो नीच से ऊँच तथा सबका पूज्य भी हो जाता है—

पलटू नीच से ऊँच भा नीच कहै ना कोय।
नीच कहै ना कोय गये जब से सरनाई।
नारा बहिकै मिल्यौ गंग में गंग कहाई[९] ॥

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृष्ठ ८४।
२. वही, पृष्ठ ८४।
३. वही, पृष्ठ ९४।
४. वही, पृष्ठ ७७।
५. सुत्तनिपात, ब्राह्मणधम्मिकसुत्त, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ ५७–६३।
६ मज्झिमनिकाय २, ५, ६।
७. पलटू साहब की बानी, भाग १, पृष्ठ ८४।
८. वही, भाग ३, पृष्ठ ५०।
९. वही, भाग १, पृष्ठ ५६।

कार्य-कारण के सिद्धान्त (प्रतीत्य समुत्पाद) को पलटू ने अपने ढंग से प्रस्तुत किया है—

फल कारन ज्यों झाड़ फूलै,
फूल झरि जाय फल लीजिए जी।
पाछे सेती बेटा होवै,
पहिले मुसक्कत कीजिए जी।
पलटू पहिले जब ऊख बोवै,
पाछे सेती रस पीजिए जी[1] ॥

पलटू साहब ने निर्वाण की स्थिति का भी बड़ा आकर्षक वर्णन किया है, जो बौद्धधर्म में वर्णित निर्वाण के सदृश ही अनिर्वचनीय है। उसे तो ज्ञान-चक्षु द्वारा ही देखा जा सकता है—

हम बासी उस देस के पूछता क्या है,
चाँद ना सुरुज ना दिवस रजनी।
तीन की गम्मि नहिं नाहिं करता करै,
लोक ना बेद ना पवन पानी ॥

सेस पहुँचै नहीं थकित भइ सारदा,
ज्ञान ना ध्यान ना ब्रह्म ज्ञानी।
पाप ना पुन्न ना सरग ना नरक है,
सुरति ना सबद ना तीन तानी ॥

अखिल ना लोक है नाहिं परजंत है,
हद्द अनहद्द ना उठै बानी।
दास पलटू कहै सुन्न भी नाहिं है,
सन्त की बात कोउ संत जानी[2] ॥

पलटू साहब ने कबीर और नानक की भाँति मूर्ति-पूजा, मन्दिर, मसजिद आदि का वहिष्कार किया है और उन्हीं को शब्दों में दुहराते हुए कहा है कि मैं तो केवल उस गुरु की पूजा करता हूँ जो आँखों से साक्षात दिखाई देता है और जो मौन या गूँगा नहीं, प्रत्युत बोलनेवाला है—

हिन्दू पूजै देवखरा, मुसलमान महजीद।
पलटू पूजै बोलता, जो खाय दीद बरदीद[3] ॥

---

१. पलटू साहब की बानी, भाग २, पृष्ठ ५६।
२. वही, भाग २, पृष्ठ २४-२६।
३. वही, भाग ३, पृष्ठ ९५।

भगवान् बुद्ध ने कहा है कि कोई भी व्यक्ति अपने कर्म के अनुसार ही ब्राह्मण या नीच (=वृषल) होता है, जाति से कोई ब्राह्मण या नीच नहीं होता[१]। इसी प्रकार पलटू साहब ने भी कहा है कि भगवद्भक्ति से ही कोई ब्राह्मण "ब्राह्मण" कहा जाता है, यदि वह भक्ति-विहीन है तो वह चमार-सदृश है—

पलटू बाम्हन है बड़ा जो सुमिरै भगवान।
बिना भजन भगवान के बाम्हन ढेढ़ समान[२]॥

इस प्रकार विदित है कि बावरी-पन्थ के सभी सन्त बौद्धधर्म से प्रभावित थे। उनकी वाणी में बुद्ध-शिक्षा, सिद्धान्त एवं साधना के स्वरूप विद्यमान हैं। उन्हें बुद्ध-वचन का यह प्रभाव सन्त-समाज में प्रवाहमान सिद्धों-नाथों के वचनस्रोत से प्राप्त हुआ था और वह सतत परम्परा के रूप में प्रवाहित ही रहा, यद्यपि उसे सन्त-समुदाय बौद्धधर्म के प्रभाव के रूप में नहीं जानता था।

मलूकदास तथा उनका धर्म

मलूकदास के नाम से तीन सन्तों का वर्णन सन्त-साहित्य में पाया जाता है। इनमें से एक कबीर साहब के शिष्य थे,[३] दूसरे "श्रीमलूकशतकम्" के रचयिता रामानन्दी सन्त थे[४] और तीसरे प्रसिद्ध निर्गुणी-सन्त मलूकदास थे। ये मलूक-पन्थ के प्रवर्तक थे। इनका जन्म ई० सन् १५७४ में इलाहाबाद जिलान्तर्गत कड़ा नामक ग्राम में हुआ था। ये जाति के खत्री थे। इनकी कुल-उपाधि कक्कड़ थी। इनके पिता का नाम सुन्दरदास था। ये चार भाई थे। अन्य तीन भाइयों के नाम हरिश्चन्द्र, शृंगारचन्द्र और रामचन्द्र थे। इनके बचपन का नाम मल्लू था। बचपन से ही ये साधु-स्वभाव के थे। ये विवाहित गृहस्थ थे। इन्होंने कभी गेरुआ वस्त्र नहीं धारण किया। इनकी पत्नी का देहान्त प्रथम प्रसव के समय में ही हो गया था, तब से इन्होंने आध्यात्मिक जीवन व्यतीत किया। इनके प्रारम्भिक गुरु महात्मा देवनाथ थे, किन्तु दीक्षा-गुरु मुरारस्वामी थे। कुछ लोग द्रविड़ देशवासी विट्ठलदास को इनका गुरु मानते हैं, किन्तु विद्वानों ने इसे स्वीकार नहीं किया है[५]। इनके गुरु के सम्बन्ध में अन्य भी मतभेद हैं। किन्तु वेणीमाधवदास-कृत "मूल गोसाई चरित" से मुरारस्वामी का ही गुरु होना प्रमाणित है। मलूकदास के ९ ग्रंथ कहे जाते हैं। उनके नाम क्रमशः ज्ञानबोध, रतनखान, भक्तवच्छावली, भक्तविरुदावली, पुरुषविलास, दसरत्नग्रन्थ, गुरुप्रताप, अलखबानी तथा रामावतारलीला हैं। इनके कुछ अन्य भी ग्रंथों के नाम गिनाए जाते हैं, किन्तु जबतक

१. सुत्तनिपात, वसलसुत्त गाथा २१, हिन्दी अनुवाद, पृष्ठ २७।
२. पलटू साहब की बानी, भाग ३, पृष्ठ ९५।
३. कबीर ग्रंथावली, भूमिका, पृष्ठ २।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५०५।
५. वही, पृष्ठ ५०७।

इनका प्रकाशन न हो जाय, तबतक यह निश्चित कर सकना सम्भव नहीं है कि मलूकदास के कौन-से ग्रन्थ प्रामाणिक हैं और कौन अप्रामाणिक। इन ग्रंथों में से "भक्तवच्छावली" सर्व-श्रेष्ठ समझा जाता है, किन्तु अभी तक इनकी रचनाओं का एकमात्र संग्रह "मलूकदासजी की बानी" नाम से प्रयाग से प्रकाशित है। उससे जान पड़ता है कि मलूकदास एक आदर्श सन्त थे। इन्होंने गृहस्थजीवन में रहते हुए भी आध्यात्मिक-जगत् में उन्नति प्राप्त की और ज्ञान का साक्षात्कार किया। इनकी अनुभूतियों का परिचय स्वयं इनकी वाणियाँ दे रही हैं। इन्होंने सन्तों की उस परम्परा का अनुसरण किया है, जिसे कि कबीर, प्रह्लाद, नामदेव, नानक और अवधूत गोरखनाथ ने ग्रहण किया था—

> हमारा सतगुरु बिरले जानै।
> सुई के नाके सुमेर चलावै, सो यह रूप बखानै॥
> की तो जाने दास कबीरा की हरिनाकस पूता।
> की तो नामदेव औ नानक की गोरख अवधूता[1]॥

तात्पर्य यह कि मलूकदास के लिए कबीर आदि सन्त ही आदर्श थे और इन्होंने उन्हीं के मार्ग पर चलने का प्रयत्न किया। यही कारण है कि मलूकदास की रचनाओं में बौद्ध-प्रभाव स्पष्टतः दिखाई देता है। सतगुरु,[2] आवागमन,[3] शरणागत,[4] अनित्यता,[5] अवधूत,[6] गगन-मण्डल,[7] अनहद,[8] शून्य-महल,[9] तीर्थ-व्रत-निषेध,[10] निरंजन,[11] घट घट व्यापी राम,[12] ग्रन्थ-प्रामाण्य मान्य नहीं,[13] नाम-स्मरण,[14] परमपद,[15] मूर्ति-पूजा निरर्थक,[16] अहिंसा,[17] [illegible] ढोंगी के चिह्न,[18] मनुष्य-जीवन की दुर्लभता,[19] साधु-सत्संग,[20] कनक-कामिनी का त्याग,[21] क्षणिकवाद,[22] अशुभ-भावना,[23] अवतारवाद मान्य

---

१. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ १, २, ५।
३. वही, पृष्ठ १, २३।
४. वही, पृष्ठ २।
५. वही, पृष्ठ ३।
६. वही, पृष्ठ ४, १५, १६।
७. वही, पृष्ठ ४।
८. वही, पृष्ठ ४।
९. वही, पृष्ठ ४, २३।
१०. वही, पृष्ठ ५।
११. वही, पृष्ठ ५।
१२. वही, पृष्ठ ५।
१३. वही, पृष्ठ ५।
१४. वही, पृष्ठ ५।
१५. वही, पृष्ठ ५।
१६. वही, पृष्ठ ८, १७।
१७. वही, पृष्ठ ८, ३७।
१८. वही, पृष्ठ ११।
१९. वही, पृष्ठ ११।
२०. वही, पृष्ठ ११।
२१. वही, पृष्ठ १२, १७, ३९।
२२. वही, पृष्ठ १२।
२३. वही, पृष्ठ १४।

नहीं,[१] मन ही परमेश्वर,[२] निर्गुण,[३] गुरु-महिमा,[४] सत्य,[५] सन्तोष,[६] जातिवाद-निषेध,[७] जप-तप-आत्मपीड़न-स्नान-शुद्धि आदि का त्याग,[८] शुभाशुभ का विचार त्याज्य,[९] सहज,[१०] गगन-गुफा,[११] निराकार,[१२] अन्तर्यामी,[१३] शरीर में ही सभी तीर्थ,[१४] दया[१५] आदि बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। मलूकदास ने सिद्ध सरहपा,[१६] गोरखनाथ,[१७] कबीर[१८] और नानक[१९] के स्वर में ही स्वर मिलाकर कहा है कि पण्डित वेदों को पढ़-पढ़कर भूले हुए हैं और ज्ञानी भी ज्ञान-चर्चा में ही मस्त रहते हैं, किन्तु उस निर्गुण परमात्मा को नहीं जानते जो घट-घट व्यापी है—

> वेद पढ़े पढ़ि पंडित भूले, ज्ञानी कथि कथि ज्ञाना।
> कह मलूक तेरी अद्भुत लीला, सो काहू नहिं जाना[२०]।।

जातिभेद के सम्बन्ध में भी मलूकदास ने उसी बात को दुहराया है, जिसे कि भगवान् बुद्ध से लेकर सिद्ध, नाथ, सन्त आदि सभी निर्गुणी-परम्परागत साधकों ने कहा है—

> साध मंडली बैठि के मूढ़ जाति बखानी।
> हम बड़ हम बड़ करि मुए, बूड़े बिन पानी[२१]।।

नक्षत्रों तथा दिन के शुभाशुभ होने का विश्वास बौद्धधर्म में नहीं किया जाता। भगवान् बुद्ध ने कुशल-कार्यों के लिए सभी दिन और सभी नक्षत्रों को शुभ एवं शुद्ध कहा है,[२२] मलूकदास ने भी इसी प्रकार दिन के शुभाशुभ के अन्धविश्वास को त्यागने के लिए कहा है—

> मन ते इतने भरम गँवावो।
> चलत बिदेस बिप्र जनि पूछो, दिन का दोष न लावो[२३]।।

---

१. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ १५, १६।
२. वही, पृष्ठ १७।
३. वही, पृष्ठ १७, २३।
४. वही, पृष्ठ १७, १८।
५. वही, पृष्ठ १८।
६. वही, पृष्ठ १८।
७. वही, पृष्ठ १८।
८. वही, पृष्ठ १९।
९. वही, पृष्ठ २०।
१०. वही, पृष्ठ २१।
११. वही, पृष्ठ २१।
१२. वही, पृष्ठ ३४।
१३. वही, पृष्ठ ३५।
१४. वही, पृष्ठ ३६।
१५. वही, पृष्ठ ३६-३७।
१६. दोहाकोश, पृष्ठ १८-१९।
१७. गोरखबानी, पृष्ठ ५५।
१८. कबीर ग्रन्थावली, पृष्ठ १०२।
१९. नानकवाणी, पृष्ठ २०२।
२०. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ५।
२१. वही, पृष्ठ १८।
२२. मज्झिमनिकाय १, १, ७ तथा जातक ४९।
२३. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ २०।

मलूकदास बौद्धधर्म के समान ही मनुष्य-जीवन को दुर्लभ मानते थे,[१] वे अवतारवाद को स्वीकार नहीं करते थे,[२] मन को प्रधान ही नहीं, प्रत्युत परमेश्वर स्वरूप मानते थे,[३] तथा अहिंसा, दया, सदाचार आदि मे निरत रहते हुए मूर्ति-पूजा, जल-स्नान-तीर्थ-व्रत इत्यादि के कर्म-काण्ड को त्याग कर वैराग्यमय जीवन बिताने का उपदेश करते थे। उन्होंने कबीर की ही भाँति उन्हीं शब्दों में मूर्तिपूजा, तीर्थयात्रा और कर्म-काण्ड का निषेध किया है—

साधो दुनिया बावरी, पत्थर पूजन जाय।
मलूक पूजै आतमा, कछु मांगै कछु खाय[४] ॥

जेती देख आतमा ते ते सालिगराम।
बोलनहारा पूजिए पत्थर से क्या काम ॥

आतम राम न चीन्हही, पूजत फिरै पषान।
कैसेहु मुक्ति न होयगी, कोटिक सुनो पुरान ॥

किरतिम देव न पूजिये, ठेस लगे फुटि जाय।
कहैं मलूक सुभ आतमा, चारो जुग ठहराय ॥

देवल पुजे कि देवता, की पूजे पाहाड़।
पूजन को जाँता भला, जो पीस खाय संसार ॥

हम जानत तीरथ बड़े, तीरथ हरि की आस।
जिनके हिरदे हरि बसै, कोटि तिरथ तिन पास ॥

संध्या तर्पन सब तजा, तीरथ कबहुँ न जाउँ।
हरि हीरा हिरदे बसै, ताही भीतर न्हाउं ॥

मक्का मदिना द्वारका, बद्री और केदार।
बिना दया सब झूठ है, कहैं मलूक विचार ॥

राम राम घट में बसे, ढूँढ़त फिरै उजाड़।
कोइ कासी कोइ प्राग में, बहुत फिरैं झख मार[५] ॥

मलूकदास में बौद्धधर्म की वह करुणा-भावना विद्यमान थी, जिससे कि युक्त हो बोधिसत्व अपना उत्सर्ग कर देते हैं, बुद्ध अपने सभी सुखों को त्यागकर जनहित कार्यों में जुट जाते हैं तथा भिक्षु जीवन-पर्यन्त चारिका कर सद्धर्म का मार्ग दिखलाने का प्रयत्न करते हैं। तेलकटाहगाथा नामक पालि ग्रन्थ में कहा गया है—"जिस प्रकार मोह-जाल के विध्वंसक मुनीन्द्र (= भगवान् बुद्ध) ने अगण्य संसार-दुःख तथा गम्भीर (तीस) पारमिता रूपी समुद्र को

१. "मनुष जन्म दुर्लभ अहै, बड़े पुन्ने पाया।" —मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ११।
२. "दस औतार कहां ते आए ?" —वही, पृष्ठ १५।
३. "जोई मन सोई परमेसुर।" —वही, पृष्ठ १७।
४. वही, पृष्ठ ३६। ५. वही, पृष्ठ ३६।

पार कर निपुण ज्ञेय (धर्म) का उपदेश दिया, उसी प्रकार सदा दूसरों की भलाई के लिए उत्तम कर्म करो। उस भगवान् (बुद्ध) ने अपने प्राप्त किए हुए निर्वाण-सुख को त्याग कर सर्वदा महाभयानक लोकों में दूसरों की भलाई के लिए विचरण किया, ऐसे ही परहित को सामने रख, मैंने सर्वदा संसार की भलाई के लिए ही धर्म का आचरण किया है[१]।" इसी आदर्श के अनुरूप मलूकदास संसार के सभी दुःखी जनों के दुःख-दारिद्रय को स्वयं लेकर उन्हें सुख देने की कामना करते हैं—

जे दुखिया संसार में, खोवो तिनका दुक्ख।
दलिद्दर सौंप मलूक को, लोगन दीजै सुक्ख[२]।

मैत्री, करुणा और मुदिता की भावना से परिप्लावित हृदयवाले महान् सन्त मलूकदास का शरीरान्त ई० सन् १६८२ में १०८ वर्ष की आयु में कड़ा ग्राम में ही हुआ था। इनका शव गंगा में प्रवाहित किया गया था।

ऐसे सन्त मलूकदास की बहुत बड़ी ख्याति थी और इनके शिष्यों की संख्या भी बहुत अधिक थी। इनके देहान्त के उपरान्त इनकी गद्दी पर इनके भतीजे रामसनेही बैठे थे। उनके पश्चात् क्रमशः कृष्णसनेही, कान्हावाल, ठाकुरदास, गोपालदास, कुंजविहारीदास, रामसेवक, शिवप्रसाद, गंगाप्रसाद तथा अयोध्याप्रसाद गद्दी के उत्तराधिकारी हुए। अयोध्याप्रसाद के पश्चात् गद्दी का क्रम भंग हो गया। इनके वंशज आजकल महन्थ कहलाते हैं और घरबारी गृहस्थ होते हैं।

मलूकदास ने कहीं बाहर जाकर अपने मत का प्रचार नहीं किया, किन्तु इनकी प्रसिद्धि अधिक थी। औरंगजेब बादशाह भी इन्हें मानता था। इन्हीं से प्रभावित होकर उसने कड़ा से जजिया लेना बन्द कर दिया था। औरंगजेब का एक कर्मचारी भी इनका शिष्य हो गया था, जिसका नाम उन्होंने फतेह खाँ से बदलकर "मीरमाधव" रख दिया था। इनकी समाधि कड़ा में अबतक विद्यमान है और है मलूकदास की समाधि के पास। मलूकदास के कुछ और भी मुख्य शिष्य थे। जिसके नाम लालदास, रामदास, उदयराय, प्रभुदास, सुदामा आदि बतलाए जाते हैं। ऐसा जान पड़ता है कि इन्हीं शिष्यों ने अपने पन्थ का प्रचार किया। इनके मतावलम्बी नेपाल, अफ़गानिस्तान आदि देशों मे भी गये थे। सम्प्रति इनकी गद्दियाँ कड़ा, जयपुर, गुजरात, मुलतान और पटना में है[३]। कहते हैं कि प्रयाग मे इनकी गद्दी के संस्थापक दयालदास थे, इस्फहाबाद में हृदयराय, लखनऊ मे गोमतीदास, मुल्तान में मोहनदास, सीताकोयल मे पूरनदास और काबुल में रामदास[४]। इनके सम्प्रदाय का एक मन्दिर वृन्दावन मे केशीघाट पर भी है। इनके मन्दिरो में माला, खड़ाऊँ, ठाकुरजी इत्यादि

---

१. तेलकटाहगाथा, भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा अनूदित, गाथा ९६-९७, पृष्ठ ३९-४०।

२. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ३७।

३. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७७।

४. वही, पृष्ठ ८०।

दर्शनार्थियों के निमित्त रहते हैं, किन्तु जैसा कि पहले कहा गया है कि स्वयं मलूकदास मूर्ति-पूजा, माला आदि के विरोधी थे, उनका तो कथन था—

माला जपौं न कर जपौं, जिभ्या कहौं न राम।
सुमिरन मेरा हरि करै, मैं पाया बिसराम[१]॥

सुमिरन ऐसा कीजिए, दूजा लखै न कोय।
ओठ न फरकत देखिये, प्रेम राखिये गोय[२]॥

इस प्रकार मलूकदास आध्यात्मिक पूजा आदि को ही महत्व देते थे। उनके मन्दिरों में रखी गयी पूजनीय वस्तुएँ उनके शिष्यों द्वारा अपने सतगुरु के प्रति प्रकट की जानेवाली श्रद्धा-भक्ति के साधन मात्र हैं।

बाबालाली सम्प्रदाय

बाबालाली सम्प्रदाय के प्रवर्तक बाबालाल मालवा के क्षत्रिय थे। इनका जन्म अकबर के शासनकाल में सम्भवतः ई० सन् १५९० में हुआ था[३]। इनकी माता का नाम कृष्णादेवी तथा पिता का नाम भोलानाथ था। दस वर्ष की अवस्था में ही इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो आया और ये घरबार त्यागकर सांसारिक दुःखों से मुक्ति-हेतु निकल पड़े। ये घूमते हुए पंजाब की ओर गये। वहीं शहरा नामक स्थान में ऐरावती नदी के तट पर इनकी भेंट चेतनस्वामी से हुई। उन दिनों चेतनस्वामी के चमत्कारों की बड़ी प्रसिद्धि थी। कहते हैं कि उन्होंने अपने पैरों को फैलाकर चूल्हा की भाँति कर उसी पर भोजन बनाया। बाबालाल पर उनका बड़ा प्रभाव पड़ा। ये उन्हीं के पास दीक्षित हो गए। इन्होंने वहीं रहकर साधना की और सिद्धियाँ भी प्राप्त कर लीं। इन्होंने अपने गुरु की आज्ञा से अपने शिष्यों के साथ देश-भ्रमण कर पंजाब से बाहर दिल्ली, सूरत, कांधार, पेशावर, गजनी, काबुल आदि स्थानों में धर्म का प्रचार किया। शाहजादा दाराशिकोह ने इन्हें अपने यहाँ निमन्त्रित किया था और वह इनके प्रवचन से बहुत प्रभावित हुआ था। वह इनका भक्त हो गया था[४]। बाबालाल ने उसे जो उपदेश दिया था, वह नादिरुन्निकात में संग्रहीत है[५]। सरहिन्द के पास देहनपुर में इन्होंने एक मठ की स्थापना की थी, जो आजतक विद्यमान है। इनका शरीरान्त ई० सन् १६५५ में हुआ था, किन्तु सम्प्रदायवाले इनको ३०० वर्षों की आयुवाला बतलाते हैं,[६] जो श्रद्धाजनित भावना मात्र है।

---

१. मलूकदासजी की बानी, पृष्ठ ३६।
२. वही, पृष्ठ ३६।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५२४।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६।
५. वही, पृष्ठ ७७।
६. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५२४।

बाबालाल की रचनाओं का अभी तक पूर्ण रूप से शोध नहीं किया जा सका है और न तो उनकी किसी रचना का प्रकाशन ही हुआ है। उनके नाम से कुछ दोहे, साखी आदि ही प्रचलित हैं[१]। उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि बाबालाल के गुरु चेतनस्वामी कबीर, रैदास, दादू आदि सन्तों की वाणियों से प्रभावित थे और वही प्रभाव बाबालाल पर पड़ा था। जबतक इनकी रचनाएँ नहीं प्राप्त हो जातीं, तबतक इन पर पड़े बौद्ध-प्रभाव के सम्बन्ध में कुछ कह सकना सम्भव नहीं है, फिर भी हम देखते हैं कि इन्होंने सुरति-योग, सहजभाव आदि कुछ बौद्धधर्म से प्रभावित शब्दों को ग्रहण किया है। ये मूर्तिपूजा, अवतारवाद और कर्मकाण्ड के विरोधी थे[२]। बौद्धधर्म के अनुसार तृष्णा सभी दुःखों का मूल है। तृष्णा के ही कारण व्यक्ति बार-बार संसार में जन्म लेता और मरता है तथा जब तृष्णा नष्ट हो जाती है तब संसार-चक्र सदा के लिए बन्द हो जाता है[३]। बाबालाली सम्प्रदाय मे भी तृष्णा (आशा) को ही सांसारिक बन्धन का प्रधान कारण माना जाता है। सन्त बाबालाल ने तृष्णा को ही चौरासी योनियों के चक्र में डालनेवाला कहा है—

आशा विषय विकार की, बांध्या जग संसार।
लख चौरासी फेर मे, भरमत वारम्बार॥

जिन्हको आशा कछु नहीं, आतम राखैं शून्य।
तिन्हकी नहिं कछु भरमणा, लागै पाप न पुण्य[४]॥

सम्प्रति बाबालाली सम्प्रदायवालों की कुछ संख्या ही भारत में पायी जाती है। बड़ौदा के निकट "बाबालाल का शैल" नामक इनका मठ है। इनका प्रधान केन्द्र पंजाब का गुरुदासपुर जिलान्तर्गत श्रीध्यानपुर ग्राम है। वहाँ प्रतिवर्ष बाबालाल की समाधि के पास विजयादशमी तथा वैशाख की दशमी को मेला लगता है। सीमा प्रान्त में भी इस सम्प्रदाय के कुछ अनुयायी पाये जाते हैं[५]।

प्रणामी सम्प्रदाय

प्रणामी सम्प्रदाय के विभिन्न नाम हैं। इसे ही निजानन्द सम्प्रदाय, धामी सम्प्रदाय, श्रीकृष्णप्रणामी सम्प्रदाय, परनामी सम्प्रदाय, प्राणनाथी सम्प्रदाय आदि भी कहते हैं और इस सम्प्रदायवालों को "सुन्दरसाथ" अथवा "साथ" नाम से पुकारते है। प्रणामी शब्द "प्रणाम" से बना है। परमात्मा को अनन्य भाव से नमनेवाले होने से प्रणामी या परनामी और कृष्ण के अतिरिक्त अन्य किसी को नमन नही करने से कृष्णप्रणामी कहते है[६]। इनका प्रमुख तीर्थ-स्थान पन्ना है, जिसे इस सम्प्रदायवाले पद्मावतीपुरी कहते हैं। वहाँ के निवासी सुन्दरसाथों को

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३६६। २. वही, पृष्ठ ५२७।
३. धम्मपद, गाथा ३४२, १५३, १५४।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ ३६६ में उद्धृत।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५२७।
६. आनन्दसागर, पृष्ठ ४१०।

धामी और पन्ना से बाहर के रहनेवालों को "प्रणामी" कहते हैं। निजानन्द और प्राणनाथ इस सम्प्रदाय के प्रमुख प्रवर्तक थे, अतः उनके नाम पर भी इसे जाना जाता है, तथापि "प्रणामी सम्प्रदाय" के नाम से ही यह अधिक प्रसिद्ध है।

इस सम्प्रदाय के प्रवर्तक श्री देवचन्द्र थे[1]। इनका जन्म ११ अक्तूबर, सन् १५८१ को अमरकोट में हुआ था[2]। ये कायस्थ जाति के थे[3]। इनके पिता का नाम मत्तू मेहता तथा माता का नाम कुँवरबाई था। १६ वर्ष की आयु में ये अपने पिता के साथ कच्छ गये। वहाँ हरिदास गुसाईं से इनकी भेंट हुई, जो राधावल्लभ सम्प्रदाय के साधु थे। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। ये पुनः भोजनगर में हरिदास गुसाईं से मिले और उनके पास रहकर अनेक धर्मों का अध्ययन किया। इनके माता-पिता को चार वर्षों के पश्चात् इनका पता लगा। वे इन्हें घर ले गए और विवाह कर दिया, किन्तु इनका मन घर-गृहस्थी में नहीं लगा। ये हरिदास की ही सेवा में चले आये। कहते हैं कि वहीं इन्हें ४० वर्ष की अवस्था में ज्ञान प्राप्त हुआ[4]। जामनगर में इन्होंने मन्दिर बनवाया और वहीं रहने लगे। उस समय तक इनकी पत्नी श्रीमती लीलबाई का देहान्त हो चुका था। इनकी दो सन्तान थी विहारी नामक पुत्र और यमुना नामक पुत्री। ये भी इन्हीं के साथ रहते थे। इन्हें देवचन्द्र ने अपने शिष्य गांगभाई को सौंप दिया, जिनका पालन-पोषण गांगभाई ने ही किया। ज्ञान-प्राप्ति के पश्चात् देवचन्द्र ने अपना नाम निजानन्द रख लिया था। सम्प्रदाय-वाले मानते हैं कि ये श्रीकृष्ण भगवान् (अक्षरातीत) के आदेश से संसार में अवतरित हुए थे और साक्षात् श्यामा के अवतार थे। इन्होंने ही ब्रह्मप्रियाओं के सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया[5]। इसीलिए इस सम्प्रदायवाले अपने को कृष्ण की सखियाँ समझकर सखीभाव से बालकृष्ण की उपासना करते हैं।

देवचन्द्र का देहान्त ५ सितम्बर, १६५५ में जामनगर में ही हुआ था। जामनगर को प्रणामी सम्प्रदायवाले नौतनपुरी नाम से पुकारते हैं।

प्राणनाथ

देवचन्द्र के शिष्यों में प्राणनाथ प्रमुख थे। इन्होंने ही प्रणामी धर्मावलम्बियों को संगठित किया। इनका जन्म सन् १६१८ में जामनगर में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इनके बचपन का नाम मेहराज था। पिता का नाम केशवराय तथा माता का नाम धनबाई था। केशवराय जामनगर के राजा के मन्त्री थे। प्राणनाथ के तीन बड़े और एक छोटा भाई था। इनके बड़े भाई गोवर्धन देवचन्द्र के भक्त थे। उन्हीं के साथ ये भी प्रायः

---

१. सद्गुरुर्देवचन्द्राभिधो हि साक्षात्परेश्वरः।
प्रादुर्भूतो निजानन्दो यस्सद्धर्म्म प्रवर्तकः॥
—आनन्दसागर ७, ४२, पृष्ठ ३६४।

२. निजानन्द चरितामृत, पृष्ठ १११।

३. कायथ परम पुनीत वंश शुभ, परम धरम की मूरति।
—वृत्तान्त मुक्तावली (बीतक), पृष्ठ ४।

४. महाराज छत्रसाल बुन्देला, पृष्ठ १०२–१०४।

५. आनन्दसागर, पृष्ठ ३६४।

देवचन्द्र के दर्शनार्थ जाया करते थे। प्राणनाथ पर देवचन्द्र के व्यक्तित्व का ऐसा प्रभाव पड़ा कि ये उनके शिष्य हो गये। इसी बीच इनका विवाह भी फूलबाई नामक कन्या से हो गया। वह यात्रा में सदा इनके साथ रहती थी। प्राणनाथ अपने पिता की मृत्यु के उपरान्त कुछ दिनों जामनगर में प्रधानमन्त्री रहे किन्तु इन्होंने मन्त्रित्व को त्यागकर धर्म-प्रचार करना ही उत्तम समझा। इन्होंने बसरा, बगदाद, अरब आदि की यात्रायें कीं। काठियावाड़, सिन्ध, राजपूताना आदि का भी भ्रमण किया। इसी बीच सिन्ध के ठट्टा नामक नगर मे एक कबीरपन्थी सन्त चिन्तामणि से इनकी भेंट हुई और वहाँ इन्होंने सत्संग किया। देवचन्द्र के देहावसान के उपरान्त इन्हे सम्प्रदाय का नेतृत्व प्राप्त हुआ और तब से ये अपने को बुद्ध, ईसा तथा मेहदी का अवतार मानने लगे[1]। सम्प्रदायवाले तो यह भी मानते हैं कि देवचन्द्र ने शक्तिरूप में इनमें प्रवेश किया[2]। प्राणनाथ जब से गुरु की गद्दी पर बैठे, तब से पत्नी से अलग रहने लगे। इस वियोग में पत्नी का देहान्त हो गया। तदुपरान्त उन्होंने तेजकुँवरि नामक महिला से दूसरा विवाह किया, जो अन्ततक प्राणनाथ के साथ रही, किन्तु इन्हें कोई सन्तान न थी[3]।

उन दिनों मुगलों का अत्याचार और धार्मिक विद्वेष जोरों पर था। प्राणनाथ भी उससे अप्रभावित न रहे। वे गुजरात से निकल कर दक्षिण की ओर निकल पड़े और वहाँ से घूमते-फिरते बुन्देलखण्ड पहुँचे। छत्रसाल के मन्त्री ने पन्ना आने का उन्हें निमन्त्रण दे रखा था। जिस समय प्राणनाथ पन्ना पहुँचे, उस समय छत्रसाल शिकार खेलने जंगल में गये थे। मऊ सहानिया के जंगल में ही प्राणनाथ की प्रथम भेंट छत्रसाल से सन् १६८३ में हुई थी। तब से ये पन्ना में रहने लगे और वहीं से उत्तर प्रदेश आदि के अनेक स्थानों की यात्राएँ कीं,

---

१. ईसा बुद्धसरूप जो निष्कलंक सु इमाम।
अक्षरबुद्धि कही प्रगट असराफील जु नाम॥

—वृत्तान्त मुक्तावली, पृष्ठ ४७३।

तद्दिनात्प्राणनाथो हि शुद्धो बुद्धो मुनीश्वरः।
पर्य्यटन सर्वदेशेपु बोधयंस्तारतम्यतः॥

—आनन्दसागर ७, ४८, पृष्ठ ३७०।

२. सच साधोर्वेषधरः कलौ जातोनुकम्पया।
तारतम्यं मंत्रराजं ददौ प्राणेश्वराय वै॥
सर्वान्प्रियागणांस्त्वन्तु बोधयेत्युपदिश्य सः।
विराम निजं तेजो धृत्वा प्राणपतेर्हृदि॥

—आनन्दसागर ७, ४६–४७, पृष्ठ ३६८–३६९।

३. फूलावति जाया कही, धाम धनी घर माहिं।
तेजकुँवरि दूजी सुगम, गही तुरत पति बाहिं॥

—वृत्तान्त मुक्तावली, पृष्ठ १३८।
—निजानन्दचरितामृत, पृष्ठ २७८, २९५ में भी।

किन्तु स्थायी रूप से निवासस्थान पन्ना ही बना रहा। प्राणनाथ ने छत्रसाल को हीरे की खान का भी ज्ञान कराया था। पन्ना आने से पूर्व सन् १६७८ में हरिद्वार में कुम्भ के अवसर पर प्राणनाथ ने अपने को "विजयाभिनन्द बुद्ध" घोषित किया था और तब से प्रणामी सम्प्रदाय में "विजयाभिनन्दबुद्ध शाका" प्रचलित है[1]। यही वर्ष-गणना इस सम्प्रदाय में व्यवहृत है। प्राणनाथ का देहान्त २९ जून, सन् १६९४ को पन्ना में हुआ था। वहाँ सम्प्रति इनका एक विशाल मन्दिर है, जिसमें श्रीकृष्ण की मुरली, मुकुट और प्राणनाथ द्वारा लिखित हस्त-लिखित ग्रंथ रखे हुए हैं, जिन्हें इनके भक्त साक्षात् श्रीकृष्णस्वरूप मानकर पूजते हैं[2]। इनके भक्तों की संख्या गुजरात, बुन्देलखण्ड, मध्यभारत आदि में है। नेपाल में भी इस सम्प्रदाय वाले हैं, जो प्रतिवर्ष शरदपूर्णिमा को पन्ना के उत्सव में सम्मिलित होने आते हैं।

प्राणनाथ की रचनाओं का संग्रह श्री कुलजमस्वरूप अथवा श्री तारतम्यसागर कहा जाता है। इसमें सोलह ग्रंथ संग्रहीत हैं, जो गुजराती, हिन्दी, सिन्धी, अरबी आदि भाषाओं के सम्मिश्रण स्वरूप है। इन ग्रन्थों का अभी तक प्रकाशन नहीं हुआ है। प्रणामी सम्प्रदाय वाले अपने धर्मग्रंथों को अन्य धर्मावलम्बियों से छिपा कर रखते हैं। कुलजमस्वरूप की एक प्रति लखनऊ की अमीरुद्दौला पब्लिक लाइब्रेरी में सुरक्षित है और सभी प्रणामी-मन्दिरों में इसकी प्रतियाँ किसी-न-किसी अंश तक रखी गयी हैं। जामनगर तथा पन्ना में कुलजम-स्वरूप अपने सम्पूर्ण अंगों सहित रखा गया है। कुलजमस्वरूप में संग्रहीत ग्रंथों का रचनाकाल ई० सन् १६५७ से १६९१ तक माना जाता है[3]। इसमें संग्रहीत ग्रंथों की सूची इस प्रकार है[4]—

क्रम-संख्या	ग्रन्थ-नाम	भाषा
१	रास	गुजराती
२	प्रकाश	,,
३	प्रकाश	हिन्दुस्तानी
४	षटरुती	गुजराती
५	कलश	,,
६	कलश	हिन्दुस्तानी
७	सनंध	,,

१. आनन्दसागर, पृष्ठ ३८१।

२. स्वामिप्रणीतग्रन्थेषु श्रद्धा कृष्णस्वरूपवत्।
तेषां तु पूजनं सम्यगुपचारैः प्रकीर्तितम् ॥ ८, १६ ॥
अतस्सद्गुरु सेवा तु वाङ्मनः कायतः सदा।
ब्रह्मवत्सुधिया कार्य्या संसारान्मुक्तिमिच्छता ॥ ८, २५ ॥
—आनन्दसागर, पृष्ठ ४५७, ४६२।

३. धर्मअभियान, परिशिष्ट संख्या २। ४. वही, परिशिष्ट २।

क्रम-संख्या	ग्रन्थ-नाम	भाषा
८	कीरतन	हिन्दी-गुजराती-सिन्धी
९	खुलासा	हिन्दी-अरबी, मिश्रित हिन्दुस्तानी
१०	खिलवत	,, ,,
११	परकरमा	,, ,,
१२	सागर	,, ,,
१३	सिंगार	,, ,,
१४	सिन्धी	,, ,,
१५	मारफत सागर	,, ,,
१६	कयामतनामा (बड़ा, छोटा)	,, ,,

इस सूची को देखने से स्पष्ट है कि वास्तव में कुलजमस्वरूप १४ ग्रंथों का ही संग्रह है। प्रकाश और कलश गुजराती तथा हिन्दुस्तानी दोनों में एक ही के भाषान्तर हैं। पण्डित कृष्णदत्त शास्त्री ने कुलजमस्वरूप में संग्रहीत प्राणनाथ की वाणी की संख्या १८००० कही है[1]। इन ग्रंथों की भाषा और शैली में किसी भी प्रकार की समानता नहीं है। प्राणनाथ ने अपने ग्रंथो की भाषा के सम्बन्ध में भी प्रकाश डाला है। उनका कथन है—

सबको प्यारी अपनी, जो है कुल की भाष।
अब में कहूँ भाषा किनकी, यामें तो भाषा के भाष ।। १३ ।।
बोली जुदी सबन की, और सबका जुदा चलन।
सब उरझे नाम जुदे धर, पर मेरे तो केहेना सबन ।। १४ ।।
बिना हिसाबे बोलियाँ, मिनें सकल जहांन।
सबको सुगम जान कें, कहूँगी हिन्दुस्तान ।। १५ ।।
बड़ी भाषा ये ही भली, जो सब में जाहेर।
करन पाक सबन कों, अन्तर मांहे बाहेर[2] ।। १६ ।।

प्राणनाथ अपने को बुद्ध-स्वरूप बतलाते हुए भी इन्द्रावती की वासना मानते थे और सखी-भाव से श्रीकृष्ण की भक्ति में लीन रहते थे, इसीलिए उन्होंने उपदेशों में अपने लिए स्त्रीलिंग का प्रयोग किया है।

प्रणामी धर्म समन्वयवादी था। प्राणनाथ हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सबको मिलाकर एक नए धर्म में दीक्षित करना चाहते थे और यह चाहते थे कि सभी धर्मावलम्बी उनका अनुगमन करें तथा अपना पैगम्बर या ईश्वरीय अवतार मानें। ऐसा जान पड़ता है कि इन्होंने इन सभी धर्मों का अध्ययन किया था। जहाँ तक बौद्धधर्म के प्रभाव की बात है, वे स्वयं अपने को 'बुद्ध' मानते थे। इनके शिष्यों ने तो पद्मपुराण आदि का उद्धरण देकर यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि पुराणों में वर्णित 'बुद्ध' प्राणनाथ ही थे[3]। फिर भी इन्हें

---

१. निजानन्दचरितामृत, पृष्ठ २०५।
२. सनंध, प्रकरण १। ३. आनन्दसागर, पृष्ठ ३७८–३८०।

बौद्धधर्म का यथार्थ ज्ञान नहीं था। इन्हें परम्परागत सन्त-वाणी तथा सत्संग से ही बौद्ध-तत्वों का कुछ ज्ञान हुआ था, जिसे अन्य सन्तों की भाँति इन्हें भी बौद्ध-प्रभाव का आभास नहीं था। इनकी रचना में निरंजन, सत, सद्गुरु, अलख, सतगुरु, शून्य, निराकार, खसम-भावना (कंत), जातिभेद-निषेध, समता, समदृष्टि, छुआछूत का वर्जन आदि बौद्धधर्म से प्रभावित विचार मिलते हैं [1]। शून्य के सम्बन्ध में प्राणनाथ ने कहा है—

सुन्य थे जैसे जल बतासा।
सो सुन्य माँझ समाई[2]॥

प्राणनाथ का कन्त, पीउ (प्रियतम) निरंजन के परे रहनेवाला है और वह एक ही दृष्टि से सबको देखता है—

निरंजन के परे न्यारा, तहाँ है हमारा कंथ।
एकै नजरों देखहीं सबका खाविन्द पीऊ[3]॥

छुआछूत तथा जातिभेद के विरोध में भी प्राणनाथ ने सबको फटकारा और कहा कि जातिभेद तथा छुआछूत व्यर्थ हैं, इनमें पड़ना धर्म के विरुद्ध आचरण करना है—

ब्राह्मण कहें हम उत्तम, मुसलमान कहे हम पाक।
दोऊ मुट्ठी एक ठौर की, एक राख दूजी खाक[4]॥
एक भेष जो विप्र का, दूजा भेष चांडाल।
जाके छुएँ छूत लागे, ताके संग कौन हवाल॥
चांडाल हिरदें निरमल, खेलें संग भगवान्।
देखलावे नहिं काहू को, गोप राखे नाम[5]॥

प्रणामी धर्म में हिंसा, मांस-भक्षण, चोरी, व्यभिचार, शराब, असत्य भाषण वर्जित हैं। एक प्रकार से हम कह सकते हैं कि बौद्धधर्म के पंचशील का पालन प्रणामीधर्म में भी धर्म-सम्मत है[6]। सभी जीवों पर दया और समता का उपदेश प्राणनाथ ने विशेष रूप से दिया था, जिसके पालन का प्रयत्न सभी प्रणामी और धामी करते हैं। प्राणनाथ ने समदृष्टि के सम्बन्ध में उपदेश देते हुए करुणा और मैत्री का महामन्त्र दिया है—

पर सबाब तो तिनको वही, छोटा बड़ा सब जीउ।
एकै नजरों देखहीं, सबका खाविन्द पीउ॥

उन्होंने सन्त कबीर की भाँति हिन्दू और मुसलमान दोनों को ही फटकारा है और उनके अन्धविश्वासों को दूर करने का प्रयत्न किया। एक ओर उन्होंने मुसलमानों से कहा—

---

१. धर्मअभियान, पृष्ठ १८ से ४२ तक उद्धृत वाणी से गृहीत।
२. वही, पृष्ठ २०। ३. वही, पृष्ठ २०, ४२।
४. वही, पृष्ठ ४२।
५. कलश, प्रकरण १, पद-संख्या १५, १६।
६. आनन्दसागर, पृष्ठ ४५३–५५।

पढ़े मुला आगे हुए, सो तो सब खाये गुमान।
लोगां को बतावहीं, कहें हम पढ़े कुरान ।। ४ ।।
राह बतावें दुनी कों, कहें ए नबी कहेल।
लिख्या और कतेब में, ए खेले और खेल[१] ।। ६ ।।
कुफ्रन काढ़े आपनो, और देखे सब कुफ्रान।
अपना औगुन न देखहिं, कहें हम मुसलमान[२] ।।

दूसरी ओर ब्राह्मणों को फटकारा और उन्हें राक्षसों से भी बुरा कहा—

दोष विप्रों ने कोई माँ देजो, ए कलयुग ना ए धाण।
आगम भाख्यू मलेछे सर्वे, वेराट वाणी रे प्रमाण ।। ३८ ।।
असुर थको समखाधा रे भभीषणें, आगल श्री रघुनाथ।
तम सूं कपट करूँ कुली माहें, ब्राह्मण थाऊँ आप[३] ।। ३९ ।।

अर्थात् कलियुग के ब्राह्मण राक्षसों से भी अधिक बुरे हैं। विभीषण ने श्रीराम के प्रति भक्ति की शपथ लेते हुए कहा था कि यदि मैं विश्वासघात करूँ तो कलियुग में ब्राह्मण होकर जन्म लूँ।

इतना होने पर भी प्राणनाथ ने हिन्दू-मुसलमान की एकता के लिए बहुत प्रयत्न किया। उन्होंने दोनों को समझाया कि वेद और कुरान में एक बात कही गयी है और दोनों के माननेवाले एक ही ईश्वर के भक्त हैं, किन्तु इस रहस्य को न जान सकने के कारण परस्पर संघर्ष कर रहे हैं—

जो कुछ कहा कतेब ने, सोई कहा वेद।
दोऊ बन्दे एक साहब के, पर लड़त बिना पाये भेद[४] ।।

कहते हैं कि प्राणनाथ ने पन्ना में जीवित समाधि ली थी[५]। जिन प्रणामियों का देहान्त पन्ना में होता है, उन्हें समाधि दी जाती है और जिनका अन्यत्र होता है उनका दाह-संस्कार होता है। प्राणनाथ के देहावसान के पश्चात् महाराज छत्रसाल के भ्रातृज पंचमसिंह उनके अनन्य भक्त हुए। उन्होंने भक्ति-सम्बन्धी सवैये लिखे हैं। ऐसे ही जीवनमस्ताना के पंचक दोहे भी प्रसिद्ध है[६]। पन्ना में यह प्रथा अबतक प्रचलित है कि दशहरा के दिन खेजरा के मन्दिर मे पन्ना-नरेश को पन्ना के धामी महन्त पान का बीड़ा देकर तलवार बाँधते हैं और छत्रसाल के समय से प्रचलित प्रथा का पालन करते हैं[७]।

---

१. सनंध, प्रकरण ३९।
२. सनंध, प्रकरण ८। ३. कीरतन, प्रकरण १२५।
४. धर्मअभियान, पृष्ठ ४१ में उद्धृत।
५. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पृष्ठ १११।
६. हिन्दी काव्य मे निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ७६।
७. महाराजा छत्रसाल बुन्देला, पृष्ठ १११।

सत्तनामी सम्प्रदाय

पहले बतलाया जा चुका है कि 'सत्तनाम' पालिभाषा के शब्द 'सच्चनाम' का रूपान्तर है और सच्चनाम भगवान् बुद्ध का नाम है। अनीश्वरवादी भगवान् बुद्ध पीछे स्वयं घट-घट व्यापी 'बुद्ध' बन गये और उनकी सर्वव्यापकता का रूप सर्वव्यापी ईश्वर बन गया। साधक घटव्यापी बुद्ध को ही समझने का प्रयत्न करने लगे तथा बुद्ध भी सत्वों के उद्धार के लिए सदा जगत् में विद्यमान रहने की स्थिति में साधकों द्वारा प्रस्तुत कर दिए गये। भगवान् बुद्ध का वही स्वरूप सिद्धों और नाथों से होकर सन्तों तक पहुँचा। कबीर, रैदास आदि सन्तों ने उस सत्तनाम का गुणगान किया तथा परवर्ती सन्तों ने उसी सत्तनाम को परमार्थ सत्य का भी द्योतक मान लिया। पीछे इसने साम्प्रदायिक रूप भी धारण किया। सत्तनामी सम्प्रदाय का परमसत्य 'सत्तनाम' ही है। 'सत्तनाम' की भक्ति-भावना की प्रधानता के कारण ही इस सम्प्रदाय का 'सत्तनामी' नाम पड़ा है। परशुराम चतुर्वेदी ने सत्तनाम की जो व्याख्या की है, वह ग्राह्य नहीं है[1]। उन्होंने 'सत्त' परमात्मा अथवा परमसत्य माना है और 'नामी' का अर्थ नामस्मरण से किया है, किन्तु यह उपर्युक्त 'सच्चनाम' से ही परम्परागत प्रचलित शब्द है, जिसका मूलस्रोत बौद्धधर्म है।

सत्तनामी सम्प्रदाय पहले उत्तर भारत में ही प्रचलित था। इसकी प्रसिद्धि भी सम्प्रदाय अथवा जाति के रूप में औरंगजेब के समय हुए 'सत्तनामी विद्रोह' के समय ही हुई। जगजीवन साहब और उनके शिष्यों ने इसे पुनः सुसंगठित किया और उन्हीं द्वारा यह छत्तीसगढ़ में भी पहुँचा। परशुराम चतुर्वेदी ने सत्तनामियों की तीन शाखाओं का उल्लेख किया है,[2] किन्तु सत्य यह है कि दिल्ली-क्षेत्र में रहनेवाले सत्तनामियों के ही सम्प्रदायगत धर्म का प्रचार जगजीवन साहब ने किया, इसीलिए प्रायः उन्हें सत्तनामी सम्प्रदाय का प्रवर्तक भी कहा जाता है, किन्तु जगजीवन साहब के जन्म से पूर्व ही यह सम्प्रदाय शक्तिशाली हो चुका था, जिसने कि सन् १६७२ में मुगल-शासक से युद्ध किया था,[3] जगजीवन साहब की जन्मतिथि सन् १६७० मानी जाती है, अतः जगजीवन साहब इसके प्रवर्तक न होकर इस सम्प्रदाय के उपदेशक मात्र कहे जा सकते हैं और उन्हीं के किसी शिष्य को जगन्नाथपुरी की यात्रा के समय छत्तीसगढ़ प्रदेश के घासीदास ने 'सत्तनामी' दीक्षा ग्रहण कर छत्तीसगढ़ मे इस मत का प्रचार किया। घासीदास को सत्तनामी धर्म से परिचय सन् १८२० के आस-पास प्राप्त हुआ था[4]। अर्थात् जगजीवन साहब के देहावसान के लगभग ६० वर्षों के पश्चात् सत्तनामी धर्म छत्तीसगढ़ में पहुँचा था। अतः हमारी धारणा है कि सत्तनामी सम्प्रदाय की तीन शाखाएँ नहीं थीं, प्रत्युत सत्तनामी सम्प्रदाय एक ही सम्प्रदाय का परम्परागत रूप है। जैसा कि हमने पहले कहा है, यह स्मरण रखना चाहिए कि 'सत्तनाम' को प्रायः सभी निर्गुणी सन्त मानते थे।

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५३८।

२. वही, पृष्ठ ५३८–५५६।

३. भारत का इतिहास, भाग २, ईश्वरीप्रसाद-लिखित, पृष्ठ १९२।

४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५५३।

सत्तनामियों की केवल इतनी ही अपनी विशेषता थी कि उन्होंने इसे साम्प्रदायिक रूप दे दिया। सन्त-साहित्य के दृष्टिकोण से जगजीवन साहब तथा उनकी शिष्य-परम्परा का ही महत्व है।

जगजीवन साहब

जगजीवन साहब का जन्म सन् १६७० में बाराबंकी जिले के सरदहा नामक ग्राम में हुआ था। ये क्षत्रिय जाति के थे। इन्होंने जीवनपर्यन्त गृहस्थाश्रम में ही रहकर साधनाएँ की थीं। यद्यपि सन्त-साहित्य में अनेक जगजीवन साहब हुए हैं, किन्तु सरदहा-निवासी जगजीवन साहब बावरी-पन्थ के सन्त बूला साहब के शिष्य थे। इन्होंने ही सत्तनामी सम्प्रदाय को संगठित किया था और 'सत्तनाम' के गुणगान के साथ सत्तनामी मत का प्रचार किया था। जनश्रुति है कि ये बचपन में गाय-भैंस चराने के लिए जाया करते थे। एक दिन दो सन्तों ने इनके पास आकर चिलम चढ़ाने के लिए आग माँगी। ये गाय-भैंसों को छोड़ दौड़े हुए घर गये और आग के साथ उन सन्तों को पीने के लिए दूध भी लेते आये। सन्तों ने प्रसन्नता-पूर्वक दूध पिया और इन्हें आशीर्वाद देकर अपना मार्ग पकड़ा। जगजीवन साहब घर के लोगों को बिना बतलाए ही दूध लाए थे, अतः डरते हुए घर गये। जाने पर देखते हैं कि दूध के मटके ज्यों-के-त्यों भरे हुए हैं। अब इनके आश्चर्य का ठिकाना न रहा। ये दौड़ते हुए उन सन्तों के पास गए और शिष्य बना लेने का आग्रह किया। उन सन्तों में एक बूला साहब थे जो दिल्ली से वापस भुड़कुड़ा जा रहे थे और दूसरे थे गोविन्द साहब। बूला साहब ने जगजीवन साहब को उपदेश देकर दीक्षित किया तथा इनके दाएँ हाथ की कलाई पर एक काला धागा बाँध दिया। वैसे ही गोविन्द साहब ने एक सफेद धागा बाँध दिया। आज भी सत्तनामी इस प्रकार के धागे बाँधते हैं, जिन्हें वे आँदू कहते हैं[1]। इस सम्प्रदाय के महन्थ प्रायः दोनों हाथों तथा पैरों में भी ऐसे धागे बाँध रखते हैं[2]।

जगजीवन साहब के सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक बातें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि अपनी लड़की के विवाह में वरपक्ष की ओर से मांस की माँग होने पर इन्होंने बैगन की तरकारी को ही ऐसे बनवाया था कि वह मांस हो, तब से सत्तनामी सम्प्रदाय के लोग बैगन नहीं खाते हैं। ऐसे ही छत्तीसगढ़ी सत्तनामी शराब, मांस, मसूर, लालमिर्च, तम्बाकू, टमाटर और तरोई भी नहीं खाते हैं[3]। जगजीवन साहब सरदहा में कुछ लोगों के ईर्ष्या करने के कारण उसे छोड़कर वहाँ से ८ किलोमीटर दूर कोटवा ग्राम में जाकर बस गये थे और अन्त समय तक वहीं रहे। सन् १७६१ ई० में इनका देहावसान हुआ था। कोटवा ग्राम में इनकी समाधि अबतक विद्यमान है।

जगजीवन साहब द्वारा लिखित सात ग्रंथ बतलाए जाते हैं, जिनके नाम क्रमशः ज्ञान-प्रकाश, महाप्रलय, शब्दसागर, अघविनाश, आगमपद्धति, प्रथमग्रन्थ और प्रेमग्रन्थ हैं। इनमें से

---

१. महात्माओं की वाणी, भूमिका, पृष्ठ 'घ'।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५४४।
३. वही, पृष्ठ ५५३।

केवल 'शब्दसागर' का प्रकाशन 'जगजीवन साहब की बानी' नाम से हुआ है। इनकी रचनाओं में सतगुरु,[१] सत,[२] सुरति,[३] निर्वाण,[४] सत्तनाम,[५] नामस्मरण,[६] साधु-महिमा,[७] खसम-भावना,[८] निरति,[९] गगन-मन्दिर,[१०] गगन-भवन,[११] निर्गुण,[१२] अनहद,[१३] कर्म-फल,[१४] कर्म-काण्ड-निषेध[१५] आदि बौद्धधर्म के तत्व मिलते हैं। सत्तनाम की महिमा जगजीवन साहब ने बडे ही प्रेम एवं भक्ति से गायी है। इनका कथन है कि चुपचाप सत्तनाम का स्मरण करो, उसी से संसार से मुक्ति प्राप्त हो सकेगी—

साधो सत्तनाम जपु प्यारा।
सत्तनाम अन्तर धुनि लागी, वारि किहे संसारा।
ऐसे गुप्त चुप्प ह्वै सुमिरहु, बिरले लखै निहारा॥
तजहु विवाद कुसंगति सबकै, कठिन अहै यह धारा।
सत्तनाम कै बेड़ा बांधहु, उतरन का भवपारा॥
जन्म पदारथ पाइ जक्त महँ, आपुन मनहि सँभारा।
जगजीवन यह सत्तनाम है, पापी केतिक तारा[१६]॥

सत्तनाम के बिना मुक्ति सम्भव नहीं है, अतः उसका आश्रय ग्रहण करो—

सत्तनाम बिना कहौ, कैसे निस्तरिहौ।
कठिन अहै माया जार, जाको नहि वारपार,
कहौ काह करिहौ[१७]॥

जो लोग सत्तनाम का भजन नहीं करेंगे, वे चाहें जो भी कर्म-काण्ड करें, भव-सागर से पार नहीं उतर सकेंगे—

कोउ बिन भजन तरिहैं नाहिं।
करैं जाय अचार केतौ, प्रात नित्त अन्हाहिं॥
दान पुन्यं करि तपस्या, बर्त बहुत रहाहिं।
त्यागि बस्ती बैठि बन महँ, कंदमूरहिं खाहिं॥
पाठ करि पढ़ि बहुत विद्या, रैन दिनहिं बकाहिं।
गाय बहुत बजाय बाजा, मनहिं समुझत नाहिं॥

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ११८; भाग २, पृष्ठ १२१, १२२, १२६, १२७।
२. वही, भाग १, पृष्ठ ११८।
३. वही, भाग २, पृष्ठ १२३, १३४।
४. वही, पृष्ठ १२२, १२६, १३१, १३३।
५. वही, पृष्ठ १२३, १३१, १३४, १३५।
६. वही, पृष्ठ १२२, १२८, १२१।
७. वही, पृष्ठ १२२, १३१।
८. वही, पृष्ठ १२३।
९. वही, पृष्ठ १२३।
१०. वही, पृष्ठ १२३, १३०।
११. वही, पृष्ठ १२५।
१२. वही, पृष्ठ १२३, १३१।
१३. वही, पृष्ठ १३१।
१४. वही, पृष्ठ १३३।
१५. वही, पृष्ठ १३२।
१६. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४३१ से उद्धृत।
१७. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३४।

करहिं स्वासा बन्द कष्टित, भाँड़ की गति आहिं ।
साधि पवन चढ़ाय गगनहिं, कमल उलटै नाहिं ।।
साध नहि केहु कीन्ह ऐसे, सीखि बहुत कहाहिं ।
प्रीति रस मन नाहिं उपजत, परे ते भव माहिं ।।
जस संजोग विजोग तैसे, तत अच्छर दुइ आहिं ।
रटत अन्तर भेंट गुरु तें, मंत्र अजपा माहि ।।
कहौं प्रगट पुकारि जेहि के, प्रीति अन्तर आहिं ।
जगजीवनदास रीति अस, तब चरन महँ मिलि जाहिं[१] ।।

सत्तनाम का भजन तो करे, किन्तु उसका भेद किसी से प्रगट करना उचित नहीं है, क्योंकि प्रगट करने से उसका सुख और प्राप्त ज्ञान नष्ट हो जाते हैं—

सत्तनाम भजि गुप्तहि रहे, भेद न आपन परगट कहै ।
परगट कहै सुखित नहिं होई, सतमत ज्ञान जात सब खोई[२] ।।

इसलिए आध्यात्म मे ही स्मरण करना चाहिए और संसार में रहते हुए भी संसार में आसक्त नहीं होना चाहिए—

साधो, अन्तर सुमिरत रहिए ।
सत्तनाम धुनि लाये रहिए, भेद न काहू कहिये ।
रहिये जगत जगत से न्यारे, दृढ़ ह्वै सूरति गहिये[३] ।।

जगजीवन साहब की वाणी मे अहिंसा, संयम, परोपकार, सत्यवचन आदि बौद्धधर्म के सदाचार की प्रमुख बातें मिलती हैं। इन सब बातों से स्पष्ट है कि सत्तनाम के भक्त जगजीवन साहब पर बौद्धधर्म का परम्परागत प्रभाव पूर्ववर्ती सन्तों की ही भाँति पड़ा था और सत्तनामी सम्प्रदाय बौद्धधर्म के इन तत्वों से प्रभावित है ।

शिष्य-परम्परा

जगजीवन साहव के शिष्यों की संख्या बड़ी थी। उनमें दूलनदास, देवीदास, गुसाईंदास और खेमदास प्रमुख थे। इन्हें चार पावा नाम से जाना जाता है। इन चारों सन्तों की रचनाएँ मिलती हैं, किन्तु अबतक केवल दूलनदास की ही कुछ रचनाएँ प्रकाशित हैं।

दूलनदास का जन्म लखनऊ जिलान्तर्गत समेसी ग्राम में सन् १६६० में हुआ था। ये सोमवंशी क्षत्रिय थे। ये एक जमींदार की सन्तान थे और अन्त समय तक स्वयं भी गृहस्थाश्रम में ही रहकर जमींदारी को भी सम्हालते रहे। इन्होंने जगजीवन साहब से सरदहा तथा कोटवा में रहकर सत्संग किया था। अन्तिम दिनों में ये रायबरेली जिले के धर्मे नामक ग्राम में चले गए थे। वहीं ११८ वर्ष की अवस्था में सन् १७७८ में इनका देहावसान हुआ था।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३२ ।
२. वही, पृष्ठ १५५ ।
३. जगजीवन साहब की बानी, भाग २, पृष्ठ ११८ ।

भ्रम-विनाश, शब्दावली, दोहावली, मंगलगीत आदि इनकी रचनाएँ हैं। इनकी वाणियों का एक लघु संग्रह प्रयाग से प्रकाशित है। इनकी रचनाओं से ऐसा ज्ञात होता है कि ये निर्गुणी सन्त होते हुए भी सगुणोपासना से प्रभावित थे, क्योंकि "करु ध्यान दसरथ नंद का",[१] "करु ध्यान स्यामा स्याम का"[२] आदि सगुण-भक्ति के तत्व इनकी रचनाओं में मिलते हैं, फिर भी ये सत्तनाम के प्रचारक थे और इनकी वाणी में भी बौद्धधर्म तथा निर्गुणी सन्तों के वे सभी तत्व पाये जाते है, जो इनसे पूर्व के सन्तों में थे। इनकी वाणी में सुरति,[३] नामस्मरण,[४] परमपद,[५] निर्वाण,[६] शून्य,[७] सतगुरु,[८] सन्त-महिमा,[९] दया,[१०] अनहद,[११] सत्तनाम,[१२] कर्म-फल,[१३] सत्त,[१४] आवागमन,[१५] खसम-भावना,[१६] कर्म-काण्ड का निषेध,[१७] राम की घट-घट व्यापकता,[१८] गगन-मण्डल,[१९] गुरु-माहात्म्य[२०] आदि बौद्ध-प्रभाव द्योतक तत्व आये हुए हैं। दूलनदास ने अपने पूर्व के सन्त कबीर, नानक, नामदेव, मीरा, जगजीवन आदि को बड़ी श्रद्धा के साथ स्मरण किया है और उन्हें अपना आदर्श भी माना है[२१]। 'प्रानी जपि ले तू सतनाम"[२२] का उपदेश देते हुए दूलनदास ने 'सत्तनाम' का गुणगान किया है और उसे ही मुक्ति का श्रेष्ठ साधन कहा है। साथ ही "है सतनाम दुहाई"[२३] कहते हुए उसे छिपाये रखने का भी आदेश दिया है—

> दूलन यह मत गुप्त है, प्रगट न करौ बखान।
> ऐसे राखु छिपाइ मन, जस विधवा औधान[२४]॥

जगजीवन साहब के दूसरे शिष्य देवीदास बाराबंकी जिले के लक्ष्मण ग्राम के रहनेवाले थे। ये क्षत्रिय थे। इनका जन्म सन् १६७८ में हुआ था। इन्होंने १८ वर्ष की अवस्था

---

१. जगजीवन साहब की बानी, भाग २, पृष्ठ १०१।
२. वही, पृष्ठ १५६।
३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १३४।
४. वही, पृष्ठ १३४।
५. वही, पृष्ठ १३४।
६. वही, पृष्ठ १३४।
७. वही, पृष्ठ १३६।
८. वही, पृष्ठ १३७।
९. वही, पृष्ठ १३९।
१०. वही, पृष्ठ १३९।
११. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४५।
१२. वही, पृष्ठ १४७।
१३. वही, पृष्ठ १४७।
१४. वही, पृष्ठ १४८।
१५. वही, पृष्ठ १४९।
१६. वही, पृष्ठ १५२, १५४।
१७. वही, पृष्ठ १५५, १५६।
१८. वही, पृष्ठ १५६।
१९. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४२।
२०. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४३।
२१. सन्तवाणी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४६; भाग १, पृष्ठ १३६ तथा सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४२।
२२. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४९।
२३. वही, पृष्ठ १५५।
२४. वही, पृष्ठ १४६।

में दीक्षा ली थी। ये दीर्घजीवी थे। इनका देहान्त सन् १८१३ मे १३५ वर्ष की अवस्था मे हुआ था। इनके नौ ग्रंथ—सुखमनाथ, चरनध्यान, गुरुचरन, विनोद मंगल, भ्रमरगीत, ज्ञानसेवा, नारदज्ञान, भक्तिमंगल और वैराग्यखान प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभीतक इनका प्रकाशन नहीं हुआ है।

गोसाईदास भी बाराबंकी जिले के ही रहनेवाले थे। इनका जन्म सन् १६७० में एक सरयूपारीण ब्राह्मण परिवार में हुआ था। इनके पिता का देहान्त बचपन में ही हो गया था, अतः ये अपनी माता के साथ सरइयाँ नामक ग्राम में चले गये थे और वहीं इनकी शिक्षा हुई। जगजीवन साहब के सत्संग से प्रभावित होकर ये उनके शिष्य हो गये थे। इनका देहान्त सन् १७७६ में वहीं हुआ था। इनके लिखे हुए तीन ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, जिनके नाम क्रमशः शब्दावली, दोहावली और ककहरा हैं।

खेमदास बाराबंकी जिले के मधनापुर ग्राम के रहनेवाले थे। इनकी जन्मतिथि ज्ञात नहीं है। इनका देहान्त सन् ७७३ में हुआ था। इन्होंने अपना अधिकांश समय हरिसंकरी नामक ग्राम में व्यतीत किया था। इनकी रचनाओं में—काशीखण्ड, तत्वसार, दोहावली और शब्दावली प्रसिद्ध हैं।

इन चारों सन्तों की विचारधाराएँ समान थीं। ये सगुणभक्ति से प्रभावित थे और यही कारण है कि सत्तनामी सम्प्रदाय में दोनों प्रकार की साधनाएँ पायी जाती हैं। इन सन्तों के पश्चात् इनकी शिष्य-परम्परा मे क्रमशः सिद्धादास और पहलवानदास के नाम प्रसिद्ध हैं। ये दोनों ही ग्रन्थकार तथा उपदेशक थे। सिद्धादास का देहान्त सन् १७८८ में हुआ था और पहलवानदास का सन् १८४३ मे १२४ वर्ष की आयु में।

घासीदास

घासीदास मध्यप्रदेश के रायपुर जिले के गिरोद नामक ग्राम के रहनेवाले थे। ये जाति के चमार थे। इन्होने ही छत्तीसगढ़ में सत्तनामी मत का प्रचार किया था। कहा जाता है कि ये एक वार अपने भाई के साथ जगन्नाथपुरी की यात्रा हेतु जा रहे थे। मार्ग में किसी उत्तर भारतीय सन्त से इनकी भेंट हुई। उस सन्त के उपदेश से प्रभावित होकर ये सत्तनामी हो गये और यात्रा को भंग कर लौट आए। ये जंगलों में रहकर विरक्त की भाँति 'सत्तनाम' 'सत्तनाम' का जप करने लगे। इनकी जाति के लोग इनके पास सत्संग के लिए आने लगे और उन पर इनका इतना प्रभाव पड़ा कि इनके चरणामृत को भी वे लेने लगे। कुछ विद्वानों का विचार है कि घासीदास अपनी युवावस्था में कुछ दिनों के लिए उत्तर भारत गये थे और वहीं से सत्तनामी मत से प्रभावित होकर लौटे थे[1]। जो भी हो, किन्तु इतना सत्य है कि घासीदास पर उत्तर भारतीय सत्तनामी मत का प्रभाव पड़ा था और ये सम्भवतः जगजीवन साहब की शिष्य-परम्परा के सन्त पहलवानदास के समकालीन किसी सत्तनामी सन्त से प्रभावित हुए थे। ये सत्तनाम को निर्गुण और निराकार मानते थे तथा जातिभेद, मूर्ति-पूजा, कर्म-काण्ड आदि के विरोधी थे। गीरोद के मन्दिर में किसी भी मूर्ति की स्थापना नहीं की

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५५३।

गयी है। घासीदास का देहान्त सन् १८५० में अस्सी वर्ष की आयु में हुआ था। इनके पश्चात् क्रमशः बालकदास, अगरदास, अगरमानदास और अजबदास छत्तीसगढ़ी सत्तनामी सम्प्रदाय के उत्तराधिकारी हुए।

उत्तर भारत के सत्तनामी जाट, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि सभी जातियों के थे, किन्तु छत्तीसगढ़ के केवल चमार ही सत्तनामी धर्म मानते थे। आजकल उत्तर भारत की सत्तनामी-परम्परा नाममात्र के लिए केवल कुछ सन्तों तक ही सीमित है, किन्तु छत्तीसगढ़ी परम्परा इस समय भी उन्नतिशील है। छत्तीसगढ़ के चमार प्रायः कबीरपन्थी या सत्तनामी हैं, जो अब धीरे-धीरे बौद्धधर्म की ओर आकर्षित होते जा रहे हैं। परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि छत्तीसगढ़ी सत्तनामी सम्प्रदाय की स्थापना ई० सन् १८२० से १८३० के बीच किसी समय हुई थी[1]। इस प्रकार छत्तीसगढ़ में लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक निर्गुण-उपासना एवं सत्तनाम का प्रचारक यह सत्तनामी सम्प्रदाय अब पुनः अपने वास्तविक इष्टदेव 'सच्चनाम' (=बुद्ध) की ओर अग्रसर हो रहा है।

धरनीश्वरी सम्प्रदाय

धरनीदास एक उच्चकोटि के सन्त, कवि और भक्त थे। ये छपरा जिलान्तर्गत मांझी ग्राम के रहनेवाले थे। ये कायस्थ जाति के थे[2]। इनका विवाह चकिया में हुआ था। इनके दो पुत्र और चार पुत्रियाँ थीं। पहले ये किसी जमींदार के यहाँ लिखने-पढ़ने का कार्य करते थे, किन्तु सन् १६५६ में इनके पिता के देहावसान के पश्चात्[3] इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो आया और इन्होंने जमींदार के यहाँ से यह कहते हुए नौकरी त्याग दी और संन्यास ले लिया—

अब मोहि रामनाम सुधि आई।
लिखनी ना करौं रे भाई[4]॥

इन्होंने पहले चन्द्रदास से दीक्षा ली थी और सेवानन्द से संन्यास ग्रहण किया था। तदुपरान्त सद्गुरु की खोज में मुजफ्फरपुर जिले के पातेपुर नामक ग्राम में विनोदानन्द सन्त के पास जाकर इन्होंने साधना सीखी एवं सिद्धि प्राप्त की। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक घटनाएँ प्रसिद्ध हैं। धरनीदास ने अपने गुरु विनोदानन्द को सन्त रामानन्द की परम्परा का

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५५३।

२. 'जग में कायथ जाति हमारी'। —धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ ३।

३. संमत सत्रह सौ चलि गैऊ। तेरह अधिक ताहि पर भैऊ॥
शाहजहां छोड़ी दुनियाई। पसरो औरंगजेब दुहाई॥
सोच विसारि आत्मा जागी। धरनी धरेउ भेप वैरागी॥
—धरनीदासकृत प्रेमप्रकाश।

४. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ १।

बतलाया है। इन्होंने अपनी रचनाओं में पीपा, कबीर, गोरखनाथ, मीरा, नामदेव, जयदेव, रैदास, सेन, धन्ना, चतुर्भुज, नानक आदि सन्तों के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है और उन्हें मोह-माया से रहित ज्ञान-प्राप्त सन्त कहा है[1]। इससे जान पड़ता है कि धरनीदास के गुरु विनोदानन्द यदि रामानन्दी-परम्परा के होंगे, तो भी वे निर्गुणी-उपासना से प्रभावित सन्तों से ही सम्बन्धित होंगे, क्योंकि उनकी वाणी मे उक्त निर्गुणी सन्तों के प्रायः सभी तत्व विद्यमान है।

कहते है कि धरनीदास पातेपुर से लौटकर अपने जन्म-स्थान मे चले आए थे और वहीं एक कुटी बनवा कर रहते थे। इनके भक्तों एवं दर्शनार्थियों की संख्या बहुत बड़ी थी। इनके सम्बन्ध में अनेक अद्भुत बातों को सुनकर लोग दर्शनार्थ आया करते थे। जनश्रुति है कि अपने अन्तिम दिन धरनीदासजी गंगा-स्नान के लिए गये और गंगा के जल पर चादर बिछाकर ध्यानावस्थित हो बैठ गये। धार के साथ उन्हें बहते हुए कुछ दूर तक भक्तों ने देखा। उसके पश्चात् वे एक अग्नि-पुंज होकर अदृश्य हो गये और फिर तब से नहीं दिखाई दिये। भक्तों ने उनकी समाधि मांझी ग्राम मे बनाई। वहाँ उनकी एक गद्दी आजतक चली आ रही है। परसा, पंचलक्खी और ब्रह्मपुर के मठ उन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा संस्थापित हैं।

धरनीदास द्वारा लिखित प्रेमप्रकाश, शब्दप्रकाश और रत्नावली नाम से तीन ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं। इनमें से शब्दप्रकाश का प्रकाशन सन् १८८७ मे छपरा से हुआ था। "धरनीदासजी की बानी" नाम से इनकी वाणियों का एक संग्रह प्रयाग से भी प्रकाशित है। अन्य ग्रन्थ अभी तक हस्तलिखित ही हैं। इनकी रचनाओं में खसम-भावना,[2] सुरति,[3] दया,[4] सन्त,[5] नाम-महिमा,[6] सतगुरु,[7] अलख,[8] बाह्य-पूजा व्यर्थ,[9] अमरपद,[10] अनाहद,[11] नाम-स्मरण,[12] साधु-सत्संग,[13] गुरु-माहात्म्य,[14] निर्वाण,[15] शून्य-शिखर,[16] परमपद,[17] गगन-गुफा,[18] अभयपुर,[19] कर्म-काण्ड का निषेध,[20] घट-घट व्यापी राम,[21] कर्म-स्वकता,[22] शरणागति,[23]

---

१. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ १३. २३।
२. वही, पृष्ठ १, ४, १४।
३. वही, पृष्ठ ३, २७।
४. वही, पृष्ठ ३।
५. वही, पृष्ठ ३, १६।
६. वही, पृष्ठ ३।
७. वही, पृष्ठ ५, २१, २६, ४७, ५३।
८. वही, पृष्ठ ५।
९. वही, पृष्ठ ६।
१०. वही, पृष्ठ ६।
११. वही, पृष्ठ ७, १५, २४, ३८।
१२. वही, पृष्ठ ११, १५, १६, ४४।
१३. वही, पृष्ठ ११, १५, २४।
१४. वही, पृष्ठ ११।
१५. वही, पृष्ठ १४, ३४।
१६. वही, पृष्ठ १५।
१७. वही, पृष्ठ १५, २१।
१८. वही, पृष्ठ १५, ३८।
१९. वही, पृष्ठ १७, ३७, ३९।
२०. वही, पृष्ठ २०, ३०।
२१. वही, पृष्ठ २१, २९।
२२. वही, पृष्ठ २२।
२३. वही, पृष्ठ २३, २८।

तीर्थ-व्रत-मूर्तिपूजा आदि का बहिष्कार,[1] निर्गुण,[2] सत्त-सुकृति-सन्तोष,[3] अन्तर्यामी,[4] निरंजन,[5] अभयपद,[6] दसमद्वार,[7] शून्य,[8] पद-निर्वाण,[9] जाति-भेद निषेध,[10] सुरति-निरति,[11] पूर्वजन्मकृत पुण्य,[12] मनुष्यजीवन की दुर्लभता,[13] नाड़ियों की साधना,[14] गगन-मण्डल,[15] शून्य-भवन,[16] सहज,[17] आचरण की श्रेष्ठता,[18] कामिनी-त्याग,[19] आदि बौद्धधर्म के तत्व विद्यमान है। इससे भी प्रगट है कि सन्त धरनीदास को कबीर, रैदास आदि सन्तों द्वारा अंगीकृत बौद्ध-प्रभाव उत्तराधिकार की भांति प्राप्त हुए थे। 'जौं लगि निरगुन पंथ न सूझै, काज कहा महि मंडल दौरे[20]" कहकर धरनीदास ने निरंजन-पद की प्रशंसा की है और "तत्तु निरंजन सबके संगा[21]" कहकर उसे ही मुक्ति का साधन माना है—

नाम निरंजन करो उचारा।
नाम एक संसार उबारा॥
नाम नाव चढ़ि उतरहि दासा।
नाम बिहूने फिरहिं उदासा[22]॥

धरनीदास ने निरंजन, निर्गुण, राम, सत्त आदि इन सभी को सर्वव्यापी निराकार परमात्मा का नाम माना है और रामनाम की महिमा गाते हुए उसे सुखदायी कहा है—

राम नाम सुमिरो रे भाई।
राम नाम सन्तन सुखदाई॥
राम कहत जम निकट न आवै।
रिग यजु साम अथर्वन गावै[23]॥

कबीर आदि सन्तों तथा सरह आदि सिद्धों की भांति धरनीदास ने कर्मकाण्ड की तुच्छता पर बड़ा मार्मिक प्रकाश डाला है और सन्तज्ञान का माहात्म्य बतलाया है—

---

१. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ २३, ३०, ३२।
२. वही, पृष्ठ २४।
३. वही, पृष्ठ २५।
४. वही, पृष्ठ २९।
५. वही, पृष्ठ ३२, ३३, ४१, ५२।
६. वही, पृष्ठ ३२।
७. वही, पृष्ठ ३५।
८. वही, पृष्ठ ३५, ३८।
९. वही, पृष्ठ ३६।
१०. वही, पृष्ठ ३७।
११. वही, पृष्ठ ३७, ४४।
१२. वही, पृष्ठ ३९।
१३. वही, पृष्ठ ४३।
१४. वही, पृष्ठ ४७।
१५. वही, पृष्ठ ४७।
१६. वही, पृष्ठ ४७।
१७. वही, पृष्ठ ४७।
१८. वही, पृष्ठ ५८।
१९. वही, पृष्ठ ५८।
२०. वही, पृष्ठ २४।
२१. वही, पृष्ठ ५२।
२२. वही, पृष्ठ ४२।
२३. वही, पृष्ठ ४४।

किया षट कर्म तन दया नहिं धर्म तजो नहिं भर्म किमि कर्म छूटै।
दियो बहु दान करि विविध विधान मन बढ़ो अभिमान जम प्रान लूटै ।।
जग्य अरु जोग तप तीरथ व्रत नेम करि बिना प्रभुप्रेम कलिकाल कूटै ।
दास धरनी कहै कौन बिधि निर्बहै जबै गुरुज्ञान तब गगन फूटै[१] ।।

धरनीदास के देहावसान के पश्चात् क्रमशः अमरदास, मायाराम, रतनदास, बालमुकुंद-दास, रामदास, सीतारामदास, हरनन्दनदास तथा सन्त रामदास धरनीश्वरी सम्प्रदाय के साधु हुए। मांझी इस सम्प्रदाय की प्रधान गद्दी मानी जाती है और "धरनीश्वर के द्वारे" में उनके भजन के स्थान पर धरनीदास का खड़ाऊँ रखा रहता है। उत्तर प्रदेश के बलिया जिले में इस सम्प्रदाय के अनुयायी वहुत बड़ी संख्या में हैं। परसा मठ के संस्थापक सन्त चैनराम बलिया जिलान्तर्गत सहतवार के पास स्थित बधाँव ग्राम के रहनेवाले थे, अतः बलिया के भक्तों का सम्बन्ध परसा के मठ से ही अधिक है। चैनराम धरनीदास के शिष्य रामप्रसादीदास के शिष्य थे। उनका देहान्त सन् १७८८ में हुआ था। इनकी भी शिष्य-परम्परा बलिया में पाई जाती है। ये एक उच्चकोटि के प्रसिद्ध सन्त थे।

दरियादास और दरियादासी सम्प्रदाय

सन्त-साहित्य में दो दरिया नामक सन्त प्रसिद्ध हैं। ये दोनों समकालीन थे। एक बिहार राज्य के रहनेवाले थे और दूसरे मारवाड़ (राजस्थान) के। इनमें बिहारवाले दरिया साहब की रचनाएँ अधिक एवं साहित्यिक हैं तथा मारवाड़वाले की रचनाएँ अल्प और साहित्यिकता से रहित हैं। प्रसिद्धि में भी बिहारी दरिया साहब मारवाड़वाले से बढ़कर हैं और आयु एवं शिष्य-संख्या में भी वे आगे बढ़े हुए हैं, फिर भी इन दोनों सन्तों पर बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा हुआ था और ये दोनों ही मुसलमान से सन्त हुए थे। अतः इन दोनों की रचनाओं तथा साम्प्रदायिक स्थिति के सम्बन्ध में अलग-अलग विचार करेंगे।

बिहारी दरियादास

बिहारी दरियादास का जन्म बिहार राज्य के धरकंधा नामक ग्राम में हुआ था। विद्वानों ने इनकी जन्म-तिथि ई० सन् १६७४ और निधन-तिथि सन् १७८० माना है[२]। ये दर्जी-कुल में उत्पन्न हुए थे। दरियादासी सम्प्रदायवाले मानते हैं कि दरियादास के पूर्वज उज्जैन से बिहार में आकर बस गये थे और वे क्षत्रिय जाति के थे[३]। हमारा मत है कि दरियादास वास्तव में मुसलमान ही थे। उनके हिन्दू-शिष्यों ने उन्हें भी हिन्दू-परम्परा का होने का प्रचार अपने गौरवमात्र के लिए किया है। दरियादास का विवाह नौ वर्ष की ही

१. धरनीदासजी की बानी, पृष्ठ ३०।
२. दरिया ग्रन्थावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ५, उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९६, हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि, पृष्ठ ४८।
३. दरिया ग्रंथावली, प्रथम भाग, पृष्ठ ९।

अवस्था में हो गया था। उनकी पत्नी का नाम शाहमती था। वे बीस वर्ष की आयु में वैराग्य ले लिए थे, किन्तु उनकी पत्नी सदा उनके साथ रही[१]। टेकदास नामक उन्हें एक पुत्र था। उसके सम्बन्ध में भी कथा प्रचलित है कि वह दरियादास का औरस पुत्र न होकर धर्मपुत्र था, क्योंकि वे स्त्री-संसर्ग से सदा वंचित रहे,[२] किन्तु अन्तस्साक्ष्य से प्रमाणित है कि दरियादास एक पुत्र के जन्म के उपरान्त संन्यास के पक्ष में थे, वे उसी को अपने सम्प्रदाय का मानने के लिए तैयार थे, जो सदा मोह-माया में न रहकर वंश चलाने के लिए पुत्र के उत्पन्न होने के उपरान्त गृहत्याग दे—

जो जिव फंदे नारि सो, सो नहिं वंस हमार।
वंस राखि नारि जो त्यागे, सो उतरं भवपार[३]॥

फ्रांसिस बुकानन ने लिखा है कि मीर कासिम ने दरियादास पर प्रसन्न होकर उन्हें एक सौ एक बीघा भूमि को दान में दिया था,[४] वह भूमि धीरे-धीरे और भी बढ़ गयी थी और दरियादास वहीं धरकंधा में रहकर जीवन-पर्यन्त सत्संग आदि में संलग्न रहे। कुछ दिनों के लिए इन्होंने काशी, मगहर, बाईसी, हरदी और लहठान की भी यात्राएँ की थीं। इनके प्रधान शिष्यों की संख्या छत्तीस बताई जाती है, जिनमें दलदास सर्वाधिक प्रसिद्ध थे।

दरियादास द्वारा लिखित बीस ग्रन्थ कहे जाते हैं,[५] जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं—अग्रज्ञान, अमरसार, भक्तिहेतु, ब्रह्मचैतन्य, ब्रह्मविवेक, दरियानामा, दरियासागर, गणेश-गोष्ठी, ज्ञानदीपक, ज्ञानमूल, ज्ञानरत्न, ज्ञानस्वरोदय, कालचरित्र, मूर्तिउखाड़, निर्भयज्ञान, प्रेममूल, शब्द या बीजक, सहसरानी (सहस्रानी), विवेकसार और यज्ञसमाधि। इनके अतिरिक्त ब्रह्मज्ञान, गर्भचितावन, रामेश्वरगोष्ठी, संतसैया, पारसरत्न, ज्ञानचुम्बकसार आदि ग्रंथ भी दरियादास के लिखे बतलाए जाते हैं[६]। इनमें से दरियासागर, ज्ञानरत्न, ज्ञानसरोद, भक्तिहेतु, ब्रह्मविवेक और ज्ञानमूल—इन छः ग्रंथों का प्रकाशन दरियाग्रन्थावली के अन्तर्गत बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् से हुआ है तथा दरियासागर, ज्ञानदीपक और "दरियादास की चुनी हुई बानी" का भी प्रकाशन प्रयाग से। इनकी रचनाओं को देखने से ज्ञात होता है कि इन पर कबीर साहब का बहुत अधिक प्रभाव पड़ा था। ये अपने को कबीर का अवतार तक मानते थे और यह भी कहते थे कि मैं वही बात कह रहा हूँ जिसे कि कबीर साहब ने कही है[७]।

---

१. दरिया ग्रंथावली, भाग १, पृष्ठ २२।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५६९।
३. दरिया ग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ २२।
४. वही, भाग १, पृष्ठ २४।
५. दरियाग्रंथावली, भाग १, पृष्ठ ३७।
६. वही, पृष्ठ ३७–३९।
७. सोइ कहौं जो कहहिं कबीरा।
दरियादास पद पायो हीरा॥ —दरियासागर, पृष्ठ ८०।

ऐसे ही इन्होंने जयदेव,[१] मत्स्येन्द्रनाथ,[२] गोरखनाथ,[३] नामदेव,[४] कमाल,[५] कमाली,[६] नानक,[७] मीरा,[८] तुरसी,[९] मलूक[१०] आदि सन्तों का भी स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है। इनमें भी नामदेव, कबीर और मत्स्येन्द्रनाथ को कलियुग का जागरूक ज्ञानी कहा है[११]। इससे प्रकट है कि पूर्ववर्ती निर्गुण सन्तों का प्रभाव दरियादास पर प्रधान रूप से पड़ा था और यही कारण है कि बौद्धधर्म के वे सभी प्रभाव इनकी रचनाओं मे दिखाई देते हैं, जो पूर्व के सन्तों में विद्यमान थे। सतगुरु,[१२] सत्तनाम,[१३] अमरलोक,[१४] सुरति,[१५] कनक-कामिनी-त्याग,[१६] तीर्थ-व्रत-निषेध,[१७] काया ही मठ,[१८] अभयलोक,[१९] मनप्रधान,[२०] सत्तलोक,[२१] माला-छापा-तिलक व्यर्थ,[२२] अनहद,[२३] खसम-भावना,[२४] अमरपद,[२५] निर्गुण,[२६] ग्रंथ-प्रमाण-त्याज्य,[२७] निर्वाण,[२८] सर्वज्ञ,[२९] साधु-संगति,[३०] सत्त,[३१] निरति-सुरति,[३२] हठयोग,[३३] पद-निर्वाण,[३४] लोकवेद का त्याग,[३५] नाम-

---

१. शब्द १८।२८, ४२।३।

२. वही, १८।१५, ५०।१ ; ज्ञानरत्न ७२।१–८।

३. वही, १८।१५, १८।२८, ५०।१ ; ज्ञानरत्न ७२।१–८।

४. वही, ४।१०, १२।९, १८।४१, ५०।१ ; सहसरानी २९३, २९५।

५. वही, १।१०८, ४।११, ७।५, ७।८ ; दरियासागर ८२।३, ९८।२ तथा ९८।८।

६. सहसरानी १०३४, १०३६।

७. शब्द ४२।३ ; सहसरानी २९२, २९५।

८. शब्द २।२०, २२।९, ५०।१।

९. शब्द २०।१७, ४२।३। सहसरानी १२०, ३४८, ३५६, ७१३।

१० शब्द ४२।३। सहसरानी १२०।

११. नामदेव कलि जागे ऐसे, दास कबीर ग्यान मुख जैसे।
मच्छीन्द्र जागे सब केहु जाना, सतगुर भेद बिरले पहचाना॥
—ग्यानरतन, पृष्ठ १९२।

१२. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १२१। १३. वही, पृष्ठ १२१।

१४. वही, पृष्ठ १२१। १५ वही, पृष्ठ १२२।

१६. वही, पृष्ठ १२२। १७. वही, पृष्ठ १२२।

१८. वही, पृष्ठ १२३। १९. वही, पृष्ठ १२३।

२० वही, पृष्ठ १२४। २१. वही, पृष्ठ १२५।

२२. वही, पृष्ठ १२२।

२३. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १३८।

२४. वही, पृष्ठ १३८। २५. वही, पृष्ठ १३९।

२६. वही, पृष्ठ १४०। २७. वही, पृष्ठ १४०।

२८. वही, पृष्ठ १४०। २९. वही, पृष्ठ १४०।

३०. वही, पृष्ठ १४१। ३१. वही, पृष्ठ १४१, १४२।

३२. दरियाग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ५। ३३. दरियासागर, पृष्ठ ५।

३४. वही, पृष्ठ ९। ३५. वही, पृष्ठ ९।

स्मरण,[१] कर्मकाण्ड-निषेध,[२] आवागमन,[३] निरंजन,[४] कर्म-स्वकता,[५] जातिभेद-त्याग[६] आदि बौद्धधर्म के प्रभाव के ही द्योतक हैं। डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री ने लिखा है कि दरियादास ने वज्रयानी बौद्धों और नाथपन्थी योगियों से हठयोग, रहस्यवाद तथा जात-पाँत एवं कर्म-काण्ड के विरुद्ध पैनी उक्तियाँ ग्रहण की हैं,[७] किन्तु हम देखते हैं कि इनके अतिरिक्त गुरु-भक्ति, साधु-संगति, अहिंसा, सदाचार, वेदादि ग्रंथों का निषेध आदि भी ऐसी बातें हैं, जिनका दरियादास पर गहरा प्रभाव पड़ा था। ये सत्तनाम के बड़े भक्त थे। इनका कहना था कि सत्तनाम एक ऐसी सार वस्तु है, जिससे अमरलोक को प्राप्त किया जा सकता है और उस सत्तनाम को प्राप्त करने के लिए सतगुरु होना अनिवार्य है—

सत्तनाम निजु सार है, अमरलोक के जाए।
कहै दरिया सतगुरु मिलै, संसै सकल मेटाए[८] ॥

दरियादास कर्म-काण्ड, माला-वेश-भूषा आदि के फेर में न पड़कर निरंजन का भजन करने का उपदेश देते थे। इनका मत था कि सत्तनाम भी निर्गुण है और निर्गुण की गति अगम्य एवं अचिन्त्य है—

माला टोपी भेख नहिं, नहिं सोना सिंगार।
सगा भाव सत्संग है, जो कोइ गहै करार[९] ॥
सत्तनाम निरगुन अधारा, ताको काल न करै अहारा[१०]।
सत्तनाम निजु प्रेम लगावै, सार सबद सो परगट पावै।
अभैलोक सतगुरु की बानी, आवागमन मेटै सो प्रानी[११]।
सुनहु ग्यान गति कंठ उचारा, निरगुन की गति अगम अपारा[१२]।

दरियादासी सम्प्रदाय के अनुयायी उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों तथा बिहार मे अधिक पाये जाते हैं। इनकी प्रधान गद्दी धरकंधा मे ही है। उसके अतिरिक्त तेलपा या तलैयादेसी, वंशी मिर्जापुर (जि० सारन) और मनुवाँ चौकी (जि० मुजफ्फरपुर) में भी चार मठ हैं। इस पन्थ के अनुयायी 'सत्तनाम' के प्रति बड़ी श्रद्धा रखते हैं। साथ ही कबीर साहब इनके परम आदर्श हैं। दरियादास का अपने शिष्यों को आदेश है कि जिस परमतत्व को कबीर ने प्राप्त किया था, उसे ही तुम भी ढूँढ़ो और सदा उसी के लिए चिन्तन करो—

ताहि खोजु जो खोजहिं कबीरा।
बइठि निरन्तर समय गंभीरा[१३] ॥

---

१. दरियासागर, पृष्ठ १४।
२. वही, पृष्ठ १४।
३. वही, पृष्ठ १५।
४. वही, पृष्ठ २२।
५. वही, पृष्ठ १०३।
६. वही, पृष्ठ ८६।
७. दरियाग्रंथावली, भाग २, पृष्ठ ११।
८. दरियासागर, पृष्ठ २१।
९. वही, पृष्ठ २३।
१०. वही, पृष्ठ २१।
११. वही, पृष्ठ १५।
१२. दरियासागर, पृष्ठ १५।
१३. वही, पृष्ठ ४८।

परशुराम चतुर्वेदी का कहना है कि दरियादास पर कबीर साहब से अधिक कबीर-पंथ का ही प्रभाव पड़ा था[१] और यह यथार्थ है, क्योंकि दरियादास का जिन सन्तों से अधिक सम्पर्क हो सका था उनमें कबीरपन्थी अधिक रहे होंगे। इन्होंने अपने गुरु का नाम 'सत्तपुरुष' या 'परमपुरुष' बतलाया है, किन्तु ऐसा जान पड़ता है कि कबीरपन्थ से ही इन्हें निर्गुण-तत्व की साधना प्राप्त हुई थी, यों तो इन पर प्रायः सभी पन्थों का कुछ-न-कुछ प्रभाव पड़ा था, किन्तु सन्त-परम्परा द्वारा गृहीत बौद्धतत्वों का प्रभाव भी इन पर पर्याप्त पड़ा था, जिसका वर्णन ऊपर किया गया है। इनके 'स्वरोदय' नामक ग्रंथ मे वर्णित आश्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया भी बौद्ध 'आनापानसति' का ही दरियादासी स्वरूप है।

मारवाड़ी दरियादास

मारवाड़ी दरियादास ने जैतारन ग्राम में सन् १६७६ में एक धुनियाँ के घर जन्म लिया था[२]। ये जब सात वर्ष के ही थे कि इनके पिता का देहान्त हो गया था। तत्पश्चात् ये अपने नाना कमीच के पास रैन नामक ग्राम में चले गये। वहीं इन्होंने बीकानेर के खियानसर निवासी प्रेमदयाल से दीक्षा ग्रहण की। कहा जाता है कि दरियादास सन्त दादूदयाल के अवतार थे[३]। इससे जान पड़ता है कि इनके गुरु प्रेमदयाल सम्भवतः दादूपन्थी थे। दरियादास ने भी कबीर और दादू के प्रति बड़ी श्रद्धा व्यक्त की है—

सोई पंथ कबीर का, दादू का महराज।
सब सन्तन का बालमा, दरिया का सिरताज[४]॥

जनश्रुति है कि मारवाड़ प्रदेश के शासक महाराज बखतसिंह दरियादास के व्यक्तित्व एवं चमत्कार से प्रभावित होकर इनके शिष्य हो गये थे[५]। ई० सन् १७५८ में दरियादास का ८२ वर्ष की आयु में देहान्त हुआ था।

दरियादास की बहुत थोड़ी रचनाएँ प्राप्त हुई हैं। इनकी रचनाओं का एक संग्रह प्रयाग से प्रकाशित है। इनकी वाणी को देखने से ज्ञात होता है कि ये सन्त-परम्परा के एक उच्चकोटि के निर्गुणी सन्त थे। इन्होंने जिस साधना-मार्ग का उपदेश दिया, वह पूर्ववर्ती सन्तों से भिन्न नहीं था और इन पर भी बौद्ध-प्रभाव अन्य सन्तों की ही भाँति पड़ा था।

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५७५।
२. जो धुनियाँ तौ भी मैं राम तुम्हारा।
अधम कमीन जाति मति हीना, तुम तो हौ सिरताज हमारा॥
—दरियासाहब की बानी, पृष्ठ १।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५७९।
४. दरियासाहब की बानी, पृष्ठ २।
५. सन्तमाल, पृष्ठ २०८।

इनकी वाणी में भी उन्हीं के समान सतगुरु,[१] कर्म-स्वकता,[२] शून्य,[३] नाम-स्मरण,[४] परमपद,[५] आवागमन,[६] सत्त,[७] साधु-महिमा,[८] गुरु-माहात्म्य,[९] अनहद,[१०] निर्वाण,[११] निर्गुण,[१२] खसम-भावना,[१३] नाम-महिमा,[१४] गगन-मण्डल,[१५] सुरति,[१६] राम की घट-घट व्यापकता,[१७] ग्रंथ-प्रमाण का निषेध,[१८] पद-निर्वाण[१९] आदि बौद्ध-तत्व आए हुए हैं। इनमें अपनी यह भी विशेपता है कि स्त्री की निन्दा न कर इन्होंने उन लोगों की ही निन्दा की है और उन्हें मूर्ख कहा है, जो कि स्त्री की निन्दा करते और उसे दोपी ठहराते हैं—

नारी जननी जगत की, पाल पोस दे पोप।
मूरख राम बिसार कर, ताहि लगावै दोप[२०] ॥

दरियादास के प्रधान शिष्य सुखरामदास थे। ये भी वहुत प्रसिद्ध थे। रैन ग्राम में अबतक इनकी समाधि के पास मेला लगता है। मारवाड़ी दरियादास के अनुयायी राजस्थान में पाये जाते हैं, किन्तु इनकी संख्या अधिक नहीं है।

शिवनारायणी सम्प्रदाय

सन्त शिवनारायण की जन्म-तिथि तथा निधन-तिथि की निश्चित जानकारी अभी तक नहीं हो सकी है। इन्होंने अपने ग्रंथ 'गुरु अन्यास' की रचना सन् १७३४ में की थी। इससे अनुमान किया जा सकता है कि इनका जन्म ग्रन्थ-रचना से ३०-४० वर्ष पहले हुआ होगा। मूलग्रंथ में जन्म-तिथि सन् १७१६ दी गई है, किन्तु वह मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि केवल १८ वर्ष की अवस्था में 'गुरु अन्यास' जैसे ग्रंथ की रचना सम्भव नहीं हो सकती। शिवनारायण के पूर्वज कन्नौज की ओर से आकर बलिया[२१] जिलान्तर्गत चन्दवार नामक ग्राम में बस गये थे। वहीं नरौनी क्षत्रिय बाघराय की पत्नी से इनका जन्म हुआ था। इनके गुरु दुःखहरन नामक सन्त थे, जो वलिया जिले के ससना बहादुरपुर ग्राम के रहनेवाले थे।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १२६।
२. वही, पृष्ठ १२६।
३. वही, पृष्ठ १२६।
४. वही, पृष्ठ १२७।
५. वही, पृष्ठ १२७।
६. वही, पृष्ठ १२७।
७. वही, पृष्ठ १२८।
८. वही, पृष्ठ १२९।
९. वही, पृष्ठ १२९।
१०. वही, पृष्ठ १३१।
११. वही, पृष्ठ १३१।
१२. वही, पृष्ठ १३१।
१३. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १४२, १४३।
१४. वही, पृष्ठ १४२।
१५. वही, पृष्ठ १४३।
१६. वही, पृष्ठ १४३।
१७. वही, पृष्ठ १४४।
१८. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४४७।
१९. वही, पृष्ठ ४५०।
२०. दरियासाहब की बानी, पृष्ठ ४३।
२१. पहले चन्दवार गाजीपुर जिले में पड़ता था।

सन्त शिवनारायण के सम्बन्ध में बहुत कम विदित हो पाया है। कहा जाता है कि वे दीक्षित होकर धर्म-प्रचार-कार्य में लग गये थे। उन्होंने आगरा, दिल्ली आदि नगरों में जाकर उपदेश दिया। मुहम्मदशाह भी उनसे बहुत प्रभावित हुआ था। उसने प्रसन्न होकर धर्म-प्रचारार्थ अनुज्ञा-स्वरूप एक मुहर भी प्रदान की—

मोहम्मदशाह को शब्द सुनाये।
मोहर लेकर पन्थ चलाये[१]॥

ये भी विवाहित सन्त थे। इनकी स्त्री का नाम सुमति कुँवरि तथा पुत्र और पुत्री के नाम क्रमशः जैमल और सलीता थे। इनके धर्म का प्रचार चार प्रमुख शिष्यों ने किया। स्वयं इन्होंने भी सम्पूर्ण उत्तरी भारत की यात्रा की थी और अपने धर्म का प्रवचन कर लोगों को प्रभावित किया था। कहा जाता है कि शिवनारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी बर्मा, अदन, बिलोचिस्तान आदि देशों में भी हैं। बलिया, गाजीपुर, वाराणसी, मिर्जापुर, आजमगढ़ आदि उत्तर प्रदेश के पूर्वी जिलों में इनकी संख्या अधिक है।

सन्त शिवनारायण के १६ ग्रंथ प्रसिद्ध हैं, किन्तु अभीतक 'गुरु अन्यास' और 'शब्दावली' इन दो ग्रंथों का ही प्रकाशन हुआ है। शिवव्रतलाल ने ११ ग्रंथों के नाम इस प्रकार दिये हैं—ग्रंथ, सन्त विलास, भजन ग्रंथ, सन्त सुन्दर, गुरुन्यास, सन्त अचारी, सन्त उपदेश, शब्दावली, सन्त परवान, सन्त महिमा तथा सन्तसागर[२]। इनके अतिरिक्त सवाल-जवाब, टीका, लालग्रंथ आदि भी नाम इनके ग्रंथों के पाये जाते हैं, किन्तु इनकी प्रामाणिकता के सम्बन्ध में कुछ कह सकना सम्भव नहीं है। इनकी वाणी पर भी बौद्ध-प्रभाव पड़ा दीखता है। इनके गुरु दुःखहरन सन्तमत के ही सन्त थे और यही कारण है कि उनके शिष्य पर निर्गुण सन्तों की सभी साधनाओं एवं प्रवृत्तियों का प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में आए हुए सुरति,[३] आवागमन,[४] काया-तीर्थ,[५] काया-मठ,[६] अनहद,[७] हठयोग,[८] अनित्यता,[९] ग्रंथ-प्रमाण अग्राह्य,[१०] तीर्थ-यात्रा-मूर्ति-पूजा-मौन-व्रत आदि का निषेध,[११] कर्म-स्वकता,[१२] कर्म-काण्ड का त्याग,[१३] समता,[१४] नाम-महिमा,[१५] सन्त,[१६] गुरु-माहात्म्य,[१७] खसम-भावना[१८] आदि बौद्धधर्म के तत्व बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। सिद्धों-नाथों की भाँति सन्त शिवनारायण ने वेद-पुराण ग्रंथों को

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९३।
२. सन्तमाल, पृष्ठ २६५—२६६।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४८२।
४. वही, पृष्ठ ४८२।
५. वही, पृष्ठ ४८२।
६. वही, पृष्ठ ४८२।
७. वही, पृष्ठ ४८३।
८. वही, पृष्ठ ४८४।
९. वही, पृष्ठ ४८४।
१०. सन्तमाल, पृष्ठ ४८४।
११. वही, पृष्ठ ४८५।
१२. वही, पृष्ठ ४८५।
१३. वही, पृष्ठ ४८५।
१४. वही, पृष्ठ ४८६।
१५. वही, पृष्ठ ४८६।
१६. वही, पृष्ठ ४८६।
१७. वही, पृष्ठ ४८१।
१८. वही, पृष्ठ ४८३।

प्रमाण नहीं माना है और भगवान् बुद्ध के समान ही इनमें भटकनेवालों को अज्ञानी बतलाया है—

वेद पुरान बरन बहु बरनत, भिन्न भिन्न करि भाग।
सो सुनि भूले मुरुख गँवारा, भटकत फिरहिं जगत भलिभँतिआ[1] ॥

इसी प्रकार मूर्ति-पूजा आदि को मिथ्या-कर्म कहा है —

तीरथ जाके पाहन पूजे, मौनी ह्वै के ध्यान धरो।
शीवनरायन ई सभ झूठा, जब लग मन नहिं हाथ करो[2] ॥

घट में ही गंगा-यमुना-सरस्वती विद्यमान हैं, अन्यत्र स्नानार्थ जाने की आवश्यकता नहीं। ऐसे ही माता-पिता सब घट में ही विराजमान है, उनका प्रतिदिन दर्शन अपेक्ष्य है—

सिपाही मन दूर खेलन मत जैये।
घट ही में गंगा घट ही में जमुना, तेहि बिच पैठि नहैये।
अछेहो विरिछ की सीतल जुड़ छहिया तेहि तरे बैठि नहैये ॥
मात पिता तेरे घट ही में निति उठि दरसन पैये।
शिवनारायन कहि समुझावे गुरु के सबद हिये कैये[3] ॥

भगवान् बुद्ध के "अत्तदीपा विहरथ"[4] (=अपने लिए आप द्वीप बनो=आत्मनिर्भर होओ) आदेश के सदृश सन्त शिवनारायण ने भी "आपुही आप निवाह"[5] का उपदेश दिया है।

सन्त शिवनारायण के चार प्रमुख शिष्य रामनाथ, सदाशिव, लखनराय और लेखराज थे। इनके चार मठ 'चारधाम' के नाम से प्रसिद्ध हैं, जो ससना बहादुरपुर, भेलसरी, चन्दवार और गाजीपुर में हैं। इन स्थानों पर शिवनारायणी सम्प्रदाय के अनुयायी प्रति वर्ष माघ सुदी पंचमी के दिन एकत्र होते तथा उत्सव मनाते हैं। पहले इस मत को माननेवाले ऊँची जाति के लोग थे, किन्तु सम्प्रति चमार, दुसाध आदि नीची जाति के लोग ही इस मत के अनुयायी हैं। बम्बई, कानपुर आदि मे भी इनके मठ हैं। ये भगत या सन्त कहलाते हैं और अपने इष्टदेव सन्त शिवनारायण को 'सन्तपति' कहते हैं।

चरणदासी सम्प्रदाय

सन्त चरणदास का जन्म सन् १७०३ मे मेवात के अन्तर्गत डेहरा नामक ग्राम में हुआ था। ये ढूसर वैश्य जाति के थे। इनके पिता का नाम मुरलीधर तथा माता का नाम कुंजो देवी था[6]। इनके बचपन का नाम रणजीत था। इनके पिता धार्मिक व्यक्ति थे। वे समय-

---

१. सन्तमाल, पृष्ठ ४८४।
२. वही, पृष्ठ ४८५।
३. सन्तकाव्य, पृष्ठ ४८२।
४. महापरिनिब्बानसुत्तं, पृष्ठ ६२।
५. सन्त सुन्दर से उद्धृत।
६. सन्त चरनदास—डॉ० त्रिलोकीनारायण दीक्षित, पृष्ठ १६–१७।

समय पर जंगल में जाकर ध्यान-भावना किया करते थे। कहा जाता है कि एक दिन जब वे जंगल में गये तो फिर लौटकर नहीं आये। खोज करने पर केवल उनके पहने हुए वस्त्र ही एक स्थान पर रखे हुए मिले। उस समय चरणदास की आयु लगभग ७ वर्ष की थी। पिता के अदृश्य हो जाने पर ये अपनी माता के साथ ननिहाल दिल्ली चले गये। वहीं इनका पालन-पोषण हुआ। जब ये उन्नीस वर्ष के थे, तब इनकी भेंट शुकदेवदास से हुई और उन्होंने इन्हें दीक्षित कर इनका नाम रणजीत से चरणदास रख दिया। सन्त चरणदास ने दीक्षोपरान्त तीर्थ-यात्रा प्रारम्भ की। फिर ये तीस वर्ष की आयु में दिल्ली लौट आए और वहीं रहकर अपने मत का प्रचार आरम्भ किया। इन्होंने वहीं रहकर लगभग पचास वर्षों तक प्रवचन, सत्संग, समाधि-भावना आदि कार्यों में समय व्यतीत किया। इनके सम्बन्ध में अनेक चमत्कारिक कथायें प्रसिद्ध हैं। कहते हैं कि इन्होंने अपने देहावसान की तिथि तथा समय पहले ही घोषित कर दिया था। दिल्ली में ही अगहन, सुदी ४, सन् १७८२ (सं० १८३९) को इनका देहान्त हुआ था।

सन्त चरणदास ने अपनी रचनाओं के सम्बन्ध में स्वयं लिखा है—"सन् १७२४ की चैत्र पूर्णिमा को सोमवार के दिन मैंने यह विचार किया कि कुछ ग्रंथों की रचना करनी चाहिए। यह निश्चय करके मैंने उसी दिन कुछ बानियाँ बना डालीं। फिर मैंने वैसी ही पाँच हजार बानियाँ लिखीं और गुरु के नाम की गंगा में उन्हें प्रवाहित कर दिया। इसके पीछे मैंने पाँच हजार अन्य पद लिखे, जो तीसरी पाँच हजार रचनाएँ कीं, उन्हें अपने साधुओं को दे दिया[१]।" इससे जान पड़ता है कि ये रचना करने में कितने निपुण थे। इनकी इक्कीस रचनाएँ बतलायी जाती हैं, जिनमें से पन्द्रह ग्रंथों का एक संग्रह बम्बई[२] से प्रकाशित हुआ है और सम्पूर्ण ग्रंथों के संग्रह का प्रकाशन लखनऊ[३] से भी हुआ है। ऐसे ही इनकी वाणियों का एक संग्रह तीन भागों में प्रयाग से[४] भी प्रकाशित हो चुका है। इनके द्वारा रचित ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—ब्रजचरित्र, अमरलोक अखण्डधाम वर्णन, धर्म-जहाज वर्णन, अष्टांगयोग वर्णन, योगसन्देह सागर, ज्ञानस्वरोदय, पंचोपनिषत्, भक्तिपदार्थ वर्णन, मनविकृत-करण गुटकासार, ब्रह्मज्ञानसागर, शब्द, भक्तिसागर, जागरणमाहात्म्य, दानलीला, मटकीलीला, कालीनाथलीला, श्रीधर ब्राह्मणलीला, माखनचोरीलीला, कुरुक्षेत्रलीला, नासकेतलीला और कवित्त। इनमे से अन्तिम नौ ग्रंथों की प्रामाणिकता अभीतक सिद्ध नहीं हो सकी है, किन्तु शेष १२ ग्रन्थों को इन्हीं की रचना सब विद्वान् मानते हैं[५]।

सन्त रामचरण की रचनाओं को देखने से विदित होता है कि इन पर सगुण-निर्गुण दोनों उपासनाओं का प्रभाव पड़ा था, किन्तु ये निर्गुणी सन्त ही थे। अन्य सन्तों की भाँति

---

१. श्री भक्तिसागर ग्रंथ—ज्ञानसरोदय, पृष्ठ १५६।
२. वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई। ३. नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ।
४. वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६०१–६०२।

इन पर भी परम्परागत बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में भी गुरु-माहात्म्य,[१] सतगुरु,[२] जातिभेद-निषेध,[३] साधु-महिमा,[४] खसम-भावना,[५] नाम-स्मरण,[६] अनहद,[७] समाधि,[८] पद-निर्वाण,[९] सत्संगति,[१०] सुरति-निरति,[११] परनारी-त्याग,[१२] क्षमा-शील-सन्तोष-दया आदि गुणधर्म,[१३] हठयोग,[१४] नाम-माहात्म्य,[१५] तप-तीर्थ-व्रत व्यर्थ,[१६] गगन-मण्डल,[१७] दशम्-द्वार,[१८] निर्गुण,[१९] शून्य-शिखर,[२०] तत्त,[२१] आवागमन,[२२] सहज,[२३] ग्रंथ-प्रमाण त्याज्य,[२४] घट ही तीर्थ-स्थान,[२५] अमरपद,[२६] घट ही मठ,[२७] मूर्ति-पूजा-निषेध,[२८] कर्म-काण्ड व्यर्थ,[२९] वेश निरर्थक,[३०] कनक-कामिनी का त्याग,[३१] माला-तिलक से लाभ नहीं,[३२] अनित्यता,[३३] क्षण-भंगुरता,[३४] अवधूत,[३५] शून्य,[३६] निर्वाण,[३७] निराकार[३८] आदि बौद्ध-विचारों के समन्वय तथा प्रभाव दृष्टान्त हैं। इन्होंने भी अपने पूर्ववर्ती कबीर, दादू, धन्ना, नामदेव, सेन, सधना, पीपा, रैदास, जयदेव, मलूक, मोरमाधव, मीरा, त्रिलोचन आदि सन्तों का स्मरण बड़ी श्रद्धा से किया है[३९]। कबीर, नानक आदि के समान इन्होंने भी उन्हीं के स्वर में स्वर मिलाकर

---

१. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृष्ठ १।
२. वही, पृष्ठ २।
३. वही, पृष्ठ २, ८।
४. वही, पृष्ठ १०।
५. वही, पृष्ठ १०–१३, ३३।
६. वही, पृष्ठ १४।
७. वही, पृष्ठ १५, ३५।
८. वही, पृष्ठ १५।
९. वही, पृष्ठ १५, १९, २६।
१०. वही, पृष्ठ १५।
११. वही, पृष्ठ १६।
१२. वही, पृष्ठ २०।
१३. वही, पृष्ठ २५।
१४. वही, पृष्ठ २९।
१५. वही, पृष्ठ ३०।
१६. वही, पृष्ठ ३०।
१७. वही, पृष्ठ ३२, ३६।
१८. वही, पृष्ठ ३२।
१९. वही, पृष्ठ ३४।
२०. वही, पृष्ठ ३६।
२१. वही, पृष्ठ ३७।
२२. वही, पृष्ठ ३७।
२३. वही, पृष्ठ ३९।
२४. वही, पृष्ठ ४७।
२५. वही, पृष्ठ ४७।
२६. वही, पृष्ठ ४८।
२७. वही, पृष्ठ ४८, ४९।
२८. वही, पृष्ठ ५०, ५१।
२९. वही, पृष्ठ ५३।
३०. वही, पृष्ठ ५३।
३१. वही, पृष्ठ ५३, ६६, ७३।
३२. वही, पृष्ठ ५७।
३३. वही, पृष्ठ ६०, ७२।
३४. वही, पृष्ठ ७१, ७६।
३५. चरनदासजी की बानी, भाग २, पृष्ठ १।
३६. वही, पृष्ठ ४।
३७. वही, पृष्ठ ९।
३८ वही, पृष्ठ १६।
३९. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृष्ठ ५४, ५५, ६२, ६३।

गाया है—"सकल पदारथ घट ही माहीं[१]", ऐसे ही निर्गुण की शय्या पर सोकर सभी भयों को दूर करने का उपदेश दिया है,[२] वहाँ तक पहुँचने के लिए गुरु का सहारा अनिवार्य है,[३] अमरपद निर्वाण की प्राप्ति के लिए सभी बाह्य कर्मकाण्डों को त्याग कर नामस्मरण तथा गुरु के माध्यम से साधनारत होना उचित है। इसी प्रकार निर्भय, अभय और अमर निर्वाण-पद का साक्षात्कार सम्भव है। सन्त चरणदास के ये विचार एवं साधना के मार्ग बौद्ध-साधना के सर्वथा अनुरूप एवं उससे प्रभावित हैं, जो उन्हें सन्त-परम्परा से प्राप्त हुए थे।

चरणदासी सम्प्रदाय के ५२ प्रमुख शिष्य-परम्पराएँ तथा शाखाएँ बतलाई जाती हैं। सन्त चरणदास के शिष्यों में मुक्तानन्द, रामरूप, रामसनेही, जोगजीत, सहजोबाई, दयाबाई आदि प्रमुख थे। इनमें सहजोबाई और दयाबाई दोनों महिला सन्त थीं और ये भी डेहरा ग्राम की ही रहनेवाली विदुषी महिला थीं। सहजोबाई का जीवनकाल ई० सन् १६८३-१७६३ माना जाता है तथा दयाबाई का सन् १७१८–१७७३। इन दोनों की रचनाएँ क्रमशः "सहज प्रकाश" और "दयाबोध" प्रसिद्ध हैं। ये दोनों गुरु-बहिनें अपने गुरु की सजातीया थीं। कहा जाता है कि "शब्द" तथा "सोलह तत्व निर्णय" भी सहजोबाई की ही रचनाएँ हैं और ऐसे ही "विनयमालिका" दयाबाई की। चरणदासी [illegible] अधिकतर दिल्ली, उत्तर प्रदेश, पंजाब और राजस्थान में पाये जाते हैं। इनका प्रधान केन्द्र दिल्ली है। वहीं सन्त चरणदास की समाधि बनी हुई है। डेहरा में भी इनकी छतरी है, जहाँ इनकी माला, वस्त्र और टोपी सुरक्षित हैं। वहाँ प्रतिवर्ष वसन्तपंचमी के दिन मेला लगता है[४]।

गरीबदासी सम्प्रदाय

गरीबदास बावरी सम्प्रदाय के अन्तिम प्रसिद्ध सन्त थे। इन्होंने अपने नाम से एक अलग सम्प्रदाय की स्थापना की। इनका जन्म सन् १७१७ में रोहतक जिलान्तर्गत झज्जर तहसील के छुड़ानी ग्राम मे हुआ था। इनके पिता एक जमींदार थे, जो जाट जाति के थे। इनके सम्बन्ध में अनेक प्रकार की किम्वदन्तियाँ एवं अलौकिक चमत्कार की बातें प्रसिद्ध हैं। ये कबीर साहब को अपना गुरु मानते थे, किन्तु इनके गुरु परमपुरुष भी थे, जुलाहा भी थे और परम सन्त कबीर भी थे—

(१) दास गरीब कबीर का चेरा।
सत्त लोक अमरापुर डेरा[५]॥

---

१. चरनदासजी की बानी, भाग १, पृष्ठ ४९।
२. "निरगुन सेज बिछाय सभी करि दूर भय।" —वही, पृष्ठ ३४।
"टुक रंग महल में आव कि निरगुन सेज बिछी।" —वही, भाग २, पृष्ठ ९।
३. "गुरु बिन वह घर कौन दिखावै।" —वही, भाग २, पृष्ठ ४।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ५९९।
५. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १३५।

(२) दास गरीब कबीर का चेला,
ज्यूँ का त्यूँ ठहराना[१]।

(३) दास गरीब कबीर का,
पाया अस्थाना[२]।

(४) गरीबदास जुलहा कहै,
मेरा साध न दहियो कोय[३]।

तात्पर्य यह कि कबीर साहब को अपना मानस-गुरु मानते थे और उन्हें अवतारी पुरुष समझते थे। ऐसा अवतारी पुरुष, जिसने कि हिरण्यकश्यप, रावण आदि दुष्टों को मारकर सन्तों का कल्याण किया[४]। गरीबदास ने उपमास्वरूप अपने को भी कहीं कोली[५], कहीं दलाल[६] आदि भी कहा है। इन्होंने बड़ी श्रद्धापूर्वक बार-बार कबीर, पीपा, नामदेव, धन्ना, रैदास, कमाल, नानक, दादू, हरिदास, सेन, त्रिलोचन, गोरख, जयदेव, रामानन्द, मीरा, केशव, चौरासी सिद्ध आदि[७] सिद्धों, नाथों और सन्तों का स्मरण किया है। इनका प्रभाव भी गरीबदास पर पूर्णरूपेण पड़ा था, जो उनकी वाणियों से स्पष्ट ज्ञात होता है। परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि गरीबदास पर कबीर साहब का ही प्रभाव पड़ा था[८], किन्तु सत्य यह है कि गरीबदास पर पूर्ववर्ती सभी सिद्धों, नाथों तथा सन्तों का प्रभाव पड़ा था। यही कारण है कि गरीबदास बौद्ध-प्रभाव से भी वंचित नहीं रह सके। उनकी वाणी में निर्गुण[९], अनित्यता[१०], सतगुरु[११], सन्त-सत्संग[१२], घट ही मठ[१३], अनहद[१४], सन्त-महिमा[१५], [illegible]-दया-धर्म-विवेक[१६], अभयपद[१७], शून्य[१८], गगन-मण्डल[१९], अमरपुर[२०], शून्य-शिखर[२१], हंस[२२],

---

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १६४।
२. वही, पृष्ठ १८३।
३. वही, पृष्ठ १८४।
४. वही, पृष्ठ १८४।
५. वही, पृष्ठ १३३।
६. वही, पृष्ठ १०५।
७. वही, पृष्ठ २१, ७०, ७१, ७२, ७५, ८९, ९०, १४२।
८. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६०७।
९. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १।
१०. वही, पृष्ठ ४।
११. वही, पृष्ठ ४।
१२. वही, पृष्ठ ५।
१३. वही, पृष्ठ ५।
१४. वही, पृष्ठ ५।
१५. वही, पृष्ठ ७।
१६. वही, पृष्ठ ७।
१७. वही, पृष्ठ ७।
१८. वही, पृष्ठ ९।
१९. वही, पृष्ठ ९।
२०. वही, पृष्ठ १०।
२१. वही, पृष्ठ १४, २४।
२२. वही, पृष्ठ १४।

भँवर-गुंफा[1], शून्य-सरोवर[2], सुरति-निरति[3], निर्वाण[4], साधु-महिमा[5], शून्यबस्ती[6], नाम-महिमा[7], हठयोग[8], घट-घट व्यापी परमेश्वर[9], अहिंसा[10], शील[11], तीर्थ-व्रत व्यर्थ[12], निरंजन[13], सत्त[14], [illegible][15], सत्तलोक[16], शून्य-समाधि[17], ग्रन्थप्रमाण का त्याग[18], परमपद[19], जप-तप व्यर्थ[20], [illegible][21], समता[22], निर्भय-पद[23], अनित्यता[24],कायातीर्थ[25], नामस्मरण[26], मनप्रधान,[27]पोथी-पत्रा व्यर्थ[28], स्नान-शुद्धि निरर्थक[29], शरीर को तपाना त्याज्य[30] आदि बौद्धधर्म के सिद्धान्त एवं विचार पर्याप्त मात्रा में आए हुए हैं। सिद्ध सरहपा के "नाचो गाओ विलसो"[31] के समान गरीबदास का कथन है—

> खाय ले पी ले बिलस ले हंसा।
> जोड़ जोड़ नहिं धरना रे[32] ॥

जातिभेद के विरुद्ध इन्होंने कबीर के स्वर में ही स्वर मिलाकर कहा है—

> कैसे हिन्दू तुरक कहाया, सबही एकै द्वारे आया।
> कैसे ब्राह्मन कैसे सूद्रं, एकै हाड़ चाम तन गूदं।
> एकै बिन्द एक भग द्वारा, एकै सब घट बोलनहारा।
> कौम छतीस एक ही जाती, ब्रह्म बीज सबकी उतपाती।
> एकै कुल एकै परिवारा, ब्रह्म बीज का सकल पसारा।

---

१. वही, पृष्ठ १६।
२. वही, पृष्ठ १६।
३. वही, पृष्ठ १६, २३।
४. वही, पृष्ठ १६।
५. वही, पृष्ठ २४।
६. वही, पृष्ठ २९।
७. वही, पृष्ठ २९।
८. वही, पृष्ठ ४८, ५०।
९. वही, पृष्ठ ५५।
१०. वही, पृष्ठ ७७, १८०।
११. वही, पृष्ठ ८५।
१२. वही, पृष्ठ ८५।
१३. वही, पृष्ठ ८५, ९६।
१४. वही, पृष्ठ ९०।
१५. वही, पृष्ठ ९४, ५९, ९८, १७८।
१६. वही, पृष्ठ १००।
१७. वही, पृष्ठ १०३।
१८. वही, पृष्ठ १०४।
१९. वही, पृष्ठ ११३।
२०. वही, पृष्ठ १२१।
२१. वही, पृष्ठ १३०।
२२. वही, पृष्ठ १३०।
२३. वही, पृष्ठ १३१।
२४. वही, पृष्ठ १३९।
२५. वही, पृष्ठ १४८, १५१।
२६. वही, पृष्ठ १५६।
२७. वही, पृष्ठ १६५।
२८. वही, पृष्ठ १६५।
२९. वही, पृष्ठ १६५।
३०. वही, पृष्ठ १७८।
३१. दोहाकोश, पृष्ठ ३०।
३२. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १३९।

ऊँच नीच इस विधि है लोई, कर्म कुकर्म कहावै दोई।
गरीबदास जिन नाम पिछाना, ऊँच नीच पद ये परमाना।[1]

ऐसे ही मूर्ति-पूजा के सम्बन्ध में भी—

पीतल चमचा पूजिये, जो खान परोसै।
जड़ मूरत किस काम की, मत रहौ भरोसै॥[2]

गरीबदास ने कबीर के समान ही ब्राह्मण और काजी दोनों को ही फटकारा है और वेद तथा कुरान की दुहाई देकर की जानेवाली हिंसा, कर्म-काण्ड आदि का विरोध किया है—

पण्डित वेद कहैं बहु बानी, काजी पढ़ै कुराने।
मुअर गऊ को दोष बतावै, दोनों दीन दिवाने[3]॥
पोथी थोथी काहे ढूँढ़ो, सुन रे पण्डित मूढ़ं।
लम्बी जटा अटा क्यूँ बाँधै, काहे मुड़ावै मूड़ं॥
जल पाषान तरा नहिं कोई, सुवा सेम्हर डूँड़ं।
वह नग हीरा परखा नाहीं, क्यों खोजत ही जूँड़ं[4]॥

गरीबदास ने जीवन-पर्यन्त गार्हस्थ्य-जीवन व्यतीत किया। ये विवाहित थे। इन्होंने कभी साधु वेष धारण नहीं किया। इन्हें चार पुत्र और दो पुत्रियाँ थीं। इन्होंने सदा अपने ग्राम छुड़ानी में ही रहकर सत्संग किया। इनका देहान्त वहीं सन् १७७८ में हुआ था। इनकी समाधि के पास इनका जामा, पगड़ी, धोती, जूता, लोटा, कटोरी और पलंग अबतक सुरक्षित हैं, जिन्हें देखने के लिए श्रद्धालु जनता जाया करती है।

गरीबदास की "हिखर बोध" नामक एक वृहद् रचना उपलब्ध है। इनके कुछ पद और साखियों का एक संग्रह प्रयाग[5] से भी प्रकाशित है। इनके देहावसान के उपरान्त इनके प्रधान शिष्य सलोत गद्दी पर बैठे थे, किन्तु सम्पति गद्दी का उत्तराधिकार वंश-परम्परा के अनुसार चलता है। सभी सन्त गृहस्थाश्रम में ही रहकर गद्दी का कर्तव्य-पालन तथा भजन करते हैं। इस सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र छुड़ानी है, जहाँ प्रतिवर्ष मेला लगता है। सम्प्रति इस सम्प्रदाय के अनुयायी पंजाब, दिल्ली, राजस्थान आदि राज्यों में पाये जाते हैं।

पानप सम्प्रदाय

पानपदास का जन्म सन् १७१९ में माना जाता है। इनके जन्म-स्थान आदि का निश्चित पता नहीं लग सका है, क्योंकि इनके माता-पिता की आर्थिक दशा ठीक नहीं थी। उन्होंने इन्हें बचपन में ही त्याग दिया था। इन्हें एक वृक्ष के नीचे पड़ा पाकर तिरपान जाति के एक व्यक्ति ने इनका पालन-पोषण किया। उसने इन्हें अपना जातीय शिल्प-कर्म स्थापत्य सिखलाया तथा पढ़ने की भी व्यवस्था की। इन्होंने संस्कृत और फारसी का भी थोड़ा ज्ञान प्राप्त कर लिया। ये स्थापत्य-कला में निपुण हो गये। उसमें इनकी बड़ी प्रसिद्धि हुई। ये घूम-फिर कर भवन-निर्माण का कार्य करने लगे, उन्हीं दिनों मँगनीराम

१. गरीबदासजी की बानी, पृष्ठ १३०, १३१।
२. वही, पृष्ठ १७८।
३. वही, पृष्ठ १६५।
४. वही, पृष्ठ १६५।
५. बेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।

कबीर-पन्थी सन्त से इनकी भेंट हुई। उनसे प्रभावित होकर इन्होंने दीक्षा ले ली और कार्य के साथ साधना भी करते रहे। कहते हैं कि बिजनौर जिले के धामपुर नामक स्थान में जब ये एक वैश्य के भवन-निर्माण में लगे थे, तब इनके व्यक्तित्व तथा अलौकिक चमत्कार से प्रभावित होकर उसने अपना नवनिर्मित भवन इन्हें दान कर दिया और स्वयं इनका शिष्य हो गया। अब ये वहीं रहकर धर्म-प्रचार का कार्य करने लगे। ये वहाँ से बाहर जाकर फिर वहीं लौट आते। इन्होंने दिल्ली, सरधना, मेरठ आदि नगरों में जाकर ऐसे ही प्रवचन किया। इनका देहान्त सन् १७७३ में हुआ था। इनकी समाधि धामपुर में ही बनी। उस समय इनके मनसादास, काशीदास, चूहड़राम तथा बुद्धिदास—ये चार प्रमुख शिष्य थे।

सन्त पानपदास की रचनाओं के संग्रह का नाम "वाणीग्रंथ" है, जो धामपुर के मठ में सुरक्षित है। अभी तक उसका मुद्रण नहीं हुआ है। शिवव्रतलाल ने "वाणी-ग्रन्थ" में संग्रहीत इनके १२ ग्रंथों के नाम लिखे है, जिनके नाम क्रमशः इस प्रकार हैं[1]—साखियाँ, नाम-स्तोत्र, नामलीला, गगनडोरी, ज्ञानसुखमनी, कालाभूत, तत्व उपदेश, इष्ट, समझना तो, सोहिला, प्रेमरतन और इश्क अर्क। इनकी रचनाओं के मुद्रित न होने के कारण इन पर पड़े बौद्ध-प्रभाव को विस्तृत रूप में बतला सकना सम्भव नहीं है, फिर भी इतना विदित है कि ये एक कबीर-पन्थी सन्त के शिष्य थे, अतः इनकी वाणी, साधना आदि पर कबीरपन्थ का पूर्ण प्रभाव रहा होगा और वे सभी बौद्ध-प्रभाव इन पर पड़े होंगे, जो कबीरदास अथवा उनके अनुयायी सन्तों पर पड़े थे। परशुराम चतुर्वेदी ने इनके दो पदों को उद्धृत किया है[2], उन्हें देखने से ज्ञात होता है कि पानपदास बौद्धधर्म से अवश्य प्रभावित थे और इन पर सिद्धों, नाथों तथा कबीर आदि सन्तों का गहरा प्रभाव पड़ा था। पदों में आए हुए गगनमण्डल, नामस्मरण, सतगुरु, अनित्यता आदि परम्परागत बौद्धप्रभाव के ही द्योतक हैं[3]। पानपदास के अनुयायियों में प्रचलित यह पद भी इसी बात को प्रकट करनेवाला है कि इन पर नानक, रैदास, कबीर आदि सन्तों का प्रभाव पड़ा था और ये भी इन्हीं की परम्परा का निर्वाह करनेवाले सन्त थे—

पापन नानक रैदास कबीरा।
एक तत्व के चार शरीरा[4]॥

---

१. सन्तमाल, पृष्ठ १९१। २. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६१४।

३. "गगन मण्डल बिच महल करे।
साहिल लावे ग्यान दृष्टि की, अधर धरन पर धरन धरे।
तिरकोनी कुनिया दौड़ाके, महल साधकर ठीक करे॥
नाम धनी की सूली लगावै, ग्यान ध्यान की ईट धरे।
पानपदास भेद सतगुरु का, यह महला फिर नहीं टरे॥"
"रैन बसे थे आयके, उठ चलना परभात।
पानपदास बटेउवा, प्रीति करे किस साथ॥
हम काहू के मीत ना, हमरा मीत न कोय।
कहे पानप सोइ मीत हमारा, रामसनेही होय॥ —वही, पृष्ठ ६१४ में उद्धृत।

४. वही, पृष्ठ ६१४ में उद्धृत।

पानप सम्प्रदाय बहुत प्रसिद्ध नहीं है और न तो इस सम्प्रदाय के अनुयायी ही अधिक संख्या में हैं।

रामसनेही सम्प्रदाय

रामसनेही सम्प्रदाय के प्रवर्तक सन्त रामचरण थे। इनका जन्म राजस्थान राज्य के ढूँढाण प्रदेश के सूरसेन अथवा सोडो ग्राम में सन् १७१९ में हुआ था। ये विजय वर्गीय वैश्य थे। इनका गृहस्थ नाम रामकृष्ण था। इन्होंने ३१ वर्ष की अवस्था में गृहत्याग किया और दाँतड़ा नामक ग्राम में सन्त कृपाराम के पास दीक्षित हो गये। दीक्षोपरान्त इनका नाम रामकृष्ण से बदलकर रामचरण कर दिया गया था। सन्त कृपाराम स्वामी रामानन्द की शिष्य-परम्परा के सन्त थे। जो सन् १७७५ तक जीवित रहे। सन्त रामचरन ने दीक्षित होकर सत्रह वर्षों तक गुप्त-रूप से ध्यान-भावना की। कहते हैं कि ये किसी गुफा में रहा करते थे और लोगों से नहीं मिलते थे। वहाँ से निकल कर इन्होंने ज्ञानपूर्ण वाणियों की रचना प्रारम्भ की और ये शाहपुर के राजा के आग्रह पर वहाँ जाकर रहने लगे। इन्होंने सन् १७६८ में रामसनेही सम्प्रदाय की स्थापना की थी। इनका देहावसान सन् १८२८ में शाहपुर में ही हुआ था। वहाँ का 'रामद्वारा' मठ इनके सम्प्रदाय का प्रधान केन्द्र है। दाँतड़ा, गलता आदि में भी मठ बने हुए हैं।

सन्त रामचरण की रचनाओं का एक वृहद् संग्रह "स्वामीजी श्री रामचरणजी महाराज की अणभै वाणी" नाम से प्रकाशित हो चुका है। कहा जाता है कि इनकी कुल वाणियाँ ३६२५० हैं। इस संग्रह में संग्रहीत ग्रंथों के नाम इस प्रकार हैं—गुरु महिमा, नामप्रताप, शब्द प्रकाश, अणभै-विलास, सुख-विलास, अमृत उपदेश, जिज्ञासु बोध, विश्वास बोध, विश्राम बोध, समता निवास, राम रसायन बोध, चिन्तामणि, मनखण्डन, गुरु-शिष्य-गोष्ठी, ठिग पारख्या, जिन्द पारख्या, पण्डित संवाद, लच्छ-अलच्छ जोग, बे जुक्ति तिरस्कार, काफर बोध, शब्द और दृष्टान्त सागर। इनकी वाणियों से ज्ञात होता है कि इन पर भी सन्तमत द्वारा गृहीत बौद्ध-प्रभाव पड़ा था। खसम-भावना[1], नामस्मरण[2], निराकार[3], निराधार[4], सर्वव्यापकता[5], अन्तर्यामी[6], निरंजन[7], घट-घट व्यापकता[8], हठयोग[9], शून्यशिखर[10], अनहद[11] आदि बौद्ध-तत्व इनकी वाणियों में प्रचुर मात्रा में आए हुए हैं। सिद्धों-नाथों तथा सन्तों द्वारा अनुभूत एवं अभ्यस्त हठयोग तथा निर्गुण-उपासना का प्रभाव इनकी साधना पर पूर्ण रूप से पड़ा दीखता है। "खसम-भावना" में सन्त रामचरण सन्त कबीर के ही स्वर में स्वर मिलाकर आत्मनिवेदन करते हैं—

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ५०६, ५०९।
२. वही, पृष्ठ ५०६।
३. वही, पृष्ठ ५०७, ५०८।
४. वही, पृष्ठ ५०७।
५. वही, पृष्ठ ५०७।
६. वही, पृष्ठ ५०८।
७. वही, पृष्ठ ५०९।
८. "पाई राम धाम घट माँहीं"। —वही, पृष्ठ ५०९।
९. वही, पृष्ठ ५०९।
१०. वही, पृष्ठ ५०९।
११. वही, पृष्ठ ५०९।

रमइया मोरी पलक न लागे हो।
दरस तुम्हारे कारणै, निसिवासर जागे हो॥
दसूं दिशा जातर करूँ, तेरो पंथ निहारूँ हो।
राम राम की टेर दे, दिन रैण पुकारूँ हो॥ १॥
दास की या अरदास सुण, पिया दरसन दीजै हो।
रामचरण विरहिनि कहै, अब विलम न कीजै हो[1]॥ ४॥

निर्गुण-निराकार राम की भावना भी निराकार-निरंजन परमपुरुष के रूप में ही इन्होंने की है—

निस्प्रेही निर्वैरता निराकार निरधार।
सकल सृष्टि में रमि रह्यौ, ताको सुमिरन सार[2]॥

अन्य निर्गुणी सन्तों की भाँति ही इन्होंने भी रामनाम स्मरण से ब्रह्मपद की प्राप्ति कहा है। इनका ब्रह्म निर्वाण, पद-निर्वाण, अमरपद, निर्भयपद आदि नामों से जाना जाता है—

राम राम मुख गाय, ब्रह्म का पद कूँ पायो।
जैसे सरिता नीर धाय, धुरि समंद समायो[3]॥

गुरु-माहात्म्य भी सन्त रामचरण का वैसा ही था, जैसा कि कबीर, रैदास आदि सन्तों का। इनका कथन है कि गुरु राममय होते हैं, गुरु की मूर्ति का ध्यान राम का ध्यान है—

राममयी गुरु जानिये, गुरु मँह जानूँ राम।
गुरु मूर्ति को ध्यान उर, रसना उचरै राम[4]॥

सन्त रामचरण के २२५ शिष्य थे, जिनमें १२ प्रधान थे। इनके देहावसान के उपरान्त इनकी गद्दी पर सन्त रामजन बैठे थे। तदुपरान्त क्रमशः दूल्हाराम, चतुरदास या चत्रदास, हरिनारायणदास आदि महन्त गद्दी के उत्तराधिकारी बने। इस सम्प्रदाय में महन्तों के निर्वाचन के लिए एक बारह व्यक्तियों की समिति है, उस समिति द्वारा ही योग्य उत्तराधिकारी का निर्वाचन होता है और एक महन्त के देहान्त के तेरहवें दिन दूसरे महन्त को गद्दी सौंप दी जाती है। इस सम्प्रदाय के सन्त भगवा-वस्त्र पहनते हैं। सन्त रामचरण के शिष्यों में—रामजन, दूल्हाराम, चतुरदास, सन्तदास, जगन्नाथ आदि भी सन्त कवि थे। इनकी भी रचनाओं का एक विशालकाय संग्रह है।

रामसनेही सम्प्रदाय के अनुयायी अहमदाबाद, बड़ौदा, सूरत, बम्बई, वाराणसी, प्रयाग, राजस्थान आदि में पाये जाते हैं। ये जीव-हिंसा से सदा विरत रहने का प्रयत्न करते हैं। संन्यासियों में वंदीही और मौनी होते हैं। ये खाने, पीने, सोने, बोलने आदि सभी कार्यों में समय का ध्यान रखते हैं। श्रृंगार की वस्तुओं का सेवन नहीं करते। शराब, दवा आदि बनाना भी इस सम्प्रदाय के सन्तों के लिए निषिद्ध है[5]।

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ ५०६–५०७ से उद्धृत।
२ वही, पृष्ठ ५०७। ३. वही, पृष्ठ ५०८।
४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६१६ से उद्धृत।
५. सम्प्रदाय, पृष्ठ ९३–१०३, प्रो० बी० बी० राय लिखित।

[आ] फुटकर सन्त
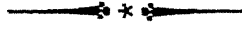
सन्त जम्भनाथ

सन्त जम्भनाथ का जन्म सन् १४५१ में राजस्थान के नागोर प्रदेश के पयासर नामक ग्राम में हुआ था। ये परमार राजपूत थे। इनके पिता का नाम लोहित तथा माता का नाम हाँसा था। जनश्रुति है कि ये ३४ वर्ष की अवस्था तक गूँगा रहे। एक दिन अचानक इन्होंने "अचम्भा" शब्द बोला और तभी से इनका नाम भी "जम्भा" पड़ गया। ये एक उच्चकोटि के सन्त थे। इनकी साधना से ही प्रभावित होकर जनता इन्हें मुनीन्द्र जम्भ ऋषि नाम से पुकारने लगी। इनके किसी गुरु का पता नहीं चलता है, किन्तु इनकी वाणियों से विदित होता है कि ये नाथपंथ से अधिक प्रभावित थे। इन पर सिद्धों-नाथों में प्रचलित बौद्ध प्रभाव भी पड़ा था। इन्होंने राजस्थान से बाहर भी घूम-घूमकर अपने मत का प्रचार किया था, जिसे "विश्नुई" कहा जाता था। इनके अनुयायी आजतक बिजनौर, बरेली, मुरादाबाद आदि जिलों में पाये जाते हैं, किन्तु उनकी संख्या बहुत अल्प है। इनका देहान्त सन् १५२३ में तालबा (बीकानेर) में हुआ था। इनके शिष्यों में हावलजी पावजी, लोहापागल, दत्तनाथ और मालदेव प्रमुख थे।

सन्त जम्भनाथ की रचनाओं का कोई भी संग्रह आजतक प्राप्त नहीं हुआ है। इनके कुछ फुटकर पद ही प्राप्त हुये हैं। जिनसे ज्ञात होता है कि इनपर बौद्धप्रभाव भली प्रकार पड़ा था। इनकी वाणी में अवधूत[1], निरंजन[2], हठयोग[3], गगन-मण्डल[4], मत्त[5], सर्वज्ञ[6], घट ही मठ[7] आदि बौद्ध तत्त्व विद्यमान हैं। जम्भनाथ की साधना पर किस प्रकार बौद्ध-प्रभाव पड़ा था और वे कैसे नाथपंथी तथा सन्त-मत की साधना-पद्धति से प्रभावित थे, इसका स्वरूप इस पद में देखा जा सकता है—

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५। २. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५।
३. वही, पृष्ठ २३५। ४. वही, पृष्ठ २३५।
५. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७२।
६. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५। ७. वही, पृष्ठ २३५।

अजपा जपो रे अवधू अजपा जपो ।
पूजो देव निरंजन थानं ॥
गगन-मण्डल में जोति लखाऊँ ।
देव धरो वा घ्यानं ॥
मोह न बन्धन मन परबोधग ।
शिक्षा से ग्यान विचारं ॥
पंच सादत कर सकसो राख्या ।
तो यों उतर वा पारं[१] ॥

हठयोग की भावना आदि को देखकर ही परशुराम चतुर्वेदी ने लिखा है कि "ये सन्तमत के अनुयायी होने पर भी अपने नाथपंथी पूर्व-संस्कारों का पूर्ण परित्याग नहीं कर पाये थे[२] ।" किन्तु नाथपंथ पर भी बौद्धधर्म का कितना गहरा प्रभाव पड़ा था, इसका विचार पहले किया जा चुका है और यह भी लिखा जा चुका है कि कुछ नाथपंथी अवधूत स्वयं सिद्ध भी थे, अतः नाथपंथ के प्रभाव के साथ बौद्ध-प्रभाव स्वयंसिद्ध है ।

शेख फरीद

सन्त शेख फरीद एक उच्चकोटि के ज्ञानी थे । गुरु ग्रंथ साहब में इनके ४ पद और १३० श्लोक संग्रहीत हैं, इनसे गुरु नानक की दो बार भेंट होने का वर्णन सिख-इतिहास में मिलता है । ये अपनी परम्परागत गद्दी पर बैठने के ४० वर्षों के पश्चात् सन् १५५२ में परलोकगामी हुये थे । इनका वास्तविक नाम शेख इब्राहिम था । ये फरीदसानी, सलीस फरीद, शेख फरीद ब्रह्मकल, बलराज, शेख ब्रह्म साहब, शाह ब्रह्म आदि अनेक नामों से प्रसिद्ध थे[३] । कहते हैं कि "फरीद" उसी प्रकार की एक परम्परा-सी प्रचलित थी, जैसे कि "नानक" सभी सिख-गुरु कहलाते थे । इस परम्परा के आदि सन्त का भी नाम शेख फरीद था, जिनका जीवन-काल सन् ११७३-१२६५ माना जाता है[४] । उसी परम्परा के शेख इब्राहिम ११ वें सन्त थे । इन्हें आधुनिक पंजाबी का पिता कहते हैं[५] । इन्हें फरीदसानी अर्थात् द्वितीय फरीद इसलिये कहा जाता है क्योंकि ये अपनी परम्परा के आदि सन्त के सदृश तेजस्वी, गुणी, ज्ञानी एवं कवि सन्त थे । इनकी वाणियों का प्रभाव साधारण जनता पर तो पड़ा ही था, सिख गुरुओं पर भी इनका कम प्रभाव नहीं था । गुरु नानक इनसे बहुत प्रभावि थे । इसीलिए अनेक स्थलों पर इन दोनों की वाणियाँ समान हैं । यथा,—सन्त फरीद ने गाया—

---

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ २३५ । २. वही, पृष्ठ २३५ ।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७३ ।
४. श्री गुरु ग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ १५४ ।
५. वही, पृष्ठ १५४ ।

फरीदा पाड़ पटोला धज करी कंबलनी पहिरेउ।
जिनी वेसी सहु मिले सोई वेस करेउ[1] ॥

इसी स्वर में स्वर मिलाते हुए गुरु नानक ने भी गाया—

काइ पटोला पाड़ती कबलनी पहिरेउ।
नानक घर बैठिआ सहु पाईये जो नीअत रास करेइ[2] ॥

ऐसे ही फरीदसाहब ने कहा—

फरीदा रत्ती रतु न निकले जे तनु चीरे कोइ।
जो तनु रते रब सिउ तिन तन रत न होइ[3] ॥

इसी भाव को और इन्हीं शब्दों में गुरु नानक ने व्यक्त किया—

इह तनु सभोरत है रत बिन तनु न होइ।
जो तनु रते रब सिउतिन तनु लोभ रत न होइ[4] ॥

इसी प्रकार शेख फरीद की वाणी का सिख गुरुओं की वाणी के साथ तुलनात्मक अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि शेख फरीद के १३० श्लोकों में से श्लोक नं० १३ ३२, ५२, १०४, ११३, १२०, १२२, १२३ और १२४ गुरु नानक तथा गुरु अमरदास ने उनकी व्याख्या में ही लिखे हैं[5]। इन बातों से स्पष्ट है कि शेख फरीद सन्तमत के अनुयायी थे और उनपर नाथपंथी तथा सिद्ध-योगियों का प्रभाव पड़ा था। वे सूफी मत से भी प्रभावित थे। परशुराम चतुर्वेदी का यह कथन समीचीन नहीं है कि शेख फरीद सूफी ही थे[6], क्योंकि उनकी वाणी में सन्तमत के उपदेश[7], खसम-भावना[8], हठयोग[9], नामस्मरण का माहात्म्य[10] आदि बौद्ध-प्रभाव स्पष्ट रूप से पड़ा हुआ दीखता है। वे परमात्मा को पति-स्वरूप मानकर कौवे को सम्बोधित कर कहते हैं—हे काग, तू मेरे शरीर के सम्पूर्ण मांस को खा लेना, किन्तु इन दो नयनों को न छूना, क्योंकि ये प्रियतम को देखने की आशा लगाये हुए हैं—

कागा करंग ढंढोलिआ, सगला खाइआ मासु।
ये दुइ नैना मति छुहउ, पिव देखन की आस[11] ॥

शेख फरीद का जन्म पंजाब के कोठीवाल नामक ग्राम में हुआ था और उनकी गुरुगद्दी पाकपत्तन में थी। ये विवाहित थे। इनके दो लड़के थे जिनके नाम क्रमशः शेख मुहम्मद ताजुद्दीन तथा शेख मुनव्वर शाह शहीद थे। इनके अनेक शिष्य भी थे, जिनमें फतेहपुर निवासी शेख सलीम चिश्ती का नाम बहुत प्रसिद्ध है[12]।

---

१. सिखधर्म और भगत मत, पृष्ठ ७। २. वही, पृष्ठ ७।
३. वही, पृष्ठ ७। ४. वही, पृष्ठ ८।
५. साहिबसिंह कृत गुरमति प्रकाश, पृष्ठ २२; तथा श्रीगुरुग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ १७।
६. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७८।
७. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५३, २५४। ८. वही, पृष्ठ २५४।
९. वही, पृष्ठ २५४। १०. वही, पृष्ठ २५३।
११. सन्तकाव्य, पृष्ठ २५४। १२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७३।

सन्त सिंगाजी

सन्त सिंगाजी का जन्म सन् १५१९ में मध्यप्रदेश के बड़वानी रियासत के खूजरी नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम भीमागौली तथा माता का नाम गौरबाई था। ये जाति के अहिर थे। इनके जन्म के लगभग पाँच वर्षों के उपरान्त ही इनके पिता हरसूद नामक स्थान मे जाकर बस गये थे। वहीं पर इनका तथा इनके भाई-बहिनों का विवाह हुआ था। ये २१ वर्ष की आयु में भामगढ़ निमाड़ के रावसाहब के यहाँ चिट्ठी-पत्री पहुँचाने के लिए एक रुपया प्रतिमास वेतन पर उपस्थाक हो गये। एक बार चिट्ठी-पत्री लेकर जाते समय मार्ग में मनरंगीरजी के भजन सुनकर इन्हें वैराग्य उत्पन्न हो गया। इन्होंने नौकरी छोड़कर मनरंगीरजी के पास जाकर दीक्षा ले ली। ये ४० वर्ष से कुछ ही दिन अधिक जीवित रह सके। कहते हैं कि एक बार श्रीकृष्ण-जन्माष्टमी की रात्रि में सन्त मनरंगीरजी ने इनसे कहा था कि मुझे नींद आ रही है, मैं सोने जा रहा हूँ, आधी रात के समय जन्म के समय मुझे जगा देना, किन्तु सिंगाजी ने उन्हें न जगाकर स्वयं ही पूजादि क्रिया सम्पन्न की। जब मनरंगीरजी की नींद टूटी तो देखा कि मैं सोता रह गया और मेरे शिष्य ने मेरी आज्ञा की अवहेलना कर स्वयं ही भगवान् की पूजा कर ली। यह कार्य उन्हे बहुत अनुचित लगा। उन्होंने तुरन्त सिंगाजी को बहुत फटकारा और कहा—"जा रे दुष्ट, तू जीते जी फिर कभी मुख न दिखलाना।" सिंगाजी को यह बात लग गई। वे वहाँ से अपने निवासस्थान पिपल्या चले गये और कुछ ही मास के उपरान्त उन्होंने सन् १५५९ में किंकड़ नदी के किनारे जीवित समाधि ले ली। इनकी समाधि का स्थान आज भी किंकड़ नदी के तट पर विद्यमान है, जहाँ प्रतिवर्ष आश्विन मास में एक बहुत बड़ा मेला लगता है[१]।

सिंगाजी ने अपने जीवन-काल मे ८०० भजनों की रचनाएँ की थीं और उनके संग्रह का नाम "अनहद की नाद" रखा था। इसकी भाषा निमाड़ी है। इनके भजन बड़े आकर्षक, भावपूर्ण एवं हृदयग्राही हैं। इनकी रचनाओं का एक लघु-संग्रह खंडवा से प्रकाशित हुआ है[२]। इसे देखने से ज्ञात होता है कि सिंगाजी एक उच्चकोटि के निर्गुण-उपासक सन्त थे। इन पर सिद्धों, नाथों तथा सन्तों का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में शून्य[३], घट ही मठ[४], परमात्मा की सर्वव्यापकता[५], निर्गुण ब्रह्म[६], चौरासी सिद्ध[७], त्रिकुटी महल[८], अनहद[९], हठयोग[१०], खसम-भावना[११], निर्वाण[१२], सुरति[१३], आनापानस्मृति-भावना[१४] आदि बौद्धधर्म के

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३७९-३८०।

२. [illegible] मंडल, खंडवा द्वारा प्रकाशित तथा श्रीसुकुमार पगारे द्वारा सम्पादित।

३. सन्तकाव्य, पृष्ठ २६९, २७०।

४. वही, पृष्ठ २७०, २७१।

५. वही, पृष्ठ २७०।

६. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७०।

७. वही, पृष्ठ २७०।

८. वही, पृष्ठ २७०।

९. वही, पृष्ठ २७०।

१०. वही, पृष्ठ २८०।

११. वही, पृष्ठ २७०।

१२. वही, पृष्ठ २७०।

१३. वही, पृष्ठ २७१।

१४. वही, पृष्ठ २७१।

प्रभाव-द्योतक तत्त्व पर्याप्त मात्रा में पाये जाते हैं। ये कबीरदास से बहुत ही प्रभावित जान पड़ते हैं, क्योंकि इन्होंने कबीर के कुछ पदों को थोड़े से परिवर्तन के साथ अपना लिया है, किन्तु अन्तर शाब्दिक ही हैं, उनके भावार्थ प्रायः समान हैं। कबीर की यह वाणी प्रसिद्ध है—

पानी बिच मीन पियासी,
मोहिं सुन सुन आवै हाँसी।
घर में वस्तु नजर नहिं आवत,
बन बन फिरत उदासी॥
आतमज्ञान बिना जग झूँठा,
क्या मथुरा क्या कासी[1]॥

इसे ही सिंगाजी ने इस प्रकार गाया है—

पाणी में मीन पियासी,
मोहे सुन सुन आवै हाँसी।
जल बिच कमल कमल बिच कलियाँ
जँह वासुदेव अविनासी।
घट में गंगा घट में जमुना
वहीं द्वारिका कासी।
घर वस्तु बाहर क्यों ढूँढो,
वन वन फिरो उदासी।
कहै जन सिंगा सुनो भाइ साधू,
अमरापुर के वासी[2]।

इसी भाव को प्रगट करते हुए इन दोनों सन्तों से पूर्व ही सिद्ध सरहपा ने भी इसी तथ्य का गीत गाया था।[3] बौद्धधर्म की आनापानस्मृति-भावना का संकेत सिंगाजी की इस साखी में मिलता है—

वास स्वास दो बैल हैं, सुति रास लगाव।
प्रेम परिहाणो करधरो, ज्ञान आर लगाव[4]॥

इस प्रकार प्रकट है कि सिंगाजी पर बौद्धधर्म का प्रभाव निश्चित रूप से पड़ा था।

सिंगाजी के शिष्यों में दलुदास का नाम प्रसिद्ध है। वे सिंगाजी के नाती या पौत्र थे। उन्होंने सिंगाजी को ईश्वर-स्वरूप मानकर उनके प्रति अपनी श्रद्धा व्यक्त की है। वे भी निर्गुण-उपासना के ही साधक थे। उन पर अपने गुरु सिंगाजी का पूर्ण प्रभाव पड़ा था। उनका कथन था—

---

१. कबीर, पृष्ठ २६३। २. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७०।
३. दोहाकोश, पृष्ठ ४ तथा हिन्दी काव्यधारा, पृष्ठ ८ में काया-तीर्थ।
४. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७।

हम क्या जाना पटा परवाना,
एक निर्गुण ब्रह्म हमारा।
एक पुरुष की मांड मंडी है,
सोई देव हमारा[१] ॥

सन्त भीखन

सन्त भीखन के सम्बन्ध में बहुत अल्प सूचनायें प्राप्त है। आदिग्रन्थ मे इनके दो पद संग्रहीत हैं, जिनकी शैली के आधार पर परशुराम चतुर्वेदी का मत है कि ये हिन्दू सन्त थे[२], डॉ० धर्मपाल मैनी का कथन है कि सम्भवत: ये जन्म में मुसलमान होकर भी जीवन भर हिन्दू ही रहे हों[३], किन्तु परम्परा सन्त भीखन को मुस्लिम सन्त मानती है और कहा जाता है कि ये काकोरी के शेख भीखन थे[४]। सिख इतिहास के सुविज्ञ लेखक मेकालिफ साहब ने भी इसी पक्ष को स्वीकार किया है[५]। हमारा भी यही मत है कि शेख फरीद की भाँति ये भी शेख ही थे। इन पर कबीर का गहरा प्रभाव पड़ा था और उसी प्रभाव के कारण इनकी रचना में एक विशेष आकर्षण, प्रवाह एवं सरसता है। इन्हीं के सम्बन्ध में फारसी के इतिहास-लेखक बदायूनी ने लिखा है—"भीखन लखनऊ राज्यान्तर्गत काकोरी के रहने वाले थे। वे महान् विद्वान्, चरित्रवान् एवं बहुश्रुत थे। वे पहले शिक्षक थे। पीछे सूफीमत की साधना में लग गये थे। वे एकान्त में अपने मत का रहस्य प्रकट करते थे। उन्हें कई सन्तानें थीं। अकबर एक बार उनकी समाधि के पास अपने कल्याण की कामना से गया था और वहाँ पड़ाव डाला था[६]।" सन्त भीखन का देहान्त सन् १५७३-७४ में हुआ था।

सन्त भीखन के पदों को देखने से विदित होता है कि ये निर्गुण सन्त थे और इन पर भी सन्त-परम्परागत बौद्ध-प्रभाव पड़ा था। इनकी वाणी में नाम-महिमा, सन्त, गुरु-माहात्म्य, मोक्ष, कर्म-फल आदि[७] बौद्ध-तत्व आये हुए हैं। इनके जो दो पद गुरुग्रन्थ-साहिब मे संग्रहीत हैं, उनमे एक मे शरणागमन और दूसरे में नाम-महत्व पर विशेष रूप से बल दिया गया है। शरणागमन में सन्त भीखन ने अन्तिम शरण ग्रहण की है—

नैनहु नीरु बहै तनु खीना, भए केस दुधावनी।
रूधा कंठु सबदु नहीं उचरै, अब किआ करहि परानी।
राम राइ होहि वैद बनवारी, अपने सन्तहु लेहु उबारी[८] ॥

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३८२।
२. वही, पृष्ठ ३८५।
३. श्रीगुरुग्रन्थ साहिब : एक परिचय, पृष्ठ १५५।
४. श्रीगुरुग्रन्थ-दर्शन, पृष्ठ २९। ५. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ४१४६।
६. दि सिख रिलीजन, भाग ६, पृष्ठ ४१४६। ७. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७२।
८. वही, पृष्ठ २७२।

ऐसे ही नाम-महिमा का वर्णन करते हुए 'नाम-रत्न' को पुण्य-पदार्थ कहा है—

ऐसा नामु रतनु निरमोलकु, पुंनि पदारथु पाइआ।
अनिक जतन करि हिरदै राखिआ, रतनु र छपै छपाइआ।
हरिगुन कहते कहनु न जाई, जैसे गुंगे की मिठिआई[१]।

इन पदों में आये 'रामराइ', 'हरि', नाम-रत्न आदि से जान पड़ता है कि इन पर अवश्य हिन्दी-सन्तों का अमिट प्रभाव पड़ा था और ये एक पहुँचे हुए सन्त थे। यदि इनकी अधिक रचनाएँ प्राप्त हुई होतीं तो इनके ऊपर पड़े प्रभाव आदि का विस्तारपूर्वक परिचय प्राप्त होता, किन्तु सम्प्रति गुरुग्रन्थ साहब में संकलित दो पद ही इनके परिचायक तथा अमर-कृति हैं।

दीन दरवेश

सन्त दीन दरवेश सत्रहवीं शताब्दी के अन्तिम चरण अथवा अठारहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में पाटन नामक ग्राम में उत्पन्न हुए थे। ये जाति के लोहार थे। ये पहले सूफी मत के अनुयायी थे और "ईस्ट इंडिया कम्पनी" में मिस्त्री का काम करते थे। एक समय सैनिक-कार्य में संलग्न होने पर गोला लग जाने से इनकी एक बाँह कट गयी और ये सेवा-मुक्त कर दिये गये। तब से इन्होंने वैराग्य लेकर निर्गुण उपासना की साधना प्रारम्भ की। ये बहुत पढ़े-लिखे नहीं थे। फारसी का इन्हें थोड़ा ज्ञान था। इन्होंने हिन्दू और मुस्लिम तीर्थों की यात्रायें कीं। बड़नगर के निवासी बालनाथ नामक नाथपंथी योगी से इन्होंने सन्त-दीक्षा ली। इन्हें कविता करने की ओर इनके गुरु ने ही प्रवृत्त किया था। ये प्रत्येक पूर्णिमा को बड़ी श्रद्धा के साथ सरस्वती नदी में स्नान करते थे। सभी प्रकार के सन्तों से सत्संग करना और हिन्दू-मुसलिम-एकता का सन्देश देना इनका प्रधान कार्य था। ये आध्यात्मिक चिन्तन एवं उसके विकास में निरत रहने वाले सन्त थे। इन्होंने उस दिव्य ज्योति को अपने हृदय में ही पूर्ण रूप से प्रभासित पाया था[२]। अन्तिम समय में ये काशी में रहने लगे थे और वहीं वृद्धावस्था में इनका देहान्त हुआ था[३]।

सन्त दीन दरवेश ने कुंडलिया छन्द में रचनाएँ की थीं, जिनकी संख्या सवा लाख कही जाती है। डॉ० बड़थ्वाल ने पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा के पास इनकी रचनाओं का एक संग्रह देखा था, किन्तु उसमें इतने अधिक छन्द नहीं थे[४]। इनकी रचनाओं का कोई संग्रह अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ है। सन्त वाणियों के अनेक संग्रहों में इनकी कुछ रचनाएँ संग्रहीत मिलती हैं। इनकी वाणी को देखने से विदित होता है कि ये विश्व-प्रेम, मैत्री, समता, ईश्वर की सर्वव्यापकता, निर्गुण-निराकार ब्रह्म, कर्मवाद, अनित्यता आदि के प्रतिपादक तथा प्रचारक थे। इनके जो छन्द प्राप्त हैं, उनमें केवल मैत्री, विश्वबन्धुत्व, अनित्यता आदि को ही बौद्धधर्म

१. सन्तकाव्य, पृष्ठ २७२।
२. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ८१।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२२।
४. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ८१।

का प्रभाव कहा जा सकता है। जब तक इनकी सम्पूर्ण रचनाएँ प्रकाश में नहीं आ जातीं, तब तक इन पर पड़े बौद्धप्रभाव को बतला सकना सम्भव नहीं है। हम केवल इतना ही अनुमान लगा सकते हैं कि ये एक नाथपंथी योगी के शिष्य थे, तो इन पर बौद्धधर्म के उन तत्वों का परम्परागत प्रभाव अवश्य पड़ा होगा, जिनका कि नाथ सम्प्रदाय पर पड़ा था।

सन्त दीन दरवेश ने हिन्दू-मुसलमानों की एकता के लिए जो प्रयत्न किया और अनित्यता, मैत्री, परोपकार आदि गुणधर्मो का जो प्रवचन किया, वह एक आदर्श सन्त में ही पाया जा सकता है। इनका कथन था कि हिन्दू और मुसलमान दोनों ही एक वृक्ष की दो शाखाएँ हैं, इनमें कोई घट-बढ़कर नहीं है, प्रत्युत दोनों ही समान हैं, जैसे नदियाँ समुद्र में मिलकर समान हो जाती हैं, वैसे ये सभी राम-रहीम से मिलकर एक हो जाते हैं। सबका स्वामी एक ही परमात्मा है। संसार माया स्वरूप है, यहाँ कोई नित्य रहने वाला नहीं है, अकबर, बीरबल, गंग, महाराज फतेहसिंह आदि सभी यहाँ से सदा के लिए उठ गए, अतः संसार की क्षणभंगुरता को जानकर, अभिमान आदि चित्त के कलुष को त्याग देना ही उचित है—

हिन्दू कहें सो हम बड़े, मुसलमान कहें हम्म।
एक मूंग दो झाड़ हैं, कुण ज्यादा कुंण कम्म॥
कुण ज्यादा कुण कम्म, कभी करना नहिं कजिया।
एक भगत हो राम, दूजा रहिमान सो रजिया॥
कहै दीन दरवेश, दोय सरिता मिल सिन्धू।
सबका साहब एक, एक मुसलिम एक हिन्दू॥
बंदा बाजी झूठ है, मत सांची करमान।
कहाँ बीरबल गंग है, कहाँ अकब्बर खान॥
कहाँ अकब्बर खान, भले की रहे भलाई।
फतेहसिह महाराज, देख उठ चल गये भाई॥
कहा दीन दरवेश, सकल माया का धंधा।
मत साँची कर मान, झूठ है बाजी बंदा[1]॥

सन्त दीन दरवेश के शिष्यों या सम्प्रदाय के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी है। कहा जाता है कि कुछ लोग अपने को दीन दरवेशी कहते हैं। इनके वंशजों का भी कुछ पता नहीं लग सका है[2]।

बुल्लेशाह

सन्त बुल्लेशाह के सम्बन्ध में अनेक किंवदन्तियाँ हैं। एक मत है कि ये रूम देश के रहने वाले थे और बचपन में ही दस वर्ष की अवस्था मे साधु-सन्तों के साथ भारत चले आये थे[3]। दूसरे मत के अनुसार ये पहले बलख के बादशाह थे। इन्होंने विरक्त होकर मियाँ

१. भजन संग्रह, चौथा भाग, गीता प्रेस, गोरखपुर, पृष्ठ १४७।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२३। ३. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५१।

मीर के पास भारत आकर दीक्षा ले ली थी[१]। तीसरा मत इन्हें कुस्तुन्तुनिया का मानता है और कहता है कि ये किशोरावस्था में भारत चले आये थे[२], किन्तु अब विद्वानों ने प्रमाणित किया है कि बुल्लेशाह भारतवासी थे। ये कहीं बाहर से नहीं आए थे[३]। इनका जन्म सन् १६८० में पश्चिमी पाकिस्तान के लाहौर जिलान्तर्गत पण्डोल नामक ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम मुहम्मद दरवेश था। तरुण होने पर इनमें आध्यात्मिक चेतना जागृत हुई और ये उस समय के प्रसिद्ध सूफी सन्त इनायतशाह के शिष्य हो गये थे। इन्होंने जीवन भर विशुद्ध ब्रह्मचारी जीवन व्यतीत किया था। ये सदा सन्तवेश में रहते थे। ये कभी गृहस्थ नहीं रहे। ये मौलवी, काजी, पण्डित आदि के कट्टर विरोधी थे। मन्दिरों और मस्जिदों को चोरों का अड्डा मानते थे। यही कारण है कि मौलवी सदा इनके प्रति क्रूर बने रहे और कई बार उनके द्वारा इन्हें कष्ट देने का प्रयत्न किया गया। इन पर कबीर-पंथ का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा था। इन्होंने कबीर साहब की अनेक वाणियों को थोड़े से परिवर्तन के अनुसार अपना लिया था। कबीर की यह चेतावनी बहुत प्रसिद्ध है—

आछे दिन पाछे गये, गुरु से किया न हेत।
अब पछतावा क्या करै, जब चिड़ियाँ चुग गँइ खेत[४]॥

सन्त बुल्लेशाह ने इसे ही इस प्रकार दुहराया है—

बुल्ला हच्छे दिन ताँ पिच्छे गये, जब हरि किया न हेत।
अब पछुतावा क्या करे, जब चिड़ियाँ चुग लिया खेत[५]॥

इसी प्रकार इनकी वाणी में कबीर-पंथ में प्रचलित प्रायः सभी बौद्ध-तत्व पाये जाते हैं। ग्रन्थ-प्रमाण-निषेध[६], ईश्वर की सर्वव्यापकता[७], तीर्थ-व्रत का त्याग[८], गंगा-स्नान आदि से शुद्धि नहीं[९], पिण्डदान करना व्यर्थ[१०], अनित्यता[११], आवागमन[१२], नाम-महिमा[१३], अशुभ-भावना[१४], हंस[१५], क्षणभंगुरता[१६], खसम-भावना[१७], समता[१८], घट ही मठ[१९], अनहद[२०], मूर्ति-पूजा-खण्डन[२१] आदि सैद्धान्तिक एवं आचार-व्यवहार के तत्त्व जो सन्त बुल्लेशाह की

---

१. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२४।
२. वही, पृष्ठ ६२५।
३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२५।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ ९।
५. वही, पृष्ठ १५३।
६. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५२।
७. वही, पृष्ठ १५२।
८. वही, पृष्ठ १५२।
९. वही, पृष्ठ १५२।
१०. वही, पृष्ठ १५३।
११. वही, पृष्ठ १५३।
१२. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १७२।
१३. वही, पृष्ठ १७२।
१४. वही, पृष्ठ १७२-१७३।
१५. वही, पृष्ठ १७३।
१६. वही, पृष्ठ १७३।
१७. वही, पृष्ठ १७३।
१८. वही, पृष्ठ १७५।
१९. वही, पृष्ठ १७५।
२०. वही, पृष्ठ १७५।
२१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५२।

वाणी में पाये जाते हैं, वे सन्त-परम्परागत बौद्ध-प्रभाव के ही द्योतक हैं। इन्होंने तीर्थ-व्रत की निस्सारता और मूर्ति-पूजा, पंडे-पुजारियों आदि की तुच्छता पर प्रकाश डालते हुए सिद्धों तथा कबीर साहब के स्वर में ही कटु-सत्य सुनाया है—

बुल्ला धर्मसाला बिच धावड़ी रहंदे, ठाकुरद्वारे ठग्ग।
मसीताँ बिच कोस्ती रहंदे, आसिक रहन अलग्ग॥
बुल्ला धर्मसाला बिच साला नहिं, जित्थे मोहनभोग जिवाय।
बिच्च मसीताँ धक्के मिलदे, मुल्लाँ थोड़े पाय॥
ना खुदा मसीते लभदा, ना खुदा खाना काबे।
ना खुदा कुरान कितेबाँ, ना खुदा नमाजे॥
ना खुदा मैं तीरथ दिट्ठा, ऐवें पैंडे झागे।
बुल्ला शौह जद मुरशिद मिल गया, टूटे सब्ब तगादे॥
बुल्ला मक्के गयाँ गल्ल मुकदी नहीं, जिचर दिलों न आप मुकाय।
गंगा गयाँ पाप नहिं छुटदे, भावें सौ सौ गोते लाय॥
गया गयाँ गल्ल मुकदी नहीं, भावें कितने पिंड भराय।
बुल्लेशाह गल्ल ताँई मुकदी, जब मैं नूँ खड़्या लुटाय[1]॥

समता तथा घट-घट व्यापी ईश्वर के सम्बन्ध में प्रवचन करते हुए बुल्लेशाह ने पारस्परिक भेद-भाव त्यागकर अनहद के शब्द को सुनने की ओर प्रवृत्त करने का प्रयत्न किया है और कहा है कि संसार में सब समान हैं, सभी सज्जन हैं, कोई चोर नहीं है। बौद्धधर्म की मैत्री-भावना का कैसा उच्च आदर्श बुल्लेशाह की वाणी में दिखाई देता है—

दुई दूर करो कोई सोर नहीं, हिंदू तुरक कोइ होर नहीं।
सब साधु लखो कोइ चोर नहीं, घट-घट में आप समाया है॥
ना मैं मुल्ला ना मैं काजी, ना मैं सुन्नी ना मैं हाजी।
बुल्लेशाह नाल लाई बाजी, अनहद सबद बजाया है[2]॥

बुल्लेशाह ने भगवान् बुद्ध[3] तथा कबीर[4] की भाँति संसार में भटकने वाले यात्रियों को प्रमाद छोड़कर अप्रमाद में लगने का उपदेश दिया है और कहा है कि अब भी तो जागृत होवो, सारी आयु तो यों ही बीत गयी, अब तो मृत्यु आ खड़ी हुई है और प्रस्थान करने का समय आ गया है—

अब तो जाग मुसाफिर प्यारे।
रैन घटी लटके सब तारे॥
आवागौन सराईं डेरे।
साथ तयार मुसाफर तेरे॥

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग १, पृष्ठ १५२-१५३।
२. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १७५। ३. सुत्तनिपात, उट्ठानसुत्त, पृष्ठ ६६, ६७।
४. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ २१, ४।

अजे न सुन दा कूच नगारे।
कर लै आज करन दी बेला।।
बहुरि न होसी आवन तेरा।
साथ तेरा चल चल्ल पुकारे।।
आपो अपने लाहे दौड़ी।
क्या सरधन क्या निरधन बौरी।।
लाहा नाम तू लेहु सँभारे।
बुल्ले सहु दी पैरी परिये।।
गफलत छोड़ हीला कुछ करिये।
मिरग जतन बिन खेत उजारे[1]।।

बुल्लेशाह ने सन्त-दीक्षा लेने के उपरान्त कुसूर नामक स्थान में निवास किया था और वहीं सन् १७५३ में इनका देहावसान भी हुआ था। आज भी इनकी गद्दी और समाधि वहाँ विद्यमान हैं[2]।

बाबा किनाराम

बाबा किनाराम का जन्म सन् १६२७ में वाराणसी जिले को चन्दौली तहसील के रामगढ़ नामक ग्राम में हुआ था[3]। इनके पिता का नाम अकबर सिंह था। ये रघुवंशी क्षत्रिय थे। इनका विवाह १२ वर्ष की अवस्था में ही हो गया था, किन्तु गौना होने से पूर्व ही इन्होंने गृहत्याग कर दिया। कहते हैं कि पत्नी का भी देहान्त संयोगवश हो चुका था। ये घर से चुपचाप निकल कर गुरु की खोज में बलिया की ओर चले गये। वहाँ कारों नामक ग्राम में बाबा शिवराम से दीक्षित हो गये और उन्हीं के पास रहने लगे। इनके गुरु विवाहित थे। पूर्व-पत्नी का देहान्त हो जाने पर जब वे दूसरा विवाह करने लगे, तब ये उनसे अप्रसन्न होकर आज्ञा ले अपनी जन्मभूमि को लौट आये। इन्हें वापस आया हुआ देख घरवालों को बड़ी प्रसन्नता हुई और उन्होंने इनके दूसरे विवाह की चर्चा छेड़ी। ये गृहस्थ जीवन पसन्द नहीं करते थे, फलत: इस बार भी घर से निकल भागना ही उत्तम समझा। ये तीर्थ-यात्रा पर निकल पड़े और फिर चारों धामों की यात्रा कर घर लौटे। इस बार इन्होंने अपने गाँव से पूर्व ओर एक कुटी बना ली और रामसागर आदि कुँओं का बहुजन हिताय निर्माण कराया। जनता का इन कार्यों में इन्हें पूरा सहयोग प्राप्त हुआ। ये कुछ दिनों रहकर फिर यात्रा पर निकल पड़े। इस बार इनके साथ बिजाराम नामक एक तरुण भी हो लिया था। कहते हैं कि जूनागढ़ में किसी कारण बिजाराम को वहाँ के नवाब के कर्मचारियों ने बन्दी बना लिया। उसे छुड़ाने के प्रयत्न में बाबा किनाराम को भी कुछ दिनों कारागार में रहना पड़ा। इन्होंने कारागार में ऐसे अद्भुत चमत्कार दिखलाये कि नवाब इनसे बहुत प्रभावित हो गया और इन्हें मुक्त कर दिया।

---

१. सन्तबानी संग्रह, भाग २, पृष्ठ १७२। २. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय, पृष्ठ ८६।
३. विवेकसार, पृष्ठ ४३।

ये वहाँ से यात्रा करते हुए गिरनार पहुँचे। वहाँ इन्हें एक ऐसे सन्त से भेंट हुई, जिसने इन्हें दीक्षित कर पूर्ण भक्ति एवं ज्ञान-विज्ञान से पूर्ण कर दिया। अपने ग्रन्थ विवेक-सार में बाबा किनाराम ने उस गुरु का नाम दत्तात्रेय कहा है और उन्हें अवधूत मतावलम्बी माना है—

पुरी द्वारिका गोमती गंगासागर तीर।
दत्तात्रेय मो कहँ मिले हरन महा भव पीर॥
अति दयाल मम सीस पर कर परस्यो मुनिराय।
ज्ञान विज्ञान भक्ति दृढ़ दीन्हों हृदय लखाय[1]॥

सन् १६९७ में इन्होंने वाराणसी के केदारघाट के प्रसिद्ध अघोरी सन्त कालूराम की ऋद्धियों से प्रभावित होकर "क्रमिकुंड" पर दीक्षा ग्रहण कर ली। कहा जाता है कि इसी कालूराम ने दत्तात्रेय के रूप में गिरनार पर्वत तथा अन्य स्थानों में किनाराम को दर्शन दिया था[2]। हम देख आये हैं कि "अवधूत" धुतांगधारी योगियों का ही द्योतक है, इसीलिए सिद्धों और नाथों में "अवधूत" और "औघड़" नाम प्रचलित थे। वास्तव में "औघड़" वही हैं जो कि "अशुभ-कर्मस्थान" की साधना में प्रवृत्त रहते हैं। विशुद्धि-मार्ग के छठें परिच्छेद में इसका विस्तारपूर्वक वर्णन आया हुआ है[3]; ऐसे योगी प्रायः श्मशानों में ही रहा करते हैं और मृत-शरीर की दस अवस्थाओं का मनन करते हुए साधना-निरत रहते हैं[4]। अतः अवधूत तथा औघड़—इन दोनों शब्दों का मूलस्रोत बौद्धधर्म है और ये दोनों एक ही के पर्यायवाची हैं।

बाबा किनाराम सन्त कालूराम से दीक्षित होने के उपरान्त क्रमि-कुण्ड पर ही रहने लगे। ये कभी-कभी अपनी जन्म-भूमि रामगढ़ की ओर भी जाया करते थे। गुरु के देहावसान के पश्चात् ये गद्दी पर बैठे और इन्होंने "अघोर-पन्थ" का प्रचार किया। इनका देहावसान वाराणसी में ही सन् १७६९ में १४२ वर्ष की अवस्था में हुआ था। इनकी रचनाओं में विवेकसार, गीतावली, रामगीता, रामरसाल, रामचपेटा और राममंगल प्रसिद्ध है। इन्हें देखने से जान पड़ता है कि इन पर परम्परागत बौद्धधर्म का प्रभाव पड़ा था। इनकी रचनाओं में गुरु-महिमा[5], अमरपद[6], सतगुरु[7], सत्यनाम[8], सत्यपुरुष[9], ग्रंथ-जाति-वर्ण का निषेध[10], अवधूत[11], सत्संग[12], घट ही मठ[13], शून्य[14], निरंजन[15], हंस[16], कर्म-फल[17], घट-घट व्यापकता[18],

१. विवेकसार, पृष्ठ २।
२. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ६२९।
३. विशुद्धिमार्ग, भाग १, पृष्ठ १६०।
४. वही, पृष्ठ १६०।
५. विवेकसार, पृष्ठ २।
६. वही, पृष्ठ १।
७. वही, पृष्ठ २।
८. वही, पृष्ठ ३।
९. वही, पृष्ठ ५।
१०. विवेकसार, पृष्ठ ६।
११. वही, पृष्ठ ६।
१२. वही, पृष्ठ ८।
१३. वही, पृष्ठ ९।
१४. वही, पृष्ठ ८।
१५. वही, पृष्ठ १३।
१६. वही, पृष्ठ १२।
१७. वही, पृष्ठ १४।
१८. वही, पृष्ठ १७।

निराकार[१], अनहद[२], निर्गुण[३], परमपद[४], सुरति[५], सहज[६], क्षमा[७], शील[८], निर्वाण[९], नाम-माहात्म्य[१०], तीर्थ-व्रत का त्याग[११], अहिंसा[१२], कर्म-काण्ड-वर्जन[१३], हठयोग[१४], सुरति-निरति[१५], स्नान से शुद्धि नहीं[१६], यज्ञादि-निषेध[१७], शब्द-महिमा[१८], सत्त[१९], तृष्णा-त्याग[२०] आदि आये हुए तत्व बौद्ध-प्रभाव की ही देन हैं। अहिंसा के प्रति बाबा किनाराम का कथन है कि लोग वेद, पुराण, कुरान आदि धार्मिक ग्रंथों का पाठ तो करते हैं, किन्तु उनके हृदय में दया नहीं है, क्योंकि वे भूत, भवानी आदि की पूजा दूसरे जीवों को मारकर करते हैं—

पढ़ै पुराण कोरान वेद मत, जीव दया नहिं जानी।
जीव भिन्न भाव करि मारत, पूजत भूत भवानी[२१] ॥

ऐसे ही तृष्णा को इन्होंने सबसे नीच माना है और उसे त्यागने का उपदेश दिया है। इनका कहना है कि संसार में तृष्णा, डोमिन और चमारिन सभी से नीची मानी जाती है, किन्तु हे मनुष्य! तू पूर्ण ब्रह्म होते हुए कैसे इस नीच तृष्णा में जा पड़ा है—

चाह चमारी चूहड़ी, सब नीचन ते नीच।
तूं तो पूरन ब्रह्म था, चाहन होती बीच[२२] ॥

उन्होंने स्नान-शुद्धि, यज्ञ-व्रत आदि को कपटस्वरूप माना है—

कथै ज्ञान असनान जग्य व्रत,
उर में कपट समानी ॥
प्रगट छाँडि करि दूरि बतावत,
सो कैसे पहचानी[२३] ॥

हम देखते हैं कि बाबा किनाराम ने सत्यनाम, निरंजन, घट-घट व्यापी, शून्य, सहज समाधि, हठयोग, सुरति-निरति आदि को सन्तों की ही भाँति ग्रहण किया है। इन सब बातों से विद्वानों ने माना है कि "अवधूत मत" अथवा "अघोर-पंथ" पर सन्तमत का प्रभाव भली प्रकार पड़ा था[२४]।

---

१. वही, पृष्ठ १८।
२. वही, पृष्ठ १८।
३. वही, पृष्ठ १९।
४. वही, पृष्ठ २१।
५. वही, पृष्ठ २२।
६. वही, पृष्ठ २५।
७. वही, पृष्ठ ३०।
८. वही, पृष्ठ ३०।
९. वही, पृष्ठ ३२।
१०. वही, पृष्ठ ३४।
११. गीतावली, पृष्ठ ४।
१२. वही, पृष्ठ ७।
१३. गीतावली, पृष्ठ ८।
१४. वही, पृष्ठ ८।
१५. वही, पृष्ठ ८।
१६. वही, पृष्ठ १०।
१७. वही, पृष्ठ ८।
१८. वही, पृष्ठ ९।
१९. वही, पृष्ठ १२।
२०. वही, पृष्ठ १६।
२१. वही, पृष्ठ ७।
२२. वही, पृष्ठ १६।
२३. गीतावली, पृष्ठ ७।
२४. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा, पृष्ठ ३३२।

बाबा किनाराम ने अपने दोनों गुरुओं के सम्मान के लिए आठ मठों को स्थापना की थी। इनमें चार मठ वैष्णव मत से सम्बन्धित हैं, जो मारुफपुर, नईडीह, परानापुर और महुवर में हैं और चार अघोरमत के रामगढ़, देवल, हरिहरपुर और क्रमिकुंड में। काशी के क्रमिकुंड की रामशाला अघोरपन्थ का प्रधान केन्द्र है। यहीं बाबा कालूराम, बाबा किनाराम आदि महन्तों की समाधियाँ बनी हुई हैं। बाबा किनाराम की शिष्य-परम्परा अपने पन्थ को "किनारामी अघोरपन्थ" कहती है। इस पन्थ मे हिन्दू, मुसलमान आदि का भेद नहीं है। सभी जाति तथा सम्प्रदाय के अनुयायी अघोरपन्थी दीक्षा ले सकते है। कहते हैं कि इस पन्थ का प्रचार नेपाल, गुजरात, समरकन्द आदि सुदूर स्थानों तक में है। वाराणसी जिले की जनता में बाबा किनाराम के प्रति बड़ी श्रद्धा है और इनके चमत्कार की अनेक अद्‌भुत कथायें प्रचलित हैं। रोगी होने पर ग्रामीण जनता इनकी मनौती मानती है और स्वास्थ्य-लाभ कर रामगढ़ के रामसागर के जल से स्नान करती है। बाबा किनाराम का यह दोहा आजतक गुरु-शिष्य के माहात्म्य तथा आध्यात्मिक विकास के परिचायक के रूप में बड़ी श्रद्धापूर्वक कहा-सुना जाता है—

"कीना-कीना सब कहै, कालू कहै न कोय।
कीना कालू एक भये, राम करै सो होय[1]॥"

---

१. गीतावली, पृष्ठ ५।

सहायक ग्रन्थों की सूची
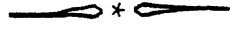
हिन्दी

१. अंगुत्तरनिकाय—भदन्त आनन्द कौसल्यायन द्वारा हिन्दी में अनूदित, महाबोधि सभा, कलकत्ता, १९५७।

२. अनहद की नाद—सन्त सिंगाजी कृत।

३ अनुराग सागर—वेल वेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२७।

४. अशोक—डी० आर० भंडारकर, लखनऊ, १९६०।

५. अशोक—भगवती प्रसाद पांथरी, किताब महल, इलाहाबाद, १९५५।

६. अशोक के शिलालेख—जनार्दन भट्ट, ज्ञानमण्डल लिमिटेड, वाराणसी।

७. आदिग्रन्थ—शिरोमणि गुरुद्वारा समिति, अमृतसर।

८. आनन्द सागर—कृष्णमणि शर्मा, जामनगर, १९३६।

९. इतिवुत्तक—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६।

१०. इतिहास गुरु खालसा—गोविन्दसिंह, वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९८२।

११. इतिहास प्रवेश—जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, १९४९।

१२. उत्तर प्रदेश में बौद्धधर्म का विकास—डॉ० नलिनाक्षदत्त तथा श्रीकृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९५६।

१३. उत्तरी भारत की सन्तपरम्परा—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सम्वत् २००८।

१४. उदान—भिक्षु जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४१।

१५. ओम् मणि पद्मे हुँ—भिक्षु धर्मरक्षित तथा लामा लोबजंग, सारनाथ, १९५७।

१६. कथावत्थु—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा हिन्दी में अनूदित, (अप्रकाशित)।

१७. कबीर—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९५०।

१८. कबीर कसौटी—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, सम्वत् १९७१।

१९. कबीर का रहस्यवाद—डॉ० रामकुमार वर्मा, १९२१।

२०. कबीर ग्रन्थावली—श्यामसुन्दर दास, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सम्वत् २००८।

२१. कबीर चरितबोध।

२२. कबीर पदावली—डॉ० रामकुमार वर्मा, प्रयाग, १९३७।

२३ कबीर बानी।

२४. कबीर बीजक—राघवदास द्वारा सम्पादित, वाराणसी, १९६२।

२५. कबीर वचनावली—श्यामसुन्दर दास द्वारा सम्पादित।

२६. कबीर साखी।

२७. कबीर साहित्य का अध्ययन— पुरुषोत्तमलाल श्रीवास्तव, वाराणसी, सम्वत् २००८।

२८. कबीर साहित्य की परख—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सम्वत् २०११।

२९. कलश—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।

३०. कीरतन—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।

३१. कुशीनगर का इतिहास—भिक्षु धर्मरक्षित, कुशीनगर, १९४९।

३२. केशवदासजी की अमीघूँट—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५१।

३३. गणेश-विभूति टीका।

३४. गरीबदासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५१।

३५. गीतावली—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४१।

३६. गुरमति प्रकाश—साहिबसिंह कृत।

३७. गुरुग्रन्थ साहिब—भाई गुरदियालसिंह, अमृतसर।

३८. गुरु गोविन्दसिंह—वेणी प्रसाद, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।

३९. गुलाल साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३२।

४०. गोरखबानी—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रयाग, सम्वत् २०१७।

४१. ग्यालरतन।

४२. खुद्दकपाठ—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५५।

४३. चरनदासजी की बानी (तीन भाग)—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९२७।

४४. चरियापिटक—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९४४।

४५. चर्यापद—सिद्ध भुसुकपा कृत।

४६. चर्यापद—सिद्ध शबरपा कृत।

४७. चर्य्याचर्य्यविनिश्चय—सिद्ध सरहपा कृत।

४८. जनमपरची—जनगोपाल कृत।

४९. जपुजी—छेलाराम, दिल्ली, १९५५।

५०. जातक—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग।

५१. जातककालीन भारतीय संस्कृति—मोहनलाल महतो "वियोगी", पटना, १९५८।
५२. जातक निदान—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५६।
५३. जातिभेद और बुद्ध—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४९।
५४. तांत्रिक बौद्ध-साधना और साहित्य—नागेन्द्र उपाध्याय, काशी, सं० २०१५।
५५. तिब्बत में बौद्धधर्म राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४८।
५६. तेलकटाहगाथा—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९४८।
५७. थेरगाथा—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनथा, १९५५।
५८. थेरीगाथायें—भरतसिंह उपाध्याय, दिल्ली, १९५०।
५९. दरिया ग्रन्थावली—डॉ० धर्मेन्द्र ब्रह्मचारी शास्त्री, पटना, (दो भाग), १९५४-६२।
६०. दरिया सागर—सन्त दरियाकृत।
६१. दरिया साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग।
६२. दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४४।
६३. दादू—क्षितिमोहन सेन।
६४. दादू दयाल की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (दो भाग), १९२८-५८।
६५. दादू बानी—चन्द्रिकाप्रसाद त्रिपाठी, अजमेर, १९०७।
६६. दीघनिकाय—राहुल सांकृत्यायन तथा जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३६।
६७. दोहाकोश—राहुल सांकृत्यायन, पटना, १९५७।
६८. दोहाकोश—सिद्ध कण्हपा कृत।
६९. दोहाकोशगीति—सिद्ध सरहपा कृत।
७०. धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त—भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९४९।
७१. धम्मपद—भिक्षु धर्मरक्षित, सारनाथ, १९५८।
७२. धम्मपदट्ठकथा—भिक्षु धर्मरक्षित, (अप्रकाशित)।
७३. धरनीदासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९३१।
७४. धर्म-अभियान—मुरलीदास धामी, पन्ना, सं० २०१९।
७५. नाथ सम्प्रदाय—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, प्रयाग।
७६. नाथसिद्धों की बानियाँ—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, काशी नागरी प्रचारिणी सभा, सं० २०१४।
७७. नानक वाणी—डॉ० जयराम मिश्र, इलाहाबाद, सं० २०१८।
७८. निजानन्द चरितामृत—कृष्णदत्त शास्त्री, जामनगर, सं० १९९७।

७९. **नेपाल यात्रा**—भिक्षु धर्मरक्षित, लखनऊ, १९५१।

८०. **पलटू साहब की बानी**—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग (तीन भाग), १९५४-५६।

८१. **पाखण्डखण्डिनी टीका**—विश्वनाथसिंह कृत।

८२. **पालि साहित्य का इतिहास**—भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, सं० २००८।

८३. **पुरातत्व निबन्धावली**—राहुल सांकृत्यायन, प्रयाग, १९३७।

८४. **प्रेम प्रकाश**—धरनीदास कृत।

८५. **पोथी रामरसाल**—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४९।

८६. **प्रणवगीता**।

८७. **प्राण सांगली**—इलाहाबाद, १९१३।

८८. **बुद्धकालीन भारतीय भूगोल**—डॉ० भरतसिंह उपाध्याय, प्रयाग, सं० २०१८।

८९. **बुद्धचर्य्या**—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५२।

९०. **बुल्ला साहब का शब्दसार**—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९४६।

९१. **बुद्ध वचन**—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५८।

९२. **बोधसागर**—वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई।

९३. **बोधिवृक्ष की छाया में**—भरतसिंह उपाध्याय, दिल्ली, १९६२।

९४. **बौद्ध गान ओ दोहा**—हरप्रसाद शास्त्री, कलकत्ता, बंगाब्द, १३५८।

९५. **बौद्धचर्य्याविधि**—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६।

९६. **बौद्ध दर्शन**—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद।

९७. **बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन**—भरतसिंह उपाध्याय, कलकत्ता, सं० २०११ (दो भाग)।

९८. **बौद्धधर्म के मूल सिद्धान्त**—भिक्षु धर्मरक्षित, ममता प्रेस, वाराणसी, १९५८।

९९. **बौद्धधर्म-दर्शन**—आचार्य नरेन्द्रदेव, पटना, १९५६।

१०० **बौद्धधर्म-दर्शन तथा साहित्य**—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९६३।

१०१. **बौद्ध भारत**—टी० डब्ल्यू० रायस् डेविड्स, ध्रुवनाथ चतुर्वेदी द्वारा अनूदित, इलाहाबाद, १९५८।

१०२. **बौद्धयोगी के पत्र**—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५६।

१०३. **बौद्ध संस्कृति**—राहुल सांकृत्यायन, कलकत्ता, १९५२।

१०४. **बौद्ध साहित्य की सांस्कृतिक झलक**—परशुराम चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५८।

१०५. **भक्तमाल**—नाभादास कृत, लखनऊ, १९१३।

१०६. **भक्तिमार्गी बौद्धधर्म**—नगेन्द्रनाथ वसु, नर्मदेश्वर चतुर्वेदी द्वारा हिन्दी में अनूदित, इलाहाबाद, सं० २०१८।

१०७. भगवान् बुद्ध—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९५६ ।

१०८. भजन संग्रह—गीता प्रेस, गोरखपुर (चार भाग) ।

१०९. भारत का इतिहास—डॉ० ईश्वरीप्रसाद, प्रयाग, १९५१ ।

११०. भारत में मुस्लिम शासन—डॉ० ईश्वरी प्रसाद, इलाहाबाद ।

१११. भारतीय इतिहास की रूपरेखा—जयचन्द्र विद्यालंकार, इलाहाबाद, १९४२ ।

११२. भारतीय संस्कृति और अहिंसा—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, बम्बई, १९५७ ।

११३. भीखा साहब की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९१९ ।

११४. मज्झिमनिकाय—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३३ ।

११५. मध्ययुगीन भारत—डॉ० परमात्मा शरण ।

११६. मध्ययुगीन हिन्दी-साहित्य पर बौद्धधर्म का प्रभाव—डॉ० सरला त्रिगुणायन, साहित्य निकेतन, कानपुर, १९६३ ।

११७. मराठी का भक्ति-साहित्य—भी० जो० देशपांडे, वाराणसी, १९५९ ।

११८ मलूक दासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९४६ ।

११९. महात्माओं की वाणी—महन्थ बाबा रामबरन दास साहेब, भुड़कुड़ा, १९३३ ।

१२०. महापरिनिब्बानसुत्त—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९५८ ।

१२१. महाबली—ज्ञानी बख्शीश सिंह, "सुदर्शन", जौनपुर ।

१२२. महायान—भदन्त शान्ति भिक्षु, कलकत्ता ।

१२३. महाराज छत्रसाल बुन्देला—डॉ० भगवानदास गुप्त ।

१२४. महावंश—भदन्त आनन्द कौसल्यायन, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, १९४२ ।

१२५. मिलिन्द प्रश्न—भिक्षु जगदीश काश्यप, बर्मी बौद्ध विहार, सारनाथ, १९३७ ।

१२६. मीरां बाई—डॉ० श्रीकृष्णलाल, प्रयाग, सं० २००७ ।

१२७. मीरांबाई की पदावली—परशुराम चतुर्वेदी, प्रयाग, सं० २०१३ ।

१२८. मीरा : एक अध्ययन—पद्मावती "शबनम", वाराणसी, सं० २००७ ।

१२९. मीराबाई की शब्दावली—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५३ ।

१३०. मीरा माधुरी—ब्रजरत्न दास, वाराणसी, सं० २००५ ।

१३१. मीरा बृहद् पद-संग्रह—पद्मावती "शबनम", वाराणसी, सं० २००९ ।

१३२. यारी साहब की रत्नावली—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग ।

१३३. योग प्रवाह—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, सं० २००३ ।

१३४. रामानन्द सम्प्रदाय तथा हिन्दी-साहित्य पर उसका प्रभाव—डॉ० बदरीनाराय श्रीवास्तव, प्रयाग, १९५७ ।

१३५. रैदासजी की बानी—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९४८।

१३६. विचार-विमर्श—चन्द्रबली पाण्डेय, प्रयाग, सं० २००२।

१३७. विनयपिटक—राहुल सांकृत्यायन, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९३५।

१३८. विवेक सार—बाबा किनाराम कृत, वाराणसी, १९४९।

१३९. विशुद्धिमार्ग—भिक्षु धर्मरक्षित, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५६ (दो भाग)।

१४०. वृत्तान्तमुक्तावली (वीतक)—ब्रजभूषण, जामनगर, सं० १९८८।

१४१. शब्द—दरियादास कृत, सन्त दरिया : एक अनुशीलन में प्रकाशित, पटना, १९५४।

१४२. श्री गुरुग्रंथ-दर्शन—डॉ० जयराम मिश्र, इलाहाबाद, १९६०।

१४३. श्री गुरुग्रंथ साहब : एक परिचय—डॉ० धर्मपाल मैनी, इलाहाबाद, १९६२।

१४४. श्री गुरु नानक-दर्शन—बलवन्तसिंह गुजरखानी, वाराणसी।

१४५. श्री भक्ति सागर ग्रंथ-ज्ञान सरोदय—दरियादास कृत, पटना, १९५४।

१४६. श्री हरिपुरुषजी की बानी—सेवादास द्वारा सम्पादित, सं० १९८८।

१४७. संयुक्त निकाय—भिक्षु धर्मरक्षित तथा जगदीश काश्यप, महाबोधि सभा, सारनाथ, (दो भाग) १९५४।

१४८. सनंध—प्राणनाथ कृत (अप्रकाशित)।

१४९. सन्त कबीर—डॉ० रामकुमार वर्मा।

१५०. सन्त [illegible]—[illegible] चतुर्वेदी, इलाहाबाद, १९५२।

१५१. सन्त चरणदास—डॉ० त्रिलोकी।

१५२. सन्त बानी संग्रह (दो भाग)—वेलवेडियर प्रेस, प्रयाग, १९५७-५९।

१५३. सन्तमाल—शिवव्रतलाल, मिशन प्रेस, इलाहाबाद।

१५४. सन्त रविदास और उनका काव्य—स्वामी रामानन्द शास्त्री तथा वीरेन्द्र पाण्डेय, हरिद्वार, १९५५।

१५५. सन्त साहित्य—भुवनेश्वरनाथ मिश्र "माधव", बाँकीपुर, १९४१।

१५६. सन्त सुधा सार—वियोगी हरि।

१५७. सन्त सुन्दर—(अप्रकाशित)।

१५८. सम्प्रदाय—बी० बी० राय, मिशन प्रेस, लुधियाना, १९०६।

१५९. सहसरानी—दरियादास कृत, पटना, १९५४।

१६०. सारनाथ का इतिहास—भिक्षु धर्मरक्षित, वाराणसी, १९६१।

१६१. सिक्खों का उत्थान और पतन—नन्दकुमार वर्मा, वाराणसी, सं० २००३।

१६२. सिखधर्म और भगत मत—रतनसिंह, अमृतसर।

१६३. सिद्ध साहित्य—डॉ० धर्मवीर भारती, इलाहाबाद, १९५५।
१६४. सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, १९५१।
१६५. सौन्दर्य और साधिकायें—विद्यावती "मालविका", ममता प्रेस, कबीरचौरा, वाराणसी, १९६०।
१६६. हिन्दी काव्यधारा—राहुल सांकृत्यायन, इलाहाबाद, १९४५।
१६७. हिन्दी काव्य में निर्गुण सम्प्रदाय—डॉ० पीताम्बरदत्त बड़थ्वाल, प्रयाग, सं० २०१७।
१६८. हिन्दी की निर्गुण काव्यधारा और उसकी दार्शनिक पृष्ठभूमि—डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत, कानपुर, १९६१।
१६९. हिन्दी और मराठी का निर्गुण सन्त काव्य—डॉ० प्रभाकर माचवे, वाराणसी, १९६२।
१७०. हिन्दी साहित्य का इतिहास—रामचन्द्र शुक्ल, वाराणसी, सं० २०१८।
१७१. हिन्दी साहित्य की भूमिका—डॉ० हजारीप्रसाद द्विवेदी, बम्बई, १९४०।
१७२. हिन्दू राजतन्त्र—काशीप्रसाद जायसवाल, प्रयाग, सं० १९८४ (दो भाग)।

पालि

१. अंगुत्तरनिकाय—नवनालन्दा महाविहार प्रकाशन, नालन्दा १९६१।
२. अभिधानप्पदीपिका—गुजरात विद्यामन्दिर द्वारा प्रकाशित।
३. चुल्लवग्ग—नवनालन्दा महाविहार प्रकाशन, नालन्दा, १९६१।
४. थेरीगाथा—भिक्षु उत्तमा द्वारा प्रकाशित, १९३७।
५. दीपवंसो—पी० ज्ञानानन्द स्थविर द्वारा सम्पादित, लंका।
६. नवनीत टीका—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, सारनाथ, १९४१।
७. पपंचसूदनी—भदन्त धर्मानन्द महास्थविर द्वारा सम्पादित, लंका, १९२६।
८. बाहिरनिदान वण्णना—आचार्य धर्मानन्द कौशाम्बी, पूना, १९१४।
९. मंगलत्थदीपनी—सिरि मंगल स्थविर, लंका, १९२७।
१०. मनोरथपूरणी—भदन्त धर्मानन्द महास्थविर द्वारा सम्पादित लंका, १८९६।
११. महावंसो—एन० के० भागवत द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९३६।
१२. मिलिन्दपञ्हो—आर० डी० वाडेकर, बम्बई, १९४०।
१३. विमानवत्थु—भिक्षु उत्तमा द्वारा प्रकाशित, १९३७।
१४. समन्तपासादिका—यू० पी० एकनायक द्वारा सम्पादित, लंका, १९१५।
१५. सुमंगलविलासिनी—महाबोधि सभा, सीलोन द्वारा प्रकाशित, लंका।

संस्कृत

१. अद्वयवज्रसंग्रह—हरप्रसाद शास्त्री द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९२७।

२. इन्दु टीका—केदारनाथ शर्मा, वाराणसी, १९६१।

३. गीतगोविन्द—चौखम्भा संस्कृत सीरीज, वाराणसी द्वारा प्रकाशित, १९६१।

४. गुह्यसमाजतन्त्रम्—डॉ० बी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९३१।

५. गोरक्षसिद्धान्तसंग्रह—सरस्वीत भवन टेक्स्ट सीरीज, वाराणसी।

६. जातकमाला—सूर्यनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, १९५२।

७. ज्ञानसमुच्चयसार—आर्यदेव कृत।

८. ज्ञानसिद्धि—इन्द्रभूति कृत, गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज नं० ४४, १९३७।

९. तत्वसंग्रह—डॉ० बी० भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९३७।

१०. तत्वसंग्रह टीका—डॉ० विनयतोष भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९३७।

११. दशभूमीश्वरसूत्र—नागरी अक्षरों में जापान से प्रकाशित, टोक्यो।

१२. धर्मसंग्रह—नागार्जुनकृत, मैक्समूलर द्वारा सम्पादित।

१३. प्रमाणवार्तिक—धर्मकीर्ति कृत, राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, पटना।

१४. बुद्धचरित—सूर्यनारायण चौधरी द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में अनूदित, १९५४।

१५. बोधिचर्यावतार—शान्ति भिक्षु शास्त्री द्वारा सम्पादित तथा हिन्दी में अनूदित, बुद्ध-विहार, लखनऊ १९५५।

१६. मंजुश्रीमूलकल्प—टी० गणपति शास्त्री द्वारा सम्पादित, त्रिवेन्द्रम्, १९२०।

१७. महायानसूत्रालंकार—जापान से नागरी अक्षरों में प्रकाशित, टोक्यो।

१८. माध्यमिक कारिका—पीटर्सवर्ग से प्रकाशित, १९०३।

१९. यजुर्वेद—वैदिक अनुसन्धान केन्द्र, अजमेर से प्रकाशित, अजमेर।

२०. लंकावतारसूत्र—शरतचन्द्रदास तथा सतीशचन्द्र आचार्य द्वारा सम्पादित, १९००।

२१ ललितविस्तर—डॉ० स्लोथमैन द्वारा सम्पादित।

२२ विग्रहव्यावर्तनी—नागार्जुन कृत।

२३. सद्धर्मपुण्डरीकसूत्र—यू० एम० वोगिहरा और सी० टौचिदा द्वारा सम्पादित, टोक्यो, जापान, १९३४।

२४. सूत्रद्वयम्—राहुल सांकृत्यायन द्वारा सम्पादित, बुद्धविहार, लखनऊ, १९५७।

२५. सेकोद्देश टीका—एम० ई० करेली द्वारा सम्पादित, बड़ौदा, १९४१।

२६. स्वयम्भू पुराण।

मराठी

१. धम्मपद—अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णी द्वारा मराठी में अनूदित, नागपुर, १९५६ ।

अंग्रेजी

१. आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट, भाग २ ।

२. एडिक्ट्स ऑफ अशोक—जी० श्रीनिवास मूर्ति तथा ए० एन० कृष्ण आयंगर द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, मद्रास, १९५० ।

३. एस्पेक्ट्स ऑफ महायान बुद्धिज्म डॉ० नलिनाक्षदत्त, कलकत्ता ।

४. कबीर : हिज बॉयोग्राफी—डॉ० मोहन सिंह ।

५. जपजी—छेलाराम द्वारा सम्पादित तथा अनूदित, नई दिल्ली, १९५५ ।

६. दि अर्ली हिस्ट्री ऑफ इण्डिया—वी० ए० स्मिथ, ऑक्सफोर्ड प्रकाशन, १९२४ ।

७. दि सिख रीलीजन डॉ० मेकॉलिफ ।

८. बनारस डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—इलाहाबाद, १९०९ ।

९. बुद्धिष्ट इण्डिया—टी० डब्ल्यू० रायस् डेविड्स १९०२ ।

१०. सल्तनत ऑफ देहली—डॉ० आशीर्वादी लाल श्रीवास्तव ।

पत्र-पत्रिकायें

१. कल्याण—योगांक में सुरतियोग शीर्षक लेख, गीता प्रेस, गोरखपुर ।

२. कोली राजपूत—वर्ष ६, अंक ११, अजमेर से प्रकाशित, १९४७ ।

३. धर्मदूत—भिक्षु धर्मरक्षित द्वारा सम्पादित तथा महाबोधि सभा, सारनाथ से प्रकाशित :-

वर्ष १५, अंक १–२, पृष्ठ ४६–४७, सन् १९५० ।

वर्ष १६, अंक ५, पृष्ठ १३५, सन् १९५१ ।

वर्ष १८, अंक १–२, पृष्ठ ३, सन् १९५३ ।

वर्ष २१, अंक ५, पृष्ठ १५६, सन् १९५६ ।

वर्ष २४, अंक ८–९, पृष्ठ २२५, सन् १९५९ ।

वर्ष २६, अंक २१, पृष्ठ २२३, सन् १९६१ ।

४. विद्यापीठ—काशी विद्यापीठ की त्रैमासिक पत्रिका, भाग २, पृष्ठ १३५ ।

५. विशाल भारत—कलकत्ता से प्रकाशित, मासिक पत्रिका, भाग २९, अंक ३, सन् १९४२

६. विश्वभारती—शान्तिनिकेतन से प्रकाशित, वैशाख-आषाढ़, सं० २००४ ।